Sarraf Foundation Chennai

ALOCHANA OCT. DEC. 1970.

G. KU.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

079570

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Stock Verification-2024

Stock Verification-2024

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

COMPILED

त्रैमासिक नया ज्ञानोदय

सम्पादक : नामवर सिंह

079570

079570

PR
८४
सि३६अ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुरुकुल कांगड़ी वि

आलोचना त्रैमासिक

सम्पादक : नामवर सिंह • प्रबन्ध सम्पादिका : शीला सन्धू

इस अंक में

मार्क्स और एंगेल्स के सौन्दर्यशास्त्रीय विचार — स्तेफान मोरोव्सकी १

घर संभालते हुए (कविता) — लीलाधर जगूड़ी १७

भाषा की काव्यमुक्ति — रमेशचन्द्र शाह २३

कविता : सही भाषा की तलाश — विजेन्द्र ३४

वापसी (कविता) — कुमार विकल ४३

बेकेट के साथ एक शाम — कैलाश वाजपेयी ४४

बर्तोल्त ब्रेख्त की दो कविताएँ — अनु० रणजीत ४८

हिन्दी पत्रकारिता की पृष्ठभूमि — बटरोही ५१

दो कविताएँ — श्रीराम वर्मा ६४

अफ्रीकी कथा-साहित्य की आधुनिक प्रवृत्तियाँ — आनन्दस्वरूप वर्मा ६६

क्रांतिकारी स्वच्छंदतावाद — विली थामसन ७६

मतदान से पहले (कविता) — विनेत्र जोशी ८७

साहित्य और सहृदय — सरनामसिंह शर्मा 'अरुण' ८९

मूल्यांकन

मध्यकाल के संस्कृत काव्य पर कुछ बातचीत — धर्मेन्द्र गोयल १०८

समकालीन चेतना : एक परिशीलन — धर्मेन्द्र गोयल १११

साहित्य सिद्धान्त — राजनाथ गुरु ११६

उत्तर छायावादी तलछट का एक अन्त — विष्णु खरे १२४

जिन्दगी का बाँस और कविता की कटी पतंग — विष्णु खरे

वर्ष : १८ : नवांक १५, (पूर्णांक ५२) अक्तूबर-दिसम्बर १९७०, मूल्य ४.००

वार्षिक—साधारण डाक द्वारा १६.००—रजिस्टर्ड डाक द्वारा १९.८०

विदेशों में—२०.००

व्यवस्थापकीय कार्यालय : राजकमल प्रकाशन प्रा० लि०, फैज बाजार, दिल्ली-६

सम्पादकीय पत्र-व्यवहार के लिए : डा० नामवर सिंह, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर

शिक्षा निदेशालय, दिल्ली के परिपत्र संख्या डी० ई० वी०/८/एस० ई० लायब्रेरी/मैग०/१९६७-६८ दिनांक २०-१-६८ एवं उपनिदेशक, समाज शिक्षा, राजस्थान के पत्रांक पु० प्र० /१/एफ/११-६८/५०५ दिनांक ६-९-६९ के अनुसार स्कूलों के पुस्तकालयों और वाचनालयों के लिए स्वीकृत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

NOT TO BE ISSUED
REFERENCE ONLY

मार्क्स और एंगेल्स के सौन्दर्यशास्त्रीय विचार

स्तेफ़ान मोराव्स्की

कार्ल मार्क्स (१८१८-१८८३) के सौन्दर्य विषयक विचार से सम्बन्धित यथेष्ट साहित्य विकसित हुआ है। फ्रेडरिक एंगेल्स (१८२०-१८९५) के विचार के विवेचन पर कम ध्यान गया है। उचित रूप से ऐसे साहित्य का आरम्भ उनके निजी लेखों, मन्तव्यों और साहित्य एवम् कला पर की गई टिप्पणियों से होता है। ऐसी सामग्री का पहला संग्रह रूसी-भाषा में १९३३ में प्रकाशित हुआ, जिसके सम्पादक ए. लुनाचार्स्की, एम. लिफशित्ज़ और एफ. पी. शीलर (मास्को) थे। इसका संवर्धित रूसी संस्करण १९३८ में प्रकाशित हुआ। जर्मन भाषा में इसका पुनर्परिवर्द्धित संस्करण १९४८ में (कला और साहित्य) प्रकाशित हुआ जिसके सम्पादक एम० लिफशित्ज़ थे। इसका विशिष्ट परिवर्द्धित संस्करण दो खण्डों में लिफशित्ज़ द्वारा सम्पादित होकर १९५७ में मास्को से प्रकाशित हुआ। इसके अतिरिक्त दो खण्डों का संस्करण ६७-६८ में एम० क्लायम द्वारा सम्पादित होकर बर्लिन से प्रकाशित हुआ। १९४८ में लिफशित्ज़ द्वारा संपादित संस्करण की सामग्री के अलावा इसमें कतिपय नयी सामग्री भी मिलती है।

मार्क्स और एंगेल्स के १८३०-'४० के उत्तरार्द्ध और १८४०-'५० के पूर्वार्द्ध की युवा कविताएं, वर्णनात्मक रचनाएं और सौन्दर्य विषयक विचारों का संकलन तथाकथित MEGA में मिलता है। ए० कोर्नू ने इस अवधि की सामग्री की पूर्ण व्याख्या की है। कोर्नू ने एफ० मेइरिंग द्वारा लिखी गई मार्क्स की जीवनी और जी० मायर द्वारा लिखी गई एंगेल्स की जीवनी को अपनी कृति का आधार बनाया है। मार्क्स के १८४० के पूर्व का सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन का पता केवल उनके पत्रों से मिलता है। इससे पहले की उनकी शोध-पुस्तिकाएं खो चुकी हैं लेकिन उसके बाद के नोट प्राप्त हैं और १८५६ तक की सामग्री का सर्वेक्षण एम. रूबेल के द्वारा हो चुका है। लिफशित्ज़-संपादित संस्करणों में अन्य वृहद संकलनों के प्रारम्भिक स्रोत का पता मिलता है जिनमें ज्यां फरविल संपादित संस्करण (पेरिस से १९३७ में प्रकाशित, परिवर्द्धित संस्करण १९५४ में से प्रकाशित) वी० गेराटाना (मिलान से १९५४ में प्रकाशित), न्यूयार्क से अंग्रेज़ी में (१९४७ में प्रकाशित) और हवाना से स्पेनिश भाषा में (१९६५ में प्रकाशित) अनाम संपादित संकलन शामिल हैं।[1]

२. अनेक पश्चिमी विद्वानों की तरह पिटर दमेज ने एंगेल्स के सौन्दर्य विषयक विचार का मार्क्स के सौन्दर्य विषयक विचार से पैना सीमांकन प्रस्तुत किया है। मार्क्स में युरोपीय रुचि दिखलायी गयी है और एंगेल्स में जर्मन और प्रादेशिक रुचि। मार्क्स को यथार्थवाद की धारणा से दूर कहा गया है जबकि एंगेल्स को उसका पक्षधर। वास्तव में, जिस प्रकार उनके मूल निवास-पृष्ठभूमि भिन्न थे उसी प्रकार उनके युवावस्था की भावनायें भी भिन्न थीं। युवा जर्मनी आंदोलन के विचारों के प्रति आकृष्ट होने वाले एंगेल्स साहित्यिक आलोचना को व्यवहार में लाते थे। मार्क्स ने, जिनका आरम्भ में ही श्रेण्य साहित्यिक विरासत से परिचय हुआ, चाव से उसे आत्मसात् किया और दर्शन एवं सौन्दर्यशास्त्र का अध्ययन किया। (बॉन युनिवर्सिटी में वह ए० डब्ल्यू० श्लेगेल के छात्र थे।) फिर भी उनकी आरंभिक रचनाएँ उनके बौद्धिक विकास में एक मिलन-बिन्दु की ओर अभिमुख प्रवृत्ति का संकेत देती हैं। उनके आजीवन सन्निकट सहयोग की शुरुआत (सितम्बर, १८४४)

[स्तेफ़ान मोराव्स्की पोलैंड के वारसा विश्वविद्यालय में सौन्दर्यशास्त्र के प्राध्यापक हैं। वह १९६६ के ग्रीष्म में कैलीफोर्निया और बर्कले युनिवर्सिटी में अध्यापन कार्य कर चुके हैं। पोलिस और अंग्रेज़ी भाषा में उनकी कई कृतियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं।]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के पश्चात उनके सौन्दर्य विषयक विचार एक-दूसरे में घुल-मिल गये। विश्वस्त होकर यह कहा जा सकता है कि उनके सौन्दर्य विषयक विचार में संलयन था, दृष्टि में एक-रूपता थी। इसके साथ ही यह भी उल्लेख्य है कि उनके मिज़ाज समान नहीं थे और प्रत्येक की रुचि विशिष्ट थी। इसी दृष्टि से विषयों और समस्याओं पर उनके व्यक्तिगत जोर की व्याख्या की जा सकती है। मार्क्स अमूर्त चिंतन के प्रति अधिक उत्साह रखते थे और उस सम्बन्ध में अधिक क्रमबद्ध थे। एंगेल्स अति संवेदनशील और सहज थे। मार्क्स को युनिवर्सिटी की शिक्षा मिली थी। और विलक्षण प्रतिभाशाली एंगेल्स अधिकांशतः स्वतः शिक्षित थे। मार्क्स का आदर्श, जैसा कि कोर्नू ने चित्रण किया है, प्रमिथियस था और एंगेल्स का निबेलुंगेनलाइड का सीगफ्रीड। उनकी दृष्टि में समानता स्पष्ट है, खासकर इसे उनकी दो प्रमुख समीक्षाओं में देखा जा सकता है—**ई० सू** की रचना **'पेरिस का रहस्य'** (द होली फैमिली, १८४५) और एफ० लासाल का नाटक **फ्रान्ज़ वॉन शिंकिंगन** (लेखक के साथ १८५९ में किये गये पत्राचार को देखें)। यहाँ उनके विचार एक-दूसरे से मिलते हैं हालाँकि वे अपना विश्लेषण एक दूसरे से प्रत्यक्ष मशविरा कर नहीं लिख रहे थे। मार्क्स ने सौन्दर्यशास्त्र पर क्रमबद्ध रूप से लिखने की दो बार योजना बनाई। १८४१-४२ के शरद में उन्होंने कला और धर्म से सम्बन्धित हेगेल के विचार की समीक्षा पर ब्रूनो बायर के साथ काम किया। और प्रमाण है कि **न्यू अमेरिकन साइक्लोपीडिया** (प्रकाशन) द्वारा सौन्दर्यशास्त्र पर माँगे गये लेख को पूरा करने की उन्होंने १८५७ में चेष्टा भी की थी। (इस सिलसिले में स्पष्ट है कि उन्होंने एफ० टी० फिशेर की रचनाओं ई०, मूलर का प्राचीन ग्रीक सौन्दर्यशास्त्र का इतिहास तथा अन्य कृतियों का अध्ययन किया)। उनमें से कोई रचना वह पूरी नहीं कर सके। प्रश्न सामने यह है कि सौन्दर्यशास्त्र सम्बन्धी उनकी मूल रचनाओं को किस प्रकार क्रमबद्ध किया जाय। और सिर्फ क्रमबद्ध व्यवस्था अपने आप में विशेष जानकारी नहीं दे सकेगी। मैं सर्वप्रथम इन समस्याओं पर विचार करूँगा :

(क) क्या पूर्व-मार्क्सवादी और मार्क्सवादी अवधि की झलक कला और साहित्य सम्बन्धी उनकी रचनाओं में मिलती है,

(ख) उनके बिखरे विचारों और टिप्पणियों में संरचन और विषय संगति के पैटर्न क्या हैं ?

विश्व-दृष्टि का सामान्य विकास और मार्क्सवादी दर्शन के समझे बिना निश्चय ही पहली समस्या को नहीं निपटाया जा सकता है। 'फ़ॉर मार्क्स' नामक पुस्तक में (१९६६ में पेरिस में प्रकाशित, अंग्रेज़ी संस्करण १९६९ में प्रकाशित) लुई अल्तूसेर ने इस विवाद को पुनः प्रस्तुत किया। १८४५ की इस कृति में अल्तूसेर ने यह निर्धारित किया है कि एक वैज्ञानिक विचार यानी मार्क्सवादी दृष्टि के पक्ष में मानववाद सम्बन्धी अस्पष्ट विचार का परित्याग कर दिया गया है। इस प्रकार के 'कटे हुए विचार' की धारणा की पुष्टि करना असंभव लगता है। मार्क्सवादी विश्व-दृष्टि की क्षमता इसके शुद्ध वैज्ञानिक होने में निहित नहीं है क्योंकि यह समाज-विज्ञान है और एक भिन्न प्रकार के ज्ञान का विवेचन करता है और इसके समाज-विज्ञान होने के प्रत्यक्ष तत्त्व **१८४४ की पांडुलिपियों** में मौजूद हैं। इस प्रकार मार्क्स और एंगेल्स के विकासशील सौन्दर्य विषयक विचार में ऐसी कोई सीमा-रेखा खींचना समान रूप से कृत्रिम होगा क्योंकि अपनी आरम्भिक रचनाओं में वे अपनी कई प्रकार की समस्या प्रकट करते हैं। मसलन, कलात्मक स्वतन्त्रता बनाम अलगाव (सेंसर-व्यवस्था पर १८४२ की मार्क्स की टिप्पणी देखें), श्रम-प्रक्रियाओं में कला का स्रोत (देखें **१८४४ की पांडुलिपियाँ**), सोद्देश्यता (देखें **युवा जर्मनी** पर एंगेल्स के विचार) आदि और इनसे सम्बन्धित उनकी चिंता उनकी अत्यंत परिपक्व अवधि में पुनः प्रकट होती है। यहाँ हम उनके पूर्ण सौन्दर्य विषयक विचार पर विचार करेंगे और इसकी शुरुआत १८४२ की अवधि से करेंगे जब हेगेल और फ़ायरबाख़ के विचार के अवशेषों के बावजूद मार्क्सवाद के दो श्रेण्य विचारकों ने अपनी विशिष्ट विश्व-दृष्टि को रूप देने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लिया।

यह हमारे सामने दूसरी समस्या ला खड़ा करता है : कला और साहित्य सम्बन्धी उनकी बिखरी मूल रचनाओं को क्रमबद्ध किस प्रकार किया जाय। आरम्भ में हमें उनकी मूल रचनाओं में विभाजन कर लेना चाहिए यानी उन रचनाओं को, जो स्पष्ट और सुसंगत रूप से किसी विषय को प्रतिपादित करती हैं, टिप्पणीनुमा छोटी रचनाओं से, जिनमें प्रबन्ध के तत्त्व तो हैं परन्तु उसे अंशतः ही विकसित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया गया है और फलस्वरूप वह अस्पष्ट रह गया है, अलग कर लेना चाहिए। और उन रचनाओं को भी अलग कर लेना चाहिए जो जल्दबाजी में लिखी गयी टिप्पणियों अथवा दुरूह टिप्पणियों के रूप में हैं और किसी प्रकार के प्रबन्ध के लिए समर्थ आधार नहीं देती हैं। सम्पूर्ण रचनाओं को तीन श्रेणियों के अन्तर्गत रखा जा सकता है जिनमें प्रथम श्रेणी को मैं **प्रमुख विषय** कहूँगा, दूसरी को व्युत्प्रेक्षा और तीसरी श्रेणी को **टिप्पणी**। प्रथम श्रेणी के अन्तर्गत वे रचनाएँ आती हैं जिनका सम्बन्ध सौन्दर्य-विषयक बोध का स्रोत, कलाकार का अलगाव, यथार्थवाद, सोद्देश्यता, कला के वर्ग-पर्याय आदि से सम्बन्धित विचार-विमर्श से है। दूसरी श्रेणी के अन्तर्गत आनेवाले विषयों में सौन्दर्य-विषयक गुणों और अनुभवों की प्रकृति, कलाकृतियों में सार्वजनीन मानवीय पर्याय और कामद और त्रासद कला के स्थायी मूल्य, रूप और शैली आदि हैं। तीसरी श्रेणी में विज्ञान और कला का प्रभेद, कलात्मक रचना से दर्शन का सम्बन्ध, कलात्मक मूल्यों की क्रमबद्धता आदि विषयों पर चलताऊ चिंतन समाविष्ट हैं। सिकिंगेन और सू के उपन्यास से सम्बन्धित विचार-विमर्श, मार्क्स और एंगेल्स की सौन्दर्यपरक विषयों से सम्बन्धित अत्यंत गंभीर रचनाओं में गिना जाता है; वे उन प्रमुख विषयों के आदि उद्गम हैं जिनके गिर्द दोनों की प्राविधिक धारणाएँ एवं मान्यताएँ निर्मित हुई हैं। दूसरी ओर इस सौन्दर्यपरक विचार-पुंज से व्युत्प्रेक्षाओं और टिप्पणियों को जिनके लेखक अधिकांशतः मार्क्स ही हैं, अलग कर देने का परिणाम होगा सौन्दर्य-विषयक मार्क्सवादी प्रबन्ध के विस्तार और संश्लिष्टता को अनुचित ढंग से क्षीण कर देना।

३. मार्क्सवादी सौन्दर्य-विषयक विचार से सम्बन्धित कई समस्याओं पर आज भी बहस जारी है। किंतु कुछ स्थापनाओं की प्रकृति के सम्बन्ध में अधिकांश लगभग सहमत हैं—खासकर इस मूल प्राविधिक अभिधारणा पर कि सौन्दर्य तत्त्व को मानव जाति का ऐसा सांस्कृतिक कार्यकलाप समझा जाना चाहिए जिसे वह सामाजिक-ऐतिहासिक प्रक्रियाओं के अंतर्गत आत्मोपलब्धि की दिशा में मंद प्रगति के रूप में संपन्न करता है। कला की यह अविच्छिन्न सत्ता, जो संस्कृति की सामाजिक, राजनीतिक, नैतिक, धार्मिक, वैज्ञानिक आदि विविध अभिव्यक्तियों पर अनेकशः निर्भर हैं, इन विभिन्न कार्य-क्षेत्रों को पुनः प्रभावित करती हैं। इसके अतिरिक्त परस्पर निर्भरता और जटिल अन्तःसम्बन्धों की पद्धति हर हालत में दोतरफा होती है। एक ओर यह समकालिक होती है, जो एक निश्चित काल के अन्तर्गत समाज की संरचना के आरपार घटित होती है, और दूसरी ओर ऐतिहासिक है जो अतीत से प्रभावित ऐतिहासिक प्रक्रिया के एक अंग के रूप में भी घटित होती है और जो संस्कृति की भावी प्रकृति पर संभव प्रभाव डालती है। सौन्दर्य-शास्त्र और कलाओं की सतत गत्यात्मकता और परिवर्तनशीलता का मुख्य उद्गम है सर्वथा जटिल सैद्धान्तिक दृष्टिकोण जो अन्ततः वर्ग समाज के विकास और अन्तर्विरोधों से अनुकूलित होता है। किन्तु गत्यात्मकता निश्चित सैद्धान्तिक दृष्टिकोणों और आकस्मिक मनोवृत्तियों से भी आती है जिसमें सही अर्थ में विशिष्ट क्षण की संवेदनात्मक और क्रियात्मक शक्ति होती है जिसे हम "मनःसामाजिक" और "पौराणिक" कह सकते हैं। इस पर और भी ज़ोर दिया जाना चाहिए कि सौन्दर्य तत्त्व विकास के दो विशिष्ट सांस्कृतिक क्षेत्रों में संचरण करता है, जो यद्यपि परस्पर अन्तरव्याप्त होते हैं पर कुछ हद तक सामान्य रूप में अपनी असंगतियों को सौन्दर्य-तत्त्व तक प्रेषित करते हैं। विकास के ये परस्पर संबद्ध किंतु प्रायः भिन्न क्षेत्र idiogenetic होते हैं और allogenetic होते हैं अर्थात् एक ओर इनमें वर्तमान सौन्दर्यशास्त्रीय पकिल्पनाओं के ऊपर अतीत की सौन्दर्यशास्त्रीय उपलब्धियों का उत्प्रेरण होता है और दूसरी ओर प्रदत्त सौन्दर्यशास्त्रीय क्षेत्र में सौन्दर्य-बाह्य-तत्त्व का उत्प्रेरण होता है। मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य के उपर्युक्त तत्त्व, जो अत्यन्त संक्षिप्त रूप में यहाँ प्रस्तुत किये गए हैं, 'ऐतिहासिकता' में समाविष्ट हो सकते हैं।

मार्क्स और एंगेल्स ने कला के स्रोत और कार्य से सम्बन्धित प्रश्नों को (या अधिक व्यापक रूप में सौन्दर्य-चेतना के प्रश्नों को) इतिहास के संदर्भ में निरूपित किया था। कला के विकास का प्रच्छन्न अर्थ मानव-सभ्यता के विकास, वर्ग विरोधों के सुदूर परिणाम, अत्याचार, अन्याय और भूख से मुक्ति सम्बन्धी इन्सान की अदम्य इच्छा के संदर्भ में प्रकट हुआ। उनकी इस ऐतिहासिक दृष्टि की अनिवार्यता थी कि उन्होंने अलगाव और सामंजस्य पर भी जोर दिया, और निर्माणकर्त्ता मानव का विश्लेषण इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकार प्रस्तुत किया कि वह निकट भविष्य में अपने थका देने वाले श्रम और उत्पीड़क अज्ञान का विनिमय सामाजिक जीवन के ऐसे प्रकार के साथ कर सके जो क्रीड़ा से मिलता-जुलता हो; अर्थात् वह सौन्दर्यबोध संपन्न प्राणी की हैसियत से मुक्त रूप में रचनात्मक स्तर पर प्रच्छन्न क्षमता की समग्रता प्राप्त कर सकता है। इस ऐतिहासिक दृष्टि में इस तथ्य की पहचान मिलती है कि सौन्दर्यपरक विचार और कलात्मक अभिव्यक्ति अपनी क्रियात्मक परम्पराओं के अन्तर्गत अपेक्षाकृत स्वायत्तता के साथ विकसित होते हैं। इसके साथ ही यह (ऐतिहासिकता) एक प्रणाली भी है जो कला के तत्त्व के रूप में यथार्थवाद और सोद्देश्यता के महत्त्व को उजागर करने में नहीं चूकती है क्योंकि यह कलाकृति को ऐतिहासिक प्रक्रिया और उसके प्रमुख वैचारिक रूपों से जोड़ती एवम् युग्मित करती है। इसके अतिरिक्त यह प्रणाली ऐतिहासिकता की तीन महान् धारणाओं को अपरिहार्य बना देती है जिसके बिना सौन्दर्यशास्त्र सम्बन्धी मार्क्सवादी दृष्टि अपूर्ण और अबोधगम्य रह जाएगी। ये धारणाएँ हैं मानव श्रम पर बल, जो सभी संस्कृतियों की आधारशिला है; फिर सभी प्राणियों की प्रगति के आवश्यक अंग के रूप में सामाजिक क्रांति के युग का आग्रह। और अन्त में इसमें यह विचार कि साम्यवाद (इन्सान) के लिए एक साथ ही वह आदर्श है जो उसने अपने सामने रखा है और वह यथार्थ है जो उसकी प्रगति की ऐतिहासिक गति है। इन विचारों की रोशनी में ही श्रम-प्रक्रियाओं को सौन्दर्य विषयक क्रिया का केन्द्र समझने के साथ ही एक निश्चित यथार्थ भी समझा जाता है जिससे सौन्दर्य-संस्कृति कभी भी पूर्णतः अलग नहीं हो सकती। इन्हीं विचारों की रोशनी में कला को मूलगामी सामाजिक परिवर्तनों के प्रति अपनाये जाने वाले रुख का संचालक समझा जाता है; और अन्ततः कला को आज मानव प्राणी के मुक्तिदाता और विधायक के रूप में देखा जाता है जिसके कारण वह (कला) साम्यवादी आदर्श और आंदोलन से सीधे सम्बद्ध हो जाती है।

अब हम इन व्याख्यात्मक टिप्पणियों को मार्क्स और एंगेल्स के आधारभूत प्राविधिक परिप्रेक्ष्य से जोड़ दें। कला को सामाजिक चेतना का विशिष्ट रूप समझकर विचार करें तो इससे हमारा तात्पर्य यह होगा : (क) इच्छाएं, कभी-कभी विरोधी आस्थाएँ, पूर्ण बुद्धिसंगत राय की अपेक्षा विशेष भूमिका अदा करती हैं; (ख) कलाकार की अन्तर्दृष्टि की वैयक्तिकता का महत्त्व सर्वोपरि है, चाहे उसका विकास और अनुकूलन सामाजिक वातावरण द्वारा हुआ हो; (ग) प्रकृति की वास्तविकता के साथ कलाकार के व्यवहार में—दोनों के बीच, जैसा कि अनिवार्य रूप से होना चाहिए संस्कृति का चाहे जितना दखल हो—अकृत्रिमता और अद्वितीय ताज़गी की गहरी छाप होती है। कलाकार नये सिरे से संस्कृति का संस्कार करने की कोशिश करता है और उसका यह कार्य यथार्थ को समग्रता में प्रस्तुत करने की प्रक्रिया में होता है।

मार्क्स और एंगेल्स द्वारा उठायी गयी सौन्दर्य-विषयक मुख्य समस्याओं को गहरी दृष्टि से देखें तो हम यह ज़ोर देकर कह सकते हैं कि हमारा निरूपण उनके सौन्दर्य विषयक बिखरे विचार-तन्तुओं को पुनर्निर्मित करने की चेष्टा भर है। यहाँ हम उनकी उन्हीं मूल रचनाओं पर प्रकाश डालेंगे जो आमतौर पर अद्यतन यूरोपीय सौन्दर्य-शास्त्रीय चिंतन से सम्बन्धित मुख्य प्रश्नों और समाधानों के लिए प्रासंगिक हैं। हमने यह निष्कर्ष निकाला है कि सामान्य रूप में मार्क्स और एंगेल्स का सौन्दर्य-विषयक विचार उनकी व्यापक विश्व-दृष्टि का अंग है। फिर भी इस निष्कर्ष से समय-समय पर दो भिन्न और परस्पर असंगत निष्कर्ष निकाले गये हैं जिन्हें निरस्त करना ज़रूरी है। इनमें से प्रथम निष्कर्ष के अनुसार—जो बदनामी की हद तक फैल गया है—मार्क्सवादी दृष्टि कला से सम्बन्धित हरेक प्रश्न के लिए बाहरी है यानी यह केवल सामान्य दार्शनिक अथवा सामाजिक-राजनीतिक दृष्टि है। दूसरा निष्कर्ष (देखें राबर्ट सी. टकर की पुस्तक 'काल मार्क्स में **दर्शन और मिथ**', लंदन, १९६१) सम्पूर्ण कम्यूनिस्ट सिद्धान्त को "बुनियादी तौर पर प्रकृत्या सौन्दर्यपरक" बतलाता है; दूसरे शब्दों में क्रीड़ारत मानव के आदर्श से युक्त अर्ध-शिलरवादी मानव-विज्ञान।

४. सौन्दर्यबोध की उत्पत्ति के सम्बन्ध में मार्क्स के विचार, उस युग में, अनुभव-सिद्ध तथ्यों पर निर्मित नहीं हो सकते थे। अतः दूसरों की तरह उन्होंने शुद्ध दार्शनिक युक्ति गढ़ी और उसे इस समस्या के ईश्वरवादी और प्रकृतिवादी समाधानों के विरुद्ध खड़ा किया। १७वीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शताब्दी के दर्शन je ne sais quoi अथवा प्रकृति प्रदत्त विशिष्ट अन्तर्वृत्ति, अथवा विशिष्ट दैवी प्रवृत्ति जैसे विचारों का आश्रय न लेकर मार्क्स ने सौन्दर्यबोध के विकास की व्याख्या मानव-श्रम की ऐतिहासिक प्रक्रिया के अन्तर्गत की। इस प्रकार मार्क्स के लिए यह एक विशिष्ट मानवीय शक्ति है जो पशु-जगत् के प्रवेगों से भिन्न है। मानव जाति अपनी कर्मगत दक्षता को विकसित करने और आचार एवम् विचार में भौतिक दुनिया पर अपना प्रभुत्व कायम करने की प्रक्रिया के दरम्यान अपने सौन्दर्य-बोध को विकसित और परिष्कृत करती है। अतः सक्रिय कलात्मक क्षमता आरम्भ में ही इस रूप में हासिल की जाती है: भौतिक दुनिया मानव की माप अथवा अनुकूल उपयोग के अनुरूप ढाली जाती है और साथ ही मानवीय क्रीड़ा-क्षमता की अभिव्यक्ति के मार्ग का आविष्कार भी किया जाता है। इस प्रकार 'होमो फेबर' 'होमो लूडेन्स' होने की प्रक्रिया में होता है। सौन्दर्यबोध अपने शुद्ध अनु-चिंतनात्मक रूप में परवर्ती उपज है जिसे मार्क्स ने 'मिनेरालॉजिकल' बोध कहा है। यह अपेक्षया अव्याव-हारिक असम्पृक्ति पर निर्भर रहता है। इस प्रकार आदिम मानव द्वारा अपनी आवश्यकताओं के अनुसार यथार्थ के अपनाव या विनियोग के मार्क्स द्वारा प्रस्तुत किये गये वस्तुगत और मनोगत विवरण को इस प्रकार प्रतिपादित किया जा सकता है कि मनुष्य सामाजिक क्रिया के माध्यम से, जिसमें उसका सौन्दर्य-बोध (या यही अर्थ में कलात्मक बोध (प्रस्फुटित होता है, अपने-आपको) अपने "मानवीय तत्त्व" को) स्थापित करता है। इस प्रमुख विषय से सम्बन्धित कुछ रचनाएँ समस्या खड़ी करती हैं। 'ए कंट्री-ब्युशन टु द क्रिटीक ऑफ़ पोलिटिकल इकोनामी' नामक पुस्तक में मूल्यवान धातु पर विचार करते हुए मार्क्स घोषणा करते हैं कि उनके रंगों में 'सौन्दर्य के गुण" समा-विष्ट हैं जो "सौन्दर्यबोध के सबसे लोकप्रिय रूपों" को जाग्रत करते हैं। मार्क्स ने इसे ऐतिहासिक दृष्टि से प्रारंभिक क्रिया की अपेक्षा व्यापक प्रचलित क्रिया ठीक ही कहा है। फिर भी इसके प्रारम्भिक और ऐंद्रिय भौतिक गुणों पर जोर देते हुए भी लगता है कि वह कम-से-कम इसके संरचनात्मक कलात्मक गुणों (मात्रा) की धारणा को मानव द्वारा श्रम की प्रक्रिया में ऐतिहासिक विकास के उस परिणाम द्वारा विशेषित करना चाहते थे जो सौन्दर्य-बोध का आधार है। यहाँ सौंदर्यपरक गुणों के दो प्रकार हो सकते हैं और दोनों में कोई एक-दूसरे को बहिष्कृत नहीं करता। प्रथम, वर्णबोध जो सहजात होता है; दूसरा, प्राकृतिक क्षमता जिसका प्रयोग श्रम पर आधारित मानव अपने अवकाश में करता है। किन्तु यह समझौतापूर्ण अनु-मान **'१८४४ की पांडुलिपि'** और **पूंजी** द्वारा निरस्त हो जाता है। इन पुस्तकों से हासिल ज्ञान के बाद एक ही विकल्प बच रहता है कि मार्क्स की सौन्दर्यबोध के विकास-शील स्तरों से सम्बन्धित धारणा का पुनर्निर्माण किया जाय। अब मार्क्स के विचार को प्रामाणिक रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है:

(अ) मूलतः मानव अपनी वस्तुओं का निर्माण कला-त्मक ढंग से करता है जिससे वह भौतिक दुनिया पर मानवीय ढंग से प्रभुता कायम करने की शक्ति का परिचय देता है।

(ब) बहुत हद तक उसकी वस्तु संरचना, जिसमें मानदंड और अनुपात निहित होता है, कलात्मक प्रक्रिया के मूलभूत उद्देश्य में परिणत हो सकती है। इस स्तर से, जहाँ प्रमुख क्रियात्मकता की प्रधानता मौजूद नहीं रहती, अव्यावहारिक सौन्दर्यपरक चिंतन का विकास जुड़ जाता है।

(स) विशिष्ट गुणों—मसलन रंग, ध्वनि और रूप आदि के प्रति रागबोध तब प्रकट होता है जब सौन्दर्यबोध अत्यधिक संचेतन, सुनिश्चित और अपेक्षया स्वायत्त हो जाता है। प्रारम्भिक प्रक्रियाओं की यह अन्तिम अवस्था है जिसमें कला और उसके मनोगत संघटकों का विकास मानव जाति के श्रम से होता है। मार्क्स की विश्व-दृष्टि के अनु-सार यह प्रक्रिया पुरापाषाण युग से लेकर नव-पाषाण युग के बीच लाखों वर्षों तक चलती है। यहाँ हमने उन सम्बन्धों को परिभाषित करने के लिए एक ऐसी रूपरेखा मात्र प्रस्तुत की है जिसमें सौन्दर्य गुण मानव के लिए महत्त्व के विविध रूप प्राप्त करते हैं। मार्क्सवादी ऐतिहासिक अवधारणा के विषय में हमारे इस पुनर्निर्माण को मार्क्स की वे टिप्पणियाँ भी पुष्ट करती हैं जिनमें कला की प्रकृति और सौन्दर्यअनुभूति की सामान्य चर्चा है। **१८४४ की पांडु-लिपियाँ** नामक पुस्तक में माप (मात्रा) को सौन्दर्य का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वस्तुगत आधार माना गया है। 'अर्थशास्त्र की आलोचना की रूपरेखा' में प्राचीन ग्रीक कला की सुगठित संरचना पर बल दिया गया है और उसे ही ग्रीक कला की उपलब्धि बतलाया गया है। मार्क्स की सम्पूर्ण विश्व-दृष्टि के अन्तर्गत माप (मात्रा) की धारणा के विभिन्न अर्थ लगाये गये हैं। वर्तमान संदर्भ में यह धारणा भौतिक यथार्थ की संरचनाओं का हू-ब-हू प्रस्तुतीकरण एवं संतुलन, नियमितता, अनुपात और सामंजस्य जैसे निश्चित गुणों का संकेत देता है जिसमें ऐसी सुसंगत सम्पूर्णता होती है जो यथार्थ से टक्कर ले सके। माप हर हालत में कलाकृति की आन्तरिक सघन संरचना की द्योतक है—वहाँ भी जहाँ यथार्थ वस्तुओं के हू-ब-हू प्रस्तुतीकरण पर जोर है। यह जोर, जो आदिम कला का अनिवार्य सौन्दर्य गुण है, पुनः-पुनः—खासकर प्रायोगिक कलाओं में—संस्कृति के सम्पूर्ण इतिहास के पूरे विस्तार में प्रकट होता है। फिर भी लूकाच ने 'सौन्दर्य-शास्त्र' नामक पुस्तक (१९६४) में जो इस विषय का सर्वोत्तम एवं समग्र मार्क्सवादी विवेचन है, मार्क्स की 'माप' सम्बन्धी अवधारणा पर विचार करते हुए उसके 'अनुकरणात्मक' पहलू पर ही अधिक बल दिया है। लूकाच यह दिखलाने की चेष्टा करते हैं कि मार्क्सवादी विचारधारा के अनुसार सभी कला अनुकरणात्मक हैं। लेकिन यह दिखला पाने में वह असफल रहते हैं। उसी प्रकार मार्क्स के सौन्दर्यानुभूति की विलक्षणता से सम्बन्धित विचार भी लूकाच द्वारा प्रस्तुत किये गये विचार का अंशतः खंडन करते हैं। **१८४४ की पांडुलिपियाँ** में मार्क्स ने उल्लेख किया है कि एक व्यापारी को व्यापारी की हैसियत से खनिजों में कोई सौन्दर्य नहीं दीखता और **अर्थशास्त्र की समीक्षा** नामक पुस्तक में वह टिप्पणी करते हैं कि हीरा एक पण्य वस्तु की अपेक्षा किसी लड़की के वक्ष पर ही सौन्दर्यानंद देता है। बाद के परिच्छेद में वह सौन्दर्यपरक आनन्द देने वाली वस्तु में उपयोगिता से उत्पन्न मूल्य बतलाते हैं जो वस्तुओं के विनिमय मूल्य के प्रतिकूल होता है। यह स्पष्ट है कि मार्क्स के अनुसार सौन्दर्य की वस्तु के उपयोगी-मूल्य का उसके प्रायोगिक अथवा व्यावहारिक कार्य से मेल नहीं खाता है। सौन्दर्यानुभूति की इस अव्यावहारिक प्रकृति को मार्क्स ने 'पूंजी' में रेखांकित किया है जहाँ उन्होंने गैर-पूंजीवादी स्थितियों में श्रम का वर्णन किया है और फिर 'अर्थशास्त्र की समीक्षा' में भी मध्ययुगीन दस्तकारी का वर्णन करते हुए : "यह कृति अभी अर्ध-कलात्मक है क्योंकि उसका लक्ष्य उपयोग है।"

इस संदर्भ में यह महत्वपूर्ण है कि मार्क्स सौन्दर्यानुभूति की प्रकृति को संश्लिष्ट समझते हैं : उनके अनुसार इसमें बौद्धिक, रागात्मक और ऐन्द्रिय तत्त्वों का मिश्रण होता है, तथा यह अ-सैद्धान्तिक होता है। इस प्रकार मार्क्स द्वारा लिखित **अर्थशास्त्र की समीक्षा की भूमिका** में यथार्थ के बौद्धिक और धार्मिक विनियोगों को स्पष्टरूप से कलात्मकता से अलग दिखलाया गया है। एक पत्र में ए० रूज द्वारा की गई शेक्सपियर की आलोचना का संकेत देते हुए मार्क्स ने इस सुझाव की निंदा की है कि शेक्सपियर की समालोचना इस आधार होनी चाहिए कि उनके पास कोई दार्शनिक पद्धति थी अथवा नहीं। उनके अनुसार कलात्मक विश्व-दृष्टि को ज्ञान की अन्य पद्धतियों से उलझाना नहीं चाहिए। ई० सू० के उपन्यास की छिछली पावनतावादी नैतिकता पर आक्षेप के अतिरिक्त मार्क्स और एंगेल्स ने नैतिक और सौन्दर्यपरक मूल्यों के सम्बन्ध का विवेचन स्पष्ट रूप से कभी नहीं किया। दूसरी ओर मार्क्स के मानव-शास्त्रीय आदर्श—जिनके अनुसार सामंजस्यपूर्ण वैयक्तिकता में ही सम्पूर्ण मानव शक्तियाँ निहित होती हैं—की प्राप्ति सौन्दर्य विषयक और नैतिक सिद्धान्तों के आवयविक एकीकरण से होती है। फिर भी यह विचार किसी प्रकार हमारे उस निष्कर्ष को क्षति नहीं पहुँचाता जिस पर हम कला की प्रकृति और सौन्दर्यानुभूति से सम्बन्धित मार्क्स की टिप्पणियों की जाँच करके पहुँचते हैं। अर्थात् वह विषयी और विषय दोनों को सौन्दर्य-विषयक क्षेत्र का संघटक समझते हैं जो एक पूर्ण और सुसंगत संरचना है। और कलात्मक मूल्यों के अनुभव के क्षणों में अन्य मानवीय कार्यकलापों के विषय में तथा वृहद संदर्भ में इनमें से प्रत्येक अपेक्षया स्वायत्त होता है। परिणामतः विषयी और विषय दोनों मिलकर अस्थायी तौर पर, हम जिस दुनिया में रहते हैं उसके प्रतिरूप "प्रतिद्वन्द्वी दुनिया" खड़ी करते हैं। फिर भी यह स्वायत्तता अपने में ज्ञानात्मक और वैचारिक कार्यों को समाहित करती है—कला का विशिष्ट संघटन और कला की अनुभूति, जो मानव मनोविज्ञान को समृद्ध करती है, विश्व से अपना सम्बन्ध प्रकट करते हैं जिसे कभी काटा नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जा सकता है। मार्क्स और एंगेल्स की रूपविधान संबंधी टिप्पणियाँ हमारी इस व्याख्या का समर्थन करती हैं। उनके मुताबिक रूपविधान कलात्मक तंत्र की समष्टि है, अथवा समग्र सौन्दर्यपरक संरचना के अन्तर्गत विभिन्न तत्त्वों का सामंजस्यपूर्ण संगठन है। रूप-विधान की समस्या पर उन्होंने बहुत थोड़ा लिखा है जिसका कारण १८९३ में एंगेल्स द्वारा मेहरिंग को लिखे गये पत्र से आंशिक रूप में समझा जा सकता है। इस पत्र में उन्होंने कहा था कि वह सर्वप्रथम विषय-वस्तु पर मुख्य जोर देने के लिए 'बाध्य' थे। वास्तव में सिकिंगेन से सम्बन्धित मार्क्स और एंगेल्स के विचार-विमर्श प्रकट करते हैं कि वे "विषय वस्तु के सौन्दर्यशास्त्र" की प्राथमिकता के प्रति प्रतिबद्ध थे। और हम पुनः जोर दे कर कहते हैं कि उनका यह रुख उनके इस विचार को, कि सिद्ध कलाकृति एक स्वायत्त संरचना है, खंडित नहीं करता है। उनके लिए शैली किसी कलाकृति का वैयक्तिक गुण है। उन्होंने कला की प्रकृति से सम्बन्धित आम विचार-विमर्श के दरम्यान अपनी इस टीका को विस्तार नहीं दिया। हम यहाँ उसकी पूर्ति करने का प्रयास नहीं करेंगे क्योंकि प्रस्तुत साक्ष्य अनुमान-भर के लिए ही लाभदायक हैं।

उपर्युक्त समस्याओं पर विचार-विमर्श हमें कला और कलाकार के अलगाव (एलिएनेशन) जैसे प्रमुख विषय के विवेचन की ओर ले जाता है। मार्क्स ने अपना अनुसंधान पूँजीवादी युग तक ही केन्द्रित रखा। फिर भी पूर्व-पूँजीवादी समाज में कलाकार की स्थिति पर उनकी टिप्पणियां हमें यह विश्वास करने का कारण देती हैं कि अन्य क्षेत्रों की तरह इस क्षेत्र में भी उन्होंने अलगाव को सभ्यता के सम्पूर्ण संक्षिप्त इतिहास में मानवीय कार्यकलाप का सहवर्ती बतलाया है। शुद्ध पशु अस्तित्व के जमाने से मानव के उदय काल के दरम्यान—मानवजाति के समाजीकरण की क्रमिक प्रगति की वह प्रक्रिया रही है जो घोर विपत्तिजनक सामाजिक उत्पीड़न, शोषण और संघर्ष के दौर में घटित हुई है—कलात्मक अलगाव धार्मिक विचारधारा चर्च संस्थान, सत्ता के विभिन्न राजनीतिक रूप आदि के सहायक कारण के साथ ही प्रमुख परिणाम के रूप में प्रकट हुआ है। फिर भी सघन अलगाव की स्थिति पूँजीवादी बाजार के आने से ही गुणात्मक रूप में गहरी हुई है। जब कला बिल्कुल अज्ञात क्रय करने वाले के लिए माल के रूप में रची जाने लगी तो मूल्य निर्धारण प्रतियोगिता का नियम बन गया है जिस के कारण प्रायः शिल्पकला के प्रयत्न और स्तर का अवमूल्यन अनिवार्य है। इसके अतिरिक्त मूल्य, हित, रुचि और ज्ञान की जातीयता, जो कलाकार और जनता को आपस में बाँधे रखती है, बढ़ती हुई सुविज्ञता और निर्वैयक्तिक हिसाब-किताब वाले समाज में ध्वस्त हो जाती है। कला के मूल्य की सीमा से बहिष्कृत लोगों में नवीन शहरी मजदूर वर्ग आता है जिसके पास कला तक पहुँचने के लिए न तो मजदूरी का धन होता है और न अवकाश। इसके साथ ही छिट-पुट रूप में वैयक्तिक स्तर पर नयी संभावनाएँ और 'स्वतंत्रता' उपलब्ध हो जाती है क्योंकि सामुदायिक स्तर पर रुपए-पैसे के सम्बन्ध के अतिरिक्त सभी सम्बन्ध टूट गये रहते हैं। कतिपय उच्चकोटि की कलाकृतियाँ पैदा होती हैं पर उन पर भी युग की छाप होती है। इसके अतिरिक्त वह कला विशिष्ट वर्ग के विशेषाधिकार की वस्तु होती है जबकि सामान्य जनों के लिए मामूली, भद्दा कूड़ा-कचरा और तमाशा जैसी चीज सामने होती है। आश्चर्य नहीं कि मार्क्स और एंगेल्स ने ग्रीक पुराकाल को अतुलनीय सौन्दर्यपरक अभिव्यक्ति के युग के रूप में अनुराग से देखा है। सौन्दर्य विषय अभिव्यक्ति का जहां तक सम्बन्ध है उनके मुताबिक पुनरुत्थान-काल और मध्ययुग के सामने भी वर्तमान युग बौना है। इसके बाद के युग में उत्पादन के पूँजीवादी संगठन की क्रमिक विजय होती गई है जिसका प्रभाव मानवीय कार्यकलाप के सभी क्षेत्रों और फलतः चेतना के सभी स्तरों पर भी पड़ा है। इस "अलगाव" के परिणामस्वरूप केवल शोषित ही नहीं बल्कि जिन्हें शोषण का फायदा होता है वे भी सौन्दर्यपरक अनुभूति से वंचित रहते हैं।

यह अलगाव तीन प्रकार का है :

(क) श्रमिक मनुष्य अपने उत्पादन से पृथक हो जाता है; पूँजी का मालिक उत्पादन के उपयोग अथवा विनिमय निर्धारित करता है।

(ख) मुनाफा के लिए मालिकों की प्रतियोगिता उत्पादन की प्रक्रिया निर्धारित करती है : यानी एकरूपता, आवृत्ति, रफ्तार आदि तय करती हैं जो काम को रुटीन बना देता है जिसके गुलाम मालिक और मजदूर दोनों होते हैं। ऐसी पद्धति के लिए यंत्रवत् प्राणी की आवश्यकता होती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है और रचनात्मक कार्य अव्यावहारिक और पराई वस्तु हो जाती है—

(ग) अनुभव के प्रत्येक क्षेत्र में पूँजीवादी मुनाफा की आवश्यकता की पूर्ति के लिए मानव की क्षमता के माध्यम बनाये जाने का परिणाम होता है मानव का अपने "मानवीय स्वभाव" से अलगाव।

ऐसी सामाजिक पद्धति में किसी फैक्ट्री मजदूर की तरह कलाकार अपनी आय उत्पादन करने वाली सेवाएं अपनी इच्छानुसार देने के लिए 'स्वतंत्र' हो गया। परन्तु इस पद्धति द्वारा उसके जीवित रहने और उसकी उपलब्धियों पर जो बृहत्तर आवश्यकताएँ लाद दी गईं उन्हें वह टाल न सका। उसकी क्षमता का शोषण खुल कर किया गया क्योंकि उसकी कला को उस बाजार में किसी प्रकार पहुँचाया जाना था जिसने अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उसका इस्तेमाल किया जो अन्ततः पूँजीवादी उत्पादन से पैदा हुई थी। अगर कलाकार ने निर्वाहपरक आय की उपेक्षा की और अपनी कला पर पद्धति द्वारा थोपे गये यांत्रिक प्रारूप को विफल करने की योजना की तो ऐसी हालत में वह जीवित तो रह लेगा पर उसका उत्पादन अन्य न्यून सांसारिक कारणों से विरक्ति अथवा अलगाव का शिकार होगा। वह युग समाप्त हो गया जब मिल्टन उसी प्रकार कविता करते थे जिस प्रकार मकड़ा जाला बुनता है। वास्तव में, कला एवम् कविता की अनेक विधाएँ या तो मुरझा गईं या लुप्त हो गईं क्योंकि उनकी पूर्व-स्थितियाँ बिगाड़ दी गई थीं। आज न तो बुर्जुवा और न सर्वहारा की वह उपयुक्त जमात थी जो समसामयिक कला में सर्वश्रेष्ठ का स्वागत करती और उनकी पहचान रखती अथवा श्रेण्य विरासत का स्वागत करती। फिर भी इस विषण्ण युग में मानवीय क्षमता के अलगाव से परे मार्क्स एक अलगावरहित युग की यानी साम्यवादी युग की प्रत्याशा करते हैं।

विश्व और समाज पर अतुलनीय प्रभुत्व कायम कर लेने के पश्चात् और घोर आर्थिक अभाव से बाहर आजाने के बाद आदिम युग की तरह जीवन पुनः सौन्दर्य-विषयक सार पा लेगा। यथेष्ट उत्पादक क्षमता लेकर और सुविज्ञ हो कर आदमी 'क्रीड़ाशील प्राणी' के रूप में अपने को पा लेगा। मार्क्स ने भविष्य की परिकल्पना के विस्तृत रूप प्रस्तुत करने का दंभ नहीं किया पर उन्होंने उसके तीन तत्त्वों का उल्लेख अवश्य किया। उनके अनुसार (कम्युनिज्म की स्थापना के बाद) (१) वैयक्तिक क्षमताओं का पूर्ण विकास हो सकेगा : अगर किसी में राफेल होने की संभावना है तो वह राफेल हो सकेगा। (२) कर्म सौन्दर्यपरक प्रकृति धारण कर लेगा जिसमें खुल खेलने की छूट होगी अर्थात शारीरिक और मनोवैज्ञानिक क्षमताओं को मुक्त क्रीड़ा का अवसर मिलेगा। (३) मानव की संभावनाएँ और बहुमुखी प्रतिभाएँ विश्वजनीन हो जाएँगी। कोई पेशेवर चित्रकार नहीं होगा वरन् प्रत्येक व्यक्ति के संभव असीमित कार्यों के बीच चित्रकला के लिए भी एक स्थान होगा।

इन तीन तत्वों में से किसी को भी अलग करने का अर्थ होगा उलझाव में पड़ना। कोस्ताए अक्सेलोस ने अपनी पुस्तक 'Marx penseur de la technique' (पेरिस से १९६१ में प्रकाशित) में 'मुक्त क्रीड़ा के रूप में कर्म' की धारणा का एकपक्षीय रूप लिया है और यह निष्कर्ष निकाला है कि मार्क्स यह विश्वास करते थे कि पारम्परिक अर्थ में कला समाप्त हो जायगी। यहाँ यह सुझाव दिया जा सकता है कि मार्क्स ने सचमुच उन तीन महान परिणामों की प्रत्याशा की थी जो मानव की निर्णायक मुक्ति और साथ-साथ मूल्यों के पुनर्मूल्यांकन का फल होगा। हम यह देखें कि उनकी यह आशा किस सीमा तक काल्पनिक थी ? इसका संतोषजनक उत्तर भावी ऐतिहासिक विकास ही दे सकेगा। पर मार्क्स और एंगेल्स ने अपने तईं १८४४ से ले कर जीवन-पर्यन्त सतत अपने ध्यान को पूँजीवाद की प्रकृति पर केन्द्रित रखा। वे सर्वथा इस कथन पर अटल रहे कि 'मूर्ख-अशिक्षित विशाल जन समूह' और 'एकान्त प्रतिभा' जैसे ऐतिहासिक दाय और उत्पीड़क विभाजन के समाप्त होने पर ही मानव जाति की मुक्ति निश्चित है। सर्वहारा क्रांति ही इस प्रगति को हासिल कर सकती है, और अ-पृथक मनुष्य सौंदर्यबोध युक्त प्राणी के रूप में विकास कर सकता है।

मार्क्स और एंगेल्स के शेष प्रमुख विषयों का अलगाव की समस्या पर उसी हद तक प्रभाव है जिस हद तक कलाकृतियाँ अपना सैद्धान्तिक आधार-बिन्दु प्रकट करती हैं। कलाकार का वर्ग-संघर्ष में सम्मिलित होने का, वह उसके प्रति सचेत हो अथवा नहीं, चाहे वह सामाजिक प्रतिरोधों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का चित्रण करता हो या सोद्देश्य होकर अपना विचार प्रस्तुत करता हो—विभाजित महत्त्व है। एक तरफ तो यह अलगाव के विरुद्ध होता है और दूसरी तरफ अलगाव से ग्रस्त होता है। मार्क्स और एंगेल्स ने कहीं भी इस प्रकार परिभाषित कलात्मक अलगाव की मौजूदगी को ढूँढ़ने के लिहाज से विशिष्ट कलाकृतियों पर चिंतन नहीं किया है। (हालांकि कलाकारों के अलगाव पर अनुभवों के संदर्भ में विचार-विमर्श किया गया है जिसका प्रभाव समान रूप से विद्वानों और पत्रकारों पर पड़ता है)। अवान्तर कथन के रूप में हम कह सकते हैं कि क्रांतिकारी कला पर उनकी टिप्पणियाँ यह संकेत देती हैं कि जिस कलाकृति में वैचारिक प्रतिबद्धता पर जोर दिया जाता है उसमें उसकी संरचनात्मक स्वायत्तता की अंशतः उपेक्षा हो जाती है। दूसरी ओर, निस्संदेह, वे कलाकार की उस वैचारिक प्रतिबद्धता को मुखर रूप में अलगाव समझते हैं, जिसके द्वारा प्रतिक्रियावादी वर्ग शक्तियों के हितों की रक्षा कर रहा होता है। परन्तु, जब वह प्रगतिशील वर्ग के पक्ष की रक्षा कर रहा होता है तब उसकी स्थिति प्रतिकूल होती है। उन्होंने 'वर्ग-समतुल्य' (क्लास इक्विवेलेंस) पद का प्रयोग नहीं किया है। (इसका सर्वप्रथम प्रयोग प्लेखानोव ने किया था) फिर भी उनकी रचनाओं में अतीत और वर्तमान के कलाकारों की ओर उनका संकेत यह प्रकट करता है कि उन्होंने दिखाये-जाने योग्य वैचारिक वर्ग-मूल्यों को ध्यान में रखकर कलाकार के दृष्टिकोण का जायज़ा अवश्य लिया। हम यह जोर देकर कह सकते हैं कि उन्होंने ऐसे मूल्यों का स्थान-निर्धारण कलाकार के जन्मजात वर्ग में नहीं बल्कि उसकी कलाकृतियों में व्यक्त आँकड़ों में किया। 'वैचारिक समतुल्यों' की परिभाषा उन्होंने इस प्रकार की है: उनका प्रायः विस्तृत सामाजिक अर्थ था और उनके कारण कलाकार (मसलन दांते, शताब्रिएं) सम्पूर्ण ऐतिहासिक वर्ग की सचेत युग-चेतना से सम्बद्ध था। कभी-कभी विशेष राजनीतिक दृष्टि के कारण इस 'समतुल्य' की संकीर्ण परिभाषा की गई (मसलन, शेली, हाइने, 'युवा जर्मनी' के संबंध में)। मार्क्स और एंगेल्स ने प्रायः अपने सम-सामयिकों पर लिखते हुए यही रास्ता अपनाया। उनका ऐसा करना स्वाभाविक था। क्योंकि मुख्य विरोधी पक्षों को निरूपित करने के लिए बुर्जुवा और सर्वहारा के विभाजन का यथेष्ट इस्तेमाल उन्हें करना था। पर चूँकि अन्य अप्रमुख वर्गों का भी समान रूप से कलात्मक चित्रण हो सकता है इसलिए उन्होंने इस सूत्रीकरण तक ही अपने को सीमित नहीं रखा। यही कारण है कि मार्क्स की पुस्तक '१८वीं ब्रूमेर' में दुकानदारों के साहित्यिक प्रतिनिधित्व का ज़िक्र मिलता है अथवा गेटे की वैचारिक उलझन का ज़िक्र जिसकी शल्य-क्रिया एंगेल्स ने सतर्कता से की है। उनका वर्ग-विश्लेषण का प्रयोग स्पष्टतः संवेदनशील, लचीला और कलाकृति पर आधारित है। परन्तु यह उनके लिए सर्वोपरि महत्त्व का विषय नहीं रहा है। और न तो एकांगी रूप से इस विषय को लिया ही जा सकता है। अतः जब वे अपरिपक्व क्रांति (देखें सिकिंगेन से सम्बन्धित पत्राचार) और जीवित रहने के उद्देश्य से 'प्राचीन शासन' (ancient regime) के निकटदर्शी (myopic) संघर्ष (देखें मार्क्स द्वारा हेगेल के विधि-दर्शन की समीक्षा) दोनों के निरूपण पर विचार करते, हैं तो वे मुख्यतः त्रासदीय रचना पर ही विचार करते हैं। प्रसंगवश उनकी त्रासदीय रचनाओं से सम्बन्धित टिप्पणियों से यह अर्थ नहीं निकाला जा सकता कि वे उनके सिद्धान्त को पूर्णता प्रदान कर रही थीं।

वर्ग-समतुल्यों के विश्लेषण का आधार और कसौटी उनकी यथार्थवाद की धारणा में निहित है। इस पद का इस्तेमाल मार्क्स की रचनाओं में नहीं हुआ है। फिर भी सू के उपन्यास, लासाल के नाटक और १९वीं शताब्दी के इंगलैंड के उपन्यासकारों पर उनकी टिप्पणियों में वही धारणा व्यक्त हुई है जो मीना काट्स्की और मारग्रेट हार्कनेस को लिखे गए अपने पत्रों में एंगेल्स ने प्रतिपादित किया था। यथार्थवाद कलाकृति का कलात्मक-संज्ञानात्मक मूल्य है। बालज़ाक पर उनकी टिप्पणियाँ यह प्रकट करती हैं कि संज्ञानात्मक समतुल्य की परिभाषा वैचारिक समतुल्य से (जिसे हम वर्ग-स्थित रूप में देख चुके हैं) विस्तृत है।

यद्यपि कलाकार की यथार्थवादी प्रवृत्ति समसामयिक वर्ग-संघर्ष के प्रति उसके रुख में प्रकट होगी, पर अनिवार्य रूप से कलात्मक संज्ञानात्मक मूल्यों और कलाकार के सामाजिक-राजनीतिक अथवा दार्शनिक विचारों के परस्पर सम्बन्ध की स्थिति नहीं प्राप्त होती। बालज़ाक घोषित रूप में और वास्तव में राजभक्त (रायलिस्ट) थे फिर भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनके उपन्यास-चक्र में राजभक्तिवादी सिद्धान्तों के विरुद्ध अभियोग सन्निहित हैं। मार्क्स और एंगेल्स ने कलाकृति के संज्ञानात्मक समतुल्य की जाँच उसके ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य की सीमा और विस्तार में की है। इस संदर्भ में उन्होंने न सिर्फ नियमनिष्ठ एक निश्चित वर्ग-दृष्टि की अभिव्यक्ति की छान-बीन की बल्कि एक निश्चित अवधि में सामाजिक रूप में परस्पर विरोधी यथार्थ की लाक्षणिक और प्रमुख विशेषताओं की अभिव्यक्ति की समता की भी जाँच की। जिस प्रकार ऐतिहासिक विशिष्टता (टिपिकैलिटी) चरित्र और घटना की नवीनता को अपरिहार्य मानती है उसी प्रकार यथार्थवाद की धारणा वैयक्तिकता और विशिष्टता की माँग करती है (देखें शेक्सपियर पर उनकी टिप्पणियाँ)। फिर भी एंगेल्स द्वारा विवरण के प्रति निष्ठा पर दिये गये जोर को उनके दृष्टिकोण का सार नहीं समझा जाना चाहिए। यहाँ 'भिन्न विविधताएँ और श्रेणियाँ' जिसमें विशिष्टता (टिपिकैलिटी) समाहित है, से सम्बन्धित मार्क्स की टिप्पणी (देखें 'पूँजी' खंड ३) प्रासंगिक है। यहाँ प्रमुख विषय के रूप में सुस्पष्ट रूप से यथार्थवाद को विकसित किया गया है। खेद है कि प्रायः इसे मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र के आधारभूत और एकमात्र सिद्धान्त के रूप में लिया गया है। किन्तु इसमें कमी स्पष्ट है। मसलन, मार्क्स और एंगेल्स ने ऐसा नहीं कहा है कि अनिवार्यतः विशिष्ट चरित्रों को सर्वथा विशिष्ट परिस्थितियों में ही रखा जाना चाहिए अथवा ऐसी परिस्थितियाँ सर्वथा विशिष्ट चरित्र को अपरिहार्य बना देती हैं। और न मार्क्स और एंगेल्स ने इस बात की ही पुष्टि की है कि हर हालत में यथार्थ के विशिष्ट ढाँचे को अपनी सामाजिक गत्यात्मकता के अंतर्गत, उदीयमान सामाजिक तत्त्वों के चित्रण को समाहित करना चाहिए अथवा यह कि ह्रास की स्थिति में भी उन तत्त्वों का चित्रण उचित हो सकता है। सामाजिक गत्यात्मकता के सकारात्मक चित्रण के विषय में यह दुविधा यथार्थवाद का प्रश्न है। प्रस्तुत रूप में यह अन्य प्रमुख विषय **सोद्देश्यता** से भिन्न है जिसके सम्बन्ध में मार्क्स और एंगेल्स स्पष्ट हैं। जैसाकि मीना काट्स्की को लिखे अपने पत्र में एंगेल्स ने घोषणा की थी, यथार्थवाद का अर्थ है सामाजिक यथार्थ में अन्तर्निहित द्वन्द्वात्मकता और इतिहास की स्वतःस्फूर्त प्रवृत्ति का चित्रण। मार्क्स और एंगेल्स ने निरन्तर प्रवृत्ति के अन्तर्भूत और अप्रकट संज्ञानों को प्रतिबद्ध कला की स्पष्ट और उपदेशात्मक सोद्देश्यमूलक विशेषता से अलग रखा। जर्मन कवि फ्राइलीग्राथ के साथ अपने विवाद में जहाँ मार्क्स ने यह स्पष्ट कहा कि क्रांतिकारी पार्टी के प्रति उत्तरदायी कलाकार होने का अर्थ इससे भिन्न कुछ नहीं कि वह उसके तिहासिक ज्वार को अभिव्यक्त करता है जो उत्पीड़ित सर्वहारा के लिए उदीयमान महत्त्व का है, वहीं मार्क्स ने सभी प्रामाणिक और सच्ची रचनाओं के लिए अन्तर्निहित सोद्देश्यता पर जोर दिया है। फिर भी गोर्गवीयर्थ की कविता पर अपने लेख में एंगेल्स ने उस प्रकट सोद्देश्यता की प्रशंसा की है जिसके द्वारा कलाकार मिशनरी की तरह वर्तमान के गर्भ से भविष्य को निकालकर पाठकों की दृष्टि के आगे कर देता है। सोद्देश्यता का पहला कार्य, जैसा कि हम देखते हैं, कलात्मक-संज्ञानात्मक मूल्यों से सम्बन्धित है और दूसरा कार्य वैचारिक प्रतिबद्धता से।

कलात्मक मूल्यों के तारतम्य पर दोनों व्यक्तियों की टिप्पणियों के साथ-साथ कला के स्थायी मूल्यों पर मार्क्स की व्युत्प्रेक्षाओं से एक अन्य प्रमुख संकेत मिलता है जिसे अत्यन्त उपयुक्त शब्दावली में कला का सार्वभौम मानवीय समतुल्य कहा गया है। सू के उपन्यास की नायिका 'फ्लावर द मेरी' के विश्लेषण के दरम्यान ही मार्क्स ने इस समस्या का प्रत्यक्ष उल्लेख किया है। नायिका की तेजस्विता उसके बुर्जुवा वातावरण की सीमा पार कर जाती है। मानव मूल्यों के नैतिकतावादी विद्रूप और भद्देपन के बावजूद लेखक नायिका की जीवंतता को स्वीकारने के लिए विवश है। फिर भी सम्पूर्ण मार्क्सवादी चिंतन में सार्वभौम मानवीय समतुल्य अन्तर्निहित हैं: मसलन, अलगाव की स्थिति के समाप्त होने की सम्भावना में, सम्पन्न वैयक्तिकता को प्रदान किये गये मूल्यों में, विजयी संकल्प, सहज उत्साह और बौद्धिक भावावेश आदि में क्योंकि ये सारे गुण, उदाहरण के लिए, शेक्सपियर और एस्किलस द्वारा अनुप्राणित और अभिव्यक्त हुए हैं। यहाँ मार्क्स का ग्रीक कला की महिमा से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण किन्तु अज्ञात कथन प्रासंगिक होगा। मुख्यतः इससे ये अर्थ लिए जा सकते हैं: (क) पुराकाल की कला में उपलब्ध रूपात्मक एवं सामंजस्यमूलक गुणों का आख्यान (तुलनीय, मैक्स राफेल)। इस व्याख्या के कारण हमें अपना ध्यान उस परिच्छेद में

CC-0. In Public Domain: Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रस्तुत कला के स्थायित्व की दो अन्य निर्णायक कसौटियों से नहीं हटाना चाहिए। वे इस प्रकार हैं : (ख) सम्पूर्ण समाज को कलात्मक रूप से अभिव्यक्त करने की क्षमता। (इसमें मिथकशास्त्र माध्यम होता है जिसकी जड़ें विशिष्ट स्तर और आर्थिक परिपक्वता में निहित होती हैं); और (ग) इसके द्वारा सर्वोच्च मानव मूल्यों, मानव की पूर्ण अभिपुष्टि की अभिव्यक्ति (यहाँ युवा और सरल जाति को ध्यान में रखा गया है जिसके लिए ऐसी अभिव्यक्ति का पूर्ण साधन कला ही प्रस्तुत करती है) 'ख' के अन्तर्गत दी गई कसौटी कला के संज्ञानात्मक समतुल्य का संकेत देती हैं जबकि 'ग' में दी गई कसौटी सार्वभौम मानवीय समतुल्य का संज्ञानात्मक और सार्वभौम मानव मूल्य का परस्पर मेल होता है और दोनों संयुक्त रूप में इस कसौटी की अपेक्षा रखते हैं कि समाविष्ट मूल्यों के अनुसार रूप-विधान का भी औचित्य होना चाहिए। और अन्ततः कसौटी यह है कि (घ) प्रगतिशील अभिमुखता होनी चाहिए (यानी सही माने में वैचारिक समतुल्य)। मार्क्स और एंगेल्स के अनुसार यह मूल्य अकेले व्यक्त नहीं हो सकता क्योंकि कलात्मक मूल्य के रूप में इसकी समुचित अभिव्यंजना होनी चाहिए; इसके अतिरिक्त यह सार्वभौम मानव मूल्यों की (प्रच्छन्न) अभिव्यक्ति है। यहाँ वर्णित मूल्यों की तरतमता अथवा प्राथमिकता का स्पष्टरूप से सूत्रीकरण इन दोनों व्यक्तियों में से किसी ने भी कभी नहीं किया। फिर भी हम उनके सौन्दर्यपरक विचारों में 'विषयवस्तु के सौन्दर्यशास्त्र' का विचार देख चुके हैं। और जहाँ तक विषय-वस्तु से सम्बन्धित मूल्य का सवाल है—अगर हम ग्रीक आदर्श के प्रति मार्क्स के लगाव अथवा अनुराग को समझें और अलगाव-रहित मानव जाति, जिसका स्वरूप आदिम समुदायों और मुक्त मानवता के साम्यवादी भविष्य के आदर्श में समझें—तो शायद प्राथमिकता कला के सार्वभौम मानव-मूल्यों को दी जाएगी। इसके अतिरिक्त कोई और सुझाव देने का साहस हम नहीं कर सकते। यहाँ हम यह स्मरण करें कि पूर्वोक्त चार प्रकार के मूल्यों और उनके समानान्तर प्रमुख विषयों के साथ दोनों व्यक्तियों ने कलात्मक शैली को काफी ऊँचा स्थान दिया था। इस मूल्य का सम्बन्ध अन्य मूल्यों से किस प्रकार का है और सम्पूर्ण सौन्दर्य-प्रपंच पर इसका प्रभाव किस प्रकार पड़ता है? इस सम्बन्ध में क्षेपक का सहारा लिये बिना कुछ नहीं कहा जा सकता। मार्क्स और एंगेल्स के सौन्दर्य-विषयक विचारों के पुनर्निर्माण से सम्बन्धित हमारी चेष्टा सिर्फ इस कमी का संकेत भर दे सकती है।

५. मार्क्स और एंगेल्स के सौन्दर्य-विषयक विचार के स्रोत और प्रेरणा का पूर्ण अध्ययन अभी तक नहीं हो सका है। पूर्वकल्पित विचारों पर विद्वानों के निर्भर रहने के कारण विद्वानों ने तीन प्रकार की गलत व्याख्यायें की हैं। एक दृष्टि वह है, (मसलन, लिफ़शित्स) जो पूर्ण रूपेण विचारमूलक स्रोत के प्रभावों यानी सौन्दर्य विषयगत प्रभावों की उपेक्षा करती है। दूसरी दृष्टि वह है (मसलन, येजुइतोव) जो दोनों व्यक्तियों के कला-सम्बन्धी विकासशील विचारों में जर्मन और यूरोपीय सौन्दर्य-शास्त्र, उत्तरवर्ती प्रबोधन काल और हेगेल के बीच की अवधि का सारसंक्षेप देखता है। इसके अतिरिक्त फिडलेंडर की दृष्टि है जो लेनिन के इस कथन को यांत्रिक रूप में ग्रहण करती है कि जर्मन क्लासिकी दर्शन, ब्रिटिश अर्थ-शास्त्र और फ्रांसीसी काल्पनिक समाजवाद मार्क्सवाद के मुख्त स्रोत हैं। इनमें कोई भी दृष्टि संतोषप्रद नहीं है। विचारमूलक स्रोत की प्रेरणा का उच्च और केन्द्रीय महत्त्व असंदिग्ध है। प्रबोधनकाल से शिलर तक की अवधि पर मेरे छात्र स्तानिस्लाव पासुरा ने अपने शोध-प्रबन्ध (वारसा, १९६७) में पूर्ण अनुसंधान के पश्चात् अनुभव सिद्ध रूप में इसकी पुष्टि की है। उक्त अवधि के जर्मन सौन्दर्य-शास्त्रियों और मार्क्स की अवधारणों के बीच समानान्तरता उल्लेख्य है। मार्क्स द्वारा अपने पिता को लिखे गए १८३७ के पत्रों और १८४२ तक के उनके अध्ययन के नोटों (देखें MEGA, पृ० ११५-१८) में सौन्दर्य-विषयक साहित्य के प्रबल अध्ययन एवम् उस जमाने के दर्शन के विद्यार्थी से अपेक्षित ज्ञान की सीमा से बहुत आगे के ज्ञान का प्रमाण मिलता है। एंगेल्स की आरम्भिक रचनाएँ निस्संदेह रूप में हमें यह बतलाती हैं कि वह 'युवा जर्मनी' आंदोलन से सम्बन्धित सौन्दर्य-शास्त्र को घोंट गये थे और उसी सिलसिले में उन्होंने लेसिंग, शिलर और गेटे की रचनाओं का गम्भीर अध्ययन किया। प्राप्त प्रमाण यह साबित करते हैं कि मार्क्स १८५१-५२, १८५७ और १८७४ में सौन्दर्य विषयक विरासत के अध्ययन की ओर पुनः उन्मुख हुए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थे। अवश्य ही और भी ऐसे समय उनके जीवन में आये होंगे। हम यहाँ उन रचनाओं का विषयानुक्रम प्रस्तुत न करेंगे जिन्हें मार्क्स और एंगेल्स ने प्राप्त जानकारी के अनुसार निश्चय ही पढ़ा था, बल्कि हम यहाँ उनके युग के प्रमुख सौन्दर्य-विषयक विचार से सामान्यरूप में उनमें उद्भूत जीवन्त प्रेरणा के सम्बन्ध में विचार करना चाहते हैं। इस संदर्भ में सर्वप्रथम जर्मन सौन्दर्यशास्त्रियों की चर्चा अपरिहार्य है जिसकी "चोटी" केवल हेगेल ही नहीं हैं, जैसाकि कुछ व्यक्तियों ने कहा है; बल्कि इसमें उनके पूर्व के दार्शनिकों की अनेकविध प्रेरणायें भी आती हैं। ग्रीक संस्कृति के प्रति मार्क्स और एंगेल्स के आकर्षण के स्रोत **विंकेलमान** हैं, और जर्मन दर्शन की पूरी परम्परा अलगाव की समस्या खड़ी करने की दिशा में ले जाती है। विंकेलमान, कांट, शिलर तथा अन्य कम महत्त्व के लेखकों ने भी (मसलन हाइडेनराइख, एम० हर्ज), सम्पन्न और सुसंगत व्यक्तित्व को समसामयिक जीवन के विखंडन के विरुद्ध प्रस्तुत किया था। उस जमाने का यह व्यापक विचार था कि समाजी दुनिया के प्रति व्यक्ति के आंतरिक अन्तर्गथन और सम्पूर्ण तालमेल की उपलब्धि में कला की अग्रिम भूमिका होनी चाहिए। युगान्त-विज्ञान प्रभाव से युक्त यह सौन्दर्यपरक मानवशास्त्र उस युग की अत्यंत सामान्य चिंतनशील रचनाओं में भी मौजूद है : उदाहरण के लिए, फ़िख्टे के १७९४ के पत्र, अथवा 'ड्रास आल्टेस्ट सिस्टम प्रोग्राम डेस डयूटंशेन आइडियज़मस', शीर्षक अनाम लेख जिसे कोई होल्डरलिन का लिखा बतलाता है कोई एफ० श्लेगेल का और कोई शेलिंग का तथा कोई यहाँ तक कि हेगेल का लिखा भी बतलाता है।

कलात्मक अलगाव की प्रगति से सम्बन्धित फ़िख्टे, ए० डब्ल्यू० श्लेगेल, हेगेल आदि की अनेक टिप्पणियाँ भी हैं। इस चिंतन प्रवृत्ति के चलते जिसे रूसोवादी कहा जा सकता है,—मार्क्स के समसामयिक एफ० टी० फिशर यह कहते पाये जाते हैं कि पूँजीवादी समाज का जड़, सत्तावादी और नौकरशाही यंत्र सौन्दर्य को विनष्ट कर देता है और विशेषरूप में श्रमशील जनता की सौन्दर्यपरक आवश्यकताओं को नीचे गिरा देता है (देखें सौंदर्यशास्त्र, १८४६-५७; २/९—३६४, ३७५-७६)। सौंदर्यबोध और कला के उद्गम के श्रम-प्रक्रिया से सम्बन्ध की चर्चा ए० डब्ल्यू० श्लेगेल की पुस्तक में ही है! उन्होंने लय की प्रमुख और आदिम भूमिका बतलाई है और दुनिया के साथ व्यक्ति के प्राकृतिक और सामाजिक सम्बन्धों में उसकी खोज की है। उन्होंने यह विचार सामने रखा है कि आदिम समाज में लोग कलाकार-विशेषज्ञ नामक व्यक्तित्व से अनभिज्ञ थे। कला का स्वायत्तीकरण बाद के युग में हुआ। संभवतः मार्क्स ने इस विषय में शिलर के विचार से भी लाभ उठाया। शिलर ने पशु-ज्ञानेन्द्रियों और मानव-ज्ञानेन्द्रियों में विभेद दिखलाया था और साथ ही यह भी कि मानव-ज्ञानेन्द्रियों ने, यथार्थ से काफी दूर होने के कारण, विचारों के मुक्त-क्रम और क्रीड़ावृत्ति के आविर्भाव को संभव किया जिससे व्यक्ति के कार्यों और उसके उत्पादनों को विशिष्ट रूप-विधान प्राप्त हुआ और उसकी अन्तिम परिणति सौंदर्य-बोध में हुई। जहाँ तक सौन्दर्य की प्रकृति का सम्बन्ध है मार्क्स के विचार कांट के 'आत्मा की मुक्त क्रीड़ा' सम्बन्धी विचार का संकेत देते हैं। इस समस्या के विषयिगत पक्ष का समाधान—अर्थात् कलावस्तु और सौन्दर्यानुभूति की स्वायत्तता के बीच सामंजस्यपूर्ण सम्बन्ध की कल्पना—मार्क्स को हाइडेनराइख, हर्ज और शिलर में बनी-बनाई मिल गई। यह स्पष्ट है ही कि विचार की यह प्रवृत्ति उस अवधि में व्यापक रूप से प्रचलित थी। [देखें : के० सी० एफ० क्राउज़े की पुस्तक 'सौन्दर्यशास्त्र की रूपरेखा' (१८३७)]। इसमें सन्देह नहीं कि '१८४४ की पांडुलिपियों' में ऐसी धारणाएँ और यहाँ तक कि ऐसे मुहावरों का इस्तेमाल किया गया है जो फ़ायरबाख़ की पुस्तक 'ईसाई धर्म का सार' (१८४१) में इस्तेमाल किये गये मुहावरों के समान हैं। 'विषय' के कलात्मक मूल्य पर मार्क्स और एंगेल्स का आग्रह 'विषयवस्तु के सौन्दर्यशास्त्र' की परम्परा का संकेत देते हैं जो शिलर से आरम्भ होकर हेगेल के माध्यम से युवा फिशर तक और फिर युवा जर्मनी तक भी मौजूद था। बाद की मण्डली के प्रतिनिधियों की तरह उन्होंने हेगेल की इस प्रतीति को अस्वीकृत कर दिया था कि कला स्थायी तौर पर ह्रास की स्थिति में है; और इस मंडली से उन्होंने कलाकृति में सोद्देश्यता को स्थान देना सीखा। वे फिशर के विचार से सहमत थे (देखें 'सौन्दर्य-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शास्त्र' २।२—४८४) कि सौन्दर्य में स्वयं एक प्रवृत्ति होती है जो स्वयं कलाकृति में सन्निविष्ट होती है। हेगेलवादी सौन्दर्यशास्त्र की प्रेरणा वहाँ स्पष्ट है जहाँ मार्क्स विशेषरूप से कामद और त्रासद रचनाओं की ओर संकेत करते हैं, या फिर ग्रीक कला के स्थायी गौरव का ज़िक्र करते हैं और अन्त में निस्सन्देह 'टिपिकल' की अवधारणा, जो दोनों व्यक्तियों के यथार्थवाद सम्बन्धी विचार का केन्द्र है। इस प्रकार जर्मन क्लासिकी सौन्दर्यशास्त्र के प्रभाव को प्रधान समझना चाहिए। यहाँ हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि अलगाव और अलगावशून्यता की समस्याओं का पता रूसो और कल्पनावादी समाजवादियों की रचनाओं में भी मिल सकता है। उसी प्रकार दिदरो ने भी श्रम-प्रक्रिया में कला का उद्गम देखा था। यथार्थवाद से सम्बन्धित विवाद (जिसने गम्भीर रूप में 'सामान्य में विशेष' की जर्मन धारणा का परिष्कार किया) के स्रोत हैं लेसिंग और दिदरो के विशिष्ट सामाजिक स्थिति का प्रतिनिधित्व करने वाले नायकों से सम्बन्धित विचार; बालज़ाक के उपन्यासों की भूमिकाएँ और १८४०'५० और १८५०'६० की अवधि के साहित्य और चित्रकला के आंदोलनों के प्रभाव (देखें डिकेंस और थैकरे की श्रेणी के अंग्रेज़ उपन्यासकार जार्ज सैंड, कोर्वे, शैम्फ्लूरी के उपन्यास)। बाद की अवधि में ज़ोला और प्रकृतिवादी उपन्यासों से सम्बन्धित विवाद एंगेल्स के यथार्थवाद से सम्बन्धित पत्रों की पृष्ठभूमि प्रदान करते हैं। और एंगेल्स की यथार्थवादी 'विवरण की वास्तविकता' सम्बन्धी स्वीकृति को चरित्र और स्थिति की विशिष्टता (टिपिकैलिटी) सम्बन्धी उनकी सशक्त चिंता से अलग नहीं किया जा सकता जिसका निर्देश उन्होंने प्रकृतिवादी धारा के विरुद्ध किया था। इस प्रकार १३ दिसम्बर १८८३ को लौरा-लफार्गे को लिखा गया उनका पत्र यह बतलाता है कि पेशेवर इतिहासकारों की अपेक्षा १८१५-१८ की अवधि के फ्रांस के बारे में बालज़ाक की 'क्रांतिकारी द्वन्द्वात्मक पद्धति' ने उन्हें अधिक ज्ञान दिया। अस्थायी और अपूर्ण ढंग से ही सही किंतु कला की प्रथम श्रेणी की व्याख्या हमें मादाम दि स्तील और अन्य फ्रांसीसी सिद्धान्तशास्त्रियों (मसलन गिज़ो, बालांश, दि बारां) की व्याख्याओं में मिलती है। इन आधार-सामग्रियों के विवरण में हमें अन्ततः यह जोड़ देना चाहिए कि गम्भीर बहुश्रुत विद्वान् मार्क्स ऐतिहासिक रूप में वर्तमान सौन्दर्यशास्त्रीय सिद्धान्तों से भी पीछे गए, यद्यपि उन्होंने वस्तुतः इन लेखकों और विचारकों से काफी कुछ सीखा था। प्लेटो, अरस्तू और ड्यूरर की अवधारणाएँ उनकी बौद्धिक विरासत के अंग थे।

मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र के विकास की यह वैचारिक उद्गम सम्बन्धी पृष्ठभूमि है। फिर भी हम यह प्रदर्शित कर चुके हैं कि मार्क्स और एंगेल्स के सौन्दर्य-विषयक विचार को उनकी सामान्य विश्व-दृष्टि से अलग नहीं किया जा सकता। उनका गैर सौन्दर्यशास्त्रीय संदर्भ प्राथमिक महत्त्व का है। और इस क्षेत्र में हेगेलवादी सौंदर्यशास्त्र ने मार्क्सवादी विचार को एकमात्र अथवा प्रमुख रूप में प्रभावित नहीं किया। परन्तु हेगेलवादी दर्शन ने अप्रत्यक्ष रूप से निश्चय ही उनके प्रमुख विषयों, व्युत्प्रेक्षाओं और टिप्पणियों को, जिन पर हम विचार कर रहे थे, आकार दिया है। हम उनके सौंदर्यशास्त्र पर उस सम्पूर्ण महान् दार्शनिक आंदोलन के, जो ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को प्रत्यक्ष रूप दे रहा था, गंभीर प्रभाव की उपेक्षा भी नहीं कर सकते। इस ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को हम अठारहवीं शताब्दी के आरंभ में देखते हैं और उसका विकास मांतेस्क्यू, रूसो, विंकेलमान, हर्डर, फ्रांसीसी 'सिद्धान्तशास्त्रियों', हेगेल के इतिहासदर्शन से लेकर अंगरेज अर्थशास्त्रियों और फ्रांसीसी इतिहासकारों में दिखाई पड़ता है। प्रगति सम्बन्धी आधुनिक विचार, जो काल्पनिक रूप ले रहा था, गैर-सौन्दर्यशास्त्रीय प्रभाव से सम्बन्धित है और महत्त्वपूर्ण है। १७७०-'८० के क्रांतिकारी दौर के दरम्यान यूरोपीय विचार पद्धति में प्रकट रूप लेने के पश्चात् सामाजिक और राजनीतिक सिद्धान्त की इस प्रवृत्ति ने न्याय और सामूहिक जीवन के विवेक को या तो सुदूर अतीत में ठेल दिया या सुदूर भविष्य में—और जितनी ही ऐसी चेष्टा की गई उतना ही उसके प्रतिनिधियों के लिए पूंजीवादी व्यवस्था असह्य हो गई। '१८४४ की पांडुलिपियों' में 'भद्र जंगली' से सम्बन्धित आह आदिम और अलगावशून्य व्यक्ति के चित्रण में प्रतिध्वनित हुई हैं। प्राचीन ग्रीस में व्यक्ति और समाज के बीच सामंजस्य का स्वप्न इसी प्रवृत्ति का समभाग है। यहाँ मार्क्स ने विंकेलमान, होल्डरलिन, हेगेल आदि का अनुसरण किया है। फिर भी मार्क्स के बेहतर मानवीय अवस्थिति से सम्बन्धित विचार मुख्यतः भविष्योन्मुख थे और यहीं मार्क्स और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एंगेल्स ने उनका साथ दिया जिन्होंने असंदिग्ध मानव-प्रगति को पहचाना था। उदाहरण के लिए कोंडरसेट, और फ़िख्टे; मोरेली अथवा दोन देशांप की तरह के अठारहवीं शताब्दी के कल्पनावादी; और सेंत साइमन और ओवेन की तरह के औद्योगिक युगीन कल्पनावादी।

और अन्त में स्वच्छन्दतावाद। यद्यपि रोमांटिक स्कूल, शेलिंग और सील्गर के विरुद्ध उनके (मार्क्स और एंगेल्स के) सतत् दार्शनिक, सैद्धान्तिक और सौंदर्य-विषयक संघर्ष को भुलाना असंभव है और अपने युग के संदर्भ में मार्क्स और एंगेल्स रोमांटिकता विरोधी थे फिर भी सौंदर्य-विषयक विवादों का प्रचलित प्रपंच और विलोम पुस्तकों को गढ़ने की पद्धतियाँ इस क्षेत्र में भी उनकी टिप्पणियों के लिए पालने का काम कर रही थीं। जिस प्रकार वे निम्न विषयों से सम्बन्धित प्रश्न गढ़ते हैं उससे पड़ने वाले प्रभाव प्रकट होते हैं: यानी(क) कलाकार की स्वतन्त्रता बनाम राष्ट्र, समाज, और मानवता के प्रति उसका उत्तरदायित्व; (ख) कलाकार का सौंदर्य का एकान्त प्रेमी वाला रूप; अथवा शाश्वत सत्य का पुरोहित वाला रूप बनाम उसकी क्रांतिकारी प्रतिबद्धता; (ग) कला का विशिष्ट सौंदर्य-शास्त्रीय कार्य बनाम ज्ञानात्मक एवं नैतिक कार्य; (घ) अनियंत्रित व्यक्तिवादी कल्पना बनाम प्रकृति के निश्चित नियमों के प्रति कलात्मक अनुगामिता।

यह स्पष्ट है कि मार्क्स और एंगेल्स ने ऐसे विरोधों की अनदेखी नहीं की। परन्तु उस युग पर उनके व्यापक प्रभावों से पूर्ण रूप में पीछा छुड़ाना दीगर बात थी।

यहाँ तक हम यह देख चुके हैं कि मार्क्स और एंगेल्स ने अपनी बौद्धिक भूमिका की संरचना में क्या स्वीकृत किया और आलोचनात्मक रूप से क्या आत्मसात् किया। अब यह विचार करना शेष रह जाता है कि उन्होंने क्या अस्वीकार किया। उनकी नापसंद भी समान रूप में शिक्षा-प्रद और लाक्षणिक हैं। प्रत्यक्ष एवम् अप्रत्यक्ष रूप में उन्होंने क्राउस, वाइस और हेगेल के वस्तुगत आदर्शवाद पर आक्रमण किया और कांट, फ़िख्टे और रोमांटिक स्कूल के मनोगत आदर्शवाद पर प्रहार किया। कला कला के लिए सिद्धान्त को अस्वीकार करते हुए उन्होंने वस्तुतः उसी संकल्प के साथ घिसे-पिटे उपदेशवाद का भी विरोध किया। उन्होंने रूप-विधान का मूल्य स्वीकार किया किन्तु रूपवाद का विरोध किया। यद्यपि उन्होंने सौंदर्यानुभूति के मूल में प्राकृतिक प्रवृत्ति के अस्तित्व को कभी अस्वीकार नहीं किया; परन्तु मानव एवम् अन्य पशुओं में उभयनिष्ठ विशेष सौन्दर्य-वृत्ति की प्राकृतिक धारणा को वे स्वीकार न कर सके।

६. उनकी प्रच्छन्न एवम् प्रकट मूल सामग्रियों के विस्मयकारी विस्तार को ध्यान में रखते हुए शायद ऐसा सोचा जा सकता है कि मार्क्स और एंगेल्स ने सौन्दर्यशास्त्रीय चिंतन के इतिहास में कोई योग नहीं दिया। वास्तव में इस विषय के पश्चिम के अनेक विद्वानों ने उनकी मान्यताओं को हेगेल और १८५०-'६० के फ्रांसीसी यथार्थवादी सिद्धान्त के साथ गड्डमड्ड करके एकदम मिटा देने की चेष्टा की है। दूसरी ओर कुछ रूसी विद्वानों ने मार्क्सवादी विचार को बेलिंस्की अथवा चेर्नीशेवस्की के विचारों के साथ तदाकार दिखलाने की कोशिश की है। प्रत्येक स्थिति में प्रयासों का आधार है तथ्यों का चुना हुआ उपयोग, जिसकी अनुमति नहीं दी जा सकती। यहाँ बिना किसी प्रकार के बहिर्वेशन के मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र के पुनर्निर्माण के क्रम में बाध्यता-वश एक रूपरेखा भर प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई है। और इस क्रम में हमने यह नहीं पाया कि इसकी पूरी आकृति को इसकी वर्तमान मूल सामग्रियों के बराबर बतलाया जा सकता है और न तो इसके हिस्से अन्य समसामयिक तर्कों से समानता रखते हैं। मार्क्स ने अपने अभिनव इतिहासदर्शन के कारण अलगाव और अलगावशून्यता की समस्याओं को सर्वथा नवीन रूप में लिया। उन्होंने उस प्राचीन द्विविधा की पुनर्विवक्षा की, जिसके अनुसार एक ओर कला क्षीण और मृत हो रही थी, और दूसरी ओर पीड़ित मानवता की आशा और सान्त्वना भी थी। मार्क्स ने निष्कर्ष निकाला कि सौन्दर्यबोध संपन्न प्राणी के रूप में मानव का पूर्वानुमान किया जा सकता है पर उसके आगमन को पूरी मानव जाति के मूलगामी सामाजिक-राजनीतिक रूपान्तरण की अपेक्षा है। अतः कलाकार को एक चुनाव करना है: क्या वह एकान्त में अपने को छलता रहेगा अथवा क्रांतिकारी प्रगति की अंतिम हद तक के अन्तराल के चढ़ाव-उतार को अपना कर उसमें हिस्सा लेगा। मार्क्स और एंगेल्स के लिए सोद्देश्यता में एक नया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थ था जो उनके पूर्ववर्तियों को उपलब्ध नहीं था। मार्क्सवादी विश्व-दृष्टि की रोशनी में सोद्देश्यता पर पुनर्विचार किया गया है और ऐतिहासिक यथार्थ को 'सोद्देश्य' कहा गया है। यहाँ यथार्थ के प्रश्न को परिष्कृत किया गया है। हेगेलवादी टाइप निश्चित परिस्थितियों में चित्रित होता था; किन्तु उनकी (मार्क्स-एंगेल्स की) यथार्थवाद संबंधी अवधारणा ने एक नये तत्त्व का समावेश किया—ऐतिहासिक रूप से गतिशील तत्त्वों की संचेतना। इस संदर्भ में विचारधारा कलात्मक वरण और विवेक का अभिन्न अंग हो जाती है और गम्भीर एवम् वास्तविक सोद्देश्यता की प्रकृति ऐसी हो जाती है कि वह कलात्मक कृति के अंतर्गत एकीकृत होकर कलात्मक-ज्ञानात्मक मूल्यों की वृद्धि करता है। इसके अतिरिक्त, द्वन्द्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद के परिप्रेक्ष्य में सौन्दर्य चेतना के उद्गम को भी नया अर्थ दिया गया है। 'होमो फ़ेबर' का 'होमो लुडेंस' में रूपान्तरण और नये सैद्धान्तिक कम्पासों और रसायनों का प्रयोग सशक्त रूप से यह संकेत देता है कि कला एक उत्कृष्ट सामाजिक तत्त्व है और स्वायत्तता की प्रक्रिया को भी ऐतिहासिक रूप में समझा जाना चाहिए। और अन्ततः कला का वर्ग-समतुल्य ठेठ मार्क्सवादी विषय है और इस विषय के विद्यार्थियों ने इसे इसी रूप में स्वीकार भी किया है। यद्यपि मार्क्स और एंगेल्स के पूर्व भी वर्ग-समतुल्य की बात कही गई है पर मार्क्स और एंगेल्स ने उसे सिद्धान्त का रूप दिया और उसकी जटिलताओं का अन्वेषण किया। यहाँ यह निष्कर्ष निकालना उचित है कि कम-से-कम **मार्क्स और एंगेल्स के प्रमुख विषयों ने १९वीं शताब्दी के सौन्दर्यशास्त्र में नए प्रश्न उठाए।**

यहाँ यह संकेत अतिकथन होगा कि उनके सौन्दर्यशास्त्रीय विचार पूर्ण-विकसित सिद्धान्त का रूप ले चुके थे। पर उन विचारों को आकस्मिक और प्रसंगोपात्त अटकलबाजियाँ बतलाकर अथवा महज रुचि और पसंद की उक्तियाँ कहकर खारिज कर देना कम अनुत्तरदायी नहीं होगा। क्योंकि हमारा यह विश्वास है कि हमारा पुनर्निर्माण यह प्रदर्शित करता है कि इन सौन्दर्यशास्त्रीय विचारों में एक आंतरिक संगति है जो किसी गम्भीर असंगति से बाधित नहीं होती। ये विचार सुसंगत हैं और अनेक प्रमुख विषयों से सम्बन्धित सुविकसित दर्शन से पोषित हैं। ये विचार उन समस्याओं को उठाते हैं जिन्हें सभी परम्परिक सौन्दर्यशास्त्रीय प्रबन्धों एवम् आज भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण और बुनियादी समझा जाता है। इस सम्बन्ध में हमें दृढ़ होना चाहिए। निश्चय ही यह सच है कि मार्क्स और एंगेल्स ने कुछ समस्याओं पर कुछ भी नहीं लिखा। उनका सौन्दर्यशास्त्रीय विचार पुंज सर्वसमावेशी नहीं है। उन्होंने कोई पूर्ण शास्त्र या सिद्धांत भी प्रदान नहीं किया। इस कसौटी पर किसी भी सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि का योगदान अपरिभाषेय है। अतः उचित मानदंड तो यही होगा कि उनके अपने युग में उनका योगदान कितना मौलिक था और भविष्य के सिद्धान्त, आलोचना और कला सर्जन को उसने कितना प्रभावित किया। इस कसौटी पर मार्क्स और एंगेल्स के सौन्दर्यशास्त्रीय विचारों का ऐतिसासिक और सैद्धान्तिक महत्त्व है।

अनुवाद : प्रेमेन्द्र

[दि जर्नल ऑव् इस्थेटिक एण्ड आर्ट क्रिटिसिज़्म, के वसंत १९७० के अंक से साभार]

पाद-टिप्पणी

१. इन संकलनों में दिये गये परिचयात्मक लेखों के अलावा मार्क्स और एंगेल्स के सौन्दर्य विषयक विचारों की मुख्य व्याख्याओं की सूची इस प्रकार है :

१) पिटर दमेज : मार्क्स, एंगेल्स और कवि, शिकागो, १९६७ जर्मन संस्करण, स्टटगार्ट, १९५९। इसकी समीक्षा के लिए पार्टीजन रिव्यू का १९६८ का शारदीय अंक, पृ० १५२-५६ देखें।

२) ज्यार्गिज एम० फ्रिदलेंदर : कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंगेल्स और वापरोसी साहित्य, मास्को, १९६२।

३) आन्द्रेई एन जेज्युतो : Woprosi rjealizma W estjetika Marxa i Engelsa, मास्को १९६३.

४) जार्ज लुकाच : कार्ल मार्क्स और एफ. एंगेल्स A Historian of Literature, बर्लिन १९४८ और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Beitrage Zur Geschichte der Asthetik, (सौन्दर्यशास्त्र के इतिहास में योगदान) बर्लिन, १९५४, पृ० १९१-२८५।

५) पावेल एस. त्रोफिमोव : Otsherki istorii marksistskoj estetiki, मास्को, १९६३, पृ० ५—१०८।

६) हांस काश : मार्क्सवाद और सौन्दर्यशास्त्र Marxismus und Asthetik, बर्लिन, १९६२।

७) Henri Lefebvre ; Contribution a l' esthetique, पेरिस १९५३।

८) Adolfo Sanchez Vazquez : Las i deas esteticas de Marx, मेक्सिको सिटी १९६५।

९) मिखाइल लिफशित्ज : कार्ल मार्क्स का कला का दर्शन न्यूयार्क, १९३८, रूसी संस्करण, १९३३।

१०) मैक्स राफ़ेल ; प्रूधो, मार्क्स, पिकासो, पेरिस, १९३३, पृ० १२३-८५।

११) W. C. Hoffenschefer : Iz istorii marksistskoj kritiki, मास्को, १९६७, अध्याय पाँच और छह।

१२) Vera Machackova : युवा एंगेल्स और साहित्य Der junge Engels und die Literatur, बर्लिन १९६१।

१३) फ्रांज पी० शिलर : Engels kak literaturnij kritik मास्को १९३३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

घर सँभालते हुए

लीलाधर जगूड़ी

(यदा । कदा । रण से । पराक्रम से
तप कर वापस । पक कर । तर
एक कतर आदमी
अधिकतर सामूहिक घटता है इस उदाहरण में
कल की सही थी ध्वस्त दृष्टि या कि नहीं थी
हरण में । उदा । उदा)—

मगर आज तुम कैसे रास्ता भूल गये
कि सही जगह चले आये
टिक कर बैठो
जमीन किसी को नहीं गिराती

खानों में बाँटकर मिट्टी पत्थर की समूची संस्कृति को
पिता ने कहा था । यह घर है

चीजों के दैनिक सहवास में मैं खटता रहा
इतने दिन
नागरिक स्वास्थ्य की शुभ कामना के लिए
कहीं नहीं जा सका
—किसी भी अन्याय की तह तक

—मैंने डूबने से पहले ही पी लिया था
वह चुल्लू भर पानी
(जो अब मेरे चेहरे पर भी नहीं है)

घर की ओर आतंकित गुनाह की नजर में
बहुत दिनों बाद तुमसे मुलाकात हो रही है
मुझे खुशी है तुम्हारी आँखों के रंग की
अन्धी पैतृकता में कोई चमक नहीं आ रही है

बहुत दिनों बाद अब तुम इस जगह को
किस संदर्भ में देख रहे हो
क्या वह तुम्हारे छोड़े हुए पेशे का हाल हो सकता है ?

पुराने मुहावरे की गुजर से बाहर
खबरों के सहारे एक दीवार खड़ी करके
अपने अनुभव में मैं विशेष दुखी हूँ
मेरी औरत कई वर्षों से मेरे कपड़े धो रही है

हमारे पीछे एक और आकाश है
मैं उसे नहीं बता पा रहा हूँ
जिसमें हर पेड़ को जड़ तक तपा देने की साजिश हो
रही है

इस घर में । जहाँ मेरा बिस्तर तय है
समय मेरे साथ रुका हुआ है
तुम मुझे बिफरे हुए
पुराने दरिद्र आशय में पाओगे
यहाँ समूचे परिवार का चूतड़
जमीन पर टिका हुआ है

छड़ की तरह खड़ा होना
घर भर के सनसनाते दुख
पकड़ने के लिए
यह अपने-अपने अभ्यास की बात है
पड़ोस के रेडियो से ज्यादा सच बोलना
एक खेत से दूसरे खेत में चढ़ते हुए
बैलों का उद्वेग
झेलने के लिए बायें हाथ से नथुने खींचना
दायें से हल लिखना
हमेशा
मैंने
पशुओं को पलोसने में मानवता बरती है

सभ्यता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संस्कृति
पता नहीं इनको किस तरह समझा जाता है
मेरी तबियत हर दम मिट्टी पलटने को करती है
—कागज पर दाने नहीं उग सकते—
हम रात-दिन बोते हैं
और जनसंघ की चिंता से बाहर उठी हुई
गाय की पूंछ देखकर
जुते हुए बैल;
अपनी आँखों में
केवल जुए को आत्मा समझ कर;
पिघलता हुआ लालच भीतर ही भीतर ढोते हैं

आज तुम से मिलकर। मुझे
पहली बार महसूस हो रहा है
कि घर और आँगन के बीच एक दहलीज है
दरअसल मकान के भीतर खटखटाया हुआ
सुरक्षित चरित्र गोली मारने की चीज़ है
अब तुम आये हो तो देखो यह मेरा घर है
ठिगने कद के पत्थरों की जमानत पर। छूटा हुआ

शब्दों के मुल्क से बाहर
पेड़ों के प्रकरण से बचकर
मैदान के बंजर कान खड़े हैं
समय पर कुत्ते भौंक रहे हैं
सोये हुए भीतर के। लोग चौंक रहे हैं
कि घर के आस-पास कहीं बाघ आ गया है
और अब लड़ाई होगी

जहाँ रात को मची। तुम देखोगे
वहाँ झाड़ी तक नहीं बची
टूटने से
कुत्तों के कान...
क्यों-प्यों से पहाड़ छिल गया
एक डर पर्यटक की तरह
गाँव से निकल कर जंगल में चला गया

सुबह इससे ज्यादा और क्या दे सकती है
देहात को गोबर
हक की तरह शक ही अपना है
जैसे ज्ञान होता है
फावड़े, गैंती और दंदाले के पास अखरोट की
छाया में
सपनों से भरी हुई
बिना गीतों के एक मीठी नींद का
सम्मान होता है
मगर तुम देखोगे खेती
बाड़ी में घुसकर बूढ़ी हो गयी
मंगू उसे बोरे में भरकर
इस साल भी शहर ले गया है
और हाँ,
वह जंगल
जिसके एक-एक पौधे ने मुँह से दरवाजा खोला था
अब बेहद उलझा हुआ और षडयंत्रपूर्ण
बनिये की लिखावट की तरह
बेतरतीब
घना
और सांकेतिक हो गया है
भद्दे भच-भचे को गुड़गुड़ाने के बाद
तजुर्बे से
काठ के कोठे में बन्द थुन्नी पकड़कर
उथल-पुथल करते हुए
अलबत्ता एक मर्दानगी जरूर है
मुलायम सिंह में

मगर नयी आबादी को जीतने में उसके दाँत
खट्टे पड़ गये हैं
और उसके मनुष्य मुख में
इतनी वाहियात पीड़ा होती है
कि दाँत झड़ गये हैं और मसूड़े सड़ गये हैं
उसने अपनी जिन्दगी में कई दफा
'उबाणी जगह पर सिराणी रखकर'
सिर बचा लिया
गीली जमीन पर लेटकर
घर धूप में तन तचा लिया
जो उसी मार्के को अब भी कसा करता है
कि लौंडे लपाड़े फूंक रहे हैं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमारी बनायी हुई दुनिया
—बुढ़िया मरने का दगा दे गयी

मगर कोरी बातों की काणी फायर में
तोड़ते-तोड़ते ज्यों ही एक चेहरा बनता है
स्कूली छोकरों का,
होश आते ही भाग जाते हैं कि गाँव न हो

मुझे खुशी है बहरहाल
तुम कहीं से भी आकर दिखने लग गये हो
इतने दिनों बाद तुमसे मिलकर
मेरा खयाल है छुट्टी की कोई नैतिकता नहीं होती

बहुत पहले जो मेरे साथ था
रोशनी का बड़ा विचार
निर्दलीय हो गया
और क्रांतिकारी जलूस संसद में घुसकर
प्रांतीयता के छोटे उजाले में
कुर्सियों पर सो गया

मैं लगातार कई वर्षों से
घर संभाल रहा हूँ
देखो कितनी दरारें पड़ गयी हैं

किवाड़ के बाहर-भीतर
परिवार की किस्मत में
चित्त भी और पट्ट भी अन्धी कौड़ी है
यहाँ रहने के बाद तुम पाओगे
मकान की हुलिया भीतर की सही तस्वीर नहीं है

तसल्ली के अन्धेरे से एक आँख आगे
नशे का एक पूरा पेड़ है
जिसकी किसी को मुझ से अधिक आशा नहीं थी
मगर चीजें अपनी-अपनी सुस्त जगहों पर चुभी हुई हैं
लो अखबार पढ़ो। तुम ही जान जाओगे
मुख्य प्रस्ताव में कोई बारूद नहीं है
मंत्रिमण्डल है
और खास तौर पर वित्त मंत्री है
जनतंत्र के नेपथ्य में
यह खबर गड़बड़ प्रतिष्ठा की है—

तुम न कुछ बोल रहे हो न हँस रहे हो
क्या तुम्हें कोई गम नहीं है
इतने पेड़ मत बनो
अपनी खाल खींचते-खींचते
किसी भी विधायक की उम्र तीस से कम नहीं है

घर के सामने यह प्रौढ़ पेड़
मैंने जंगल की संभावना में झेला है
अब मेरा कोई क़द नहीं
अखबार से बाहर समय बहुत अकेला है

तुम्हें बताने को बहुत सी बातें रह गयी हैं
—मेरी पत्नी मुझे शरीर से जानती है
उसकी आँखें भरपूर घृणा के नाम पर
अनुपस्थित हो गयी हैं
वह अपने धर्म पर है
मेरा नाम उसकी जुबान पर अड़ जाता है
तुमने तो क्या महसूस किया होगा
मगर मान लो
बित्ते-भर लंगोटी में कुलबुलाती दुनिया का प्यार
रजाई के अन्दर छोटा पड़ जाता है

पिछले पच्चीस वर्षों के सिर से
मैं टोपी की तरह उतर गया हूं
आदमी के बालों की गंध लेकर

तुम ठीक कह रहे हो
अंधेर के ताले पर गजब की चाबी फिट है
फिर भी मालूम करो
समाजवाद कहीं न कहीं
चौथी योजना के किसी पूर्व-निश्चित आँकड़े में है

सबकी सहानुभूति से मिली-जुली
दुर्बलता में
कैसे पनपती है
हर साल पिछले साल से ज्यादा खराबी

इस तरह मत भागो
कहीं कोई नौकरी पकड़ो
विनाश की बहुत बड़ी पहुँच है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तुम इन्तजार करोगे तो एक दिन
आदमी जैसी शक्ल के लिए तरसोगे
वही निश्चय है जो नजर में आया है
जैसे यह घड़ा है। यह तिपाया है
नहीं तो उल्टी गिनती गिनकर मैं यही कहूँगा
तुमने अपने बहाने मुझ से
एक सही आदमी छिपाया है—

समय को इधर-उधर से बचाकर
मैं इस घर में आकर। काटता हूँ
कहीं से भी क्रूर न रहकर

कल मैंने अपने एक-एक खयाल की मरम्मत की
शरीर का बँटवारा किया
एक हिस्से को दूसरे हिस्से का उदाहरण दिया

सुख कोई चीज नहीं
अगर खाना हो
और समाज के हर आदमी को साफ पखाना हो

आज मैं पहली बार महसूस कर रहा हूँ
इस साल मृत्यु से छूट गया
और यहाँ-वहाँ पेड़ों में फूट गया
यकीनन इतने वर्ष मैंने एक युद्ध लड़ा है
फिर भी दिन दलाल की दाढ़ी में अटका हुआ
मेरी किसी जगह को दबाकर
दरवाजा घर से बाहर खड़ा है

लौट कर पाता हूँ
वह फिर कह रहा है
तुम चलो मैं आता हूँ

हक किस जिले की हवा है ?

बहुत कुछ बरामदे से अच्छा है वह मैदान
मगर वह अच्छी नहीं है
मैदान मारकर बरामद होगी जो धूल

समाजवाद की सातवीं ऋतु में
मेरी बीवी
बच्चों का मामला है

दुश्मन बिस्तर से आ रहे हैं
देश का बिस्तर से मुकाबला है

निरोध। संतति निरोध
नये आदमी के आने का इतना बड़ा विरोध

हर दफा घर के देशी अभ्यास में
औरत एक सीढ़ी है
जिस पर मर्द चढ़ता है
और बच्चा उतरता है

देखो ! यह पोस्टर कल ही एक अधिकारी दे गया है
दरअसल
जनतंत्र की नस का पता चल गया है

अब बिल्ली तो मैं बनाऊँगा
लकड़ी की
लेकिन 'म्याऊँ' कौन करेगा
जो रोजमर्रा की छोटी-छोटी चीजों में होती है

अब मेरे लंगड़ाने की जगह
राष्ट्रीय कार्यक्रम की बगल में
मेरी पत्नी आयी है
वे या तो मेरी बन्दूक ठीक करेंगे
या लूप से पाटेंगे
उसके शरीर में जो खाई है

वह मनुष्ययोनि को खून से धोने के लिए स्वचालित है
बाद में सारी घृणाओं का चेहरा प्यार से पुत जाता है
हर बार उसे
किसी मानवीय अनुभव से भरने के लिए
एक वेग मेरे शरीर से जुत जाता है

लेकिन मानव वंश को बरकत दें
इतनी बड़ी गलती से
इस उत्तेजना का सम्बन्ध नहीं बनता है
उनके पेट उठते हैं
और देश धँसने लगता है

सूखा। बाढ़ और जाड़ा
इन सबसे ज्यादा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बीवियों ने
इस देश का समाजवाद बिगाड़ा

बीवी और बिस्तर। नस और समाजवाद के लिए
नागरिक फायदे या हानी से। कुछ बने या न बने
मगर मैं बुरी तरह डावाँडोल हूँ
भीतर उपजते हुए पानी से

दोपहर से पहले की चुस्ती
और बाद की अर्थहीनता
मुझे कड़वा करके चख लेती है
और खेत से हट चुकने के बाद औजार की तरह
उठाकर
देश रंजन के लिए
औरत के करीब रख देती है

घर में झंड होने के बाद कुछ भी दुबारा नहीं
दरअसल यह हमें तोड़ रहा है
जमाने के पक्ष में एक फासला कायम करने के लिए
चारों खाने चित्त करके
निर्णय एक ऊँचा उचक्का है
जो कर्तव्य को बहाने की तरह जोड़ रहा है

—मुझे इसका खेद है
कि विधायक के चरित्र से मेरा चरित्र अच्छा है

तुम कहाँ से पहनकर आये हो
ऐतिहासिक चिंता का यह दहला हुआ लोक
इससे मुझे कम वक्त रहा है
मेरे पैंतरे खेत की बुताई में झड़े हैं
मगर मैं देख रहा हूँ। तुम्हारी शहरी नजर में
मेरी फजीहत के समकालीन बाल खड़े हैं

तुम अपने जूते उतारो
उठे हुए स्तूपों वाला नगर
तुम्हारा पीछा कर रहा है

—कितना घुसना उस अपनी ही कतार में
छिपी हुई दुनिया के भीतर
डरावने चेहरे पर देखना सौ आँखें
कमरे के बल टूटते हुए नगर की सौ आँखें

ताला खोलने के लिए यह चिड़िया की चोंच
तुम संभालकर लाये हो
मगर तुम कहाँ से ढूंढ लाये हो
ये अनुशासन के पर्चे
और खास किस्म के
अनुवादित सवालों की शिकारी आदतें

समूची दुनिया के सम्पर्क से बनी है
मेरे घर की यह दरिद्र दुनिया
चिल्लाने न चिल्लाने का यह सबसे बड़ा कारण है

हरहराते हुए
मानव योनि के अन्धेरे पक्ष में
शरीर की कोतवाली से निकलकर
सार्वजनिक इच्छाओं का श्मशान
आखिरी उदाहरण है

योनि से पैदा हुए उद्देश्य के लिए
मैं तुम्हें कल वहाँ ले चलूँगा
जहाँ पर नदी पहाड़ को काट रही है
और अपने घुटनों से
घाटी के काँच को दरारों में बाँट रही है

मैं तुम्हें इस पहाड़ की
सबसे ऊँची चोटी पर ले चलूंगा
जले हुए पेड़ों की नागरिकता में
पत्थरों के समाज पर पंजे रखकर
वहाँ भी आकाश हमसे ऊँचा है

पहाड़ के पीछे दोनों हाथ धोकर पड़ा है
एक ढाल
माथापच्ची से मरा हुआ
बंजर दोस्ती में धाक जमाकर
सूनापन उजला होकर खड़ा है

हरे साँपों का डर
और चीजों की स्थगित चीख लेकर
गौर से देखने पर जो बेहद घना है
मेरे माथे की लकीरों का नक्शा
इस देश की जलवायु से बना है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चोटें और पेड़
मुझे उस पार के आसमान से
गुणा कर देते हैं
मेरी आँखें

खेतों की धूल सें मैली हुई हैं
वरना तुमसे मिलकर
आज पहली बार लग रहा है
कि जीवन-भर उत्तेजित रखने के लिए
नसें बारूद की बत्तियों की तरह
सारे शरीर में फैली हुई हैं

—लेकिन इन दृश्यों पर सें हवा गुजरेगी
और हम यों ही लाँघ लिये जायेंगे—

तुम अगर हटते चलने को कहते हो
तो यह केंचुवे की बंदूक
मेरे शव पर रख देना
ताकि लोग समझ सकें
—मुझे शांति नहीं थी
और मैं शहर के स्पर्श से बचना चाहता था

जनवरी के मेले में नये अन्न की शराब पीकर
मैंने अपने पशुओं के लिए प्रार्थना की थी

—कंगाल इस वर्ष भी तुम्हें कंधा देते हैं
इस वर्ष भी
खेत-खेत दौड़कर काफी उत्साह से
चाह लेते हैं। यह ठंड
काफी उत्साह सें थाम लेते हैं यह कँप-कँपी
इस वर्ष भी तुम्हें
उधार के कपड़ों सें अलंकृत करते हैं
एक और फसल के लिए भरोसा दे

कंगाल इस वर्ष भी तुम्हें नदी ले जाते हैं
तू वर्षा दे। बरफ दे। काल दे अकाल मत दे
धीरज दे। धक्का मत दे
कहर और शहर के भेष में

ओ, पहाड़ी देवता
जंगल में उगे हुए जहर को चर दे
अपने उपजाऊ फेन को छिटकाकर
खेतों के पुश्ते घास सें भर दे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाषा की काव्यमुक्ति : निराला से धूमिल तक

रमेशचन्द्र शाह

भाषा का सम्बन्ध आदमी के व्यक्तित्व से ही नहीं, उसके अस्तित्व से भी है। व्यक्तित्व की अनुभूति रोजमर्रा की अनुभूति है क्योंकि व्यक्तित्व की चेतना अहंचेतना ही है जिसके बिना आदमी जीवन में सफल नहीं हो सकता, समाज में अपने को जमा नहीं सकता। अस्तित्व की चेतना हममें मुश्किल से ही कभी जगती है क्योंकि वह हमारी प्रयोजन-पूर्त्ति में सहायक नहीं होती उल्टे बाधक ही होती है। व्यक्तित्व की चेतना आदमी को आत्मविश्वासपूर्ण और आत्मतुष्ट बनाती है, जबकि अस्तित्व की चेतना का आरम्भ ही इस आत्मतुष्टि के विघटन से होता है। व्यक्तित्व की अपर्याप्तता या नगण्यता का विचलित करने वाला बोध ही हमें इस व्यक्तित्व की प्रामाणिकता के प्रति शंकालु बनाता है—उसके आधारों की जाँच-पड़ताल करने को विवश करता है : दूसरे शब्दों में, हमें व्यक्तित्व की नागरिक व्यवस्थाओं से खींचकर अस्तित्व के अराजक बीहड़ों में पटक देता है। "हाय पर मेरे कलपते प्राण, तुमको मिला कैसी चेतना का विषम जीवन-मान..." हम देख सकते हैं कि सभ्यता के अस्थिर युगों में यह प्रक्रिया, यह प्रश्नाकुलता अधिक तीव्र होती है।

कारण, जिन युगों में मनुष्य की संस्कृति और सभ्यता के बीच कोई पार्थक्य नहीं होता—संस्कृति के मूल्य ही सभ्यता के मूल्यों के रूप में स्वीकृत और सक्रिय होते हैं : व्यक्ति और समाज की आकांक्षाओं और प्रेरणाओं के बीच असामंजस्य कम-से-कम होता है—सर्वमान्य आस्थाएँ और विश्वास ही व्यक्तित्व की सन्दर्भ-पीठिका के रूप में सहज कारगर होते चलते हैं, उन युगों में मनुष्य की संस्कृति ही मनुष्य की सर्जनात्मकता के निर्बाध संचरण के लिए पर्याप्त होती है। अनुभूति का अन्तःप्रमाण सहज होता है और भाषा भी उसे प्रतिरोध नहीं देती : भाषा के तत्त्वों, इकाइयों के बीच भी वही संगठन, वही स्पष्ट नियमपूर्ण संकेत-व्यवस्था कायम रहती है, जैसी कि समाज के अवयवों के बीच। संस्कृति का सिद्ध गुरुत्वाकर्षण व्यक्ति की गति को कुण्ठित नहीं करता, बल्कि उसे एक धुरी प्रदान करता है और उसके साथ-साथ पूरी स्वतन्त्रता में चरितार्थ होने का विश्वास (या भ्रम) भी। इसके विपरीत जिन युगों में यह सन्दर्भ-पीठिका गड़बड़ा जाती है, संस्कृति के मूल्य सभ्यता को प्रेरित-संघटित करने की सामर्थ्य खो देते हैं, उन युगों में मूल्यों के विघटन के साथ-साथ मानवीय-सम्बन्धों का, स्वयं मानव-व्यक्ति का भी विघटन शुरू हो जाता है। लिहाज़ा शब्द भी अपनी धुरी छोड़ने लगते हैं—उनकी संयोजकता बदल जाती है। उनमें भी अनुभव की वही अराजकता संक्रमित होने लगती है।

इस अराजकता के सार्थक प्रतिकार के लिए, अर्थ के निश्चित अनुभव को फिर से प्राप्त करने के लिए 'अस्तित्व' के प्रति एक अतिरिक्त चिन्ता और चेतना विकसित की जाती है और इस प्रक्रिया में भाषा का अनुभव भी अधिकाधिक आन्तरिक होता जाता है। बासी और अर्थक्षीण शब्दों को उनकी अभ्यास-जड़ लीकों से हटाने के लिए कवि एक नई लय-ताल में ढालता है : एक जटिल छन्द और वाक्य-विन्यास में नियोजित करता है उन्हें; ताकि इस नई लय-गति में, इस नए माहौल में उनकी सहजता वापस आ सके और उन पर लगी हुई काई भी कट सके। मसलन, क्या कारण है कि निराला की 'मरण-दृश्य' जैसी कविता हमारी संवेदना को एक नया और अप्रत्याशित आघात देती है ? क्यों हमें एक अजब-सी स्वतन्त्रता का अनुभव होता है जैसे एकाएक हमारी अनुभव क्षमता बढ़ गई हो—कवि ने भाषा के एक ऐसे मर्मस्थल को उद्घाटित कर दिया हो, एक ऐसा अवकाश शब्दों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के भीतर खोल दिया हो जिसके लिए उस भाषा का हमारा सामान्य बोध और अनुभव हमें तैयार नहीं कर पाता मानों काव्यरूढ़ भाषा पर कवि ने छापा मार दिया हो और उसकी मूर्च्छा भंग कर दी हो। पूरी कविता एक लम्बी सधी हुई साँस सी लगती है—एक गहन 'अर्थ' का पीछा करती हुई, तमाम कोनों-अँतरों में से उसे ढूँढ़कर बाहर खुली हुई हवा में निकालकर ही दम लेती हुई। यहाँ तक, कि पिटे-पिटाए शब्द भी जीवित मौलिक हरकतों का स्वाद देने लगते हैं। शब्द और लय की यह मौलिक टकराहट और घनिष्ठता कोई महज छायावादी भावोद्गार नहीं हैं। गीत की रूढ़ि का संहार करके ही यह गीति-लाघव ऊपर उठता है।

"कहा जो न, कहो !
नित्य-नूतन, प्राण, अपने
गान रच-रच दो !

विश्व सीमाहीन
बाँधती जातीं मुझे कर-कर
व्यथा से दीन !

कह रही हो "दुःख की निधि
यह तुम्हें ला दी नयी विधि
विहग के वे पंख बदले—
किया जल का मीन;
मुक्त अम्बर गया, अब हो
जलधि-जीवन को.....

शब्द और शब्द की, पंक्ति और पंक्ति की, शब्द और लय की इस मौलिक टकराहट में से वह अर्थमुक्ति सम्भव होती है जो कवि के व्यक्तित्व को अस्तित्व के सन्दर्भ में नए सिरे से परिभाषित करती है। यह कसावट ऐसी है कि आप किन्हीं पंक्तियों को अलग से उद्धृत नहीं कर कर सकते क्योंकि अगली ही पंक्ति उनका प्रत्याख्यान करके एक नए अर्थ-सन्दर्भ में ले जा सकती है। छन्द का, वाक्य का विन्यास इतना जटिल है कि किसी भी मोड़ पर दृश्य बदल सकता है और जाना-पहचाना शब्द भी नया-नया लगने लगता है। तुकें तक, अपनी अप्रत्याशितता और अमुखरता के कारण लय के वक्र-संचार की ही तरह, भाषा को उसकी गतानुगतिकता से उबारती लगती हैं। सभी कुछ साभिप्राय है। किन्तु यह अभिप्राय पहले से प्राप्त या आरोपित नहीं है; वह क्रमशः कविता की अनिवार्य लय-गति में संयोजित होता चलता है :—

सकल साभिप्राय;
समझ पाया था नहीं मैं
थी तभी यह हाय !
दिए थे जो स्नेह-चुम्बन
आज प्याले गरल के घन;
कह रही हो हँस—पियो प्रिय
पियो प्रिय निरुपाय।
मुक्ति हूँ मैं, मृत्यु में
आयी हुई, न डरो।"

समूची कविता का अनुभव और स्वाद ही मानो इस 'मुक्ति' का अनुभव और स्वाद है। अस्तित्व की विकटता में से व्यक्तित्व (और कवि-व्यक्तित्व) के उत्तीर्ण हो आ सकने की अनुभूति हमें यह कविता कराती है जैसे। इस प्रकार इस कविता का स्वाद व्यक्तित्व और अस्तित्व की घनिष्ठता का स्वाद है। काव्य में जब-जब यह घनिष्ठता टूटती है, तब-तब भाषा की अर्थवत्ता क्षीण पड़ती है और कवि को शब्दों के नए संयोजन ढूँढ़ने पड़ते हैं, छन्द की नई-नई, जटिलतर प्रणालियाँ आविष्कृत करनी पड़ती हैं, एक ही कविता के अन्दर दो लय-गतियों की टकराहट पैदा करनी पड़ती है (जैसे मसलन, निराला की 'सुमन भर न लिए' शीर्षक कविता में या अज्ञेय की 'अकेली न जैयो राधे' शीर्षक कविता में)—इसलिए कि भाषा की स्वाभाविकता, निर्दोषिता वापस आ सके। इसलिए कि उसे विकृत और कुण्ठित करने वाली ताकतों का सर्जनात्मक प्रतिकार किया जा सके। इसलिए कि भाषा लोचदार और काव्य-सम्भव बन सके। कभी-कभी (और अधिक विघटन और भ्रंश के युग में) ऐसा भी हो जा सकता है कि वाक्य के विस्तार में—अन्य शब्दों की संगति में—अपनी अर्थवत्ता का आश्वासन न पाकर शब्द अपनी ही गहराइयों में अपना उत्खनन करने लगे। या अपने विघटन से घबराकर पुनः संगठन माँगे। तब और अधिक क्रान्तिकारी संयोजन की जरूरत होगी। वाक्य और शब्द के सम्बन्धों की आधारशिला नए सिरे से रखनी पड़ेगी। इस प्रकार की चेतना को हम अज्ञेय, कुँवरनारायण जैसे कवियों में देख सकते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुँवर नारायण के 'माध्यम' की 'असन्तुष्ट चेतना' का संकेत इस सन्दर्भ में विशेष रूप से स्मरण आ रहा है:—

एक असन्तुष्ट चेतना है जो आवेश में पागलों की तरह
भाषा को वस्तु मान, तोड़-फोड़ कर
अपने एकांत में बिखरा लेती है
और फिर किसी सिसकते बालक की तरह कातर हो
भाषा के उन्हीं टुकड़ों को पुनः
अपने स्खलित मन में समेटती है, सँजोती है
और जीवन को किसी नए अर्थ में प्रतिष्ठित करती है

आगे इसी कविता में कवि कहता है:—

शब्दों से घनिष्ठता बढ़ने दो
कि उनकी एक अस्फुट लहक तुम्हारे सौम्य को छू ले
और तुम्हारी विशालता मेरे अदेय को समझे :
स्वयं सिद्ध आनन्द के प्रौढ़ आलिंगन में
समा जाए ऋचाओं की गूँज-सा आर्यलोक
.....

यह 'अस्फुट लहक शब्दों की' क्या है ? हमने ऊपर जो कहा कि कवि भाषा को मात्र अपने व्यक्तिपरक प्रयोजनों से नहीं, बल्कि अस्तित्वपरक स्मृति से पहचानता है। भाषा उसकी स्मृति है—अस्तित्वपरक स्मृति, जो कि उसकी व्यक्तिगत स्मृति से बड़ी है : उसकी संपूरक और सन्दर्भ-पीठिका है। करने को संस्कृति भी यह काम करती है। किन्तु जैसा कि कहा गया, प्रत्येक युग संस्कृति का युग नहीं होता। संस्कृति का उत्कर्ष भी होता है और अपकर्ष भी। अपकर्ष और ह्रास के समय संस्कृति का गुरुत्वाकर्षण खत्म या अतिमन्द हो जाता है। किन्तु वह एकदम नष्ट नहीं हो जाती। एक जीवन्त प्रभाव और नियामक शक्ति के रूप में वह तिरोहित हो जाती है अवश्य; किन्तु भाषा उसे जज़्ब कर लेती है। भाषा में वह अन्तःसलिल हो जाती है। तब उसके तत्त्वों तक पहुँचना अत्यधिक दुष्कर हो उठता है। ऐसे समयों में कवि का कार्य अपेक्षाकृत अधिक जटिल हो जाता है। संस्कृति की सन्दर्भ-पीठिका की क्षतिपूर्ति मानो उसे भाषा से करनी पड़ती है : एक सूक्ष्म भाषिक संवेदना विकसित करनी पड़ती है। उसी अस्तित्ववादी अनिवार्यता और पर्युत्सुकता के साथ भाषा से—भाषा की जड़ों से—उसके अन्तःसलिल स्रोतों से जूझना पड़ता है, जिस तरह कि व्यक्तित्व और समाज के विघटन की चुनौतियों से। कवि की हैसियत से यह उसके अस्तित्व की ही खोज की बुनियादी समस्या है : व्यक्तित्व की खोज से भी ज़्यादा।

हमारी कविता में जब व्यक्तित्व की खोज की आवाज़ बुलन्द की गई थी, तब वह सार्थक और अपने समय की सचाइयों में अनिवार्यतः सन्दर्भित थी। संस्कार और संवेदना की कशमकश को वह सही ढंग से रेखांकित करती थी। यह कशमकश तब रचना की एक सार्थक और प्रमुख प्रेरणा थी। रचनात्मक जिजीविषा, तब, ऐसा लगा था कि इतनी धारदार और पैनी भारतीय लेखक में पहली बार पैदा हो रही है। तब जैसे एकाएक यह अहसास बड़ी तीव्रता के साथ उभरा था कि हमारी अपनी संस्कार-प्राप्त भाषा ने (और जीवन-प्रणालियों ने) कभी हमें अपने व्यक्ति-मन की ऐसी आत्मीय पहचान नहीं कराई। हमें,—हमारे कवियों और कथाकारों को—लगा था कि कदाचित् हमारी परम्परा में व्यक्ति की उस विलक्षणता का वैसा आदर नहीं हो पाया जैसा कि होना चाहिए था। याकि हमारे संस्कारगत मन और अस्तित्व में ही कुछ ऐसा जड़ीभूत है जो कि कलात्मक स्वभाव को, सर्जनात्मक व्यक्तित्व को कुण्ठित करता है—उसे वास्तव में स्वतंत्र और स्वचेतन होने देने से पहले ही अपने भीतर खपा लेता है। स्वाभाविक ही, हमारी कविता की लड़ाई इस खपा लिए जाने से थी। यही उसके विद्रोह और सार्थक विद्रोह की दिशा थी। ऐसा नहीं कि पूर्ववर्त्ती कवियों में यह कशमकश बिलकुल ही न रही हो : निराला का विद्रोही व्यक्तित्व तब हमारे कवियों के लिए प्रेरणा-स्रोत था। उनके कृतित्व का भी वही अंश हमारे लिए सार्थक और प्रेरणाप्रद था जो इस हमारी 'विद्रोही व्यक्तित्व' वाली माँग को पुष्ट और पूर्त्त करता था (बल्कि जो इसमें नहीं अँटता था, उसे भी हम इससे अनुकूलित करके ही देखते थे; और जो बहुत ज़्यादा आड़ा पड़ा, उसे उनकी मानसिक रुग्णता का प्रतिबिम्ब कहकर हल कर देते थे)। रहे बाबू जयशंकर प्रसाद, सो अपने तमाम 'ऐतिहासिक बोध' के बावजूद—जिसकी दाद हमें मजबूरन देनी ही पड़ती थी—वे और उनका कृतित्व हमें भारतीय पुनर्जागरण की करामात से उत्पन्न आत्मतुष्टियों का एक ऐसा विशाल ढूह प्रतीत होते थे, जिनसे टकराने की कोशिश करने का मतलब था उस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धार को ही कुन्द कर लेना, जिसके बल पर हम तत्कालीन रचना की लड़ाई लड़ रहे थे। हमारी संवेदना तब संस्कारों की सदियों पुरानी जकड़ से छूटने के लिए प्रयत्नशील थी और प्रसाद का प्रयत्न हमें इसके ठीक विपरीत लगता था। मैथ्यू आर्नाल्ड की मृत्यु पर किसी ने कहा था कि "देयर गोज़ अवर लास्ट ग्रीक..." ज़्यादा से ज़्यादा हम भी उस वक्त यही कह सकते थे कि "देयर गोज़ अवर लास्ट इण्डियन..."और छुट्टी पा सकते थे। अपने संस्कारगत अस्तित्व की जड़ों में पूरी तरह स्थापित और मगन वह बरगद हमें उस वक्त दे ही क्या सकता था...!

एक और बात भी थी जिसको सही-सही और साफ-साफ पकड़ना ज़रूरी लगता है। चाहे हमारे औज़ार जितने मोटे और भद्दे लगें। वह बात है पूर्व और पश्चिम के द्वन्द्व की...उसकी क्रमशः गहराती चेतना की, जो कि आज हमारी सर्जनात्मकता में संस्कार रूप से बद्धमूल है (इतनी, कि अब हमारी संवेदना उससे भी मुक्त होने को छटपटा रही है); किन्तु उस वक्त, यानी छायावाद के ज़माने में वह नई चीज़ थी—बल्कि सर्जनात्मक होने की शर्त्त जैसी बन गई थी। क्यों बन गई थी ? क्या वह ऐतिहासिक अनिवार्यता थी ? क्या वह सिर्फ एक ज़्यादा प्रतिभाशाली—किन्तु कम भारतीय, अधिक पश्चिमी ढंग में ढले हुए व्यक्ति के साहित्यिक (और, हाँ, राजनीतिक) नेतृत्व के शुद्ध संयोग का परिणाम था ? क्या कारण है कि हममें से कई लोग (जिसमें उस दौर के लेखक भी शामिल हैं) इस पूरे विकास-क्रम का, इस पूरे दौर का प्रायश्चित्त पढ़ने की मुद्रा में आ गए हैं ? क्या यह मोहभंग सही और सार्थक है और क्या यह समकालीन रचनात्मकता को सही दिशा में ले जाने का उपक्रम है ?

एक औसत हिन्दुस्तानी की तरह हम भी ज़रा इन प्रश्नों से पलायन करके कुछ बुनियादी दर्शन बघार लें। सर्जनात्मकता क्या है यह जब हम सोचते हैं तो क्या हम भारतीय या हिन्दू दृष्टि से सोचते हैं ? क्या हमारी इसकी अवधारणा पश्चिमी ढंग की नहीं होती ? आलोचना सर्जनात्मकता का चिन्तन है और उसके साथ-साथ चिन्तन की सर्जनात्मकता भी। और देशों के इतिहास हमें यही सबक देते हैं कि कोई भी जाति तभी तक जीवित रह सकती है, कोई भी संस्कृति तभी तक सक्रिय रह सकती है जब तक वह गतिशील रहे : यह गतिशील होना सर्जनात्मक और आलोचनात्मक दोनों प्रकार की सक्रियताओं से संभव हो सकता है। हमारे देश का इतिहास क्या कहता है ? क्या वे दोनों प्रकार की सक्रियताएँ हमारे यहाँ मौजूद रहीं ? हम देखते हैं कि इस धार्मिक संस्कृति में जब तक आलोचना का खुलापन मौजूद रहा, तब तक सर्जनात्मकता भी काफी सक्रिय रही। उसके अवरुद्ध हो जाने के साथ-साथ वह भी अवरुद्ध हो गई। एक पूरी-की-पूरी सभ्यता गरुड़ से कच्छप की योनि में चली गई। तब आए संत कवि, जिन्होंने धार्मिक दृष्टि का पुनर्मूल्यांकन किया और उसमें सामाजिक विवेक-चेतना को भी जोड़ा। इस मौलिक और स्वाभाविक आलोचना ने भारतीय जनता के भीतर की काफी-कुछ अवरुद्ध कविता को बाहर निकाला और इस प्रकार उसकी अवरुद्ध सर्जनात्मकता का एक ज़ोरदार विस्फोट संभव बनाया। क्योंकि संत कवियों का दर्शन कविता-संभव दर्शन था। होने को उनसे पहले शंकराचार्य के रूप में हिन्दू बौद्धिकता का एक ज़बर्दस्त विस्फोट हो चुका था किन्तु उसमें उतनी ही बलवान कविता को प्रेरित करने की ताकत क्यों नहीं थी, जबकि शंकराचार्य स्वयं कवि थे ?

संतों ने रुढ़ियों को तोड़ा नहीं, उन्हें थोड़ा लचीला अवश्य बना दिया। रूढ़ियाँ तो आत्म-संरक्षण का अनिवार्य तर्क बनी हुई थीं; उन्हें वे कैसे तोड़ते ? उन्होंने केवल ब्राह्मण-संस्कृति की प्रकाण्ड बौद्धिक उपलब्धियों का भावना-कल्प करके सर्वहारा-संस्कृति की चीज़ बना दिया और 'सनातन धर्म का ऐसा मार्ग निकाला कि जिसमें बौद्ध और सूफीमत के योगदान का भी सहज समावेश हो गया। इस सारे आन्दोलन ने जनजीवन के भीतर से उस व्यापक भावनात्मक विस्फोट को जन्म दिया जिसकी अनिवार्य अभिव्यक्ति कविता में हुई। संतों की आलोचना ने जिन जगहों को नहीं छुआ वे सर्जनात्मकता से शून्य रहीं; और बाद में सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियों की बढ़ती हुई जकड़न के साथ उन रूढ़ियों की गिरफ्त भी बढ़ती गई और सदियों तक कोई भी मौलिक विचारक नहीं हुआ। फलतः सर्जनात्मकता फिर अवरुद्ध हो गई। इस प्रकार भारतवर्ष के जीवन में सर्जनात्मकता और आलोचना का नैरन्तर्य नहीं रहा। फिर भी जाति की जीवनी-शक्ति कायम रही, कुण्ठित नहीं हुई और इतिहास की एक जीवित शक्ति और जीवित भाषा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से टकराते ही फिर से पुनर्जागरण की लहर देश के एक कोने से दूसरे कोने तक दौड़ गई। वह क्या था जिसने हमें जीवित रक्खा—संस्कृति के स्तर पर भी और सभ्यता के स्तर पर भी? यह अतीतोन्मुख या पुनरुत्थानवादी प्रवृत्ति से नितान्त भिन्न प्रवृत्ति का लक्षण है कि आदमी विरोधी प्रवाह तक को पचाकर, उसे आत्मसात् करके आगे बढ़ जाय। यह परिणाम होता है कहीं भीतर बहुत गहरे केन्द्र में एक ज़बर्दस्त खुलेपन और नमनीयता का।...रूढ़ियाँ भी सारी जैसे इस बेहद नाज़ुक (वल्नरेबल) और खतरनाक खुलेपन की रक्षा के लिए ही कवच की तरह जुटती गई हों। आज हम सर्जनात्मकता को 'संघर्ष' की ही शब्दावली में समझते और अनुभव करते हैं और यह सर्वथा स्वाभाविक और अनिवार्य भी है। किन्तु इस दृष्टि से देखा जाय तो इस पश्चिमी अर्थ में भारतीयता सर्जनात्मक है ही नहीं। क्योंकि वह चाहे और जो कुछ हो, संघर्षमूलक तो निश्चय ही नहीं है। संघर्ष होता है व्यक्तित्व में; जन्मान्तरवाद में नहीं। संघर्ष होता है इतिहास में; महाकाल में संघर्ष कैसा? भारतीय प्रतिभा का वैशिष्ट्य और विजय इस बात में है कि उसने काल के आयाम को अतिक्रान्त करने का मार्ग ढूँढ़ निकाला, इतिहास के प्रति भी एक अनैतिहासिक और कालातीत दृष्टि अख्तियार की और न केवल अख्तियार की, बल्कि यह दृष्टि सचमुच इतिहास पर हावी हो गई। मुझे जाने क्यों ऐसा लगता है कि सर्वमान्य आस्थाओं में ढलने और सूत्रबद्ध होने के पूर्व इस सब के पीछे एक लम्बी परम्परा 'अस्तित्व' और शुद्ध अस्तित्व के चिन्तन की रही होगी। उसके परिणाम ही हमारे सामने बच रहे हैं; प्रक्रिया सामने नहीं है। आज, जब हम इतनी दूर निकल आए हैं और उस अत्यन्त लचीले और सूक्ष्म वेदनतंत्र को खो चुके हैं, क्या कभी हमारे सामूहिक अवचेतन के भीतर से उस मौलिक प्रक्रिया का पुनर्जन्म संभव होगा? इतिहास की एक लम्बी जड़ता में हमने व्यक्तित्व की सर्जनात्मकता खो दी थी। इसलिए यह अनिवार्य था कि हम पश्चिम से जुड़ते और संघर्षित होते जिसमें कि सभ्यता का आधार ही उस प्रकार की सर्जनात्मकता थी। हमें गत्वर करने के लिए वह नितान्त आवश्यक थी और एक ज़बर्दस्त चुनौती की तरह हमने उसका अंगीकार भी किया था। बिना उससे टकराए हम अपनी सर्जनात्मकता का अनुभव नहीं कर सकते थे। न अपने वाङ्मय में उसकी खोज के लिए प्रेरित हो सकते थे। इसलिए व्यक्तित्व की खोज का नारा उस शुद्ध अस्तित्व की खोज वाली, संघर्ष को शमित करने वाली, विसर्जनशील सर्जनात्मकता से (जिसे हमने भारतीय सर्जनात्मकता कहा) वास्तव में जुड़ने के लिए, उसे महसूस और सक्रिय कर पाने के लिए अनिवार्य था। हम केवल उसे स्वीकार करते आए थे, उसमें खप जाते रहे थे बिना उसे अर्जित किए; और इस प्रकार हमने सदियों से अपनी सर्जनात्मकता ही स्थगित कर रखी थी। व्यक्तित्व और अस्तित्व के, आत्म और अनात्म के, किस गहरे मन्थन में से, शुद्ध अस्तित्व के स्तर पर, मानवीय जीवन के अर्थान्वेषण की वह प्रक्रिया चलती रही होगी जिसकी परिणति इस दृष्टि और दर्शन में हुई, इसका जीवन्त अहसास तो हमारा कभी का कुन्द हो गया था। हमने उसे दर्शन के रूप में स्वीकार लिया किन्तु सर्जनात्मक शक्ति के रूप में खो दिया। इसलिए वह हमारे जीवन्त लौकिक—व्यक्तिगत और सामाजिक अस्तित्व के—संघर्ष की सन्दर्भ-पीठिका न बनकर सारे संघर्षों का पर्यवसान करने वाली और संघर्ष को—अस्तित्व के अनुभव को ही—जड़ से खत्म कर देने वाली चीज़ बन गया। दूसरे शब्दों में जिस प्रश्नाकुलता में से वह चीज़ निकली थी और जिस प्रश्नाकुलता के बल पर ही वह जीवित और सर्जनात्मक बनी रहकर हमारी जीवनी-शक्ति का उपयोग कला और साहित्य और चिन्तन के लिए करती रह सकती थी, वह प्रश्नाकुलता ही हमारी समाप्त हो गई। समाप्त कर दी उसी ने। यह विरोधाभास क्या हमारी—हमारे सामूहिक अस्तित्व की—एक बड़ी विडम्बना नहीं?

रवीन्द्रनाथ ठाकुर के भक्त, बंगाल के एक अंग्रेज़ी के प्रोफेसर सुना महाकवि येट्स से मिलने गए और पूछा कि भारत के लिए आपका क्या संदेश है? सुनते हैं येट्स ने अजीब अधीरता से झल्लाकर कहा 'कॉनफ्लिक्ट! मोर कॉनफ्लिक्ट'...और इतना ही कहकर चुप हो गए। येट्स की यह प्रतिक्रिया स्वयं उन्हीं की कविता के विकास-क्रम में सटीक थी। इसलिए उसकी प्रासंगिकता को समझा जा सकता है। उनकी सबसे परिपक्व कविता—मोटे तौर पर कहा जाय तो—उन्हीं दो प्रकार की सर्जनात्मकताओं के संघर्ष की कविता है जिनका ज़िक्र हमने ऊपर किया। वे इस (भारतीय) तत्त्वचिन्तापरक सर्जनात्मकता के प्रति भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उतनी ही उदग्रता से उन्मुख थे, जितने कि उस संघर्षमूलक, व्यक्तित्वप्रेरित सर्जनात्मकता के प्रति, जो कि उनके यहाँ की परम्परा थी। और उन्होंने अपने अनुभव से पहचाना था कि बिना इस दूसरी चीज़ के पहली चीज़ सार्थक नहीं हो सकती, उस कविता को जन्म नहीं दे सकती जो आदमी की समूची जीवनी-शक्ति को चरितार्थ कर सके।

हमारे एक समकालीन कवि ने अपनी एक कविता में लिखा है—"इस वक्त जबकि कविता माँगती है / समूचा आदमी अपनी खुराक के लिए।" यदि आज के कवि का यह कथन सचमुच अपने परिवेश और इतिहास के साक्ष्य में से, संस्कार और संवेदना की कशमकश की पिछली सारी रचनात्मक परम्परा के निजी बोध और टटोल का परिणाम है तो वह निश्चय ही आत्म-साक्षात्कार की ईमानदारी है। और इस नाते सार्थक है। वर्ना यह तो, जैसा कि इन सारी बातों से स्पष्ट है, भारतीय कवि की हमेशा की समस्या रही है कोई इस वक्त या उस वक्त की नहीं। किसी ने, शायद एलियट ने ही, येट्स के कृतित्व की मीमांसा करते हुए लिखा था कि "मेच्योरिंग एज़ ए पोएट मीन्स मेच्योरिंग एज़ ए होल मैन।" अर्थात् कवि की हैसियत से परिपक्व होने का मतलब है समूचे आदमी की हैसियत से परिपक्व होना। आज के हिन्दी कवि की भाषा में इसका अनुवाद करें तो यही न कहेंगे कि कविता अपनी खुराक के लिए एक समूचा आदमी माँगती है?

अगर यह सब महज़ लफ्फाज़ी नहीं है—जैसाकि डर भारतीयतामात्र की किसी भी प्रकार की चिन्ता और चर्चा के साथ बना ही रहता है—तो इस संक्षिप्त से विश्लेषण में से निकलकर अब हम उन प्रश्नों का सही उत्तर ढूँढने की स्थिति में हैं। बल्कि इस विश्लेषण में उनके उत्तर निहित हैं। पूर्व और पश्चिम के द्वन्द्व का जो गहरा आन्तरिकीकरण छायावाद के बाद की सर्जनात्मकता की शर्त्त बन गया था, वह ऐतिहासिक अनिवार्यता ही थी। ठीक उसी तरह, जिस तरह कि, गाँधीजी के रूप में मध्ययुगीन संतों की—भावना के स्तर पर कार्यशील, किन्तु विराट् जन-समुदाय के भीतर से हल चलाने वाली—महान् क्रान्तिकारी भूमिका का पुनः विस्फोट एक ऐतिहासिक अनिवार्यता थी। दोनों का साथ-साथ चलना आवश्यक था। तभी एक साथ नीचे से और ऊपर से वह क्रान्ति सम्भव होती जो हमें मौलिक रूप से आधुनिक बनाती और हमारे खास अपने सर्जनात्मक स्वभाव में हमें पूरे आत्मविश्वास के साथ स्थापित करती। तब हम गांधी और अरविंद दोनों की सर्जनात्मक संभावनाओं का साक्षात्कार कर सकते थे। क्योंकि तब हम उन्हें अपने व्यक्तित्व की अस्थिर माँगों और ज़रूरतों के संदर्भ में ही नहीं, बल्कि अपने जातीय अस्तित्व की ही एक आधारभूत परिभाषा के रूप में देखते। दूसरे शब्दों में उन्हें अपनी सर्जनात्मक आवश्यकताओं से जोड़कर देखते। येट्स के स्मरण से एक बात मन में कौंधी थी कि आखिर क्या बात है कि हिन्दी (और शायद हर भारतीय) कवि उम्र में ज्यों-ज्यों सयाना होता है, उसकी कविता उतनी ही निस्तेज होती जाती है? पंतजी क्या अरविंद का सर्जनात्मक उपयोग कर सके? कैसे करते? उन्होंने भी उसका वही उपयोग किया जो नया-पुराना हर भारतीय लेखक भारतीय दर्शन का करता आया है। बिना संघर्ष के समाधान, बिना रचना के मुक्ति। यह आरोप हम निरालाजी पर नहीं लगा सकते। उनकी कविता का वेदांत कमाया गया वेदान्त है। वह विवेकानन्द के विचारों का अनुवाद नहीं, बल्कि भावावेगात्मक समतुल्य है। उनकी कविता, उस चिंतन की सर्जनात्मकता के समानान्तर और **समकक्ष** कविता है। विवेकानन्द काफी प्रचण्ड आवेशों के आदमी थे। एक ही रौ में वे जहाँ पूरे हिन्दुस्तान के ब्राह्मणीकरण का स्वप्न देखते थे (अर्थात् भारतीय तत्त्वचिंतन के उस बौद्धिक-भावनात्मक आभिजात्य के देश की समूची प्रजा के हर स्तर में भिद-जाने, रच जाने की; विशिष्ट सर्जनात्मक उत्साह के रूप में सक्रिय हो जाने की बात करते थे), वहीं मार्क्स के विज़न का भारतीयकरण करते हुए यह उद्गार भी व्यक्त करते थे कि इतिहास की सारी ताकत शूद्रों के पक्ष में है। बहुत जल्दी सारे संसार में शूद्रों का प्रभुत्व होगा, शूद्र सभ्यता ही आगे की सभ्यता होगी। विवेकानन्द काफी हद तक परम्परावादी भी थे और अपने तरीके से उसकी व्याख्या और आलोचना करते हुए भी वे उसका वैसा प्रखर पुनर्मूल्यांकन नहीं कर पाए थे जैसा कि अभीष्ट था। किन्तु जितना उन्होंने किया, वह कम नहीं था सही दिशा की खोज के लिए। आलोचना और पुनर्मूल्यांकन एक हज़ार वर्ष से नहीं हुआ था तो एकाएक वह चमत्कार अब कैसे घटित हो जाता?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बाद वालों के लिए भी तो कुछ बचना था करने को। आखिर उन्होंने क्या किया ?

निराला के काव्य में हमें इस दुहरी सर्जनात्मकता के संकेत मिलते हैं। भाषा में भाषिक संवेदना में भी उनके यहाँ यह दोहरा रचाव है। एक ओर उनमें संस्कृत के आभिजात्य के प्रति ज़बर्दस्त आकर्षण दिखाई देता है और दूसरी ओर उनकी भाषा में वह तत्त्व भी चरितार्थ हुआ है जिसे नामवरजी हिन्दी की सात्विक कठोरता या विद्रोही परम्परा कहते हैं। ये दोनों तत्त्व उनकी कविता में एक अत्यन्त सार्थक सर्जनात्मक रिश्ते में जुड़े हुए हैं। फिर चाहे आप उसे तनाव के रूप में देखें, चाहे सहयोग के रूप में।

प्रसाद उस तरह विद्रोही चेतना के कवि नहीं हैं। उनके यहाँ ऐसा लगता है जैसे संघर्ष का अर्थ चित्तवृत्तियों का संघर्ष है। दूसरी ओर उनमें प्रचण्ड बौद्धिकता, व्यंग-क्षमता और वो चीज़ है जिसे हम केवल 'विज़डम' कह सकते हैं। उनकी कविता का सौन्दर्य पश्चिमी काव्यशास्त्र को ललकारता प्रतीत होता है। हमें लगता है कि हमारे संस्कारगत अस्तित्व की जड़ों के भीतर इतनी गहरी पहुँच और किसी कवि की नहीं है। यही उनके प्रति हमारे आकर्षण का रहस्य मुझे जान पड़ता है और शायद यही हमें उनसे बिदकाता भी है। कामायनी वह पहाड़ है जिस पर चढ़कर हम उस दृश्य का कुछ आभास पा सकते हैं जिसे हम भारतीय सर्जनात्मकता कह रहे हैं और उसके साथ अपने अस्तित्वगत रिश्ते का कुछ अनुमान कर सकते हैं। तभी उनकी प्रासंगिकता या अप्रासंगिकता समझ में आ सकती है। हो सकता है कल की आने वाली पीढ़ियाँ उनकी भी वही दुर्दशा करें जो उन्होंने कालिदास की की थी स्कन्दगुप्त में। क्या वह कालिदास का पुनर्मूल्यांकन है ? यह तो तय है कि प्रसादजी जान-बूझकर शरारतन मातृगुप्त को नाटक में घसीट लाए हैं। तो क्या स्कन्दगुप्त के हाहाकार ने उनकी संवेदना को इस तरह विक्षिप्त कर दिया था कि उसका बदला उन्होंने उस काल की सभ्यता के सबसे प्रतिनिधि कवि से ले मारा ? जो काम प्रसादजी अपने युग में कर रहे थे, क्या वही काम कालिदास भी अपने युग में नहीं कर रहे थे ? जिस तरह कालिदास ने पुराण के रघुवंश को समसामयिक इतिहास के बीचोबीच सिरजा था क्या उसी प्रकार प्रसादजी ने भी मनु के पौराणिक सत्य से मनुष्य के समकालीन इतिहास को आलोकित करने की कोशिश नहीं की थी ? याकि फिर प्रसादजी का व्यंग मात्र उस कालिदास पर है जिसने अभी रघुवंश की प्रौढ़ता अर्जित नहीं की थी ?

बहरहाल, हम निराला की बात कर रहे थे। निराला एक तरफ संस्कृत की गरिमा से, उसके 'दैवी-वाक्'-पन से अभिभूत थे : राम की शक्ति-पूजा और तुलसीदास में हिन्दी ने अपनी एक सर्वथा नई क्षमता के दर्शन किए थे; निराला से ज्यादा किस हिन्दी कवि ने संस्कृत के वाक्-तत्त्व को, संस्कृत के संगीत को हिन्दी की सात्विक कठोरता में इस कदर घुलाया और पचाया है ?...और वहीं दूसरी ओर यह भी निराला ही थे जो—धूमिल की कविता का उद्धरण देते हुए कहूँ—"अपना चमरौंधा कविता में उतार गए"। भाषा की काव्यमुक्ति क्यों होती है और कैसे होती है यह हम निराला से सीख सकते हैं। इस प्रक्रिया को समझने के लिए ही लेख के प्रारम्भ में व्यक्तित्व और अस्तित्व के संघर्ष की बात उठाई गई थी। हमने यह भी कहा था कि सांस्कृतिक संकट और अस्थिरता के युगों में संस्कृति की सन्दर्भ-पीठिका की क्षतिपूर्ति कवि को भाषा से करनी पड़ती है : उसी अस्तित्व-प्रेरित अनिवार्यता के साथ भाषा की जड़ों से जूझना पड़ता है जिस तरह कि व्यक्तित्व और समाज के विघटन की चुनौतियों से। शायद ऊपर की बातों से हमारा आशय कुछ और स्पष्ट हो सका हो। निराला भाषा की इस काव्यमुक्ति की समस्या के प्रति कितने सचेत थे, इसका भी कुछ संकेत उभारने की कोशिश यहाँ की गई है। प्रसाद के योगदान का स्वरूप क्या है, इसका भी कुछ अनुमान हो गया होगा। हालाँकि वह अलग विश्लेषण माँगता है। अज्ञेय भी अपने प्रौढ़ काव्य में प्रसाद की तरह भाषा को सांस्कृतिक संजीवनी से पुष्ट करके उसमें अपना उन्मोचन ढूँढ़ते हैं। उनकी पहली समस्या यही थी कि व्यक्तित्व को प्रतिरोध देने वाली भाषा की आत्मीयता कैसे सिद्ध की जाय। उनकी चेतना आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की जटिलताओं से टकराकर अधिक गहन हो गई थी। अतः उसकी काव्य-मुक्ति भी प्रसाद या निराला और उनके युग के कवि की तुलना में अधिक कठिन थी। जो रास्ते निराला और प्रसाद ने निकाले थे, उन पर चलकर वे अधिक दूर जा भी नहीं सकते थे क्योंकि दूसरी चुनौतियाँ भी सामने थीं। ऐसी अवस्था में यह स्वाभाविक था कि वे अपने साहित्य और भाषा के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अतिरिक्त एक ऐसी भाषा और साहित्य की ओर मुड़ते, जिसकी परम्परा अधिक संघर्षमूलक, अधिक आधुनिक हो। अंग्रेज़ी और उसके माध्यम से यूरोपीय साहित्य ने उन्हें यह आवश्यक टकराव दिया। चेतना के इस अत्यावश्यक संस्कार ने उन्हें धीरे-धीरे अपनी सांस्कृतिक जड़ों के भी निकटतर साक्षात्कार की ओर प्रेरित किया। इतना ज़रूर लक्ष्य किया जा सकता है कि अज्ञेय की काव्यभाषा में निराला की तुलना में लोच और स्वतंत्रता का गुण कम है। हिन्दी की व्यंजना शक्ति का, वैविध्य का जैसा अहसास निराला की कविता के साथ होता है वैसा अज्ञेय के साथ नहीं होता। किन्तु इसका मतलब यह नहीं कि अज्ञेय हिन्दी कविता को गलत दिशा में ले गए। दिशा वह सही थी। 'कामायनी' में एक समूची युग-चेतना के क्रिस्टलाइज़ हो चुकने पर हिन्दी कविता के लिए नए प्रस्थान की, सार्थक विद्रोह की, दिशा वही हो सकती थी। सवाल असल में यह है कि क्या वह सार्थक विद्रोह की दिशा पूरी तरह चुक चुकी है? क्या फिर से नए प्रस्थान, नए विद्रोह की भूमिका बन चुकी है? इस प्रश्न का उत्तर इतना आसान नहीं है, जितना लगता है। एक तरफ हमें यह लगता है कि सार्थक अस्तित्व की तलाश में नयी कविता को जितनी दूर जा सकना चाहिए था, उतनी दूर तक वह नहीं गई: अज्ञेय और कुँवरनारायण के प्रारंभिक कृतित्व में व्यक्तित्व और अस्तित्व के संघर्ष की भारतीय सन्दर्भ में जो तगड़ी पहचान उभरी थी, वह धीरे-धीरे धुँधली होती गई है। 'आँगन के पार द्वार' और 'आत्मजयी' में ही जैसे इस संघर्ष का क्षेत्र संकुचित होते हुए हम देखते हैं। और हमें सन्देह होता है कि ये कवि परम्परा और परिवेश की छानबीन से, पूरी टकराहट की चुनौतियों से, आंशिक पलायन करके, व्यापक अस्तित्व के बजाय अपने 'व्यक्तित्व' का मोक्ष ढूँढ़ने लगे हैं। हमें लगा कि यह कुछ-कुछ उसी प्रकार की परिणति है जैसी कि छायावादियों की थी: विद्रोह और समूची संदर्भ-पीठिका की तलाश की प्रतिज्ञाएं शिथिल पड़ रही हैं और जिस परम्परा में खप जाने के विरुद्ध इनकी लड़ाई थी, ये अन्ततः उसी में आग्रहपूर्वक खपे जा रहे हैं। इस प्रकार हमें लगा कि इस पूरे अभियान में कुछ 'ब्लाइन्ड स्पॉट्स' रहे होंगे। शीघ्र ही नयी कविता के भीतर से ही इसकी प्रतिक्रिया होने लगी। मोटे तौर पर यों भी कह सकते हैं कि उस काव्य-द्रोही अध्यात्म के विरुद्ध कार्रवाई होने लगी जो हमारे कवियों के आत्मसंघर्ष को विसर्जित करके अपने भीतर खपा लेता है। लक्ष्मीकांत वर्मा और रघुवीरसहाय जैसे कवि इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय हैं।

क्या कारण है कि हमारी पीढ़ी को इनकी भाषा भी भरोसे की नहीं लगी और राजकमल चौधरी की लगी? क्या राजकमल चौधरी की कविता का विद्रोह अधिक सर्जनात्मक है? क्या उनकी कविता में भारतीय समाज और भारतीय व्यक्ति की तसवीर अधिक प्रामाणिक है बनिस्बत इन कवियों के? क्या नयी कविता के कवि 'आमाशय' और 'यौनाशय' का केवल बौद्धिक बखान करके रह गए? अपने व्यक्तिगत और सामाजिक अस्तित्व में उनकी सच्चाइयों से जूझे बिना उन्होंने अपना व्यक्तिगत मोक्ष पा लिया? या कि वे उनसे थोड़ा-बहुत जूझे भी तो जल्द ही अस्तित्व की इस बीहड़ अराजकता से घबराकर उन्होंने अध्यात्म का कवच पहन लिया और उस अत्यावश्यक और काव्य-संभव संघर्ष से पलायन कर गए जिसका वादा उन्होंने शुरू में किया था? तो क्या यह काव्य-संभव संघर्ष नई पीढ़ी को राजकमल चौधरी की कविता में उजागर होता दीखा? इतना तो तय है कि अज्ञेय, कुँवरनारायण जैसे कवियों की परिणति आध्यात्मिक संघर्ष की कविता में होनी ही थी। हम यह शिकायत करने की मूर्खता तो कर नहीं सकते कि परिणति स्वाभाविक क्यों हुई? तब क्या इसका मतलब यही है कि—नहीं, इन कवियों का प्रौढ़ काव्य आध्यात्मिक संघर्ष का काव्य नहीं है। बल्कि उसी प्रकार का विसर्जन या आध्यात्मिक पलायन है जिसके खिलाफ वे खुद कभी खड्गहस्त हुए थे। ऐसी हालत में उनकी भाषा भरोसे की भाषा कैसे हो सकती है? तो क्या राजकमल चौधरी की कविता में हमें वह आध्यात्मिक संघर्ष की भाषा मिलती है जो अपने कवि व्यक्तित्व को व्यापक अस्तित्व की अराजकता में निष्कवच भोंकने के बाद ही प्राप्त होती है?

हमारी पीढ़ी की कविताओं के साक्ष्य से तो ऐसा ही लगता है। "उसका मरना कविता के बाहर नहीं है" (धूमिल)। स्पष्ट ही इसका आशय यह हुआ कि राजकमल चौधरी का 'मुक्ति-प्रसंग' भारतीय व्यक्ति और भारतीय समाज के सभी स्तरों का मुक्ति-प्रसंग है। जैसा कि अज्ञेय का नहीं है। जैसा कि लक्ष्मीकान्त वर्मा का भी नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जैसा कि शायद निराला का भी नहीं था।...क्योंकि

"सुविधा की तहज़ीब से बाहर
जहाँ चौधरी अपना चमरौधा
उतार गए हैं कविता में
वहीं कहीं नफ़रत का एक डरा हुआ बिन्दु है
.....
लेकिन एक ज़रूरतमन्द चेहरे के अलावा
वह धूमिल नहीं
एक डरा हुआ हिन्दू है..."

गोकि शायद यह निराला का नहीं, भारतीय समाज का और हिन्दी कवि का मूल्यांकन है। "वहीं कहीं नफ़रत का एक डरा हुआ बिन्दु है".....कवि का आरोप यह है कि हिन्दी कवि सामाजिक सच्चाइयों के जरिए, उनके सन्दर्भ में अपने असली चरित्र को परिभाषित करने से कतराता रहा है और यह काम अब वह खुद करना चाहता है।

रघुवीरसहाय की कविता में अस्तित्व के दोनों स्तरों की अलग-अलग और मिली-जुली छटपटाहट दीखती है। दोनों के असाध्य संतुलन को साधने की कोशिश है। लक्ष्मीकांत वर्मा और विपिन अग्रवाल में वस्तुस्थिति के ठंडे तटस्थ अंकन द्वारा विद्रूप-व्यंग्य को उभारने का आग्रह है। श्रीकांत वर्मा की भी कोशिश इसी के समानान्तर गहरे आत्म-व्यंग और विद्रूप की है। धूमिल शायद इन सब को सही नहीं मानते। उनका स्वर आलोचनात्मक है। ये सारी आत्माभिव्यक्तियाँ उन्हें कविता के बाहर एकदम नहीं, तो अपर्याप्त और निर्बल तो लगती ही हैं। वे कुछ और चाहते हैं। वह क्या है? उनकी कविता का चरितनायक 'डरा हुआ हिन्दू' है। उससे कवि ने तादात्म्य भी स्थापित किया है। अर्थात् स्वयं को किसी प्रकार विशिष्ट नहीं माना है बल्कि ठेठ अपने परिवेश और संस्कार में अपने को स्थापित किया है। यह एक ताज़गी का अनुभव हमें देता है कि हम जिसे अपनी भाषा की—और अन्ततः अपने सामूहिक मन की काव्यमुक्ति के नाम से पुकार रहे हैं और खोज रहे हैं उसका एक पहलू यह भी है जो धूमिल की कविता का ध्येय है। कवि मानों यह कह रहा है कि सिर्फ चमरौंधा उतार देने से हमारे सामूहिक मन की और हमारी भाषा की काव्य-मुक्ति नहीं होगी। हमें अपने असली चरित्र को पकड़ना होगा। धूमिल की कविता का कहना है कि हम इसे पकड़ कर भी नहीं पकड़ पाते क्योंकि शायद हममें और हमारी काव्य-सम्बन्धी धारणा में कुछ ऐसा ग़लत है और रहा है जो उसके प्रति अन्धा रहा है। न केवल अन्धा रहा है बल्कि उस अन्धेपन को जाने-अनजाने ढकता रहा है। धूमिल हमारी सामूहिक चेतना के उन अन्धे धब्बों को उजागर करने की कोशिश करते हैं और उन्हें लगता है कि "नंगापन अन्धापन होने के खिलाफ़ एक सख्त कार्रवाई है।" इसका मतलब यह हुआ कि उपरोक्त कवियों में उन्हें आत्म-सुरक्षा की चालाकियाँ दीखी हैं (जोकि राजकमल चौधरी में उन्हें नहीं दिखाई देतीं)। इस मानसिकता को उन्होंने 'डरा हुआ हिन्दू' 'नफ़रत का डरा हुआ बिन्दु' और 'कायर दिमाग़' करके परिभाषित किया है। हम भले ही अपने इस मूल्यांकन को मानें, न मानें, उनका कहना है कि ऐसी मानसिकता की जो अभिव्यक्ति होगी, वह एक राहत भर होगी वास्तविक आत्माभिव्यक्ति नहीं। मुक्तिबोध ने हमारी कविता में निहित और सक्रिय 'जड़ीभूत-सौन्दर्याभिरुचि' पर प्रहार किया था। धूमिल ने भी कुछ कवियों की चालाक आक्रामकता पर व्यंग करते हुए लिखा है: "तितली के पंखों में पटाखा बाँधकर भाषा के हलके में कौन-सा गुल खिला दूँ?"

हमें रघुवीरसहाय और श्रीकांत वर्मा के काव्य-संसार की याद बरबस हो आती है जब हम धूमिल की कविता में इन पंक्तियों पर आते हैं:—"अपने बचाव के लिए / खुद के खिलाफ़ हो जाने के सिवा / दूसरा रास्ता क्या है?..." हमें लगता है कि उन कवियों पर ही कवि ने अपने व्यंग की धार तेज़ की है। धूमिल की कविता की केन्द्रीय समस्या है—'सही शब्द चुनने का डर'। यह सही शब्द क्या है जिसे यह चरितनायक नहीं चुनता? जोकि उसे और उसके परिवेश को काव्य-संभव बना देगा? क्या उसकी चिंता वास्तव में इस सही शब्द के द्वारा अपने 'खुद' को और अपने परिवेश को काव्य-संभव बनाने की है? इस प्रश्न का उत्तर देने से पहले हम देखें कि वह क्या चुनता है?

"मैं एक डर चुनता हूँ
सबसे हल्का, सबसे बारीक, सबसे मुलायम
कम अज़कम जिससे मैं खुद को बाँध सकूँ
जुआ तोड़कर भागते हुए शब्दों को
कविता में बाँध सकूँ"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह बिम्ब हमें क्या देता है ? यों तो एक अतिव्याप्त अर्थ में हर कवि कविता में यही काम करता है और हर अभिव्यक्ति शब्दों के अनुशासन के जरिए ही संभव होती है। पर इस सपाट अर्थ में निश्चय ही यह बिम्ब यहाँ नियोजित नहीं है। पशु अपने-आप में सभ्यता की व्यवस्थाओं से स्वतन्त्र, प्रकृति के साथ एकतान होता है। किन्तु आदमी के द्वारा पालतू बनाया जाकर वह यांत्रिक और निरीह आचरण करता है। निश्चय ही पशु कृषिकर्म में नियोजित है और उसे बाँधकर ही धरती की उर्वरा शक्ति को उकसाया जाता है : उस तरह यह एक अनिवार्य अनुशासन है और पशु मानो अपनी स्वतन्त्र अस्मिता को भूलकर स्वेच्छा से सभ्य मानव के इस --सभ्यता को जीवित रखने वाले उत्पादन-कर्म में योग देता है। यानी उसे आदमी की खातिर पालतू और उपयोगी बनने में कोई ऐतराज़ नहीं है। किन्तु कभी-कभी पशु भी जुआ तोड़कर भागना चाहता है। उसकी पाशविक स्वतंत्रता इस पालतू सभ्यता पर हावी हो जाती है। मानो पशु याद दिला देना चाहता हो कि तुम्हें हो न हो, मुझे तो अपनी मूल प्रकृति की स्मृति अभी बनी हुई है। मैं सृष्टि के बड़े छन्द से भी बँधा हूँ। मात्र तुम्हारी सभ्यता के छोटे से छन्द से नहीं।

आखिर शब्दों को जुआ तोड़कर भागने की ज़रूरत कब और क्यों होती है। कृषि-कर्म के समानान्तर जो कवि कर्म में लगा हुआ है, उसे एकाएक लगता है कि ये शब्द एक निरीह यांत्रिक ढंग से चल रहे हैं और जिसे वह अपना 'अर्थ', अपनी अभिव्यक्ति समझ रहा है, वह दरअसल दूसरों की ही पिटी-पिटाई लीक है। वाक्शक्ति से मौलिक काम लेने के लिए उसे उसके इस पालतूपन से हटाना ज़रूरी है : उसकी लोच और स्वतन्त्रता को वापस लाने के लिए। यह स्वतंत्रता और लोच विवेकहीन यांत्रिक उपयोग से कुण्ठित होती है और यह कवि का ही काम है कि वह "भाषा की इस संकुचित होती हुई सार्थकता की केंचुल फाड़कर उसमें नया अर्थ भरे।" फिर से उसे सारगर्भित करे। वैसे यह जुए वाला रूपक बहुत मौजूँ नहीं है क्योंकि कवि भाषा का स्वामी नहीं, बल्कि सेवक है और इस रूपक में सेवकाई की कम, स्वामित्व की गंध ज़्यादा है। तो भी इसी के हिसाब से अपनी बात आगे बढ़ाएँ, तो कहना होगा कि समस्या यह नहीं है कि कवि उन जुआ तोड़कर भागते हुए शब्दों को कविता में कैसे बाँधे। ज़रूरत इस बात की है कि वह कैसे उनका अनुसरण करे और उन्हें जंगल की स्वतन्त्रता में से ताज़ा होकर आने दे।

मगर इस कविता के चरितनायक की समस्या इन भागते हुए शब्दों को कविता में बाँधने की ही नहीं, बल्कि खुद को बाँधने की भी है और उसकी आत्मग्लानि यह है कि वह उस खुद को एक डर से बाँध रहा है। यह 'खुद' क्या है ? 'नफ़रत का डरा हुआ बिंदु'। नफ़रत और डर दोनों नकारात्मक आत्मस्थितियाँ हैं और नकार में आदमी जी नहीं सकता। इसलिए वह किसी चीज़ से बँधना चाहता है। मगर वह उस चीज़ ('सही शब्द') से भी डरता है। उसकी बजाय वह एक सबसे बारीक, सबसे मुलायम डर को चुनकर ही अपनी ईमानदारी और साहसिकता को प्रमाणित करना चाहता है। कविता का व्यंग यही हो सकता है कि यह आत्मरति है, आत्मछल है और पाठक के साथ भी छल है; वास्तविक साहस और ईमान नहीं। पर तब पहला प्रश्न यही दिमाग में उठता है कि यह सही शब्द क्या है ? जिसका न चुना जाना इस कविता की केन्द्रीय झुँझलाहट है। तब ये समापक पंक्तियाँ हमारा ध्यान टिकाती हैं :—"फिर भी मैं अंत तक आप को सहूँगा / वादों की लालच में / आप जो कहोगे / वह सब करूँगा / लेकिन जब हारूँगा / आपके खिलाफ़ खुद अपने को तोड़ूँगा / भाषा को थूकते हुए सारी घृणा के साथ / अन्त में कहूँगा, सिर्फ इतना कहूँगा / हाँ हाँ मैं कवि हूँ / कवि याने भाषा में भदेस हूँ / इतना कायर हूँ कि / उत्तर प्रदेश हूँ।....." ये पंक्तियाँ क्या कहती है ? 'इस क़दर कायर हूँ कि उत्तर-प्रदेश हूँ।" यह पंक्ति क्या उस कायरता का अर्थ निर्धारित नहीं कर देती जिस पर चोट करना इस कविता का अभीष्ट जान पड़ता है ? उत्तर-प्रदेश की कायरता एक खास संदर्भ की ही कायरता होनी चाहिए वरना वह अमूर्तन हो जाएगा। स्वाभाविक रूप से हमें यही लगता है कि वह राजनीतिक कायरता ही हो सकती है वर्तमान अस्थिरता के सन्दर्भ में। क्योंकि यों तो वह कायरता का नहीं, बल्कि एक लड़ाकू भाषा का गढ़ रहा है। धार्मिक, राजनीतिक आन्दोलनों का गढ़ भी रहा है। तो उत्तर प्रदेश की आखिर वह कौन-सी कायरता है जो बंगाल की नहीं है, बिहार की नहीं है, मध्यप्रदेश की नहीं है, केरल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की नहीं है ?.....और "कवि याने भाषा में भदेस हूँ" का क्या तात्पर्य है ? निश्चय ही यह उत्तरप्रदेश का तुक नहीं है। क्या कवि का आशय यह है कि ये सारे कवि जो व्यवस्था को तोड़ने की बजाय खुद को तोड़ रहे हैं और परम पाखण्ड के साथ शहीदाना कविताएँ लिखते हैं और भाषा को रचते नहीं, थूकते हैं, ये लोग सिर्फ भाषा में भदेस—अर्थात् कुत्सित-वलगर—हैं, वास्तव में भदेस—अर्थात् स्वदेशी, खरे देसी नहीं हैं ? पता नहीं कवि का आशय क्या है।

रघुवीरसहाय की पंक्तियाँ स्मरण आना स्वाभाविक है। "न टूटे, न टूटे तिलिस्म सत्ता का / मेरे अन्दर एक कायर टूटेगा टूट / मेरे मन टूट एक बार सही तरह / अच्छी तरह टूट। मत झूठमूठ ऊब मत रूठ मत ऊब सिर्फ टूट /....." अपने को तोड़ने की बात यहाँ भी है। 'कायर' शब्द भी मौजूद है। तो क्या धूमिल का आक्रोश इसी पर है ? मगर रघुवीरसहाय की लड़ाई भी तो 'आत्महत्या के विरुद्ध' है। क्या खुद के खिलाफ हो जाना हमेशा अपने कायरतापूर्ण बचाव के लिए ही होता है ? जैसा कि धूमिल की कविता कहती है। क्या बॉदलेर का आत्मपीड़त उसकी सर्जनात्मकता का अनिवार्य अंग नहीं है ? फिर वह विद्रोही कवि क्यों कहलाता है ? क्या संत कवि भी उस तरह खुद के खिलाफ नहीं होते ? हो सकता है कि अपनी उक्ति का इतना अर्थ-विस्तार कवि को अभीष्ट न हो। तब वह ऐसे अतिव्याप्त सामान्यीकरण अपनी कविता पर क्यों लादता है ? शायद यह प्रश्न निरर्थक है। क्योंकि कवि जो कहना चाहता है, वही कह रहा है। और उसकी समस्या उस 'आत्म' को, 'खुद' को परिभाषित करने की न होकर उसे एक स्पष्ट और निश्चित राजनीतिक कर्म में नियोजित करने की है। यह भी साफ है कि वह सामाजिक विवेक-चेतना से सम्बद्ध कर्म, और व्यक्तित्व तथा अस्तित्व के संघर्ष से जुड़ी हुई सर्जनात्मकता के बीच कोई अलगाव नहीं देखता और जिन कवियों में यह दुहरी चेतना सक्रिय है, मसलन रघुवीरसहाय में, उन्हें वह अप्रासंगिक ही नहीं, कहीं-न-कहीं एक बुनियादी ईमानदारी से स्खलित भी समझता है।

यह विश्लेषण पर्याप्त नहीं है बल्कि कहना चाहिए यह चर्चा और अधिक निकट विश्लेषण माँगती है। किन्तु इस लोभ को संवरण करना ही उचित होगा क्योंकि लेख सुरसा के मुँह की तरह अन्धाधुंध फैलता ही जा रहा है और हम भूल गए हैं कि हमने कहाँ से छलाँग लगाई थी और कहाँ पहुँच रहे हैं। हमने शुरुआत यहाँ से की थी कि भाषा का सम्बन्ध आदमी के व्यक्तित्व से ही नहीं, उसके अस्तित्व से भी है। और अस्तित्व की चेतना का आरम्भ आत्मतुष्टि के विघटन से होता है। आज की कविता में हमें इस आत्मतुष्टि के विघटन का दृश्य तो दिखाई देता है और ऐसा भी लगता है कि हमारी भाषा में—शब्दों में—अनुभव की वही अराजकता संक्रमित होती जा रही है, जो संस्कृति का गुरुत्वाकर्षण खत्म हो जाने पर पैदा होती है। हम यह भी देख सकते हैं कि हमारे कवियों में व्यक्तित्व की अपर्याप्तता या नगण्यता का विचलित करने वाला बोध भी सक्रिय है। किन्तु क्या वह सचमुच हमें उसके आधारों की जाँच-पड़ताल करने को विवश करता है ? क्या वह इस अराजकता के सार्थक प्रतिकार के लिए अपने व्यक्तिगत और सामूहिक अस्तित्व की उस सर्जनात्मकता की तलाश कर रहा है जिसकी बात हमने लेख के बीच में उठाई थी ? कहीं ऐसा तो नहीं कि आज का कवि भी कविता की बजाय कवि-व्यक्तित्व की ही चिन्ता में ज्यादा मशगूल है ? और कविता से वे सारी उम्मीदें करने लगा है जो उन कवियों ने भी नहीं की थीं, जिनके विरुद्ध उनका विद्रोह इतना मुखर है !

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कविता : सही भाषा की तलाश

विजेन्द्र

मेरे विचार से सवाल ही गलत गलत जमीन से उठाया गया है। आखिर यह सवाल किससे है ? समीक्षक से या कृतिकार से ? क्योंकि दोनों को ही इससे अलग-अलग जूझना पड़ेगा। यानी समीक्षक से यह सवाल है तो इसका मतलब होगा कि हम कृति तक पहुँचने के लिए एक रास्ता तलाश कर रहे हैं। शायद कृति की जटिल प्रक्रिया, उसकी आंतरिक संरचना और उसके पीछे कृतिकार के सृजन-श्रम को आँकने के लिए इससे ज्यादा सुगम, सार्थक और तर्क-संगत अन्य रास्ता न हो। बहरहाल। अगर यह सवाल कृतिकार से है तो उसकी कोई तात्कालिक अहमियत इस रूप में नहीं। आखिर क्यों ? क्योंकि कृतिकार का सीधा-सीधा सामना भाषा से नहीं होता। मैं कहूँ सामना ही नहीं होता। यह भाषा का 'मोहक छल' है जिसे हम 'वास्तव' मान बैठे हैं। वरना वास्तव तो है वस्तुस्थिति : आदमी की ज़िन्दगी और उसका समूचा सक्रिय परिवेश जिससे हम किसी-न-किसी स्तर पर जूझते हैं। और उसमें से हम नए अन्तर्विरोध, नई अनुगूँजें तलाश करते हैं। जब मैं जूझता हूँ तब भाषा वहाँ नहीं होती वहाँ समूचा शरीरतंत्र (आर्गेनिज़्म) उलझा हुआ होता है। असंख्य कोशाणु, शिरायें, उपशिराएँ, दिमाग़ और कल्पना। और स्वभावतः मैं उस स्थिति से उभरने की कोशिश में भी होता हूँ। कृतिकार का यही सृजन-व्यवहार उसे किसी खास तरह से सोचने को मोड़ता है और भाषा उसका अनुधावन करती है। वह इस समूचे सृजन-व्यवहार के दौरान हमारे दायें-बायें अस्त्र की तरह प्रस्तुत रहती है। मैं जिस तरह चाहूँ उसका इस्तेमाल करूँ : उसको सिरजूँ। यानी वह भी इस सारे सृजन-व्यवहार का एक अंग है, उससे अलग नहीं। लेकिन मुझसे उसका सीधा सामना न होकर सामना होना है 'बात' से : ऐसा सामना जहाँ वे एक होते हैं और उनका अलग होना सिर्फ एक 'छल' लगता है। भाषा का मोहक छल। यही वजह है कभी-कभी हम कविता में "छलांग" का रिश्ता छलांग से नहीं छोड़ पाते। "दीवार पर उगी घास" कविता में भिन्नार्थक होती है। यहाँ तक कि एक भाषा में एक ही शब्द अलग-अलग अर्थ देता है और अनेक शब्द एक ही चीज़ को व्यक्त करते हैं। यही भाषा का मोहक छल है जो हमें जाने अनजाने भ्रमाता है। इसी मोहक छल को गलत ढंग से आगे बढ़ाने की गरज़ से कुछ लोगों ने यह कहना शुरू किया कि भाषा विचार से और विचार यथार्थ से अलग है। शब्द अन्धाधुन्ध गढ़े जा सकते हैं। उनका सचाई से कोई सम्बन्ध नहीं। वे सिर्फ ध्वनियों का संयोजन हैं। मुमकिन है इसी भ्रम ने युवा-लेखकों को भी परेशान किया हो, जबकि शब्द किसी भी जानकारी के दौर में कुछ खास चीज़ों और घटनाओं से जुड़े रहते हैं। वे संकेतों के संकेत हैं : ज्ञानेन्द्रियों के श्रम का संघटित मूर्तरूप। यही वजह है वे हमें सक्रिय करते हैं।

जहाँ तक मुझे ध्यान है, हस्ताक्षर (१९७०) द्वारा आयोजित युवा लेखक समारोह में भी भाषा का सवाल उठाया गया था जिसका नतीजा कुछ नहीं निकला। क्योंकि ज्यादातर लोगों ने भाषा को अलग से कोई चीज़ मानकर सारी बातें कहीं और सवाल को अन्धेरे गर्त में डाल दिया जब कि उम्मीद थी कि पूरे युवा लेखन को एक दिशा मिलेगी। अगर हम भाषा की खोज से कोई सवाल शुरू करते हैं तो यही खतरा उठाना होगा। विशेषतः कृतिकार से यह प्रश्न करने में कोई दूरगामी परिणाम नहीं निकलेगा। इसलिए कविता के सन्दर्भ में सही भाषा की खोज वाले सवाल को प्रस्थान बिन्दु न मानकर उस सवाल से जुड़े अनेक बुनियादी सवालों पर जाना होगा। सबसे पहले यह तय करें कि यह सवाल कृतिकार से है या समीक्षक से ? और दोनों के अलग-अलग जवाब सुनने को हम

पटना युवा लेखक सम्मेलन, दिसम्बर १९७० में पठित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तैयार रहें। कोई भी कृतिकार इस सवाल का जवाब शायद सीधे-सीधे न दे। मुमकिन भी नहीं। क्योंकि वह उसकी तात्कालिक अनिवार्यता न होकर सम्पूर्ण सृजन-व्यवहार का एक अविच्छिन्न अंग है।

कृति के मूर्त्त रूप में (लिपिबद्ध) आने से पूर्व कृति कहाँ है ? उसके सृजन स्रोत ? कच्चा माल कहाँ बिखरा है ? उन खनिज भण्डारों का हमने पता लगाया या नहीं ? उस कच्चे माल का उपयोग मुझे कैसे करना है ? कृति की समूची संरचना, जिसमें भाषा भी शामिल है, यहीं से संचालित होती है।

मैं क्या करना चाहता हूँ ? मेरे सृजनशील होने की भूमिका यही है। अगर मुझे एक कृति देनी है जो मेरे युग के जीवित आदमी और उसके परिवेश को व्यक्त करे तो मुझे समाज के अन्दर तक जा-जाकर उन्हें समझना होगा। वहाँ की नंगी सचाई को देखना-परखना होगा। उन लोगों की जुबान सीखनी होगी। वे सारे ज़िन्दा लोग कौन हैं ? क्या करना चाहते हैं ? उनकी इच्छाएं और कुण्ठाएँ क्या हैं ? वे किसके खिलाफ़ संगठित हैं ? उनकी सौन्दर्य-चेतना क्या है ? मेरी कृति के स्रोत यहीं हैं और सही भाषा की खोज का सवाल भी यहीं से उठेगा।

युवा लेखन ने भाषा को एक नया तेवर दिया। यह सहसा घटित नहीं हुआ। दरअसल यह एक नये आदमी की लड़ाई में शरीक होने के इरादे का अंजाम था जिस आदमी को "सप्तकों" की परम्परा ने सिर्फ छूकर रेशमी कपड़े से ढक देना चाहा और भाषा को सिर्फ जड़ाऊ बनाने की गरज से उसे चमकाते रहे। साफ है कि हम किसी इन्सानी उथल-पुथल में शामिल न होकर महज़ किनारे-किनारे थे। युवा लेखक ने उसकी लड़ाई में शरीक होने को ही अपना कवि-कर्म माना। यह तीव्रता से महसूस किया गया कि जब तक हम अपना व्यवहार और इरादे नहीं बदलेंगे तब तक हम कविता में जो बात जिस सफाई और साहस से कहना चाहते हैं, नहीं कह पायेंगे। यह नया आदमी कौन है, जिसने हमारे अहसास को बिल्कुल उलट दिया ? उसका जन्म नया नहीं है वह पूरे इतिहास के गर्भ में आग की तरह सक्रिय रहा है। दूसरी बात है हमने उसकी ओर नहीं देखा। बहुत पहले निराला ने इस नए आदमी की लड़ाई में शरीक होकर हथोड़े से बार-बार प्रहार किया था। यह कविता से ज्यादा इस बात की ओर इशारा था कि एक नया आदमी पैदा ही नहीं हुआ बल्कि वह उस "अड़गड़े" को तोड़ने के लिए क्रियाशील है। यहाँ यह बताना प्रासंगिक है कि वही निराला वेदान्त की समस्याओं में भटक कर अड़गड़े को तोड़ने वाली भाषा से दूर होते रहे हैं। साफ है निराला को किसी नई भाषा की खोज की चिन्ता नहीं थी। चिन्ता थी उस अड़गड़े को तोड़ने की : उस गढ़े हुए आदमी की भास्वर कोशिश में हाथ बटाने की। निराला नये जीवन की खोज में एक ऐसी भाषा रच रहे थे जो आगे चलकर युवा लेखन का भी औज़ार बना। यह बात "कुकुरमुत्ता" से और ज्यादा साफ होती है। यहाँ उस नए आदमी का ऐतिहासिक-द्वंद्व-और ज्यादा मुखर है। उसके विदोहन की पीड़ा और जीने की ललक और ज्यादा तीव्र है। हमें लगेगा यह संसार तो दूसरा है। इसे हम पसन्द नहीं करते। उस तक हम आना भी नहीं चाहते। वह हमारे पेट में डूबक मारता है। हमारे गोड़ रंगसता है। कंधे छीलता है। जो एक खुरदुरी, बदसूरत और बदमज़ा दुनिया है। हम जहाँ खौफ से चीखने लगते हैं। जहाँ अजनबी हैं। हम अपनी कायरता को छुपाते हैं। और उस भयानक यथार्थ से आँख न मिला सकने के कारण भाषा या अभिव्यक्ति का संकट महसूस करते हैं। दरअसल संकट तो उस जलते यथार्थ से मुँह-दर-मुँह होने का है। कृतिकार को सृजन-स्तर पर यह सबसे बड़ी चुनौती है। हम उसे स्वीकारें या स्वाँग रचकर टाल दें। निराला ने इस चुनौती को सबसे पहले स्वीकारा और जिसे आज के कतिपय युवा लेखक "जहन्नुम", "नरक", "पशु-लोक", कहते हैं उसमें उन्होंने धँसान बनाई :

बाग के बाहर पड़े थे झोपड़ें
दूर से जो दिख रहे थे अधगड़े।
जगह गन्दी, रुका, सड़ता हुआ पानी
मोरियों में, ज़िन्दगी की लन्तरानी
बिलबिलाते कीड़े, बिखरी हड्डियाँ
सेलरों की, परों की थी गड्डियाँ
कहीं मुर्गी, कहीं अण्डे,
धूप खाते हुए अण्डे।
हवा बदबू से मिली
हर तरह की बासीली पड़ गई।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रहते थे नव्वाब के खादिम
अफरिका के आदमी आदिम—
खानसामा, बावर्ची और चोबदार.
सिपाही, साईस, भिश्ती, घुड़सवार,

नाई, धोबी, तेली, तम्बोली, कुम्हार,
पीलवान, ऊँटवान, गाड़ीवान,
एक खासा हिन्दू-मुस्लिम खानदान ।
एक ही रस्सी से किस्मत की बयाँ

काटता था जिन्दगी गिरता-सधा ।
बच्चे, बूढ़े, औरतें और नौजवान
रहते थे उस बस्ती में, कुछ बागवान
पेट के मारे वहाँ पर आ बसे
साथ उनके रहे, रोये और हँसे ।

("कुकुरमुत्ता" : नया संस्करण,
पृ० ४९-५०

यहाँ लगेगा भाषा एकदम गचका ले गई । लेकिन क्यों ? निराला ने उस नई ज़िन्दगी को उघाड़ा जिसे आज तक हम जानते न थे। यहाँ यह भी लगेगा कि जिस ज़िन्दगी को तथाकथित प्रगतिशील कवि चीख-चीखकर कह रहे थे, निराला उसी ज़िन्दगी को खोद-खोदकर, झाड़-पोंछकर और फूंक-फूंककर रच रहे थे। उन्हें ध्यान था कि गीली मिट्टी से जड़-समेत उखाड़े पौधे की तरह उनका एक-एक रेशा मिट्टी में सना दिखे, वह ज्यों-का-त्यों हो : जीवन्त और सक्रिय। हाँ, कूर छाया से दब जाने के कारण फिल-हाल निष्प्रेम, लेकिन फीकी नम ज़मीन में लगा देने पर वह फिर चिहा उठेगा। अपनी पूरी ताकत से बोलेगा। जिस भाषा से निराला ने १९२२ में, निहायत नाजुक और लजीला काम लिया उसी भाषा में अब खूँखार पंजे उग रहे थे। जो आदमी अब तक "नाव का तला नीचे और ऊपर पाल" या "हाँडी से लगा पल्ला" था उसको उकसाकर निराला एक पैना हथियार उसके हाथों सम्भला रहे थे जिससे कि वह "कलजुगी ढाल" बनकर कह सके :

अबे, सुनबे,—
भूल मत—
खून चूसा खाद का तूने अशिष्ट
... ... (पृ०-३४-४०)

तू है नकली—
तू है बकरा—
तू रंगा—
तूने दुनिया को बिगाड़ा
तूने रोटी छीन ली जनखा बनाकर——

("कुकुरमुत्ता", पृ०-४१)

इससे यह भी ज़ाहिर है कि निराला (१९३७ में) जो "हिन्दी के सुमनों के प्रति पत्र" में कह गये थे आज सच हो रहा है :

"मैं हूँ केवल पद तल आसन,
तुम सहज विराजे महाराज,
ईर्ष्या कुछ नहीं मुझे, यद्यपि
मैं ही इस बसन्त का अग्रदूत"—

यानी आज जिस भाषा और सपाटबयानी के लिए इतनी व्याकुलता से हम आन्दोलित हैं उसकी धँसान निराला बहुत पहले बना चुके थे। मैं मानता हूँ हमने उसे विस्तार और व्यापकता दी। निराला ने बहुत बड़ा जोखिम उठाकर उस भाषा और अन्दाज़ को कविता में स्वीकृत कराया। परम्परित भाषा के विरुद्ध खड़े होने पर उन्हें कहना पड़ा, "अर्थ-समस्या में निरर्थकता को समूल नष्ट करना साहित्य और राजनीति का कार्य है। बाहरी लदाव हटाना ही चाहिये...इस पद्य में अप्रचलित शब्द नहीं।" (आवेदन, "कुकुरमुत्ता")। यहाँ भाषा एकदम गलियारे में कैसे आ गई ? क्या निराला यहाँ नितान्त दूसरे सवालों से नहीं जूझ रहे थे ? एक ओर वे अप्रतिहत जूझ रहे थे दूसरी ओर हमें भाषा की नई आँख मिल रही थी। "खून की होली खेल कर" एक नया आदमी ऊपर उठ रहा था। वह आदमी था महगू, लकुआ, बदलू, 'गोड़इत, लछमिन, रघुवर, मन्नी कुम्हार, कुल्ली तेली, भकुआ चमार, आदि जो पहली बार कविता में खूँद की तरह उठ रहा था। और निराला उनके बीच उन्हीं के पक्ष के लिए लड़ रहे थे। उन्हीं की भाषा बोलते थे। उन्हीं की तरह थे अपमानित, उपेक्षित और प्रताड़ित। अपनी अस्मिता को खोकर ही वे उन्हें तलाश रहे थे और अपनी अस्मिता अलग से बना रहे थे। देखने की बात है कि तारसप्तक, (१९४३) (जिसे हम नई, शुरुआत मानते हैं), से पूर्व ही एक सही भाषा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खोज ली गई थी : धारदार, सपाट और किसानू। लेकिन आगे चलकर इसी भाषा को कविता में ज़मीन दी त्रिलोचन, केदारनाथ अग्रवाल, नागार्जुन और मुक्तिबोध ने। त्रिलोचन अकेले कवि हैं जिन्होंने यह साबित किया कि कविता उन असंख्य अपराजितों की भाषा है :

"···जिनकी
साँसों को आराम नहीं था, और जिन्होंने
सारा जीवन लगा दिया कल्मष को धोने
में समाज के, नहीं काम करने में घिन की
कभी किसी दिन।—
(दिगन्त : पृष्ठ ६४)

निराला में जो महगू कहता है कि "हमारे अपने यहाँ बहुत लोग छिपे हैं," वे सारे "अपने लोग" त्रिलोचन में "मुक्ति-कामना लेकर लड़ने वाली जनता" बन गए हैं। यही वजह है त्रिलोचन की "भेड़ियाधसान" तोड़ने वाली भाषा गचका नहीं देती। वह अब "इनकलाब के नारे की" भाषा है। "दीवारों को कँपाने वाली" और "भूखे-दूखे" के मुँह से गरजने-तरजने वाली। वह उन्हीं के मुँह से कड़कती है जो :—

"जीवन के लिये लगाकर अपनी बाजी
जूझ रहे हैं, जो फेंके टुकड़ों पर राजी,
कभी नहीं हो सकते हैं···"

जिनमें आदमी का भविष्य प्रतिबिम्बित है। जिनके बीच क्रांति उग रही है। जो एक व्यक्ति नहीं "समूचा लड़ता हुआ समाज" है। त्रिलोचन उनके बीच "नये चित्र के साथ" नई भाषा दे रहे हैं—कविता और उसकी सही भाषा।

भाषा का जन्म एक अस्त्र के रूप में हुआ। सबसे पहले आदमी ने उस अस्त्र से निबिड़ मौन को तोड़ा। उसी समय से उसने हमें अधिक क्रियाशील और प्रभावी बनाया। लिहाज़ा मौन सिर्फ उस स्थिति का सूचक है जब भाषा न थी। क्योंकि भाषा के जन्म के बाद से मौन द्वारा क्रिया का प्रतिस्थापन आज तक नहीं हो पाया। लगता है मौन, (अगर कोई स्थिति है तो), से पहले क्रिया तो थी। उसी सतत् क्रिया ने विरोधी क्रियाओं को जन्म दिया। ध्वनि, शब्द, भाषा, लय, ताल, अनुगूँज आदि सभी उसी क्रिया और प्रतिक्रिया का ही प्रतिफल हैं। फिर यह कविता की भाषा के संदर्भ में मौन कैसा ? सैम्युल बैकेट का एक उपन्यास है "द अन्नेमेब्लि" जिसे फ्रांसीसी लोगों ने कहा है "अनरीडेबिल",—उसका एक वाक्य है, "मौन ही श्रेयस है : हालाँकि हमें जानना होगा कौन-सा मौन।" बैकेट भाषा को इस कृति में निस्तेज बना रहे हैं। यह भाषा का सृजन नहीं अवमूल्यन है : आदमी का भी। लगता है यहाँ हमारी सभी सम्भावनाएँ चुक गई हैं। इस निस्तेज भाषा का स्रोत है बैकेट का यह नकारवादी दर्शन, "नकार ही चरम यथार्थ है।" देखने की बात है कि मौन को सार्थक बनाने के लिये भी उन्हें बोलना पड़ा। इसी तरह निराला ने "राम की शक्ति-पूजा" में मौन को क्रिया से जोड़ ओजस्वी बनाया : उससे भाषा को व्यंजना दी। भाषा का मौन इसी रूप में मान्य हो, तो हो :

"मौन में रहा यों स्पन्दित वातावरण विषम"

इससे साफ है कि मौन अपने-आप में कोई स्थिति नहीं फिर इसके द्वारा दार्शनिक ज़हर क्यों ? यहाँ अज्ञेय का कथ्य चिंत्य है। उनके इसी "महामौन" का प्रतिफल है "असाध्य वीणा" : एक ह्रासोन्मुखी कला की प्रतीक कथाकृति। चूँकि डा० नामवर सिंह ("कविता के नये प्रतिमान") उसके बारे में पर्याप्त कह चुके हैं, पर इतना ज़रूर है कि यहाँ जिस भाषा से एक खतरनाक समय में अज्ञेय आदमी को सुलाने के लिए संचेष्टित हैं :

"मैं तो डूब गया था स्वयं शून्य में
महा शून्य
वह महामौन
अविभाज्य, अनाप्त, अद्रवित, अप्रमेय
जो शब्दहीन"

वहीं दूसरी ओर मुक्तिबोध की इन पंक्तियों को पढ़कर रोंगटे खड़े होते हैं। पसीना आता है। भाषा और आदमी की ताकत का अंदाज़ लगता है :

"कोशिश करो
कोशिश करो
कोशिश करो
जीने की—ज़मीन में गड़कर भी..."

मैं यह नहीं कहता कि इन दोनों कवियों के कथन मात्र से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हम अपनी कोई राय कायम करें क्योंकि कविता मुक्तिबोध की इन पंक्तियों में भी लचर है। लेकिन समूची कविता के संदर्भ में एक नाटकीय प्रभाव से परिपूर्ण। कोई कवि क्या कहता है इससे ज्यादा ज़रूरी है कि वह अपने कहने का असर क्या छोड़ता है। समूची "असाध्य वीणा" का असर है : "एक निष्प्राण चेतना"। जबकि मुक्तिबोध की कविता पढ़ते समय जीवन क्रियाओं के विषम-से-विषम चित्रों की शृंखला हमें आन्दोलित करती चलती है। पाँव जलते हैं। सिर फटता है। आदमी कुचले जाते हैं। लेकिन अंत में अहसास होता है : आदमी ज़िन्दा है। अपने बल से पराजित-अपराजित है। वहाँ न महा-मौन है और न महा-शून्य। लगता है "मौन" कहकर एक गलत शब्द से सचाई की आँख फोड़ी गई है। खतरे की बात यह है कि इसी "महामौन" की छूत, विडम्बना की आड़ में, युवा लेखकों तक आ पहुँची है—

मैं रहूँगा मौन और निष्पंद—
—एक शून्य में जीता हुआ
कर रहा हूँ महा नाश की प्रतीक्षा—
—निठल्ला और उदास
(जगदीश चतुर्वेदी : "सिर्फ"—३)

भाषा से हम सार्थक काम तभी ले सकते हैं जब अपने पूरे शरीरतन्त्र के साथ स्थिति से जूझ रहे हों। जहाँ जैसी क्रियाशीलता होगी भाषा तदनुरूप असर देगी। कई बार हम आम आदमी का मुहावरा देने का स्वाँग धरते हैं लेकिन क्रियाशील होते हैं कहीं और। भाषा यहाँ दूसरा छल करती है। कविता का अर्थ पकड़ने में यह छल आड़े आता है। मसलन "असाध्य वीणा" में अज्ञेय ने "ओले की करी चपत", "लोहे पर सधे हथौड़े की सम चोटें" या "चमरौधे की रुँधी चाप" आदि वाक्य-खंड में संघर्षशील आदमी की ज़िन्दगी से जो मुहावरा उठाया गया है वह आदमी वहाँ नहीं। वह हो ही नहीं सकता, जब तक हम अपनी पूरी अस्मिता खोकर उसके साथ-साथ न हों। निराला जिस आदमी की भाषा इस्तेमाल करते हैं वह आदमी कविता में उतना ही ज़िन्दा है जितना जीवन में। एक जीवित, एक नई खौफनाक भाषा की पहचान हम निराला की "महगू महँगा रहा", "डिप्टी साहब आये", "कुत्ता भौंकने लगा" और "कुकुरमुत्ता" से कर सकते हैं। एक संवाद इस प्रकार है :

"गोड़इत कह रहा है,
"अहिर के मूँसर, ये दई के दूसर हैं"

उनके साथ और अफसरान हैं
जैसे दारोगाजी,
बीस सेर दूध दोनों घड़ों में जल्द भर।"
"अरे भाई, सुन तो लो", बदलू कह रहा है
"हम भी देख रहे हैं, लछमिन का बाग है,
× × ×
तुम भी कुछ कहोगे ?"
"जानता नहीं है वे"
गुड़इत ने पैर रोपा,
"जमींदार के हैं हम,
मालिक का भला जहाँ, वहाँ हमारा भला।"
जमकर बदलू ने बदमाश को देखा, फिर—
उठा क्रोध से भर कर
और एक घूँसा तानकर नाक पर दिया—

तब तक बदलू के कुल तरफदार आ गए—
मन्नी कुम्हार, कुल्ली तेली, मकुआ चमार,
सनूच्छी नाई, बली कहार, कुल टूट पड़े—

यहाँ जगदीश चतुर्वेदी, सौमित्र मोहन, मौना गुलाठी, श्रीकान्त वर्मा. रघुवीरसहाय तथा कैलाश वाजपेयी जैसी मसूनई क्रान्ति नहीं है। न यहाँ नकार है, न मुद्रा। यहाँ वही आदमी बोलता है जिसके बारे में कविता है : निराला नहीं। वह इस तरह ज़िन्दा है कि एक दूसरे का लोहू पीने वाली दो व्यवस्थायें भी सजीव हो उठी हैं। इतिहास झन-झना उठा है। क्रूर व्यवस्था के जबड़े को तोड़ भविष्य बोलता है। यही वे लोग हैं जिनके बारे में महगू ने कहा था कि "हमारे अपने हैं यहाँ बहुत छिपे लोग/" "अभी अखबार उनके नाम नहीं छापते" / "ऐसा ही पहरा है।" यही लोग मुक्तिबोध में बार-बार घायल होकर मलवे के नीचे से उठ रहे हैं। त्रिलोचन में वे समूचा लड़ता हुआ समाज है। केदारनाथ अग्रवाल में वे हट्टे-कट्टे हाड़ों वाले", "चौड़ी चकली काठी काले"—"बुन्देलखण्ड के आदमी हैं।" यानी ये कवि उनकी दशा पर वक्तव्य नहीं देते बल्कि उनकी ज़िन्दगी में शरीक हैं। तभी उनकी भाषा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बोलते हैं : नये आदमी की कविता रचते हैं। लेकिन जिन कवियों ने ऐसा नहीं किया उनका मुहावरा महज़ एक मुद्रा है। मैं "आत्महत्या के विरुद्ध" के प्रसंग में सवाल उठाना चाहूँगा। यहाँ रामलाल मैकू, "खीस काढ़े खड़ा राम गुलाम", "लूले", "काने", "बहरे" सब निराला की निष्प्राण गुंजार लगते हैं। खुशी होती अगर यह गुंजार अधिक खौफनाक और तेजस्वी दिखती। लेकिन लगता है यहाँ न उनका कोई तरफदार है न हम-सफर ! कवि सिर्फ मुहावरा बोलकर एक सुनहरा जाल बुन रहा है। यह स्थिति वही है जैसे अमरीका से आने वाले हिप्पी हिंदुस्तान में डाढ़ी रखा, टाट-पट्टी पहन, विदूषक बने घूमते हैं। ऐसा मुहावरा "विदूषक मुहावरा" है। क्योंकि इससे आप कड़ी-से-कड़ी बात कहकर भी कोई खतरा पैदा नहीं करते। मुहावरा वह है जो कविता होकर दुश्मन को खतरा बने। बहुत पहले शूद्रक ने तत्कालीन समाज-व्यवस्था पर चोट कर अपने मुहावरे से खतरा पैदा किया था। निराला का "कुकुरमुत्ता" जब बोलता है, गुलाब की जड़ें हिलने लगती हैं और चेहरा बे-आब ! विदूषक मुहावरा खतरा नहीं बनता। हर सुनने वाला जानता-बूझता है कि जिस राजा की यह नकल बना रहा है उसकी झाड़ पर दाँत-निपोरने लगेगा। वह महज लुभा सकता है। गुद-गुदा सकता है। या कभी-कभी नखोट सकता है। रघुवीरसहाय का मुहावरा यही करता है। जिस जनतन्त्र की विसंगतियों को लेकर उन्होंने अपनी कृति का ताना-बाना पूरा है उन सभी विसंगतियों से तो सत्ताधारी वर्ग भी भली-भाँति परिचित है। और मंच से अपनी ही आलोचना करता है। ये व्याख्यान बयानी है जिसे कहकर आप एक जाल बुन सकते हैं और आसानी से अलग रह सकते हैं। नतीजा होता है कि हम "रामलाल" और "मैकू" को भीड़ में खोजने का ढोंग करते हैं। जो आपके लिये 'भीड़' हैं उन्हें क्या खोजना ? जबकि निराला के बाद वे पूरे हिंदुस्तान में उजागर हो चुके हैं। उन्हें पहचाने बिना हम उनके बारे में आश्वस्त होना चाहते हैं। इसीलिये रचनाओं में "वे" नहीं, "हम" बोलते हैं। हमारे पढ़े-लिखे दो-चार साथी : उनकी दी हुई टूटन : यह सब हमारा खुद का बेगानापन है :

"कितना अकेला हूँ मैं इस समाज में"

(रघुवीर सहाय)

"एक तमंचा लिये हुये रात-रात में भटका
खड़ाऊँ की तलाश में"

(कैलाश वाजपेयी)

"छोड़—दिया गया है—मुझे अनन्त काल तक—
भटकने के लिए इस प्रलाप में"

(श्रीकान्त वर्मा)

यह इसलिए होता है कि हम यथार्थ से आँख मिलाने का महज ढोंग करते हैं। राजनीतिक प्रतिबद्धता मानकर भी नहीं मानते। या फिर हम रूमानी राजनीति के शिकार बन ऐसे खतरनाक वक्तव्य देने को मजबूर होते हैं : "...इसके माने यह नहीं कि मैं 'भीड़' का कायल हूँ। मैं बदमाशों, गधों, आधे पागलों और मक्कारों के लिए एक ज़िम्मेदारी महसूस करता हूँ।" (आत्महत्या के विरुद्ध) यह भीड़ क्या है ? रूस की राज्य-क्रांति के समय पूंजीवादी देशों ने उसे "नृशंस भीड़ की बगावत कहा था।" साफ है जिसे हम भीड़ कहते हैं वह हम से अलग है। हम अगर उसी भीड़ की आँखों से अपने को देखें तो क्या लगेंगे ? दूसरे, ये "बदमाश", "गधे", "आधे पागल" और "मक्कार" कौन हैं। और हम उनके प्रति किस रूप में कोई ज़िम्मेदारी महसूस करते हैं ? मसलन :

मारो मारो मारो शोर था मारो
एक ओर साहब था
सेठ था सिपाही था
एक ओर मैं था
मेरा पुत्र और भाई था
मेरे पास आकर खड़ा हुआ राही था—

(आत्महत्या के विरुद्ध)

इतनी भर स्थिति से ज़ाहिर नहीं होता कि आप किसी भी ओर हैं। इसी से पाठक का संदेह होता है। यह वस्तु-स्थिति है। अपने पक्ष का संकेत नहीं। हम कहते हैं पक्ष बताना हमारा काम नहीं ? तो फिर राजनीति की चर्चा क्यों ? वह राजनीतिक कविता क्या है ? एक ओर हम कहते हैं, "सरकार, जो राज्य की प्रतिनिधि है, जो समाज का प्रतिनिधि है जैसी भी वह हो सकती है—अधूरी, टूटी, नकली, मिलावटी, मूर्ख—अकेला कारगर साधन भीड़

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के हाथ में हैं।" (आत्महत्या के विरुद्ध) (याद रहे ये शब्द लोहिया दोहराते थे लेकिन उन्होंने "भीड़" को हमेशा "जन" कहा या "ताकतवर जनता")। जिस जनतंत्र में हमारी इतनी आस्था है उसकी ताकत को हम 'भीड़' कह उसे दाह रहे हैं। क्या ज़रूरी है इस व्यवस्था के तुरन्त बाद एक बेहतर व्यवस्था आये ? वर्तमान परिस्थितियों में वह एक फासिस्ट व्यवस्था भी हो सकती है। हम दूसरे दिन उसकी हिमायत कर सकते हैं। क्योंकि आज के अनेक वामपंथी दल उन्हीं साम्प्रदायिक और फासिस्ट दलों के साथ बैठे हैं। हम उनके बारे में क्या कहें। जब तक रचनाओं में यह ज़ाहिर नहीं कि हम कदम-ब-कदम आम आदमी की लड़ाई में शरीक हैं तब तक हम एक छल के शिकार बने रहेंगे। निराला, त्रिलोचन, केदारनाथ अग्रवाल, मुक्तिबोध तथा नागार्जुन की रचनाओं में यह छल नहीं। इसलिए उनका ये मुहावरा संशय खड़ा नहीं करता। विद्रूपक मुहावरे का एक खतरा और है। यह मुहावरा विडम्बना के ऊपर टिका है। विडम्बना जीवन की कुछेक विसंगतियों का भंडा-फोड़ करने के लिए तो ठीक है लेकिन जब वह सृजनशीलता का पर्याय बनने लगता है तो इसका प्रभाव नष्ट हो जाता है। यथार्थ से आमने-सामने लड़ने की ताकत नहीं रहती। रघुवीरसहाय, श्रीकान्त वर्मा, कैलाश वाजपेयी और कतिपय युवा लेखक इसी विडम्बना के शिकार हैं। हम कब तक नकल उतारते रहेंगे ? कब तक चिढ़ाते और चिढ़ते रहेंगे ? जब तक यह कोरी निन्दा ! कोरी निराशा ! कोरा छल ! उपहास ! अब स्थिति यह है कि हमारी रचनायें हमारे झूठ पर हँसती हैं। विडम्बना जीने का लहज़ा बनी जाती है। इधर की लम्बी कविताओं का लहज़ा यही विडम्बना है। उनमें युवा पीढ़ी का विद्रोही स्वर व्यक्त होकर भी उस आदमी की तस्वीर और ताकत का अहसास नहीं होता जो हमें इस समूची विसंगत और विडम्बनापूर्ण व्यवस्था के खिलाफ़ लड़ने को प्रेरित कर रहा है। हम भंडा-फोड़ तो कर रहे हैं। लेकिन उस टूटने से जो बराबर सिरज रहा है उसका मुँह अब भी काला है। वह अब भी अँधेरे में है। हम केवल व्यवस्थावादी लफ्फाजी के प्रतीक बनते जा रहे हैं। यह महज नकार है: हर चीज़ का नकार। यह मेरी निजी टूटन हो सकती है मेरे विद्रोही युग का यथार्थ नहीं। दूसरे, प्रत्येक चीज़ का नकार हमें कहीं ले नहीं जा सकता। यथास्थिति को बनाये रखने का यह रूमानी विद्रोह है :

"मिट्टी को जूते मारते हुए मैं आत्महत्या कर सकता हूँ
अपने-आप को तोड़ने के अलावा मेरे पास कोई नारा नहीं
सारी सभ्यता का उजाला चाटकर मुझे कैंसर हो गया है
मैं न समाज हूँ न व्यक्ति न नाम..."

(लीलाधर जगूड़ी : "आलोचना", अप्रैल-जून)

या फिर

अब मैं इन्तजार से बाहर था और खिलखिलाते हुए
धीरे-धीरे जलता दृश्य देख रहा था वह खिड़की पर अंडे
सेती कबूतरी का। कुत्ते के जमीन रौंदने का। और मासिक
धर्म का कपड़ा बदलती हुई पत्नी का।

(सौमित्र मोहन : "सिर्फ़" २)

ये हम किससे कह रहे हैं ? यह हमारे बीच हमारी घुटन है। लिहाजा भाषा निष्प्राण हो रही है। बात का कोई असर नहीं होता। युवा लेखक के सामने इससे ज्यादा दर्दनाक स्थिति और क्या होगी कि जिस हथियार से उसने वार किया उसका वह खुद शिकार हुआ जाता है। मैं यह नहीं कहता कि पूरा युवा लेखन इसी नियति से जुड़ा है। उसके विद्रोही तेवर, ज़िन्दा मुहावरा और सृजन-शीलता को पूरी आस्था से स्वीकारते हुए यह महज़ खतरों की ओर इशारा है। जिस युवा लेखन ने निराला और त्रिलोचन की भाषा को लोकव्यापी ज़मीन दी वह अपनी तेजस्विता को न खोये ! यह तभी सम्भव है जब हम उस उठे आ रहे आदमी का हाथ कसकर पकड़ लें। उसके खून की गर्माहट का अहसास हो। जिन युवतर रचनाओं को उसका अहसास हुआ है उनकी भाषा अपने-आप बोलती है। हमारा श्रेयस वही है। कविता विद्रोही आवाज़ बोले, ज़रूरी नहीं। पर वह आज की सारी जटिलताओं के बीच ज़िन्दा आदमी की पहचान करा सके, यह ज़रूरी है :

उसके आते कदमों की आहट
अब साफ-साफ सुन पड़ने लगी है
भारी स्थिर पदचाप-गुँजीली—
लगातार नज़दीक आती :

× × ×

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अब मैं जम्हाई भी संभाल कर लेता हूँ :
वह कहीं पास है
× × ×
अंधेरे में पसरी आकृतियों पर
उसने थोड़ी धूल थूक दी है
बस
और लगातार बढ़ रहा है
मेरे आमाशय से ऊपर
उठ चुका है उसका सर
× × ×
वह कहीं करीब है
अपनी पतली गाँठिल अंगुलियों से मेरी
झुकी रीढ़ ठकठकाता
अब वह कहीं करीब है करीब है
मैं उसे अब निगल नहीं सकता
× × ×
और अब क्या हो सकता है मेरे किये
मेरे भिचे दाँतों को अलग कर
कसे होठों को खोलकर
किसी उठती शाख की तरह
वह उभर आ सकता है
और कभी भी कभी भी
हो सकता है प्रकट

(ज्ञानेन्द्र पति : "सिर्फ" २)

उस नये आदमी की ओर ज्यादा करीब आने का अहसास, जहाँ-तहाँ फूट-फूट कर समूह-बद्ध हो जाने की पहचान, और खूनी दुश्मन द्वारा परास्त न होने का यकीन हमें नई भाषा देगा।

इसी संदर्भ में सपाट बयानी को लेकर भी एक सवाल है। सपाट कविता का अर्थ है : हाड़-मांस से सम्बन्धित कविता। सपाट बयानी का विरोध न तो बिम्ब से है न भाषा की वक्रता से। यह गड़बड़ी बिम्ब-वादी आन्दोलन को प्राथमिकता देने की वजह से हुई। सार्थक कविता न तो बिम्बों का आग्रह करती है न त्याग। सपाट-से-सपाट भाषा में बिम्बात्मकता हो सकती है। दरअसल शब्द हमें शब्दार्थ से कितना आगे और ले जाता है यही उसकी बिम्ब-शक्ति है। कविता में शब्द जो अर्थ देते हैं वे सब बिम्बात्मक हों, जरूरी नहीं। मुमकिन है वहाँ कोई इन्द्रियजन्य चित्रात्मक बिम्ब न हो। यह भ्रम हमें इसीलिए हुआ क्योंकि हमने शब्द की स्वाभाविक अर्थवत्ता को बिम्ब-वादी आन्दोलन से जोड़ दिया। भाषा में रूपक तत्त्व अन्तर्निहित है। उसी को अपनी सृजन-क्षमता से पकड़ पाना भाषा का पुनः सृजन है। यह बात तब साफ होगी जब हम ठेठ देहातियों, कुली, ठेले वालों, रिक्शे-ताँगे वालों की भाषा से निःसृत ऊर्जा पर ध्यान दें। कविता में जहाँ क्रिया की ऊष्मा होगी वहाँ बिम्ब भी होगा और भाषा खुद-ब-खुद प्रतीकात्मक हो उठेगी। युवा लेखन ने अपने को बिम्बवादी आन्दोलन से अलग कर नया बिम्ब-विधान दिया यह उनकी उपलब्धि है। लेकिन जहाँ वे जान-बूझकर भाषा को 'तांत' बना रहे हैं वहाँ कविता गायब हो रही है। इसीलिए मैंने कहा सपाट कविता का मतलब है हाड़-मांस से सम्बलित कविता। कविता में "आदमी" कहने का मतलब है, हमें उसकी अन्तड़ियाँ, मांस-पेशियाँ, मज्जा, रक्त-प्रवाह, क्रियाशीलता और स्वभाव भी संलक्षित हों। वरना उस शब्द का कोई अर्थ नहीं। अगर ऐसा न होता तो फिर कवि को एक आदमी के लिये इतना सारा न कहना पड़ता :

यह मैं खड़ा हूँ
भरा-पूरा एक आदमी
आठ-दस सफेद बाल
आठ-दस अधूरे स्वप्न
मक्कार बूढ़ों की परिषद में
एक खतरनाक बात
कहकर बैठ जाऊँगा

इन पंक्तियों से कवि की ये पंक्तियाँ निरस्त हो जाती हैं :

प्रिय पाठक
ये मेरे बच्चे हैं
कोई प्रतीक नहीं
और इस कविता में
मैं हूँ मैं
कोई रूपक नहीं

ऊपर की पंक्तियों को पढ़ने के बाद नीचे की पंक्तियाँ नई वाग्विदग्धता (विट) लगती है। युवा लेखन में यह बात बराबर आ रही है। सपाट बयानी की तलखी समझने को यहाँ निराला की कविता द्रष्टव्य है :

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानव जहाँ बैल-घोड़ा है
कैसा तन-मन का जोड़ा है
किस साधन का स्वाँग रचा यह
किस बाधा की बनी त्वचा यह
देख रहा है विज्ञ आधुनिक
वन्यभाव का यह कोड़ा है।
× ×
पक पक कर ऐसा फूटा है
जैसा सावन का फोड़ा है

(गीत गूंज : पृष्ठ ५१)

यह सपाटबयानी है : हाड़-मांस से सम्बलित कविता भी। जीवन अपने पूर्ण अन्तर्विरोध, तनाव और गतिशीलता में व्यंजित हो नया मुहावरा दे गया। कहीं कविता आहत नहीं। पूरा युग बोलता है। भयानक यथार्थ से साक्षात करने की यही ऊर्जस्विता त्रिलोचन के पास है :

विन्ध्यपाद में देखा एक लाश को सड़ते।
था अनुकूल पवन, जा पहुँचा, सम्मुख देखा
दहल गया, जीवन का ऐसा भी क्या लेखा ?
अब अन्दौर उठ रहा था। धीरज को अड़ते
नहीं पा रहा था। झोंके सड़ाँद के गड़ते
थे घ्राणेन्द्रिय में। कीड़ों की गति की रेखा
सूर्य-प्रभा से भासमान थी।——

("दिगन्त" : पृष्ठ, ४५)

मैं नहीं समझ पाता सपाटबयानी को युवा लेखन पर गलत ढंग से क्यों थोपा जा रहा है। किसी सी तनाव और अन्तर्विरोध को व्यक्त करते समय सृजन-शील भाषा झेंपती नहीं। विचार को साधने के लिए जहाँ जो दिखता है, चुनती है। कृतिकार ज़िन्दगी को व्यक्त करते-करते दुनिया का एक ढाँचा भी देता चलता है। यह ढाँचा ही उसके द्वारा देखी गई दुनिया है। इस ढाँचे को बुनने के लिए उसकी भाषा का योग रहता है। जिस दुनिया से वह साक्षात कर रहा है—वहीं की वस्तुओं, वहाँ का स्वभाव, वहाँ के क्रियाकलाप, वहाँ का निसर्ग : यानी समूचा जीवित परिवेश उसकी कृति में एक ढाँचा खड़ा करेगा। हालाँकि यह उतना उजागर नहीं होता। उसी ढाँचे को व्यक्त करने के लिए कविता के पास बिम्ब की अद्भुत शक्ति है। दरअसल सपाट कविता का विरोध भाषा में निहित उसकी ध्वन्यात्मकता से नहीं उसके अलंकरण से है। धूमिल की "पट-कथा" बिम्ब से शुरू होती है। "जो देखो वह लिखो" कहने वाले त्रिलोचन ने अद्भुत बिम्ब दिये हैं। यही ढाँचा बतायेगा कि हमने दुनिया किन आँखों देखी। उसकी चुनौतियों ने हमें कितना फँफेड़ा। यहाँ यह भी साफ होना चाहिए कि परिवेश से हमारा क्या सम्बन्ध है। इधर की लम्बी कविताओं में परिवेश का आग्रह है लेकिन यह आग्रह नहीं दरसाता कि हम जीवन की चुनौतियों और तनावों का मुकाबला करने को खड़े हों। न यह कि हम उससे ज़िन्दा दब गये हैं और बाहर आने को हाथ-पाँव पीट रहे हैं। इन दोनों ही स्थितियों में हमारी कृति क्रिया-प्रेरित होगी। ये तभी सम्भव है जब युवा लेखक महसूस करें कि आदमी का स्वभाव अपने परिवेश को बदलकर स्वानुकूल बनाना भी है। प्रत्येक सृजन-व्यवहार का यही केन्द्र है : सतत् क्रियाशीलता : उसकी पकड़ जो भाषा को गति देती है :

भाषा की लहरों में जीवन की हलचल है
ध्वनि में क्रिया भरी है और क्रिया में बल है

(त्रिलोचन : 'दिगन्त', पृष्ठ ६३)

दरअसल खतरा स्वाभाविक बिम्ब से नहीं। खतरा है "विदूषक भाषा" से। विडम्बना को समूचे जीवन का अन्दाज बनाने से। युवा लेखन को इस खतरे से बचना है। निराला, त्रिलोचन, मुक्तिबोध, केदारनाथ अग्रवाल तथा नागार्जुन ने भाषा की जो जमीन दी है उसी जमीन को और उर्वर बनाना है। मुझे लगा एक अवधी-कवि ने भाषा की खोज के सवाल को ठीक-ठीक समझ हमें झकझोरा है। हम इधर भी सोचें। ये पूरी युवा पीढ़ी को चुनौती है, आँख भी :

"जब हम ई लखि पाए
अवरउ जियतार बा
जवने कँ राखे से
तन मन फरहर होए
तब भाखा धई लिहे।"

(त्रिलोचन)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

029570

वापसी

कुमार विकल

मैं अपने मुहल्ले को वापस जाऊँगा
राजपथ की चकाचौंध से दूर—
ऊँघती बस्ती में।
पुराने घर के बन्द कमरों में
नयी डिबरी जलाऊँगा
पुरानी किताबों को झाड़कर सजाऊँगा
दीवार पर नया कैलेंडर लगाऊँगा
और धीरे-धीरे
धनिया धोबिन
लच्छू लोहार
कानू किरानी
और चतुरी चमार की दुनिया में डूब जाऊँगा।
राजपथ की वनतंत्री व्यवस्था में
मैं अकेला और अरक्षित हूँ
मेरी स्नायुतंत्र पर भय और आतंक की कँटीली
झाड़ियाँ उग आयी हैं
जिन्हें काटने के लिए सख्त हाथों के साथ-साथ
खुरदरे शब्दों की जरूरत है।

इन झाड़ियों को काटने के लिए
ठीक हाथों और ठीक शब्दों की तलाश में
मैं होरी किसान और मोचीराम के पास जाऊँगा।
मैं अपने मुहल्ले को वापस जाऊँगा।

राजपथ की तिलिस्मी दुनिया में
मैं अकेला और अरक्षित हूँ
मेरे राजपंथी दोस्त जो हाथों में सम्बन्धों की मशालें
लिए फिरते थे
अपने-अपने वर्गों के अंधेरे में खो गये हैं
और सुरक्षित हो गए हैं
हर आदमी का वर्ग उसकी सुरक्षा का घेरा है
मैं भी अपने घेरे में लौट जाऊँगा।

और अब—
जब कभी राजपथ पर आऊँगा
अकेला नहीं
पूरे मुहल्ले के साथ आऊँगा।

० ० ०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बेकेट के साथ एक शाम

कैलाश वाजपेयी

सन् १९५३ की एक शाम जब कुछ लोग "तेआथ्र द बाबीलोन" से 'वेटिंग फ़ार गोदो' देखकर निकले तो किसी ने नहीं सोचा था कि सोलह वर्ष बाद स्टॉकहोम की रॉयल स्वीडिश अकादमी इस नाटक को नोबेल पुरस्कार के लिए चुनेगी। बेकेट पुरस्कार लेने नहीं गया, नहीं उसने अखबारनवीसों को अपने पास फटकने दिया। हाँ और ना के बीच वह सिर्फ चुप रहा जैसा कि वह है। पेरिस में अब जिस तरह सार्त्र और कामू का स्थान मारकूज़ और अलथ्यूसे ने ले लिया है। एबसर्ड थिएटर भी अब करीब-करीब व्यतीत का विषय हो चला है। उसकी जगह आज वहाँ 'पेनिक और लिविंग थिएटर' की चर्चा होने लगी है ! लेखकों का एक नया दल खड़ा हो गया है जिसे कोरी वैचारिकता से चिढ़ है। नववामपक्षीय ये लेखक अपनी समस्त बौद्धिक प्रपत्ति के ही साथ अब कर्म पर भी बल देने लगे हैं। विचार से कर्म की ओर उन्मुख होने की यह प्रवृत्ति पॉल वेलरी की टिप्पणी "सिसिफस की निरर्थक पीड़ा और श्रम का एक लाभ यह अवश्य हुआ होगा कि उसकी मांसपेशियाँ और पुष्ट हो गई होंगी" को चरितार्थ करती जान पड़ती है। मगर बेकेट पर इस सबका कोई असर नहीं। १९३७ में अपने कविता-संग्रह 'ह्वोरोस्कोप' के प्रकाशन के बाद से आज तक लगातार वह ऐसे पात्रों की सृष्टि कर रहा है जो मनुष्य के प्रगतिशील विघटन की ओर ही इशारा करते हैं। असफल कवि 'क्रेप' के एकान्त प्रलाप को रूपायित करने के बाद पिछले दिनों इटली के कार्लो मिनोती की माँग पर बेकेट ने उसे जो नाटक दिया उसमें सिर्फ दीर्घ और गहरे उच्छ्वास थे। बेकेट हालाँकि अब सफलता के अंतिम पायदान को पीछे छोड़ चुका है। उसकी कृतियाँ भी बाईस से अधिक भाषाओं में अनूदित हो चुकी हैं मगर उसकी इस मान्यता में कि "आदमी अगर कहीं स्वतंत्र है तो मन के भीतर" अब तक कोई अन्तर नहीं आया। पेरिस पहुँचकर जब फ्रांस के सांस्कृतिक मंत्रालय की सचिव से मैंने बेकेट से मिलने की बात कही तो ज्ञात हुआ कि उनके लिए बेकेट को पाना असम्भव है फिर भी मेरे लिए एक पत्र लिखा गया है। उत्तर में बेकेट ने अपने पेरिस आवास का पता देते हुए आमंत्रण पत्र भेज दिया।

तीन अप्रैल की शाम अड़तीस बूल्वा सेन्ट जेकब पहुँच कर जब मैंने सातवीं मंजिल पर पहुँचने के लिए एलीवेटर का बटन दबाया तब मेरे मन में एक साथ कई बातें थीं। यह कि बेकेट चुप्पा है। यह कि वह पेरिस सिर्फ मुलाकात के लिए आया है। यह कि वह आदर्श कलारूप ऐसी अभिव्यक्ति को मानता है : "जिसमें अभिव्यक्त करने के लिए कुछ न हो। न अभिव्यक्ति का निमित्त हो न उपादान। अभिव्यक्ति की सामर्थ्य भी न हो न ही अभिव्यक्ति की आकांक्षा। फिर भी अभिव्यक्ति अपरिहार्य हो !"

कमरे में जहाँ जड़ सन्नाटा था, निपट एकान्त जिसे बेकेट ने विदेशी भाषा में अपने लिखने के दिन के ही साथ चुन लिया था, वहाँ वह दुबला और लम्बा, गोल और नीली आँखों वाला द्वार पर खड़ा था। पहुँचते ही तपाक से उसने हाथ मिलाया। इसी बीच शान्तल द्वारा परिचय दोहराया गया। बुदबुदाती-सी आवाज़ में उसने पूछा, क्या मैं अंग्रेजी बोलता हूँ ? मेरी स्वीकृति का संकेत पाते ही उसने फ्रांस की मेरी यात्रा और आगे के कार्यक्रम आदि के बारे में पूछने के ही साथ जानना चाहा कि मैंने उसे कितना पढ़ा है।

हर वह व्यक्ति जो यंत्रविद्युदाणु युग की कशमकश से अवगत है। जिसे यह ज्ञात है कि जानते हुए जीना कितना तकलीफ़देह है, आज के सन्दर्भ में बेकेट की प्रांसगिकता को भी समझता है। जिसने बेकेट को पढ़ा है उसे पता है कि उसे पढ़ते हुए भीतर क्या घटित होता है। बेकेट को पढ़ना शीशे के सामने खड़े होकर अपने कंकाल से साक्षात्कार करना है। उसके सारे पात्र कढ़ीलकर आदमी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को वहाँ ले जाते हैं जहाँ ज़िन्दा रहने की हर वजह वाहियात लगती है। इतनी निर्ममता से ना को प्रश्रय देने वाले आज कम लेखक हैं।

सन्नाटा काटते हुए मैंने पूछा—अगर मैं भूलता नहीं तो तुमने अपनी साहित्यिक ज़िन्दगी कविता से शुरू की थी। ऐसा क्या हुआ कि तुम जल्दी ही इतना सशक्त माध्यम छोड़ने के लिए विवश हुए ? बेकेट मुश्किल से सुनाई पड़ने वाली आवाज़ में बोला—असल में मेरी पहली किताब प्रूस्त पर आई थी। कविता शुरू में मैं लिखता ज़रूर था—संकलन भी छपवाया था मगर शुरू में जो कुछ लिखा प्रकाशकों की उदासीनता की वजह से प्रकाशित न हो सका। मजबूरन माध्यम बदलना पड़ा।

मैंने पूछा, 'वेटिंग फॉर गोदा' का स्त्रागाँ, तुम्हारे पिछले दो पात्रों मर्फी और विशेषरूप से 'वाट्' की याद दिलाता है। स्त्रागाँ को रचते हुए क्या तुम्हारे मन में इन दो पात्रों के चरित्र भी चिपके रह गए थे ?

यह जानते हुए भी कि कोई रचनाकार सचेत होकर यह सब नहीं करता—मैंने यह प्रश्न सिर्फ़ इसीलिए किया था कि स्त्रागाँ का उत्स पकड़ सकूँ। बेकेट ने थोड़ा सम्भलकर "हो सकता है" कहने के साथ ही बताना शुरू किया : क्योंकि 'मोलोए और मालोन डाइज़' के तत्काल बाद मैंने 'वेटिंग फ़ॉर गोदो' लिखा तब 'अननेमेब्ल' लिखकर अपने त्रिसूत्री उपन्यास की पूर्ति की।

युद्ध के बाद मैं बराबर लिखता रहा—हालाँकि किसी ने मेरी पाण्डुलिपियाँ स्वीकार नहीं कीं। उदाहरण के लिए 'वेटिंग फॉर गोदो' कई प्रकाशकों द्वारा अस्वीकृत हुआ। क्योंकि 'गोदो' की शुरुआत 'वाट्' की समाप्ति के तत्काल बाद हुई इसलिए हो सकता है 'स्त्रागाँ' 'वाट्' की याद दिलाता हो।

कैलाश : बेकेट, तुम्हारे अधिकांश पात्र विकलांग हैं, उनमें विकृतियाँ हैं और उनके सोचने का ढंग भी असामान्य। क्या इस तरह के पात्रों की सृष्टि कर तुम आज के आदमी की असहायता स्पष्ट करना चाहते हो।

बेकेट : नहीं—बल्कि यह कि जितना आज का आदमी समाज में व्यस्त होने का प्रयत्न करता है उतना ही वह अपने-आपको उखड़ा हुआ पाता है। मेरे पात्र आज के आदमी की इसी अक्षमता को व्यक्त करते हैं। विसंगति को उजागर करने के लिए बल मैंने ऋणात्मकता पर अधिक दिया है क्योंकि ऋणात्मकता यथार्थ को ज्यादा अच्छी तरह स्पष्ट करती है।

कैलाश : तुम्हारे पात्र एकान्तप्रिय भी हैं (मैं जानबूझकर उन्हें समाज से घृणा करने वाले नहीं कहता) वे हरी अन्धी घाटियों में भटकते हैं या अन्धेरे कमरों में पड़े-पड़े धीरे-धीरे दम तोड़ते हैं—क्यों ? क्या तुम्हें आदमियत पर कोई आस्था नहीं ?

बेकेट : (चुप्पी...) नहीं--मुझे किसी चीज़ पर कोई आस्था नहीं।

मैं थोड़े शरारती अन्दाज़ में फिर पूछता हूँ : क्या अनास्था पर इतनी बेटूट आस्था एक नयी तरह की निष्ठा की ओर नहीं इशारा करती जो तुममें है ?

बेकेट : (थोड़ा झल्लाकर) मैं कोई तत्त्वज्ञानी नहीं। मैं केवल शरीर को जानता हूँ, उसकी उत्तेजना को—बस

मगर शरीर अपना धर्म खुद निबाहता है उसके लिए कोई प्रयत्न थोड़े ही करना होता है—मैं फिर प्रश्न करता हूँ !

बेकेट : हाँ और यही धर्म उसका अंत भी हैं।

चर्चा को मोड़ना ज़रूरी समझकर मैं फिर बेकेट के पात्रों की ओर आता हूँ।

कैलाश : बेकेट ! 'अननेमेब्ल का नायक लिंगहीन है। वह कहता है मैं बोलने वाली गेंद हूँ और यह भी कि अननेमेब्ल के अन्तिम वाक्य में तेरह सौ शब्द हैं। इसे स्पष्ट करोगे ?

बेकेट : स्पष्टीकरण के नाम पर सिर्फ इतना कि सब वाहियात है, ज़िन्दगी भर हम सिर्फ़ बोलते हैं, बोलते ही बोलते रहते हैं सिर्फ इसलिए एक दिन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमें चुप हो जाना है। चुप हम हो भी जाते हैं इसीलिए 'अननेमेब्ल' में नायक मरने से पहले इतना बोलता है—इतना कि चुप हो जाता है।

कैलाश : तुमने एक विदेशी माध्यम क्यों चुना रचना के लिए, जबकि कहा यह जाता है कि रचना के लिए केवल मातृ-भाषा उपयुक्त है। (प्रश्न पूछने के बाद मुझे कैसिरर (Cassirer) की याद आती है। पता नहीं उससे भी किसी ने पूछा रहा होगा यह प्रश्न या नहीं)

बेकेट : लिखा तो था। पैंतालीस तक अंग्रेज़ी ही में लिखता था; मगर मातृ-भाषा पर काबू पाना काफी कठिन काम है। विदेशी भाषा को सीखकर उसका उपयोग ज्यादा भली प्रकार किया जा सकता है बनिस्बत् मातृ-भाषा के, फिर मातृ-भाषा ग़ैरज़िम्मेदार भी बनाती है।

(बेकेट के स्पष्टीकरण में इस बात पर विशेष बल था कि मातृ-भाषा में लिखने वाले बकवास ज्यादा करते हैं)

मैंने इसीलिए अंग्रेज़ी छोड़कर फ्रांसीसी में लिखना शुरू किया। और अब कुछ ऐसा है कि कभी मैं फ्रांसीसी में लिखकर उसका अंग्रेज़ी अनुवाद कर डालता हूँ या फिर अगर अंग्रेज़ी में शुरू किया तो उसे फ्रांसीसी में ढाल देता हूँ।

बेकेट के मातृ-भाषा सम्बन्धी विचारों ने मुझे योरप में प्रचलित राष्ट्रीयता की परिभाषा की भी याद दिला दी जिसके अनुसार : राष्ट्र एक ऐसे व्यक्तियों के समूह का नाम है जो इस ग़लत-फ़हमी से जुड़े हैं कि उनके पूर्वज एक थे और जहाँ सारे के सारे लोग पड़ोसी देशों से नफरत करते हैं...।

मैंने फिर पूछा : बेकेट, आज कल क्या लिख रहे हो ?

बेकेट : नया कुछ नहीं, हाँ प्रूफ़ ज़रूर पढ़ रहा हूँ।

कैलाश : प्रूफ़ का मतलब तो यह हुआ कि जल्दी ही कुछ प्रकाशित होने जा रहा है।

बेकेट : हाँ...शुरू में लिखी एक लम्बी कहानी।

कैलाश : क्या नाम है ?

बेकेट : (थोड़ा झिझकते हुए) फर्स्ट लव.....असल में वह तमाम कूड़ा जो पहले कोई रद्दी के भाव भी लेने को तैयार न था, अब पुरस्कार के बाद सभी छापने को तैयार हैं—(बेकेट एक सनकी हँसी हँसता है)

कैलाश : मैंने सुना है तुम पेरिस से सत्तर मील दूर कहीं रहते हो।

बेकेट : यहाँ शोर बहुत है पेरिस में, इसलिए दूर जंगल के बीच एक घर बनाया है।

कैलाश : नाम क्या है—कहकर मैं उससे आग्रह करता हूँ वह लिख दे। बेकेट अपना चश्मा साफ करता है, फिर धीरे-धीरे लिखता है USSY SUR MARNE SEINEET MARNE. साथ ही बताता है यह जगह पहले जब उसने चुनी थी तब वहाँ सिर्फ जंगल था। अब जंगल की जगह ट्रैक्टरों ने ले ली है मगर पेरिस के धुएँ से वह जगह अब भी बेहतर है। वह मुझ से पूछता है भारत के बारे में खासतौर पर भारतीय दर्शन के बारे में। उसके मन में जिज्ञासा भी है उदासीनता भी। भारत के बारे में उसने येट्स बन्धुओं से बहुत कुछ सुना है। क्योंकि बेकेट का देश भी आयरलैण्ड है इसलिए मैं जानना चाहता हूँ वह येट्स परिवार को कितने निकट से जानता है या जानता रहा है। वह इशारा करता है दीवार पर लगे एक चित्र की ओर जिसे विलियम बटलर येट्स के छोटे भाई ने उसे भेंट-स्वरूप दिया है। वह बताता है उसने भारत के सिर्फ़ रवीन्द्र-नाथ को पढ़ा है। आगे का इतिहास मैं बताता हूँ कहकर मैं संक्षेप में उसे आज तक के इतिहास (साहित्यिक) और आन्दोलनों की रूपरेखा बताने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar .

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की कोशिश करता हूँ । वह बीच में थोड़ी देर मुझे सुनकर—बात को मोड़ देते हुए मुझसे कविता सुनाने की माँग करता है । मेरे पास कुछ अनुवाद थे मगर मैं उन्हें साथ नहीं ले गया था । इसलिए याददाश्त के सहारे एक रचना पढ़ता हूँ—अपनी छः-सात कृतियाँ निकालकर वह उन पर कुछ लिखता है फिर इस उम्मीद के साथ कि मैं पत्रव्यवहार बनाए रखूँगा अपनी वे सारी कृतियाँ भेंट करता है ।

कहने को अभी भी बहुत-कुछ है मगर मुझे यहाँ आए देर हो चुकी है इसलिए उठ बैठता हूँ । नीली गोल आँखों वाला वह बूढ़ा दरवाज़े तक छोड़ने आता है—

गोदो के इन्तज़ार का लेखक ।

० ० ०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बर्तोल्त ब्रॅख्त की दो कविताएँ

१. बिचारे ब्रॅख्त के बारे में

मैं, बर्तोल्त ब्रॅख्त,
अन्धेरे जंगलों में से आया
मेरी माँ ने मुझे शहरों में से गुजारा,
जब मैं उसके पेट में था
जंगलों की ठण्डक आमरण मेरे भीतर रहेगी।

इस डामर-नगर में मैं आराम से हूँ
शुरू से ही मुझे यहीं से अपना हर मल्हम मिला
और हर संस्कार
तम्बाकू और ब्रांडी और अखबार।
और अन्त में अविश्वास आलस्य और संतुष्टि।

मैं लोगों के प्रति विनम्र और मैत्रीपूर्ण हूँ
मैं मोटा हैट पहनता हूँ, क्योंकि वे भी ऐसा ही
करते हैं
मैं कहता हूँ कि वे एक विशिष्ट गन्ध वाले जानवर हैं
और सोचता हूँ : कि क्या इससे कुछ फर्क पड़ता है ?
क्योंकि भी मैं वही हूँ।

कभी-कभी सुबह मैं अपनी घूमनेवाली कुर्सियों पर
दो-एक स्त्रियों के साथ बैठता हूँ
और सरलता से उनकी ओर देखता हूँ, लगातार
और उनसे कहता हूँ
यहाँ रहा वह आदमी, जिसपर विश्वास नहीं किया
जा सकता !

शाम के समय मेरे आसपास मर्द होते हैं
हम एक-दूसरे को श्रीमान् कह कर पुकारते हैं
वे मेरी टेबिल पर पाँव फैलाकर बैठते हैं
और कहते हैं कि सब ठीक हो जायेगा
कब ?—मैं उनसे नहीं पूछता।

पौ फटने से पहले के भूरे प्रकाश में
जब चीड़ों पर चिड़ियाँ शोर करती हैं
मैं अपना गिलास आखिरी बूँद तक पी जाता हूँ
अपने सिगार के आखिरी टुकड़े को खिड़की से बाहर
फेंक देता हूँ
और चिन्तित होते हुए सोने के लिए चला जाता हूँ।

हमने एक शान्त और सरल पीढ़ी को
ऐसे घरों में बसा दिया है, जो अटूट समझे जाते हैं
(इसी तरह हमने बनाई हैं वे ऊँची पेटियाँ मेनहैटन
के द्वीपों पर
और वे पतले रेडियो प्रसारण-स्तम्भ
जो अटलांटिक के ज्वार का मनोरंजन करते हैं)

ये शहर बने रहेंगे : इनमें से हवा गुजरती रहेगी
मकान किरायेदारों को प्रसन्न करते हैं : वे उन्हें
साफ रखते हैं
हम जानते हैं कि हम सिर्फ़ किरायेदार हैं
और वह भी अस्थायी
और हमारे बाद आयेंगे ऐसे लोग
जिनके बारे में बात करना बेकार है।

आने वाले भूचालों में मुझे उम्मीद है
मैं अपनी वर्जीनिया को सुलगती हुई रक्खूँगा
चाहे मैं कटु हो उठूँ या नहीं
मैं, बर्तोल्त ब्रॅख्त, जो कि डामर-नगर तक लाया गया
अपनी माँ के गर्भ के अंधेरे जंगलों से, बहुत दिन
पहले।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२. आने वाली पीढ़ी के नाम

सचमुच मैं अंधेरे युग में रहता हूँ !
निष्कपटता जहाँ मूर्खता है
शान्त मस्तिष्क उसी का हो सकता है, जिसका दिल
पत्थर का हो
जिसके चेहरे पर हँसी है
वह अभी खौफनाक खबरों से अनजान है।

आह कैसा अजीब युग है !
जब पेड़-पौधों तक की बात करना लगभग अपराध है
क्योंकि इसमें निहित है बहुत से अन्यायों के प्रति एक
चुप्पी।
शान्ति से सड़क पार वही कर सकता है
जो अपने मुसीबतज़दा दोस्तों की पहुँच से बाहर है।
यह सच है कि मैं अपनी रोज़ी कमाता हूँ
पर विश्वास करो, यह सिर्फ किस्मत की ही बात है
मैं जो कुछ करता हूँ, उसमें ऐसा कुछ भी नहीं है
जिसके लिये मुझे भरपेट खाना दिया जाय
यह संयोग ही है कि मैं ज़िन्दा हूँ।

लोग कहते हैं; खाओ पीओ और मौज करो
पर मैं कैसे खाऊँ-पिऊँ ?
जबकि मेरा हर कौर किसी भूखे के हाथों से छिन कर
आता है
और मेरा हर गिलास किसी प्यासे को पानी से वंचित
कर देता है !
फिर भी मैं खाता हूँ। पीता हूँ।

मैं भी बुद्धिमान बनना चाहता हूँ
शास्त्रों में बताया गया है कि बुद्धिमानी क्या है ?
सांसारिक झंझटों से बचना
और बिना किसी से डरे अपना वक्त गुज़ारना
हिंसा से बचना
बुराई का जवाब भलाई से देना
और इच्छाओं का दमन करना।

लेकिन मैं यह सब कुछ नहीं कर सकता
सचमुच मैं अंधेरे युग में रहता हूँ।

(२)

मैं शहरों में आया अराजकता के दिनों में
जब सर्वव्यापी थी भूख
मैं लोगों से मिला विप्लव के युग में
और मैंने उनके साथ विद्रोह किया
और इस तरह बीत गये वे दिन
जो मुझे धरती पर मिले थे।

मैंने कत्लेआम के बीच अपनी रोटियाँ तोड़ीं
हत्यारों के साये में मैं सोया
और मैंने प्यार किया, बिना उस पर ध्यान दिये
प्रकृति को मैंने जब कभी देखा
एक उड़ती हुई नज़र से देखा
—बिना शान्ति और धैर्य के—
और इस तरह बीत गये वे दिन
जो मुझे धरती पर मिले थे।

मेरे युग में सड़कें दलदलों की ओर ले जाती हैं
और शब्द बधिकों के दरवाज़े पर ला खड़ा करते हैं
इसलिये मैं क्या कर सकता था ?
पर हाँ, शायद मेरे बिना सिंहासन कुछ और जमे
रहते
और यही मेरे जीने की एकमात्र उम्मीद थी
और इस तरह बीतते गये वे दिन
जो मुझे धरती पर मिले थे।

(३)

तुम, जो इस जलप्रलय से उबरोगे
जिसमें हम डूब रहे हैं
जब हमारी कमज़ोरियों पर सोचो
तो इस गहन अन्धकारपूर्ण युग पर भी ध्यान देना,
जिससे तुम बच गये हो।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्योंकि जितने हम जूते बदलते हैं
उनसे भी ज़्यादा देश बदलते हुए हम
वर्ग-युद्धों के बीच से गुज़रे हैं, निराशा के साथ
उस समय
जब केवल अन्याय था और कोई प्रतिरोध नहीं।

ध्यान रखना
कि कूड़े कर्कट के प्रति घृणा भी
चेहरे को विकृत कर देती है
अन्याय के प्रति क्रोध भी
वाणी को कर्कश बना देता है !
आह ! हम जो करुणा और कोमलता की नींव रख
चाहते थे,
खुद करुण और कोमल नहीं हो सके !

लेकिन तुम, जब आख़िरकार वह दिन आये
जब आदमी आदमी की मदद के लिये उठ खड़ा हो
हम पर कठोर फैसले मत देना।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दी पत्रकारिता की पृष्ठभूमि

बटरोही

हिन्दी की साहित्यिक पत्रकारिता का विकास हमें काशी से प्रकाशित होने वाली पत्र-पत्रिकाओं में मिलता है। यों तो काशी के अतिरिक्त अन्य स्थानों से प्रकाशित होने वाले पत्रों का भी अपना विशिष्ट महत्त्व है, लेकिन, जैसे बीसवीं शताब्दी के तीसरे-चौथे दशक से हिन्दी साहित्य का प्रमुख गढ़ इलाहाबाद बन गया है, उससे पूर्व हिन्दी साहित्यकारों का प्रमुख गढ़ काशी ही था। काशी ने ही भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जैसा पत्रकार हिन्दी को दिया जिसने न सिर्फ हिंदी में साहित्यिक पत्रकारिता की नींव डाली, वरन् 'कविवचन सुधा' और 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' के माध्यम से हिंदी पत्रकारिता को श्रेष्ठ साहित्यिक पत्रिकाएँ भी प्रदान कीं। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में ये पत्रिकाएँ प्रकाश में आई थीं। भारतेन्दु की रुचि किसी एक विधा तक सीमित न थी। उनकी पत्रिकाओं में किसी एक विधा को प्रमुख स्थान न था। एक प्रकार से हिन्दी पत्रकारिता के लिए उन्होंने अपना जीवन ही समर्पित कर दिया था क्योंकि सम्पादक, व्यवस्थापक, लेखक, प्रचारक, प्रेषक और लिपिक के लगभग सारे कार्य उन्हें ही करने पड़ते थे।

भारतेन्दु द्वारा प्रकाशित पत्रिकाओं के बाद प्रायः बीस-पच्चीस वर्ष तक हिंदी पत्रकारिता में एक प्रकार का ठहराव-सा मिलता है। भारतेन्दु मंडल के जितने भी साहित्यकार थे, सभी या तो उक्त दो पत्रों में लिखते थे या पत्रकारिता का अनुभव प्राप्त कर रहे थे। कालाकांकर में राजा रामपाल सिंह भी पर्याप्त सक्रिय थे। इंग्लैण्ड और कालाकांकर से प्रकाशित होने वाले दैनिक पत्र 'हिन्दोस्थान' के माध्यम से एक छोटी-सी लेखक मंडली वहाँ पर भी रहती थी, मगर साहित्यिक विवादों और चर्चाओं की दृष्टि से इस पत्र का अधिक महत्त्व नहीं है।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दो दशकों में हिन्दी पत्रकारिता ने अभूतपूर्व उन्नति की। पत्रिकाएँ तो बहुत बड़ी संख्या में निकलीं ही, उनमें मज़ेदार और जीवंत चर्चाएँ भी आयोजित की गयीं। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक भारतीय व्यक्ति की मानसिकता भी अपना एक निश्चित रूप निर्मित कर चुकी थी। ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज, थियोसोफिकल सोसाइटी का व्यापक प्रभाव भारतीय जन-चेतना पर, विशेष रूप से उत्तरी भारत पर, पड़ चुका था। व्यक्तिगत रूप से देवेन्द्रनाथ ठाकुर, केशवचन्द्र सेन, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, स्वामी दयानन्द के व्यक्तित्व का प्रभाव भी लोगों पर पड़ चुका था, जिससे लोगों के मस्तिष्क में अपनी संस्कृति और भारतीयता के श्रेष्ठ पक्षों के प्रति एक मोह जागृत हो चुका था। कई विदेशियों के द्वारा हिन्दू धर्म के माहात्म्य के समझाये जाने पर लोगों की सुप्त चेतना जागृत हुई, फलस्वरूप विदेशियों—विशेष रूप से अंग्रेज़ों—के प्रति भारतीय बुद्धिजीवियों के मन में कुछ पूर्वाग्रह बन गये। बंगाल में ब्रह्म समाज का, पंजाब व उत्तरप्रदेश में आर्यसमाज का तथा समस्त भारत में विवेकानन्द व रामकृष्ण परमहंस के व्यक्तित्व का व्यापक प्रभाव फैल चुका था। अंग्रेज़ों ने भारतीयों की प्राचीन रूढ़ियों को तोड़ने के लिए और कुछ नई उपलब्धियों को भारतीय समाज में जोड़ने के लिए जो भी प्रयास किये, उनको भारतीय व्यक्ति ने सहजता से स्वीकार नहीं किया। उस समय की पत्रिकाओं में प्रकाशित लेखों तथा टिप्पणियों को देखने से मालूम होता है कि उन्हें भारतीय समाज में न जोड़े जाने के लिए उन्होंने कितना संघर्ष किया? आज जिन समस्याओं को हम समस्याएँ ही मानने के लिए तैयार नहीं हैं और जो हमें व्यर्थ की समस्यायें लगती हैं—उनको लेकर तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं ने बड़े-बड़े सम्पादकीय लेख लिखे और चर्चाएँ आयोजित कीं। अंग्रेज़ों के विचित्र शौक, उनकी विचित्र पोशाक, उनकी नारी-विषयक धारणाएँ, उनकी भाषा और उनके संस्कार सभी कुछ भारतीयों के लिए विचित्र स्थितियाँ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थीं। भारतीय व्यक्ति के मस्तिष्क में उनका रूप एक औसत व्यक्ति का-सा न होकर विचित्र षड्यंत्रकारी का जैसा था जो 'सात समुन्दर पार' से उनकी संस्कृति और सभ्यता को समाप्त करने के लिए यहाँ आया हुआ है। भारतीय इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि अंग्रेज़ों की नीति भारत में आये अन्य धार्मिक सम्प्रदायों की अपेक्षा भिन्न थी। यही कारण था कि उनकी उदारता को भारतीयों ने एक षड्यंत्र के रूप में देखा। मुसलमानों को जब भी धर्म-प्रचार की आवश्यकता हुई उन्होंने तलवार के बल पर ऐसा कर लिया लेकिन अंग्रेज़ों ने उदारवादी नीति का सहारा लिया जिससे तात्कालिक स्तर पर उन्हें बड़ी असुविधाएँ तो झेलनी पड़ीं लेकिन भविष्य में उन्हें उससे लाभ ही हुआ।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में एक साथ कई हिंदी पत्रिकाएँ प्रकाश में आयीं और सभी अपने आकार, सज्जा और सामग्री में अपना विशिष्ट महत्त्व रखती थीं। काशी से 'सुदर्शन', जयपुर से 'समालोचक', बम्बई से 'श्री वेंकटेश्वर समाचार', मिर्जापुर से 'आनन्द कादम्बिनी', प्रयाग से 'हिन्दी प्रदीप', अजमेर से 'छत्तीसगढ़ मित्र' आदि ऐसी ही पत्रिकाएँ थीं। इन पत्रिकाओं की विशेषता यह थी कि जब तक ये निकलती रहीं, भीषण संकटों के आने पर भी इन्होंने अपनी नीतियों में हेर-फेर नहीं किया। प्रत्येक पत्र की अपनी कुछ नीतियाँ थीं और अधिकांश पत्रों का मुख्य उद्देश्य पश्चिम के प्रभाव को किसी भी प्रकार भारतीय समाज में आने से रोकना था। यह प्रवृत्ति न सिर्फ पत्रिकाओं में वरन् इस युग के समस्त कथा-साहित्य में भी मिलती है। 'भारतीयता' को किसी भी प्रकार अपने परम्परागत रूप में बनाये रखना और पश्चिमीकरण की सभी उपलब्धियों को नकारना—यही इस युग की मुख्य प्रवृत्ति कही जा सकती है।

युगों की दासता और अपने धर्म का कोई निश्चित रूप न मिल पाने के कारण भारतीय व्यक्ति एक ओर अत्यन्त उलझा हुआ था दूसरी ओर वह भारतीयता का कोई निश्चित रूप निर्धारित करना चाहता है। बालकृष्ण भट्ट द्वारा सम्पादित 'हिन्दी-प्रदीप' (अक्टूबर १८८० ई०) के अंक में 'नई रोशनी की पहचान' शीर्षक से एक टिप्पणी प्रकाशित हुई थी—

"सिर पर लाल लाल या काला काला सरपोश उ
पर दुम मुँह में एक जलता हुआ फलीता हाथ में कुबड़ी सा
में कुत्ता बदन में जाकट पैरों में तोबड़ा कालों से नफर
गोरों से उलफत मुँह में सुअर गड्डाम पाँचों सवारी
नाम गुडमार्निंग बजाय सलाम अपने मतलब से काम न
रोशनी की पहचान इस सब का अन्जाम।"

हिन्दी की प्रारम्भिक साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं
देखने से न केवल विदेशियों के प्रति विरक्ति ही देखने
मिलती है, वरन् उनके प्रत्येक रूप के प्रति एक प्रकार
घृणा का भाव भी मिलता है। सामाजिक समस्याओं
भारतीय व्यक्ति ने अंग्रेज़ों की नीति को कभी महत्त्व नहीं
दिया। 'विधवा विवाह' का जब अंग्रेज़ों ने समर्थन किया
तो यह जानते हुए कि यह समाज की कुरीति है और इसे
समाप्त किया जाना चाहिए, भारतीय व्यक्ति ने इस नीति
को भी अंग्रेज़ियत के प्रचार के रूप में ही देखने की
कोशिश की।

'हिन्दी प्रदीप' में ही अक्टूबर १८८० ई० के अंक में
'निज सम्मति' शीर्षक के अंतर्गत एक सम्पादकीय टिप्पणी
के कुछ अंश दृष्टव्य हैं जिसमें विधवा विवाह के समर्थन को
भी अंग्रेज़ियत के प्रचार के रूप में देखा गया है—"हमारे
पास कलकत्ते के किसी महाशय ने एक लेख भेजा है जिसमें
लेखक महाशय ने अपना नाम नहीं दिया। वह लेख शैतान
की आँख-सा लम्बा-चौड़ा और अत्यन्त निरस है, इस कारण
उसे हम नहीं छाप सके किन्तु उस लेख का तात्पर्य यह है
कि वहाँ एक ऐसी सभा स्थापित की गई है जिसका यही
तात्पर्य है कि जैसे हो सके विधवा विवाह प्रचलित हो...

"...इन दिनों सभ्य मण्डली विधवा विवाह, स्त्री-स्वतं
त्रता, स्त्री शिक्षा और बाल्य विवाह इन चार बातों में पहली
दो बातों को दिलोजान चाहती है क्योंकि उनके किसी तरह
प्रचलित हो जाने से अंग्रेज़ों की पूरी नकल हो सकती है
फायदा तो जो इससे है वह केवल राम का नाम है पर दो
पिछली बातें जो सर्वसम्मत और देश काल शास्त्र सर्वथा
विपरीत नहीं हैं पर इसमें अंग्रेज़ीपन कम झलकता है इसे
इसकी ओर कोई ध्यान नहीं देता फिर बाल विधवा कर्म
दस बीस घरों में कोई दो एक ही हो जाती हैं बाल्य विवाह
वाली बाला महादुर्भगा विधवा की भी चर्चा तो घर
घर बैठी गाज रही है अच्छे अच्छे कुलीनों के घर में भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जौन जौन दुर्गति इन बालाओं के बाल्य विवाह के कारण प्रतिदिन देखने में आ रही है उसका वर्णन अश्लील हो जाने के डर से हम बरकाया चाहते हैं सो हमारी सम्मति यदि कोई ले तो हम यही कहेंगे कि इस प्रतिदिन की विधवाओं का यत्न पहले से हो जाय तो वे आकस्मिक विधवाएँ कभी हुआ ही न करें।"

वाराणसी से प्रकाशित 'इन्दु' पत्रिका में 'मस्तराम का मंतव्य' शीर्षक से एक स्तम्भ के अन्तर्गत 'विहारबन्धु' की प्रतिक्रियाओं का उपहास करते हुए 'मस्तराम' ने लिखा—

"बूढ़ा विहारबन्धु विविध विचार प्रकट करता हुआ लिखता है कि '.....हाँ बिहार की स्त्रियाँ भी उन्नति करती हैं। जहाँ इनके माता पिता के नाक कान में एक २ छेद रहता था वहाँ अब इन.....में चार २ पाँच २ छिद्र रहने लगे हैं।' भाई बिहारबंधु, सत्य कहना तुम्हारी स्त्री बिहार की है या अन्य देश की, कहीं वह भी बिहार की ही निकली और इस छिद्र बाहुल्य में यदि उसने भी उन्नति की होगी तो इस वृद्धावस्था में तो तुम्हें बड़ा ही कष्ट होगा।" (जनवरी १९१३, पृष्ठ ८३)

विधवा विवाह के प्रश्न पर ही मस्तराम की अन्य टिप्पणियाँ भी मनोरंजक हैं—

"साहित्याचार्य पं० रामावतार शर्मा सोशल कांग्रेस के सभापति थे। आपने उसमें कहा है—'तुम्हारी शत शत विधवाएं छिपकर या खुले तौर से अपना अपवित्र जीवन व्यतीत करती हैं।' ठीक है। परन्तु जिस पुरुष की दो स्त्रियाँ हों और वह एक अपनी छोटी स्त्री में ही रत रहता हो तो कृपया फर्मावें कि वह बड़ी सधवा स्त्री अपना जीवन कैसे व्यतीत करे ? उनके लिए भी क्या कोई उपाय है ? .....शर्माजी को छिपकर अपवित्र जीवन व्यतीत करने वाली विधवाओं की खबर कैसे लगी ? क्या वैसी किसी विधवा ने आपको निराश तो नहीं किया था।"

('इन्दु', पृष्ठ ८४, उक्त)

स्त्रियों की समस्याओं के अतिरिक्त प्रायः सभी समस्याओं को परखने का दृष्टिकोण बुद्धिजीवियों का भारतीयता के परम्परागत रूप से ही सम्बन्धित था। तत्कालीन रचनात्मक साहित्य में भी इन स्त्रियों का संकेतात्मक प्रभाव दिखाई देता है। इस संदर्भ में उस काल से सर्वाधिक चर्चित और महत्त्वपूर्ण रचनाकार बाबू देवकीनन्दन खत्री हैं, जो वाराणसी से प्रकाशित मासिक पत्र 'सुदर्शन' के प्रकाशक थे। पं० माधवप्रसाद मिश्र इस पत्र के सम्पादक थे। हिन्दी की प्रायः सभी पत्र-पत्रिकाओं ने खत्रीजी के उपन्यासों का एक स्वर में विरोध किया था। विशेष रूप से बम्बई से, मेहता पं० लज्जाराम शर्मा द्वारा सम्पादित साप्ताहिक पत्र 'श्रीवेंकटेश्वर समाचार' तथा जयपुर से प्रकाशित होने वाले मासिक पत्र 'समालोचक' की समय-समय पर प्रकाशित होने वाली टिप्पणियाँ इस बात का प्रमाण हैं कि तत्कालीन बुद्धिजीवियों में भारतीयता के प्राचीन रूप को सुरक्षित रखने की कितनी तीव्र अभिलाषा थी। स्वभाव से अत्यन्त सहज होने के कारण जब समस्या का कोई भी समाधान नहीं हो पाता तो अन्त में कभी-कभी व्यक्तिगत आक्षेपों पर भी वे लोग उतर जाते थे—

"बिहार पत्रिका में मेरे नाम से एक दूसरे साहब ने भी जन्म लिया है। विधाता की बलिहारी। पाठक एक की बला दूसरे के मत्थे न मढ़ेंगे। खबरदार ! मेरी खंझड़ी की आवाज बेसुरी है।"

('इन्दु', मस्तराम का मंतव्य सं० १ कि० १ पृ० १६१)

"पूर्व प्रकाशित जासूसी किस्से और भयानक खून से सहयोगी अलग हो गया तो परवाह नहीं, अपने भूतपूर्व सम्पादकों को सम्पादक न कहकर 'लेखक' कहा, यह भी चिन्त्य नहीं, पर वह लज्जित न हो तो एक बार 'मेहता पं० लज्जारामजी' अनुवादित 'विचित्र स्त्री चरित्र' का अवलोकन करें जिसमें उन्होंने बड़ी शेखी के साथ 'इंगलैण्ड की पुलिस की सौम्यता' का वर्णन किया है। क्या इस समय के सम्पादक श्रीयुक्त पं० लज्जारामजी उन मेहता पं० लज्जारामजी से भिन्न हैं ! 'कहु रावण ! रावण जग केते ?"

('सुदर्शन' 'भ्रम किसका है ?' ज्येष्ठ सं० १९६०)

साहित्यिक विषयों को लेकर हुई बहसों में उस समय की सर्वाधिक महत्वपूर्ण और मनोरंजक बहस देवकीनन्दन खत्री के उपन्यासों के संदर्भ में हुई थी। यह मनोरंजक बहस 'सुदर्शन' और 'श्री वेंकटेश्वर समाचार' के बीच हुई थी, लेकिन उसमें अन्य तात्कालिक पत्र-पत्रिकाओं ने भी भाग लिया था। उस समय की पत्रिकाओं में प्रकाशित टिप्पणियों को देखने से एक और महत्त्वपूर्ण बात यह मिलती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है कि समस्त पत्रिकाओं के बीच गरमागरम बहस और व्यक्तिगत आक्षेप होने के बावजूद एक-दूसरे के प्रति अत्यंत आत्मीयता थी। किसी भी नई समस्या के उठ जाने पर सभी पत्र-प्रत्रिकाएँ अपनी-अपनी राय अवश्य देते थे। 'सुदर्शन'तथा 'श्रीवेंकटेवर समाचार के बीच हुए इस विवाद' को 'समालोचक' पत्र ने अत्यंत आत्मीय मज़ाकिया स्वर में समाप्त किया।

विवाद का प्रारम्भ एक छोटी-सी घटना से हुआ। 'श्रीवेंकटेश्वर समाचार' ने सन् १९०२-०३ के एक अंक में किसी पुस्तक की समीक्षा करते हुए लिख दिया था, "इसमें बाबू देवकीनन्दन खत्री के 'चन्द्रकांता' की तरह की असम्भव बातें नहीं हैं। किन्तु प्रायः उन्हीं बातों का उल्लेख है जो हो सकती हैं।"

सर्वप्रथम इस विषय को लेकर एक लम्बा लेख 'उपन्यास और समालोचक' शीर्षक से सुदर्शन में संवत् १९६० में प्रकाशित हुआ जिसका प्रारम्भ इस प्रकार किया गया था—

"हिन्दी के बड़े-बड़े संवाद पत्रों में आजकल समालोचना की खूब धड़ाधड़ हो रही है। छोटे से बड़े तक सब समालोचक हो रहे हैं। किसी ने नायिका भेद का मिटा देना चाहा है, किसी ने उपन्यासों को उठा देने के लिए कमर कसी है। उनकी समालोचना का मुख्य अभिप्राय क्या है, सो तो वे ही जानें या अंतर्यामी, परन्तु उनका कहना यह है कि इन सब पुस्तकों से समाज नष्ट भ्रष्ट हो रहा है उसी के लिए यह सब परिश्रम है।

"कोई २ कहते हैं नहीं साहब ! बात कुछ और ही है। इन जादूभरे उपन्यासों की तो रात दिन बिकरी हो रही है और उनकी अच्छी २ पुस्तकें भी लोग नहीं खरीदते। इसी कारण वे अपने जी का उबाल न निकालें तो क्या करें भला यह कैसे सहन किया जाय कि पाठक और द्विवेदी जी आदि की पुस्तकों का द्वितीय संस्करण भी न हो, भारत मित्र सम्पादक से 'हरिदास' को कोई रद्दी के भाव भी न ले, वेंकटेश्वर समाचार सम्पादक लिखित पुस्तकों की कोई बात भी न पूछे और काशी वालों की पुस्तकों पर लोग ऐसे टूटें कि हाथों-हाथ सारी प्रतियाँ उड़ जाँय।"

विवाद का मुख्य विषय "सम्भव असम्भव" था। 'सुदर्शन' ने इस सम्बन्ध में लिखा—"किसी अज्ञ पुरुष से अविचारित वाक्य निकल जाय तो कुछ खेद नहीं होता यदि विचारशील वैसे वाक्य का प्रयोग करें तो खेदोत्पादक होता है। सहयोगी को उचित तो यही था कि प्रस्तुत की चाहे जितनी भी प्रशंसा करते परन्तु अप्रस्तुत की अर्थ निन्दा न करते। यदि असम्भव शब्द का यही अर्थ सहयोगी ने समझ लिया कि आश्चर्य व्यापार किसी एक की समझ में न आवे वही असम्भव है तब तो चन्द्रकांता की बातें तो दूर रहीं विद्या विषयक सभी बातें असम्भव हैं। कालानभिज्ञ पुरुष जैसे रेल-तार की बातों को असम्भव कह सकता है परन्तु उसके ऐसा करने पर भी क्या वे असम्भव हो जाएँगी? और यदि यह कहा जाए कि नहीं असम्भव शब्द का अर्थ वही है जो शास्त्र में प्रसिद्ध है तो हमारा निवेदन यह है कि फिर आपका कहना उचित नहीं क्योंकि चन्द्रकांता में न तो वंध्या के पुत्र उत्पन्न हुआ और न उसमें शश विषाण का वर्णन है। कहीं भी कारण के बिना कार्य की सृष्टि नहीं दिखाई गई है। फिर उसकी बातों को असम्भव कहना कैसे उचित हो सकता है?"

'सुदर्शन' ने 'सम्भव-असम्भव' के सम्बन्ध में अपने पक्ष में जो तर्क दिये वे भी बड़े मनोरंजक हैं—"परमात्मा की सृष्टि में क्या सम्भव है और क्या असम्भव है यह तो वही जान सकता है कि जिसने कृति पुरुष के यथात्म्य को जान लिया हो। ××××बाबू बालमुकुन्दजी ने हरिदासजी के विषय में सप्रमाण लिखा है कि वे महीनों तक जमीन में रहे, जल पर चले और अनेक ऐसे ही चमत्कारिणी बातें दिखाईं। इसी प्रकार साधु रामरूप जी भी एक ही काल में दो जगह दिखाई पड़े थे, कहिये यह सब क्या था? सम्भव कि असम्भव? हमने सहस्रों मनुष्यों के समक्ष काशीजी जङ्गमबाड़ी और कुर्ग के यहाँ अग्नि में कापालिकों को (तथा औरों को) चलते हुए देखा है।××××यह तो आँखों देखी हुई, अब नाटकों और उपन्यासों की बात सुन लीजिए। बाबू देवकीनन्दनजी से भी आश्चर्यमयी घटना दूसरे कवियों ने लिखी है। सबसे प्रथम आप कादम्बरी को ही लीजिए। यह वह उपन्यास है जिसकी नायका युवती की युवती ही बनी रही और नायक के तीन जन्म बीत गये। क्या किसी के पूछने पर आप कह देंगे कि यह सम्भव है या यह उपन्यास का गुण है।××××विलायत के सुप्रसिद्ध महाकवि शेक्सपियर के 'म्येकबेथ' नाटक में जो भूतनियों के आशीर्वाद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की घटना लिखी है उससे उसका सौन्दर्य घटा है कि बढ़ा है और वह सम्भव है कि असम्भव ? क्या कोई कह सकता है कि विलायत के रिनाल्ड साहब उपन्यास लिखना ही नहीं जानते थे। कारण कि उन्होंने 'मेरी प्राइस' में स्वप्न-विचार और 'फोस्ट' तथा 'वेहर-उल्फ' इत्यादि में भूत व्यापार लिखा है। यहाँ तक कि एक आदमी हर महीने की आखीर तारीख को आदमी का शरीर छोड़कर भेड़िया बन जाता था।' तो क्या इससे उनके सब उपन्यास रद्दी हो गये ? × × × × खूब स्मरण रखना चाहिए कि ऐयारी और तिलिस्म पुरानी बात है और असम्भव नहीं है। उपन्यास का मुख्य गुण विचित्र घटना है। वह चाहे जिस प्रकार से हो परन्तु उत्तरोतर कौतूहलवर्धक और संगत होनी चाहिए। जिन्होंने 'अंधेरी' और 'एलोरा' की गुफाएँ देख रखी हैं, उनकी दृष्टि में चन्द्रकांता के तादृश्य मकान असम्भव नहीं हैं।...''

('सुदर्शन' वर्ष ३, सं० २, सं० १९६०)

'श्री वेंकटेश्वर समाचार' ने अपने अगले ही अंक में इस लेख की प्रतिक्रियास्वरूप 'सुदर्शन का भ्रम' शीर्षक से दो कॉलम का एक लेख प्रकाशित किया जिसमें उसने व्यंग्यात्मक स्वर में लिखा---"सहयोगी सुदर्शन की सी विशाल बुद्धि हम में नहीं है।" लेख में आगे 'सम्भव असम्भव' की चर्चा करते हुए 'श्री वेंकटेश्वर समाचार' ने लिखा—"जो सम्भव है वह सम्भव है और जो असम्भव है सो असम्भव है। × × × × सुदर्शन बाबू साहब (देवकीनन्दन) का पत्र है इस कारण यदि उसने वैशाख की संख्या असम्भव को सम्भव सिद्ध करने का यत्न किया तो इसमें उनकी स्वामि-भक्ति है। परन्तु इस तरह की स्वामिभक्ति करते हुए उसके सम्पादक बहुत भूले हुए हैं। × × × सुदर्शन ने या तो भ्रमवश यह बात गढ़ी है या किसी कमीने आदमी ने उसे बहकाया है। × × × × वास्तव में हम ऐयारी तिलिस्म और जासूसों की कहानियों को अच्छा नहीं समझते और हमारे ऐसा समझने पर भिन्न २ लेखकों की भिन्न रुचि से समय २ पर इस पत्र में जासूसी किस्से प्रकाशित हुए हैं और भयानक खून भी उपहार में दिया गया है। परन्तु जिस समय यह कार्य हमारे यहाँ अधिकारी भेद से हुआ है हम, यदि सहयोगी सुदर्शन बुरा न माने तो बतला सकते हैं कि उसके एक ही सम्पादक ने एक बार एक साधारण मनुष्य का स्तुतिपाठ करने में उसे महर्षि बना डाला था और दूसरी बार उसे ही पहाड़ पर से ढकेल दिया है।"

'श्री वेंकटेश्वर समाचार' के सम्पादक की उक्त प्रतिक्रिया के बाद 'सुदर्शन' सम्पादक ने ज्येष्ठ सं० १९६० के अंक में 'भ्रम किसका है ?' शीर्षक से एक और लम्बा लेख प्रकाशित किया। 'सुदर्शन' की त्वरा तेज मगर गम्भीर थी। उसने लिखा—"× × × जिस सुदर्शन ने 'शत्रोरपि गुणा-वाच्या दोषा वाच्या गुरोरपि' इस सिद्धान्त का सदा निर्वाह किया है और कर रहा है और जो सत्य के सन्मान ही के लिए आज एक प्रलम्बकाय साप्ताहिक पत्र के अनुचित कटाक्ष की समीक्षा करने में अग्रसर हुआ है, उन पर स्वामिता का दोष आरोपण करना बुद्धिमत्ता का कार्य नहीं है। सुदर्शन स्वामिभक्ति के कारण नहीं भूल रहा है वरञ्च कर्त्तव्य के लिए एक भूले हुए मित्र की बात का प्रतिवाद कर रहा है। यदि इसी का नाम असम्भव को सिद्ध करना है तो बलिहारी इस विचार की। हतातर्हि मनस्विता ! × × × × बहकाने वाले मित्रों में ही कोई हो सकते हैं और जहाँ तक हम जानते हैं हमारे मित्रों में कमीना कोई नहीं है वरञ्च उनमें सब सहयोगी 'श्री वेंकटेश्वर समाचार' सम्पादक के समान कुलीन और प्रतिष्ठित पुरुष हैं। × × × यद्यपि सहयोगी (सहयोगी कहने में अव्याप्ति है तो लेखक सही) ऐयारी और तिलस्म को अच्छा नहीं समझता परन्तु अपने को निर्दोष और हमें सदोष कहने के लिए हमसे ऐयारी करने में संकोच नहीं करता है, पर वह कदाचित इस बात को भूल गया है कि जासूसी किस्से पढ़ने वाले उसके इस भेद को शीघ्र ही ताड़ जायेंगे। 'श्री वेंकटेश्वर समाचार' के वर्तमान सम्पादक महाशय अपने विशेष नाम से निज पत्र के पुराने लेखकों की (सम्पादकों की नहीं !) रुचि की निन्दा करते और कहते कि वास्तव में हम ऐयारी तिलस्म और जासूसी की कहानियों को अच्छा नहीं समझते हैं, तो उचित भी था, परन्तु पत्र सम्पादन काल में अपनी रुचि को निर्मूल सिद्ध करने के लिए अपने पालक-पोषक पत्र को कलंकित करना किसी प्रकार उचित नहीं है। × × × × क्या सहयोगी उस साधारण मनुष्य का नाम प्रकाश करेगा जिसको हमने महर्षि बनाकर पहाड़ से ढकेल दिया है। अवश्य ही पत्र सम्पादकों को कर्त्तव्य के अनुरोध से समय-समय पर कार्यानुसार स्तुति-निन्दा करनी पड़ती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। यदि सम्पादकीय धर्म के कारण ही सुदर्शन दोषी है तो बताइए इससे कौन सा संवाद पत्र बचा हुआ है ? पण्डिता रमाबाई ने जिस समय प्रथम ही प्रथम अपने संस्कृत भाषण से दर्भङ्गा नरेश की सभा को चकित किया तो सभी देशीय पत्रों ने भविष्य की शुभाषा से उसकी प्रशंसा की थी और जब कलकत्ते में जाकर वह एक कायस्थ की गृहिणी हुई तो सबका स्वर बदल गया। पहले पहल लार्ड कर्जन की वक्तृता सुन कौन सा संवाद पत्र चकित नहीं हुआ था ? कौन जानता था कि उनकी आश्वास वाणी केवल श्रवण-सुखद है कार्य में परिणत न होगी। × × × दूर मत जाइए दर्भङ्गा नरेश और मथुरा-मण्डल के कार्य की ओर देखिये। आरंभ में कई पत्रों ने उसकी प्रशंसा की थी, परन्तु अंत में उनकी निन्दा करनी पड़ी। × × × इसका उत्तर हमारे पास इसके सिवाय और कुछ नहीं है कि मनुष्य भूत और वर्तमान कार्यों की आलोचना कर सकता है, भविष्य की नहीं। हिन्दी राजतरंगिणी को प्रकाशित करने के समय जिस प्रकार हमारे कलकत्ते के सहयोगी ने एक पण्डितजी को महर्षि बनाया था, उस प्रकार हमने किसी आधुनिक पुरुष को महर्षि नहीं लिखा क्योंकि हम जानते हैं कि यह समय हमारे महर्षियों के प्रकट होने का नहीं है, आर्यसमाजीय, ब्रह्मसमाजीय महर्षियों के उत्पन्न होने का है....."

विवाद धीरे-धीरे सामयिक समस्याओं से लेकर सामाजिक तथा राजनैतिक समस्याओं को लेकर आगे बढ़ा, 'सुदर्शन' ने मेहता लज्जाराम शर्मा के द्वारा अनूदित उपन्यास 'विचित्र स्त्री रहस्य' के कथानक का उदाहरण देते हुए अपना पक्ष पुष्ट करना चाहा। इस विवाद को देखने से इस बात की पुष्टि मिलती है कि तत्कालीन पत्र पत्रिकाओं में 'सुदर्शन' का ही स्वर ऐसा था जिसमें गाम्भीर्य और दोनों पक्षों को ध्यान में रखते हुए तटस्थ मूल्यांकन कर सकने की दृष्टि थी। 'सुदर्शन' इस ने बात को अत्यंत सहजता से आगे बढ़ाते हुए लिखा—"हम फिर यहाँ कहते हैं कि हमने सहयोगी को स्वार्थी वा पुस्तक बेचने का लोभी नहीं कहा है, केवल लोगों का विचार प्रकट किया है, जब आपका उद्देश्य ही यह है कि जिन पुस्तकों को समाज के लिये उपकारक नहीं समझते अथवा जिनसे पाठकों का उपकार होते दिखाई देता है उसकी कड़ी आलोचना की जाय तो क्या कारण है कि वैसी पुस्तकों का स्वयं प्रचार कर 'खुरदा फजीहत, दीगराँ नसीहत' इस फारसी कहावत को चरितार्थ करते हैं....." इसके विपरीत श्री वेंकटेश्वर समाचार का स्वर अत्यंत उथला दिखाई देता है। अपने लेख 'सुदर्शन का भ्रम' में ही उसने लिखा—

"जब तक वह (सुदर्शन) अथवा बाबू देवकीनन्दनजी ऐयारी का बटुवा तैयार करके सर्वसाधारण के समक्ष न रख दें केवल हम ही नहीं वरन इन उपन्यासों की प्रशंसा में लोटपोट हो जाने वाले पाठक भी इन्हें मिथ्या समझते हैं।"

विवाद का अंत 'सुदर्शन' में ही प्रकाशित 'धन्यवाद' शीर्षक निबन्ध से हुआ। 'सुदर्शन' ने 'श्री वेंकटेश्वर समाचार' की ओर से कोई संतोषजनक उत्तर न पाकर स्वयं ही स्थिति का समाधान प्रस्तुत किया ".....यद्यपि हम चाहते हैं कि हमारा हिन्दी साहित्य धर्मशास्त्रानुमोदित हो, हिन्दी में कालिदास और दण्डी जैसे महाकवियों का आविर्भाव हो, पर दुख यही है कि वैसा क्षमताशाली होना प्रत्येक के लिये सम्भव नहीं है। हमारे जिन मित्रों ने उपन्यासादि की शैली पर परीक्षागुरु के समान उपदेशपूर्ण आख्यायिका लिखनी प्रारम्भ की है उनकी रुचि का हम आदर करते हैं किन्तु काव्य के विचार से हमें कहना पड़ता है कि निर्जीव शरीर का शृंगार हो रहा है। ('गणेशं कुर्वाणो वानरं चकार' की कहावत चरितार्थ हो रही है। यदि उपदेश ही ग्रहण करना है तो किसी आधुनिक लेखक की निर्जीव आख्यायिका का पाठ करने की जगह रामायण-गीता आदि धर्म-पुस्तकों का ही अवलोकन करना चाहिए।"

'श्री वेंकटेश्वर समाचार' ने 'सुदर्शन और हम' शीर्षक से इससे पूर्व एक टिप्पणी प्रकाशित की, जिसमें साहित्य का एकमात्र उद्देश्य उपदेश देना बताया, इस लेख की प्रतिक्रिया में सुदर्शन ने भी 'चिराग तले अँधेरा' शीर्षक से एक विस्तृत टिप्पणी छापी।

'सुदर्शन' और 'श्री वेंकटेश्वर समाचार' की इस विस्तृत बहस में 'भारतमित्र', 'समालोचक', 'इन्दु' तथा 'छत्तीसगढ़मित्र' ने भी भाग लिया। समालोचक की प्रतिक्रिया इस संदर्भ में सर्वाधिक मनोरंजक है।

"स्वयं आदर्श के लेख में सुदर्शन कहता है कि कुएं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में भाँग पड़ी है किन्तु हम उसके 'चिराग तले अंधेरा' और 'भ्रम किसका है' लेखों को पढ़कर कहते हैं कि कुएँ में भाँग छानी गई है और सुदर्शन भी उसके भक्त हैं। मालूम होता है हिन्दी वालों को अपने साहित्य का अजीर्ण हो गया है। अभी तुम्हारे यहाँ है ही क्या जो तुम ग्रंथों को जलाने-बहाने पर उतारू हो गये हो। हो तो जाय मजा ही—सुदर्शन सारे नागरी प्रचारिणी के लेख, मधुसूदन संहिता और सनातनधर्म विरुद्ध सब लेखों को मिटा दे, नागरी प्रचारिणी सभा सब अश्लील किताबों को जला दे, आर्यसमाज पुराणों को फिंकवा दे, आरा की सभा उपन्यासों की होली कर दे, राजपूत महासभा वेद के अश्वमेध प्रकरण से लेकर ऐतिहासिक (!) उपन्यासों तक को गंगा प्रवाह कर दे, पण्डित महावीरप्रसाद, सीताराम बी० ए० के काव्यों को कटिंग में दे दे, बस न रहेगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी। हम भी समालोचक को रद्दी के भाव बेचकर बैठ जाएँ। टण्टा मिटे। हिन्दी ! तेरे सपूतों ने तेरी चरम पूजा कर ली, अब तेरे विसर्जन की देर है, सो गंगासागर में व ज्ञानवापी में वा बुलानाले में हो जाता है। आज दो महीने से जलाने-बहाने की धूम है—प्रयाग समाचार क्षत्रियों को गाली देता है, स्वार्थान्ध प्रकाशिका ने ब्राह्मणों को बुरा कहा है, भारतमित्र वैश्य व शूद्रों को गाली दे डाले और हम अपने को ही गाली देते देते अयोगोलक वाले यादवों की तरह अपना साहित्य संहार कर डालें।"

('समालोचक', सित० १९०३, पृष्ठ ४३)

भारतमित्र ने इस प्रसंग में लिखा....."सुदर्शनजी महाराज का यह कथन है कि कोई कैसा ही खराब पुस्तक बनाकर हिन्दुओं को गाली दे, भारतजीवन सम्पादक को जरूर उसी का अनुवाद करा लेना चाहिये।"

'इन्दु' के 'मस्तराम' ने 'चन्द्रकांता' पर टिप्पणी करते हुए लिखा—

"चन्द्रकांता को देखकर अब लोग सूर्य्यकांता भी लिखने लगे हैं। खैर आशा है कि जब तक मैं मंगलकांता लिख रहा हूँ तब तक मौजी रंगी, लहरी और गुरुघण्टाल क्रमशः एक-एक बुधकांता, बृहस्पतिकांता, शुक्रकांता और शनिकांता लिखने के लिए तैयार होंगे।"

('इन्दु', जनवरी १९१३, पृष्ठ ८३)

इसी संदर्भ में 'समालोचक' द्वारा नव० १९०३ के अंक में प्रकाशित एक विस्तृत लेख अत्यंत महत्त्वपूर्ण है जिसका शीर्षक था—"सुदर्शन की सुदृष्टि" यह लेख ५४ पृष्ठों का था, इसमें 'समालोचक' ने तत्कालीन पत्रकारिता की मुख्य प्रवृत्तियों की विस्तृत समीक्षा की है। इस लेख को पढ़ने से तत्कालीन साहित्यिक पत्रकारिता की नीतियों को जाना जा सकता है।

तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में साहित्यिक पुस्तकों की समीक्षाएँ भी अत्यंत मनोरंजक रूप में प्रकाशित होती थीं, 'छत्तीसगढ़मित्र' के १९०२ ई० के अंक में श्रीनिवासदास के उपन्यास—'परीक्षागुरु' तथा नाटक 'रणधीर प्रेममोहिनी' की सम्पूर्ण समीक्षा दृष्टव्य है—

"बाबू नन्दलाल वर्मा मैनेजर फ्रैण्ड्स एण्ड कम्पनी—रणधीर प्रेममोहिनी, परीक्षागुरु, दीनानाथ।

"मथुरा के फ्रैण्ड्स एण्ड कम्पनी के कार्यालय में देशी कारीगरी का माल बहुत बढ़िया मिलता है। हमने इस कम्पनी के बनाये हुए ताले स्वतः देखे और मोल लिये हैं। यदि किसी को कुछ लेना हो तो इसी दुकान से मँगायें, कभी निराश न होने पड़ेगा।"

एक अन्य समीक्षा लालजीसिंह गहरवार के उपन्यास 'चन्द्रावली' की समीक्षा 'समालोचक' के मई १९०४ ई० के अंक में प्रकाशित हुई थी। विस्तृत समीक्षा का एक अंश उद्धृत किया जा रहा है—

".....इस पुस्तक के लेखक कोई हिगुतरगढ़ के लालजीसिंह गहरवार हैं। पुस्तक अच्छे टाइप में छापी हुई है जिसमें पढ़ने में सुगमता होती है। उपन्यासदर्पण औफिस के अध्यक्ष बाबू विशेशरप्रसाद (काशी) के निकट ग्राहकों को चिट्ठी और मूल भेजना चाहिए।..... जो पाठक किसी प्रकार उपन्यास पढ़े बिना नहीं रह सकते वे इसको क्रय कर सकते हैं....."

'सरस्वती' की वर्ष १९११ की फाइल में पृष्ठ ६२२ में प्रकाशित 'नूतन ब्रह्मचारी' की समीक्षा भी मनोरंजक है—

"नूतन ब्रह्मचारी—छोटा-सा ४० पृष्ठ का उपन्यास है। केवल तीन आने देने से मिलता है। पं० जनार्दन भट्ट अहियापुर, प्रयाग को लिखने से घर बैठे आ जाता है। पण्डित बालकृष्ण भट्टजी का लिखा हुआ है। ××× भट्टजी की लेखनी से निकले हुए रस में डूबा हुआ है। अतएव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेने और पढ़ने लायक है।"

समालोचक के अगस्त १९०३ अंक में किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यास 'तारा' उपन्यास की विस्तृत आलोचना की गई है। समीक्षा का यह ढंग अत्यंत मनोरंजक है और इस समीक्षा को पढ़कर आज सहज ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि हिन्दी पत्रकारिता ने भाषा और शिल्प के स्तर पर कितनी उन्नति कर ली है। समीक्षा का प्रारम्भ इस प्रकार है—

"अब तक हम यही जानते थे कि पवित्र दम्पति प्रेम के उन चित्रों को जिनका परदा लज्जा के मारे पवित्रता के ख्याल से कोई मनुष्य वा लेखनी नहीं उघाड़ सकती, सरे बाजार रखने में पंडित किशोरीलाल गोस्वामी revel करते हैं, मजे लूटते हैं किंतु अब मालूम हुआ कि बलात्कार, पाशविक दुराचार, हत्याकाण्ड, विदूषक प्रभृत्ति के उद्वेगजनक चित्रों में भी वह अधिक रुचि से wollow करते हैं!! लीलावती लाड़ली और तारा की लज्जा यों उघाड़ी जाकर सही भी जा सकती थी क्योंकि उसका उघाड़ना पवित्रता से सुवासित था किन्तु देखते हैं कि गोस्वामीजी को गंदे चित्र उघाड़ने में भी मजा आता है। × × × यों ही चपला को नंगे करने की कोई dramatic necessity न थी, कि उसके बिना नाटक ही अधूरा रह जाता, चपला को बाल बचाकर गोस्वामीजी रेनाल्ड की उस घृणित चतुराई की नकल (भद्दी नकल) कर रहे हैं जिसने Mary Price को कई दफा पूरे सर्वनाश से बचा दिया। सम्भव है कि गोस्वामी जी उसी राह पर चलने Rosa Lambart की नकल करने की बहादुरी लूटकर हिन्दी साहित्य को गन्दा करें और लीलावती की बहन का हाल देने की उनने प्रतिज्ञा भी की है।"

समीक्षा में गोस्वामी पर अनेक व्यक्तिगत आक्षेप लगाने के बाद समीक्षक ने आगे लिखा—"हमारा स्वर नक्कारखाने में तूती की आवाज़ की तरह भले ही न सुना जाय किन्तु हम अपना कर्तव्य समझते हैं कि हिन्दी पाठकों की इन प्रपंच के विरुद्ध अपील करें। इसके पक्षपाती कह सकते हैं कि अन्त में सच्चे का बोलबाला दिखाकर हम उपदेश करते हैं, किन्तु इसमें बड़ी भूल है, पुस्तकें आजकल जो काम कर रही हैं वह बड़ा भारी है। × × × गोस्वामी जी के ग्रंथ सभ्य समाज में कदापि अमर नहीं हो सकते यदि वे इस रीति का यों ही अनुसरण करते रहे।"

समीक्षा में श्लीलता और अश्लीलता की व्याख्या क के साथ ही समीक्षक ने पोप की रचना 'पोप्स ऐसे अ मसि' की कुछ पंक्तियों का पद्यानुवाद भी दिया है। इ सम्बन्ध में एक अन्य मनोरंजक तथ्य यह है कि 'सम लोचक' के ही अगले अंक (दिसम्बर १९०३) में ए टिप्पणी प्रकाशित हुई, जिसके प्रारम्भ में 'बिहारबंधु' मासि के एक उद्धरण का उल्लेख करते हुए गोस्वामीजी के अन्य उपन्यासों की समीक्षा की है। बिहारबंधु का उद्धर निम्न है—

"समालोचक होना सहज कथा नहीं है। जौन्सन साह की कुर्सी पर बैठना कठिन कार्य है। समालोचक का चि उदार और माया विद्या बुद्धि का आगार होना चाहिए।"

समीक्षा के कुछ अंश इस प्रकार हैं—

"गत बार पं० किशोरीलाल गोस्वामीजी के उपन्यास पर जो नोट लिखा गया था, उसमें एक भूल रह गई है चपला की लज्जा नहीं बेची गई है, किन्तु उसकी बहि सौदामिनी और कामिनी का सतीत्व गन्दी तरह खतरे लाया गया है। अब हम चपला के प्रकाशित दो भागों के चरित्र की समीक्षा में कुछ लिखने में समर्थ हैं। × × × प्रथम तो यह पूछना है कि उपन्यास का नाम चपला ही क्यों रखा गया? × × × दो भागों तक प्रधान नायिका Background नेपथ्य में रखी गई है। आगे भी हमें यह आशा नहीं होती कि दो भागों में गोस्वामीजी उसी बात को कहेंगे। उन्हें भी तो कई झमेले सुलझाने हैं। × × × हम सबसे पूछते हैं कि इन चरित्रों में क्या कोई एक भी ऐसा है जिससे हमारे हृदय को आमोद मिले। जिससे मन प्राण ऊँचा उठे। जिनको दिखाकर गोस्वामीजी अपने कर्तव्य के अनुसार हमारे से मोरी के रेंगते कीड़ों को उन्नत करें? कोई भी नहीं! × × × गोसाईंजी ने एक टंका औ छेड़ा है। ललिता का अपने भाई से प्रेम! गोस्वामीजी महाराज से हमारा निवेदन है कि वे बुरा न मानें। हम जो कहते हैं सो उनके ग्रन्थ पर, उनके लिए हमें आदर है। जब वह गम्भीर लेख लिखते हैं तो वैसा लिखने वाले बहुत थोड़े मिलते हैं; किन्तु पाठको! जिस कलम से लंका, कलिंग राज्य और गंगावतरण निकले हैं उसी कलम से यह सब निकलना देखकर हम कहते हैं भली सूरत को छिपाते हो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बुरा करते हो।"

समालोचक इसकी समीक्षा के बाद एक अन्य समीक्षा का उल्लेख कर देना आवश्यक है। पं० बालकृष्ण भट्ट के उपन्यास 'नूतन ब्रह्मचारी' की विस्तृत समीक्षा 'आनन्द कादम्बिनी' के भाद्रपद सं० १९४४ (सन् १८८७) के अंक में प्रकाशित हुई। 'आनन्द कादम्बिनी' में विराम-चिह्नों तथा वाक्य-रचना आदि का प्रयोग बड़ा विचित्र होता था। समीक्षा का प्रारम्भ यों होता है—

"उपन्यास ○ एक सहृदय के हृदय का विकास अर्थात् हम लोगों के एक सुयोग्य मित्र एम० ए० उपाधिकारी "रचितः जिसको वे हमारे पास भेजकर "संयोगिता स्वयंबर" की सी समालोचना लिखने को लिखते हैं। ○ यह छोटी पुस्तकी ६८ पृष्ठ की रायल सोलह पेजी फार्म के आकार में टाइप के अक्षरों से पुष्ट कागज पर प्रयाग प्रेस कम्पनी लिमिटेड में छपी है ○ मू० डा० व्य० स० =)॥ है। ××× फिर भला इसमें तो किसी छोटी कहानी का भी आनन्द न आया, उपन्यास कि जिसमें केवल कथा, लेख और प्रबन्ध-चातुरी ही की प्राधान्य हैं, उसकी यह कथा ? रही प्रबन्ध-चातुरी और लेखलालित्य सो प्रबन्ध प्रायः कथा ही के आधार पर होता है, तथापि इसके प्रबन्ध में बहुत कुछ वक्तव्य है..."

समीक्षा में विभिन्न पक्षों की आलोचना करने के साथ-साथ सुझाव भी दिए गये हैं—"निदान हमारी राय में ४था परिच्छेद पहला, तीसरा परिच्छेद दूसरा, यों ही दूसरा परिच्छेद तीसरा एवं प्रथम एवं पंचम परिच्छेद बिल्कुल निकाल देना चाहिए ○ तथा अन्त के अर्थात् आठवें परिच्छेद की जो इस रीति से छठवाँ कहाएगा उसी में कथा की समाप्ति कर देनी चाहिए, और नवम् परिच्छेद जिसे हम मानते हैं, उसे भी निकाल उसी जगह विनायक के हाथ से उन दोनों घातक डाकुओं का वध करा देना उचित है ○ ××××परन्तु इससे यही नहीं समझ लेना चाहिए कि ग्रंथ निरा निकम्मा है, किन्तु कहीं-कहीं उसमें मधुर सजीली और पक्की लिखावट भी है। ○ जैसे पृष्ठ ७ में—"प्रातःकाल वनों में जैसा पक्षियों का कोलाहल होता है वह अभी समाप्त नहीं हुआ था क्योंकि दिनानाथ भगवान प्रभाकर कुछ निकले थे और कुछ आकाश-वितान से अपना मुँह ढाँपे रजनीकर के वियोग-ताप में संतप्त रजनी विरहिनी को आश्वासन-सा दे रहे थे।..."

एक अन्य समीक्षा 'समालोचक' में प्रकाशित महत्त्वपूर्ण है जिसे 'समालोचक' के अक्टू०-नव० १९०३ के अंक में श्री जैनेन्द्र किशोर ने किया था। समीक्षा देवकीनन्दन खत्री के सामाजिक उपन्यास 'काजर की कोठरी' की थी। यों सम्पूर्ण समीक्षा में विरोध का ही स्वर है, किन्तु समकालीन बौद्धिक रुचि का अनुमान लगा सकने के लिए इसमें से कुछ उद्धरण दिये जा सकते हैं। समीक्षक ने समीक्षा का प्रारम्भ करते हुए लिखा है—"ग्रंथकार के मत से इस पुस्तक का प्रधान विषय ऐय्यासी है, क्योंकि ग्रंथकार ने इसका नाम काजर की कोठरी रखा है।"

समीक्षा में मुख्य रूप से चार विन्दुओं के माध्यम से लेखक ने अपनी बात कही है—

(१) इस ग्रंथ में किसी प्रकार का गुण आ गया है। इस पुस्तक के पढ़ने से ऐय्यास रंडियों की चलती-फिरती घातों से बच सकते हैं बल्कि उन्हें उनसे एकबारगी घृणा हो जाय तो आश्चर्य नहीं। घुणाक्षर न्याय से स्त्री की पति-भक्ति भी इसमें वर्णित हो गई है।

(२) इस पुस्तक में अनुबन्ध चतुष्ठय दोष है। इसका निर्णय ऐय्यासी है। इसमें ऐय्यासों की दुर्दशा दिखलानी उचित थी सो नहीं हुआ वरन् नायक हरिनन्दन को रण्डी की कृपा से सरला-सी पतिव्रता एक नारी मिली। पारसनाथ का बाँदी रण्डी से मिलकर सरला के रहस्यों का पता करना कुछ भदेसल और बेजोड़-सा जान पड़ता है क्योंकि रण्डी सब भेदों को जानने की पात्र नहीं है। यह प्रकृति विपर्य्यय है।

(३) पिता को अधिकार नहीं है कि अपने पुत्र को किसी कारण या किसी अवस्था में रण्डीबाजी करने की आज्ञा दे। इस उपन्यास से यह स्पष्ट टपकता है कि हरिनन्दन अपने पिता कल्याणसिंह की आज्ञा से बाँदी रण्डी के घर-आने जाने लगा। यदि ग्रन्थकार किसी कारण से ऐसी बातें लिखने के लिए लाचार ही हो गया था तो उसको उचित था कि काजर की रेख न लगने देता।

(४) यह पुस्तक उपन्यास के लक्षणों से कोसों दूर है। उपन्यासों में रहस्यमयी घटनाएँ उलझेड़े के साथ बहुधा हुआ करती हैं परन्तु अन्त में क्रमशः सारी बातें दर्पण-सी खुल जाती हैं। कोई बात ग्रंथकार के पेट-पिटारे में छिपी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं रह सकती ।

उपन्यास की भाषा के विषय में समीक्षक ने लिखा है—"इसके बारे में क्या लिखूँ । न तो नागरिक हिन्दी साधुभाषा कह सकता हूँ । न संस्कृत, न मुल्लाओं की भाषा और न पंजाबी । यदि इस पुस्तक को 'चौंचे का मुरब्बा' कहा जाय तो ठीक है । क्योंकि इसमें थोड़ा-थोड़ा सब भाषाओं का आनन्द मिलता है..."

तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में एक-दूसरे के प्रति सारे विरोधों के बावजूद कितनी आत्मीयता थी, इस बात का समर्थन समालोचक द्वारा प्रकाशित एक टिप्पणी से मिलता है जिसमें तत्कालीन पत्रिकाओं का उल्लेख भी है—

"हम भारतेन्दु के "कहाँ करुणानिधि केशव सोये" पद को गुनगुनाते हुए यहाँ पहुँचे थे कि—

प्रलय काल सम जौन सुदर्शन आतुर प्रान संहारी ।

ताकी धार भई अब कुण्ठित हमरी बेर मुरारी

इतने ही में ज्येष्ठ का सुदर्शन मिला । खैर, अब हिन्दी मासिक पुस्तकों की यह दशा समझ लें—

सितम्बर १९०३—अश्विन १९६०

सरस्वती (सितम्बर १९०३) सुदर्शन (ज्येष्ठ १९६०) हिन्दी प्रदीप (मार्च-अप्रेल १९०३) जासूस (सितम्बर) उपन्यास (अगस्त) आनन्द कादम्बिनी (फाल्गुन १९५९) निगमागम चन्द्रिका (चैत्र-वैशाख १९६०)"

पत्र-पत्रिकाकों और पुस्तकों के प्रचार-विज्ञान भी बड़े मनोरंजक होते थे । विज्ञापनों में यह प्रयास रहता था कि साधारण-से-साधारण आदमी भी पुस्तकों की ओर आकृष्ट हो सके । कुछ विज्ञापनों के उदाहरण देखिये—

१. इसमें राजकुमारी का रंगीन चित्र तो ऐसा दिया है कि जैसा सुन्दर चित्र बाजार में चार आने में भी नहीं मिलेगा ।

२. यों तो अब तक सैकड़ों उपन्यास छप चुके हैं जिनसे मनोरंजन या ऐतिहासिक बातें जानने के सिवा कोई विशेष कुछ लाभ नहीं हुआ किंतु हमें आशा है कि इस उपन्यास से मनुष्य जाति मात्र का उपकार होगा ।

३. इसको पढ़ने से कभी आँखों में आँसू बहने लगते हैं कभी आनन्द की लहरें आती हैं और कभी हँसते-हँसते पेट फटने लगता है ।

४. जब घटनापूर्ण अश्लीलतामय, चरित्रनाशी, रसीली कहानियाँ पढ़ते-पढ़ते आप लोगों का जी ऊब जाय तब आ लोग इसे अपने हाथ में लीजिएगा और देखियेगा कि आ लोगों के मन को इससे कुछ विश्राम मिलता है कि नहीं ।

५. इस समय जब कि लोगों के मन में धर्मग्रंथों अरुचि हो रही है—यह टरेक्ट जिसमें सत्य-सनातन वैदि धर्म के सिद्धान्तों की महिमा दर्शाई गई है जनता की भे किया जाता है...

साहित्यिक समस्याओं से इतर सामाजिक समस्या पर लिखे गये आलोचनात्मक लेखों और टिप्पणियों सामाजिक कुरीतियों को समाप्त करने का तीव्र स्वर मिल है । 'हिन्दी प्रदीप' के अक्टूबर १८८० ई० के अंक 'औरतों का परदा अवध पंच से' शीर्षक निबन्ध में पर समस्या की अत्यंत प्रभावशाली ढंग से आलोचना की गई—

"हिन्दुस्तान में औरतों का परदा भी एक कयामत है हम लोगों का ख्याल है कि अगर जरूरत पड़ने पर हम अपनी बीबी का जिकिर करना पड़े तो इस तरह करें सुनने वाले का ख्याल सीधा बीबी पर न जा गिरे बल्कि लुढ़क-पुढ़क कर उस तक पहुँचे, जैसा बीबी की तबिय अलील हो और हम इसलिए गमगीन हों कोई हमारे रफीक पूछ उठें क्यों साहब आज आप उदास क्यों हैं पहले हम यही कहें जी हाँ कुछ खानगी बात है दुनियाँ हर तरह के झगड़े लगे ही रहते हैं और पूछने वाले कोई ऐसे इनायतफरमां हुए जिनसे सब तरह की बेतकल्लु है तब भी साफ-साफ न कहेंगे कि हमारी बीबी बीमार अगर इस तरह कहें तो चटपट लब्ज बीबी सुनने वाले ध्यान में नक्श हो फौरन जातबीबी का तसौअर कर बल्कि हम यों कहेंगे हमारे घर के लोगों की तबियत नास है या हवेली की तबियत अलील है या अगर कोई साह जादा मौजूद हो तो उसका नाम लेकर कहेंगे इसकी बीमार है तब सुनने वाला समझेगा कि ये इस लड़के बाप हैं तो इसकी मा इनकी बीबी हुई..."

भारतेन्दु के दिसम्बर १९०५ के अंक में श्री पुरुषो प्रसाद शर्मा का 'स्त्री-शिक्षा' शीर्षक से एक नि प्रकाशित हुआ, जिसमें स्त्री-जागृति की ओर ध्यान आ र्षित किया गया—

"समय आ पहुँचा है जब लोगों को स्त्री-शिक्षा वि पर विशेष ध्यान देना चाहिए जिस प्रकार बालकों की शि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आवश्यक समझी जानी चाहिए क्योंकि बालकों की भी शिक्षा के लिए यह अत्यन्तावश्यक है कि माता शिक्षित हो... यह वही आर्यावर्त देश है जहाँ धर्म की उन्नति के कारण अनेकानेक वीर, धीर, तेजस्वी पुरुष हो गये हैं। जिनकी विद्या-बुद्धि कौशल को सुनकर आजकल के लोग विस्मृत हो जाते हैं××× हाय ! आज यह वही देश है जो धर्म की न्यूनता के कारण आलसी, डरपोक, अधर्मी, व्यभिचारी मनुष्यों से अपमानित और कुत्सित हो रहा है..."

"सरस्वती' के १९०८ ई० के अंक में पुस्तकों-पत्रिकाओं के सम्बन्ध में सरकारी रिपोर्ट प्रकाशित हुई जिसमें मुख्यतया यह शिकायत की गई थी पुस्तकें उपदेशात्मक नहीं हैं। रिपोर्ट का एक अंश द्रष्टव्य है—

"...४३३ किताबें पद्य में निकलीं पर इसमें से एक भी इस योग्य नहीं कि जिसके पद्यों को कविता कह सकें। उपन्यासों की तादाद बढ़ती जा रही है पर गवर्नमेण्ट की शिकायत है कि एक भी अच्छा उपन्यास नहीं निकला। प्रायः सभी अलौकिक और असम्भव कथाओं से पूर्ण, अंग्रेजी उपन्यासों की नकल कुरुचिपूर्ण और भ्रष्ट निकले।"

इस युग की एक अन्य मनोरंजक और महत्त्वपूर्ण बहस का उल्लेख आवश्यक है। यह विवाद सन् १९१२ ई० में 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन कलकत्ता' तृतीय अधिवेशन में पढ़े गये लेख 'हिन्दी का हानिकारक साहित्य' की प्रतिक्रिया-स्वरूप उत्पन्न हुआ था। साहित्य सम्मेलन में लेख पं० विष्णुचन्द्र शर्मा ने पढ़ा था। सम्मेलन में पढ़े गये सभी निबन्ध पुस्तकाकार प्रकाशित हुए जिन्हें पढ़कर ही बाबू चम्पालाल जौहरी 'सुधाकर' ने इन्दु के १९१३ ई० के अंक में एक विस्तृत निबंध लिखा, जिसका शीर्षक था—"हिन्दी साहित्य में डकैती।" सुधाकरजी के निबंध का प्रारम्भ इस प्रकार है—"उक्त लेख पण्डितजी ने हानिकारक साहित्य के मनमाने विषय का मनमाना उदाहरण दे उसकी आड़ में हिन्दी के प्रायः सभी लेखकों, कवियों और सेवियों को खूब फटकारा है। आपने सभी को 'लौंडे', 'गूने उठाने योग्य भी नहीं,' 'टटपूँजिये' आदि विशेषण दे उन्हें आड़े हाथ लिया है।..."

पण्डित विष्णुचन्द्र शर्मा ने उपन्यासों से होने वाले निम्न दोषों को अपने लेख में गिनाया है—

"पहली हानि यह है कि ये शृंगार रस के अधिक होते हैं और इनके पढ़ने से पाठकों के हृदय में कुवासना उत्पन्न हो वे इश्क की उपासना करने लगते हैं; जिससे थोड़े ही दिनों में वे बल, नैरोग्य, उत्साह, धैर्य चरित्र और धन से जीवन-मुक्त हो जाते हैं। दूसरी हानि यह है कि उनके पढ़ने से ऐहिक वा पारलौकिक कार्यों में कुछ भी फल-सिद्धि नहीं होती और तीसरी हानि मन और बुद्धि का सुखियापन है।

सुधाकरजी ने अपनी टिप्पणी में यद्यपि उपन्यासों की कुछ सीमाएँ मानी हैं, तथापि उपन्यास को वे साहित्य का एक महत्त्वपूर्ण अंग मानते थे। उन्होंने लिखा है—

"इस पर हमारी प्रार्थना यह है कि सभी उपन्यास शृंगार रस पूर्ण नहीं होते। यह हम मानते हैं कि शृंगारिक उपन्यास अवश्य हानिकारक हैं; किन्तु नैतिक उपन्यासों से हानि होना तो हमने कभी भी नहीं देखा और न सुना। साथ ही ऐतिहासिक घटना-मिश्रित उपन्यास पाठकों के हृदय पर इतना उत्कृष्ट प्रभाव डालते हैं कि जो मिटते नहीं मिटता। इसी प्रकार कल्पित उपन्यासों को भी यदि शुद्ध नैतिकता का स्वरूप दिया जाय तो वे भी कम प्रभावशाली नहीं होते, किन्तु पण्डितजी तो कल्पित-नैतिक उपन्यास और कहानियों को भी हानिकारक बतलाते हैं। आपका कहना है कि 'कल्पित कहानियों से तो ऐसा फल हो ही नहीं सकता क्योंकि पाठक उन्हें पहले से ही झूठी माना करते हैं।' इस स्थान पर पण्डितजी ने कितनी भूल की। पाठकों को भली प्रकार विदित ही है कि झूठी बातों को शिक्षित तो दूर रहे अशिक्षित भी नहीं मानते, न उनकी ओर आँख उठाकर ही देखते हैं; फिर आश्चर्य है कि कल्पित कहानियों और उपन्यासों को पहले से ही झूठा मान लेने पर भी पाठक उनको पढ़ने के लिये इतने अधीर क्यों हो उठते हैं ? कोई भी उपन्यास झूठा हो या सच्चा उसे पढ़े बिना पाठकों को चैन क्यों नहीं पड़ता ? वे इसके पीछे भोजन करना तक क्यों छोड़ देते हैं। इसीलिए कि वे झूठे हैं ? सारांश यह है कि उपन्यास कल्पित हों या ऐतिहासिक यदि वे शुद्ध भाव से जनसमाज के उपकारार्थ लिखे गये हों और उनमें ऐसी घटनाओं का मिश्रण हो जो संसार में घट सकती हों तो अवश्य लाभ पहुँचायेंगे।"

सुधाकरजी ने इसके बाद एक उदाहरण देकर अपनी बात समझानी चाही है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"अभी थोड़े समय की बात है कि एक स्त्री एक समय ऐसे निंद्य आचरण वाली थी कि शिक्षित लोग उससे घृणा करते थे। किन्तु एक विद्वान व्यक्ति के सहवास में उपन्यासों को पढ़ने से ही उसकी कायापलट हो गई। एक दिन ऐसा था कि वह प्रत्येक पुरुष के स्पर्शास्पर्श में कुछ भी संकुचित नहीं होती थी, किन्तु एक समय उपन्यास पढ़ने के पश्चात् उसके मुँह से एक अचिन्त्य घटना के समय मैंने, यह उद्गार प्रत्यक्ष सुने हैं कि "हिन्दू सूर्य महाराणा प्रताप हिन्दू के लिए एक अटल नियम कर गये हैं कि हिन्दू स्त्री की पवित्र देह को अन्य पुरुष का अपवित्र करना तो दूर रहा उसे स्पर्श कर दूषित करना भी दुस्तर है।' पाठक ! यह प्रभाव किसका है ? हानिकारक उपन्यासों का ही न।"

श्री चम्पालाल जौहरी 'सुधाकर' ने शर्माजी द्वारा संकेतित प्रायः सभी समस्याओं को अपने लेख में उठाया है। तीसरी हानि 'मन और बुद्धि का सुखियापन' के सम्बन्ध में शर्माजी का तर्क है—

"उपन्यास जैसे सीधे ग्रंथों को पढ़ने से मन और बुद्धि सुखिया जाती है।...उपन्यास के पढ़ने वालों का मन और बुद्धि क्लिष्ट विषयों में नहीं लगता (ती)...और वे शास्त्रों को नहीं पढ़ सकते जो उपन्यासों से क्लिष्ट होते हैं।"

श्री सुधाकर ने इसके उत्तर में लिखा—

"इस स्थान पर भी पंडितजी ने बड़ी भारी भूल की है। आज भी हिन्दी के ऐसे लेखक विद्यमान हैं कि जिन्होंने उपन्यासें लिखकर शास्त्रीय गहन एवं क्लिष्ट विषयों पर भी ग्रंथ लिखे हैं। उदाहरण-स्वरूप स्वर्गस्थ भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र, पं० प्रतापनारायण मिश्र, पं० अम्बिकादत्त व्यास, पं० बालकृष्ण भट्ट तथा वर्तमान के पं० रुद्रदत्तजी शर्मा, सम्पादकाचार्य पं० लज्जाराम शर्मा और आजकल के कई लेखक तथा पत्र सम्पादक।...अत्यन्त शोक का विषय है कि पण्डितजी ने उपन्यास द्वारा लौकिक हानि की निराधार ही चर्चा की।"

उपन्यासों की भाषा और उसका साहित्य पर प्रभाव। इस विषय में चर्चा भी चली। 'शब्द-दारिद्रय' तथा शास्त्र-हीनता जैसे मुद्दों को उठाते हुए पं० विष्णुचन्द्र शर्मा ने अपने निबन्ध में लिखा—

"जब तक हिन्दी, कहानियों मात्र की भाषा होगी, तब तक शास्त्रोपयोगी शब्दों की कल्पना नहीं हो सकती... इसलिए जब तक उपन्यासों का प्रचार रोका नहीं जायेगा तब तक यह शब्द-दारिद्र्य नहीं मिटेगा। उपन्यासों के कारण अब तक हिन्दी में कोई शास्त्र नहीं दिखाई देता... जिस भाषा में शास्त्र नहीं हैं, वह केवल गली-कूचों की भाषा है। विद्वानों में इसकी प्रतिष्ठा नहीं हो सकती और जब तक हिन्दी में शास्त्र नहीं होंगे तब तक लोगों को विवश होकर शास्त्र और भाषाओं में पढ़ने होंगे।.....इससे इस भाषा को सारे देश की भाषा बनने में विघ्न पड़ेगा।"

'सुधाकर'जी ने अपने उत्तर में लिखा—"इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दी भाषा में अब तक शास्त्रों का अभाव है। हम यह जानते हैं। किन्तु इसका दोष उपन्यासकारों के मत्थे मढ़ना नितान्त भूल है। यह हमारे पण्डितजी के हृदय की संकीर्णता मात्र है कि जब तक उपन्यासों का प्रचार रोका नहीं जायेगा तब तक शब्द-दारिद्र्य नहीं मिटेगा। इससे यह भाव निकलता है कि उपन्यास ही शास्त्र बनने में बाधक हैं। हमारी समझ में नहीं आता कि उपन्यासकार शास्त्रकारों के बाधक क्यों और कैसे हैं ? कदाच् पण्डितजी कोई शास्त्र रचने बैठे होंगे उस समय किसी उपन्यास-कार ने उनका हाथ पकड़ लिया होगा और उन्हें ऐसा करने से मना किया होगा। कदाच् यह दोष हिन्दी संसार में ही है। भला अन्य भाषाओं में उपन्यासकार शास्त्रकारों से आड़े क्यों नहीं आते ? यदि पंडितजी किंचित् अंग्रेजी, बंगला आदि भाषाओं की और भी दृष्टि डालने का कष्ट करते तो उन्हें स्पष्ट विदित हो जाता कि उन भाषाओं में उपन्यासों की धड़ाधड़ दिन दूनी, रात चौगुनी सृष्टि होते हुए शास्त्रीय विषयों की पुस्तकों की भी रचना होती है। वहाँ के शास्त्रकार क्यों नहीं उपन्यासकारों की पण्डितजी के समान अवहेलना करते ? बात तो यह है कि अपने को हिन्दी भाषा के उत्कट विद्वान समझने वाले मौलिकता न होने से अपनी इस निर्बलता का अपराध उपन्यासकारों के मत्थे मढ़ अपने को निर्दोष सिद्ध करते हैं। यह उतने के लिये कितना उपयुक्त है, सो वे ही जाने। मैं पण्डितजी से निवेदन करता हूँ कि आप शस्त्रों की रचना करें। यदि आपके इस शुभ कार्य में कोई उपन्यासकार आड़े आवे तो उसे आप हिन्दी संसार में प्रकट कर उचित शिक्षा दें अथवा दिलावें। इस कार्य में कोई आपको बाधा दे तो उसका ज़िम्मेदार मैं हूँ।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपन्यास-विद्या को साहित्य से हटा देने की बात का उत्तर देते हुए श्री सुधाकर ने लिखा है—

"आपका कहना है कि उपन्यासों को हिन्दी संसार से सदा के लिए मिटा देना चाहिए, क्यों ? हम जानते हैं किस गुरुतर अपराध के कारण पण्डितजी उपन्यासकारों के पीछे हाथ धोकर पड़े हैं। उनके अस्तित्व में आपकी क्या गति होती है और उसके मटियामेट होने में आपने क्या लाभ विचारा है ? आज जिनके प्रताप से हिन्दी के पाठकों और लेखकों की संख्या में वृद्धि हो रही है, उन्हीं का प्रचार आपकी आँखों में काँटे-सा खटक रहा है। पण्डितजी! जिस भूमि में होने वाले सम्मेलन की स्टेज पर पढ़ा जाने के लिए आपने अपना यह लेख लिखा है, यदि उसके साहित्य की ओर आप किंचित् दृष्टि भी डालते तो आपको उपन्यासों के विषय में ऐसा कह सकने का साहस नहीं होता। आज वही बङ्ग साहित्य उपन्यासों के प्रताप से ही इतना प्रसिद्ध है। अतएव दया कीजिए—हिन्दी संसार में उपन्यासों की कमी है। अच्छे उपन्यासों की सृष्टि होने दीजिये महाराज।"

इस विस्तृत वाद-विवाद के पश्चात् इस स्थिति की कल्पना की जा सकती है कि उस समय बुद्धिजीवियों में उपन्यास के क्षेत्र में किस प्रकार की बहसें हुआ करती थीं।

हिन्दी-पत्रकारिता की इस पृष्ठभूमि के अध्ययन से यह संकेत मिलता है कि उन लोगों ने भाषा-शिल्प और साहित्य के लिए कितना संघर्ष किया। भाषा विषयक उपलब्धियों के अतिरिक्त इन लेखकों ने 'भारतीयता' के परम्परागत आदर्श रूप को बनाये रखने के लिए भी संघर्ष किया। इस युग की पत्रिकाओं, उपन्यासों, कहानियों आदि में एक स्वर से उस रूप को बनाये रखने का आग्रह मिलता है। सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक जीवन के प्रायः सभी पहलुओं पर इन लोगों ने विचार किया और अपने पूरे सामर्थ्य के साथ विचार किया।

आज हमें वे स्थितियाँ कितनी ही बचकानी और अप्रौढ़ लगें, उनकी बहसें कितनी ही व्यक्तिगत आक्षेपों से भरी हुई लगें, मगर हम इस सत्य को अस्वीकार नहीं कर सकते कि सारे विरोधों के बावजूद उन लोगों में एक-दूसरे के प्रति अत्यंत आत्मीयता थी और हिन्दी पत्रकारिता को एक सुस्पष्ट रूप देने की ललक थी। आज की विकसित पत्रकारिता के इस रूप के निर्माण के संदर्भ में हमें उन लोगों का अवश्य ही ऋणी होना चाहिए। यदि कोई इस तथ्य को अस्वीकार करता है तो निश्चय ही इतिहास की सचाई को किसी-न-किसी रूप में नकारता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दो कविताएं

श्रीराम वर्मा

: १ :

परिवार-नियोजन

न पिसें भीड़ की तरह
टेलिविज़न पर लोग देखें : रोना
किसे कहते हैं ।

सिर्फ आइनें में चेहरे दिखें दुबले ।
राशनकार्ड देख पेट भर जाय
बैठे-बिठाये
हथेलियों के बीच से हँसते
कबूतर उड़ें ।

(तड़ी पड़ी
किसी शांतिप्रिय गंजे सर पर
भ्रम न हो उनके फड़फड़ाते
पंखों से ।

सारा का सारा आसमान भर जाय
जब झुंड से उनके,
न हो बादल-बोध, लगे प्रकाश है;
शांति पृथ्वी पर उतर आयी है अगाध ।)

जनता और जनार्दन
(अनुपात अधिकतम तीन-पाँच)
आसानी से जोड़-तोड़ कर सकें ।
घड़ियाल और बंदर में
अधूरी नहीं, पूरी दाँतकाटी हो ।
(देस से बिदेस तक ।)

मंत्री ज्यादा न हों,
जितने हों, अपने हों ।
(मंत्री चाहे न हो मंडी में ।)

बेकार न हो कोई,
सबके पास कार हो,
टपकती हुई लार हो ।

बा गये,
बा दिये गये
हर मुँह में कौर ।
सिरमौर, सरताज सबके सब,
हर कोई ।
(हर काई दिखे,
पर कोई न दिखे काइयाँ ।)

दायीं जेब में ज़रूरत की सारी चीज़ें,
बायीं में रोज़गार दफ़्तर ।
भैंस के पेट में बजता ट्रांजिस्टर ।

कुर्सी झट से मिल जाय,
जब नेता लुप से दामाद चुने मनपसंद ।
भाई हवाई जहाज़ पर बर्राय,
भतीजा पानी के पोत पर इतराय ।
धोबी का कुत्ता (न घर का, न घाट का)
मुहावरा बदलकर क़ीमती साबुन से नहाय ।

इसलिए ज़रूरी है,
(लोग जायँ सदके !)
चाँदी के लिये चमचे
पैदा हों घर में सबके
बस, दो या तीन बच्चे ।

[क्रमशः]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

: २ :

पतझर

जैसे माँ से किसी ने
छीन ली हो बच्चे की फोटो
और कर दी हो उसकी जाने कितनी
चिन्दियाँ !
—उड़ती हुई धूल में
उड़ती हुई पत्तियाँ ।

हवा में जैसे
भटक रही हैं आँखें और अनंत !

पन्ने पन्ने ढूँढ़ती हुई जैसे
कहाँ हैं वसीयतें और कहाँ है वसंत ?

बढ़ती हुई आबादी,
उद्जन और चंद्रयात्रा :
एक ओर चिन्दियाँ,
एक और दुनिया !

क्या कोई सचमुच ज़िन्दा है
उड़ती हुई धूल में ?

० ० ०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अफ्रीकी कथा-साहित्य की आधुनिक प्रवृत्तियाँ

आनन्दस्वरूप वर्मा

अमरीका में बच्चों के लिए संगृहीत कहानियों की कुछ पुस्तकों में दो मेमनों की एक कहानी है :—

"एक सफेद मेमना एक दिन अपने झुंड में से भटक गया और घूमते-फिरते जंगल में जा पहुँचा। उसे देखकर काले मेमने ने कहा—तुम तो सफेद मेमने हो जिसके पास रहने के लिए अच्छा घर, खाने के लिए अच्छा भोजन और तमाम सुन्दर-सुन्दर चीज़ें होंगी। यहाँ तक कि तुम्हारा रखवाला भी बहुत भला आदमी होगा, लेकिन मैं तो काला हूँ...न जाने किस दिन वह गड़ेरिया (यीशु) आएगा और हमें भी सफेद मेमनों के झुण्ड में मिला देगा!

"यह सुनकर सफेद मेमना बोल पड़ा—मैं नहीं समझता कि वह तुम्हें पसंद करेगा क्योंकि मुझसे बराबर यह कहा गया है कि उसे सफेद कंबल पसन्द हैं और वह केवल सफेद भेड़ें और मेमने ही अपने साथ रखता है। आखिर गड़ेरिया यीशु अपने मेमने की तलाश में आता है जिसका रंग मलिन पड़ने लगा था। यीशु ने अपने मेमने को गोद में उठा लिया और कहा कि अभी धोकर उसे चमका देगा। जब यीशु चलने को हुआ तो काले मेमने ने कहा कि उसकी भी इच्छा थी कि वह यीशु का मेमना हो पर वह तो काला है। यह सुनकर यीशु ने कहा—तुमने सुना नहीं? मैं धोकर सफेद चमका सकता हूँ। तभी गोद में पड़ा सफेद मेमना बोल पड़ा—यीशु, तुम मुझे चमका सकते हो क्योंकि मैं तो सफेद था ही, पर वह तो जन्म से ही काला है और तुम्हें काले मेमनों से नफरत है।

"कौन कहता है कि मुझे काले मेमनों से नफरत है?—कहते हुए यीशु ने काले को भी गोद में उठा लिया और एक सोते के किनारे ले जाकर धो दिया। काला मेमना भी सफेद चमकने लगा और खुशी से उछलने लगा।[1]

अमरीका, ब्रिटेन तथा अनेक उपनिवेशों के बच्चों को इस तरह की कहानियाँ पढ़ाई जाती हैं। इन कहानियों को पढ़ने वालों में श्वेत एवं अश्वेत दोनों बच्चे हैं। ये कहानियाँ श्वेत बच्चों के मन में जहाँ रंग के प्रति एक गलत चेतनता का जन्म देती हैं वहीं अश्वेत बच्चों के अन्दर एक हीन भावना भी पैदा करती हैं। क्या उनके उद्धार के लिए भी किसी दिन यीशु आएगा?

लेकिन नहीं, यीशु का इन्तजार करना व्यर्थ है। वह कभी नहीं आने वाला है। इसीलिए अमरीका से लेकर अफ्रीका तक के अश्वेत लोगों ने अपनी मुक्ति का भार अपने ऊपर लिया और आज अफ्रीका महाद्वीप में लगभग चालीस से भी अधिक स्वतन्त्र राष्ट्रों का जन्म हो चुका है, उसी अफ्रीका में जो बीसवीं सदी के पूवार्द्ध तक यूरोप के सात साम्राज्यवादी देशों—ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी, पुर्तगाल, बेल्जियम, स्पेन और इटली—के बीच टुकड़े-टुकड़े में बँटा हुआ था। यह बात और है कि इन स्वतन्त्र राष्ट्रों में कई आज नव उपनिवेशवाद के चंगुल में फँसे हुए हैं और वहाँ नए सिरे से संघर्ष चल रहे हैं या संघर्ष की तैयारियाँ चल रही हैं।

"ब्लैक अफ्रीका" शब्द से अफ्रीका का जो रूप सामने उभर कर आता है वह मुख्यतया सहारा के दक्षिण का भाग है। इसमें जांबेसी नदी के दक्षिणी भाग (दक्षिण अफ्रीका) को छोड़कर देखें तो अधिकांश राष्ट्र स्वतन्त्र दिखाई देते हैं। दक्षिण अफ्रीका, जिम्बाबवे (रोडेशिया), अंगोला, मोजाम्बिक आदि में तीव्र रूप से मुक्ति संघर्ष जारी हैं और गोराशाही आदि दम तोड़ रही है। जो राष्ट्र स्वतन्त्र हो चुके हैं, वहाँ की संस्कृति, साहित्य एवं सामाजिक व्यवस्था अभी अपने को उपनिवेशवादी संस्कृति के अवशेषों से मुक्त नहीं कर पाई है पर इसके लिए सतत् प्रयत्नशील है।

अफ्रीकी साहित्य पर कुछ भी विचार करते समय हम उस क्रूर तथ्य को नज़रअंदाज़ नहीं कर पाते हैं जिसने अफ्रीका के एक विशाल भाग की समूची सामाजिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आर्थिक व्यवस्था को बेहद अमानवीय और कठिनतम बना दिया है और वह क्रूर तथ्य है वहाँ के काले लोगों पर स्थापित गोराशाही यानी रंगभेद-नीति। रंगभेद-नीति का विकृततम रूप दक्षिण अफ्रीका में देखने को मिलता है और यह मात्र संयोग नहीं है कि अफ्रीका महाद्वीप के साहित्य की चर्चा में जिन लेखकों और कृतियों का महत्त्वपूर्ण ढंग से उल्लेख होता रहा है उनमें। से अधिकांश दक्षिण अफ्रीका के हैं। अलेक्स ला गुमा, रिचर्ड राइव, एज़किएल म्फालेले, एलेन पैटन, माइकेल पिकार्डी, लीविस न्कोसी, फिलिस, अल्टमॉन आदि का सम्पूर्ण साहित्य मुख्यतया गोरे-काले के संघर्ष का साहित्य है, रंगभेद-नीति के विरोध का साहित्य है या कुल मिलाकर वर्तमान शोषणयुक्त व्यवस्था के बदलाव के लिए प्रतिबद्ध साहित्य है। ये लेखक विश्व के उस हिस्से से आते हैं जहाँ उपनिवेशवाद पूरी बेशर्मी के साथ अपनी स्वार्थ-सिद्धि के सभी हथकंडे इस्तेमाल कर रहा है। विश्व का शायद ही कोई ऐसा हिस्सा हो जहाँ अब तक तेरह हज़ार से अधिक पुस्तकों पर प्रतिबन्ध लगाया गया हो, जहाँ बीस वर्षों के अन्दर १,४१९ राजनीतिक बन्दियों को मृत्युदण्ड की सजा दी गई हो तथा न्याय की माँग करने वालों को एक तरफ का पासपोर्ट देकर अपने ही देश से निकाल दिया गया हो।

ऐसी विषम परिस्थितियों में किस प्रकार के साहित्य का सृजन हो सकता है इसकी कल्पना की जा सकती है। उपन्यासकार एज़किएल म्फालेले का कहना है कि 'जहाँ तक सर्जनात्मक लेखन का सम्बन्ध है, मैं काफी निराशा महसूस करता हूँ...इन स्थितियों से संघर्ष करने में हमारी शक्ति इस हद तक क्षीण हो जाती है कि सृजनात्मक लेखन के लिए हमारे पास कुछ रह ही नहीं जाता है। आप यह सवाल कर सकते हैं कि लेखन की दिशा में यह क्यों नहीं प्रेरणा बन सका पर मैं समझता हूँ कि ये स्थितियाँ आदमी को लकवा-ग्रस्त कर देने वाली स्थितियाँ हैं।[2] जेम्स बाल्डविन को लिखे गए एक पत्र में मेरी बेन्सन ने भी यही सवाल उठाया है कि 'जिन अति तनावपूर्ण स्थितियों में एक दक्षिण अफ्रीकी को रहना पड़ता है, उसमें वह किस प्रकार रचनाकार के दायित्व का निर्वाह कर सकता है?'[3]

अलेक्स ला गुमा, लीविसन्कोसी, रेमण्ड कुएनेने, एज़किएल म्फालेले, डेनिस ब्रूटस, ब्लोक मॉदिसेन, अल्फ्रेड हचिन्सन आदि अफ्रीकी लेखन से संबद्ध सारे सुपरिचित नाम दक्षिण अफ्रीका से बाहर निर्वासित कर दिए गए हैं। १९६१ के लगभग डेनिस ब्रूटस पर कुछ भी लिखने या छपवाने पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। यह प्रतिबन्ध उस कानून के अन्तर्गत लगाया गया था जो तोड़-फोड़ करने वालों के लिए बना था। १९६५ में जेल से छूटने के एक दिन पहले यह प्रतिबन्ध हटा लिया गया पर फिर एक नई धारा के अन्तर्गत १९७० के लिए उसका नवीकरण कर दिया गया। ये प्रतिबन्ध संख्या में तीन थे, पहला, कुछ भी लिखना; दूसरा, कुछ भी प्रकाशित कराना; और तीसरा, किसी भी प्रकाश्य सामग्री का प्रारूप तैयार करना। फिर लम्बे अरसे तक उन्हें नज़रबन्द रखने के बाद एक तरफ का पासपोर्ट देकर देश से बाहर निकाल दिया गया। उपन्यासकार अलेक्स ला गुमा पर १९५६ में 'सरकार का तख्ता पलटने के कम्युनिस्ट प्रयासों' का आरोप लगाकर अफ्रीकन नेशनल कांग्रेस के १५६ सदस्यों के साथ गिरफ्तार कर लिया गया। 'ट्रेज़न ट्रायल' के नाम से यह विख्यात मुकदमा लगभग पाँच वर्षों तक चला और अदालत द्वारा आरोपों की पुष्टि न होने पर सबकी रिहाई हुई, पर १९६२ में उन्हें पुनः नज़रबन्द कर दिया गया। इसी अवधि में उन्होंने अपना पहला उपन्यास 'ए वॉक इन द नाइट'[4] लिखा जिस पर दक्षिण अफ्रीका में पूर्णतया प्रतिबन्ध लगा दिया गया। दक्षिण अफ्रीका की संसद द्वारा 'नाइन्टी डेज़ नो ट्रायल ऐक्ट' के पास होने के बाद १९६३ में पुनः अलेक्स ला गुमा को बिना मुकदमा चलाए बन्द कर दिया गया। इस अवधि में उन्हें पूरी तौर पर एकान्तवास की सज़ा दी गई। चौबीस घंटों में से साढ़े तेईस घंटे वह एकान्त में रहते और आधे घंटे के लिए उन्हें व्यायाम आदि की छुट्टी दी जाती। इस प्रकार उनकी राजनीतिक गतिविधियों पर पूरा-पूरा अंकुश लगा दिया गया। ऐसी स्थिति में एक लेखक अन्याय का विरोध कैसे करे? इस अवधि में उन्होंने अपना दूसरा उपन्यास एण्ड ए थ्री-फोल्ड कार्ड'[5] लिखा। बाद में जब उन्हें देश से निर्वासित कर दिया गया, तब उनका तीसरा उपन्यास 'द स्टोन कंट्री'[6] प्रकाशित हुआ।

सरकार द्वारा वहाँ की साहित्यिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियों पर नियंत्रण रखने की ये कोई विशेष घटनाएँ नहीं हैं बल्कि यह तो आम बात हो गई है। अभी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पिछले दिनों, अगस्त १९७० में दक्षिण अफ्रीका के प्रमुख नाटककार एथोल फ्यूगार्ड को अमरीका जाने के लिए पासपोर्ट देने से महज़ इसलिए इनकार कर दिया गया क्योंकि वह सरकार की दमनकारी नीतियों का समर्थन करने में अपने को असमर्थ पाते थे। फ्यूगार्ड का नाटक 'बोनमैन एण्ड लीना' न्यूयार्क में खेला जाने वाला था और उसका रिहर्सल देखने के लिए उन्हें आमंत्रित किया गया था। इसी प्रकार की घटना दस वर्ष पूर्व 'क्राइ द बिलवेड कंट्री' नामक विख्यात उपन्यास के लेखक एलेन पैटन के साथ भी हो चुकी है।

इन स्थितियों में जबकि लिखने मात्र पर (प्रकाशन की तो बात ही अलग है) प्रतिबन्ध लगा दिया गया हो, उस समय आप यदि अच्छा या बुरा कैसा भी लिख रहे हों तो दक्षिण अफ्रीका में रंगभेद-नीति के विरोध का यह एक तरीका माना जाएगा।[७]

इसीलिए दक्षिण अफ्रीका का लेखन आज पश्चिमी दुनिया के स्थापित मानदण्डों की परवाह न करते हुए अपनी रचनात्मकता के अलग मानदण्ड स्थापित कर रहा है। पश्चिमी दुनिया के सामने अपना 'औचित्य' साबित करने वाली रूढ़ धारणाओं को जब तक वह ध्वस्त नहीं कर देता, वह अपने को स्वतन्त्र एवं विचारवान नहीं साबित कर सकता। 'जहाँ तक सामाजिक जीवन का सम्बन्ध है, पश्चिमी विचार-पद्धति मृत हो चुकी है। वह अब आगे नहीं जा सकती बल्कि एक गोले में ही घूमती रहेगी और और अफ्रीका के बुद्धिजीवी को इसके लिए एक रास्ता बनाना होगा और अपने बारे में सोचना होगा।[८] और जिन लेखकों ने इस दिशा में सोचा है, उनका लेखन सही अर्थों में विरोध का लेखन साबित हुआ है। कुछ लोगों का कहना है कि जहाँ राजनीतिक संभावनाएँ इतनी प्रशंसनीय हैं वहीं साहित्यिक स्तर में गिरावट आई है पर साथ ही यह भी सही है कि 'रंगभेद-नीति की भर्त्सना करने वाले विश्व जनमत ने आलोचकों को उन सारी कृतियों को साहित्यिक मानने को तैयार कर दिया है जिनका राजनीतिक महत्त्व ज्यादा है। दक्षिण अफ्रीकी साहित्य की उत्कृष्टता का निर्णायक तत्त्व विषय-वस्तु है।'[९]

दिसम्बर, १९६२ में अकरा (घाना) में अफ्रीकावादियों के प्रथम अन्तरराष्ट्रीय कांग्रेस में एज़किएल म्फालेले ने अपना एक लेख पढ़ा था जिसमें कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाए गए थे। उनका विचार था कि केवल शोषित-पीड़ित 'अश्वेत अफ्रीकियों' द्वारा लिखे गए के नाम पर किसी कृतित्त्व की परख नहीं की जा सकती बल्कि उन विशिष्टताओं को इंगित करना ज़्यादा आवश्यक है जो आम लेखन से उसे अलग करती है। और यदि गौर करें तो दक्षिण अफ्रीका के श्वेत एवं अश्वेत लेखकों के बीच स्वयं एक अन्तर दिखलाई पड़ेगा।

ऐसा होना स्वाभाविक भी है। श्वेत एवं अश्वेत लेखक के सोचने के तरीके में, अनुभव के दायरे में अन्तर होगा ही। यह सच है कि अफ्रीका के प्रगतिशील श्वेत लेखक भी रंगभेद-नीति का विरोध करते हैं जिसका उदाहरण एलेन पैटन का 'क्राई द बिलवेड कंट्री' नेदिन गार्डीमर का 'द लेट बुर्जुवा वर्ल्ड' उपन्यास एवं इनकी तमाम कहानियाँ तथा माइकेल पिकार्डी की तमाम रचनाएँ हैं पर एक अश्वेत लेखक जिसके लिए रात में ११ बजे के बाद ज़ोहान्सबर्ग में कर्फ्यू लग जाता है, जिसे बिना पास लिए घूमने पर गिरफ्तार कर लिया जाता है, जिसकी जमीन किसी भी समय 'श्वेत क्षेत्र' घोषित करके छीन ली जाती है, जिसे घंटों तक बस स्टॉप पर खड़ा रहना पड़ता है और खाली जाती बसों में बैठने की इच्छा दबाकर उस बस का इन्तज़ार करना पड़ता है जो अश्वेतों के लिए है, जो पार्क की खूबसूरत बेंचों पर नहीं बैठ सकता क्योंकि उस पर 'फॉर ह्वाइट्स ओनली' या 'स्लेग्स वर ब्लैक्स' लिखा रहता है, जिसके सामने पुलिस वाले की लाल आँखें हरदम आग उगलती रहती हैं, जेब में पैसे होने पर भी जो किसी होटल में जाकर चाय नहीं पी सकता क्योंकि वह केवल गोरों के लिए है—उसकी विचार-प्रक्रिया एवं रचना-प्रक्रिया में तथा सारी सुविधाओं का उपभोग करने वाले प्रगतिशील श्वेत लेखकों की रचना-प्रक्रिया में कोई अन्तर न हो, ऐसा हो ही नहीं सकता। म्फालेले यदि कहते हैं कि 'कोई भी स्पष्ट रूप से देख सकता है कि वे (श्वेत लेखक) रंग लाइन के श्वेत वाले हिस्से में हैं क्योंकि उनका तादात्म्य अश्वेत पात्रों की अपेक्षा श्वेत के ज़्यादा निकट है'[१०] या जॉन एफ० पोवॉय का कथन कि 'श्वेत-अश्वेत लेखक एक ही एप्रोच के साथ लिखना शुरू करते हैं लेकिन श्वेत लेखक अधिक अलग-अलग-सा लगता है'[११] या केन्या के कथाकार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जेम्स न्गुगी का खीजकर 'श्वेत घुसपैठिए'[12] कहने के पीछे यही पृष्ठभूमि है।

निस्संदेह अश्वेत लेखक रिचर्ड रॉइव की 'बेंच'[13] कहानी का नायक कार्ली या 'ड्राइव इन'[14] का नायक बिल श्वेत लेखक एलेन पैटन या माइकेल पिकार्डी के नायकों की तुलना में अधिक जुझारू दीखते हैं। पर इसके पीछे श्वेत लेखकों की कोई सुनियोजित योजना हो ऐसा मैं नहीं मानता बल्कि मेरे विचार से यह व्यवस्था-विशेष में रहने वाले लेखक की मजबूरी है। रिचर्ड रॉइव, अलेक्स ला गुमा या अन्य अश्वेत लेखकों ने यदि काली जाति के संगठित होने और गोराशाही के विरुद्ध मुकाबला करने की सम्भावनाओं को ढूंढा है जो श्वेत लेखक एलेन पैटन, फिलिप्स अल्टमॉन, नेदिन गार्डिमर आदि ने भी उन स्थितियों को पूरी ईमानदारी के साथ उभारा है जो गोराशाही के प्रति तीखी नफरत पैदा करती हैं और जिसका सम्यक् प्रभाव कमोवेश वही होता है जो अश्वेत लेखकों की कृतियों का है। इस संदर्भ में एलेन पैटन के पैम्फलेट 'द पीपुल वेप्ट' मात्र का ही उल्लेख कर देना पर्याप्त होगा।

रिचर्ड रॉइव की 'बेंच' कहानी का नायक कार्ली अपने गाँव से किसी कार्यवश कैपटाउन आता है और उसे यहाँ कुछ अजीब बातें देखने को मिलती हैं जिससे वह अभिभूत हो जाता है, मसलन गोराशाही के विरुद्ध खुली सभा जिसमें गोरे और काले साथ-साथ बैठकर रंगभेद-नीति का विरोध करते हैं, उस कानून को चुनौती के रूप में स्वीकार करने की 'ज़िम्मेदारी' का बोध कराते हैं जो 'किसी के ज़िन्दा रहने के अधिकार को छीनता है।' वह देखता है कि सभा-मंच पर उस क्षेत्र का अश्वेत मज़दूर नेता एंजेली एक गोरी महिला को सिगरेट पेश करता है और वह सहर्ष उसे ले लेती है। यह सारी चीज़ें कार्ली ने कभी सपने में भी नहीं सोची थीं। वह अपने अन्दर 'एक तूफान महसूस कर रहा था···एक ऐसा तूफान जिसके बाहर आने के विषय पर उसने पहले कभी नहीं सोचा था।'

शाम को जब वह अपने गाँव जाने के लिए स्टेशन पहुँचता है तब तक उसके अन्दर कई नए विचार घर कर चुके होते हैं। उसे स्टेशन पर एक बेंच दिखलाई देती है जिस पर साफ-साफ अक्षरों में 'केवल गोरों के लिए' लिखा होता है। उसे महसूस होता है कि 'उसके और आदमियत के बीच का रोड़ा यह बेंच ही है...अगर वह बेंच पर नहीं बैठता है तो उसे अपने को आदमी कहने का कोई अधिकार नहीं है। उसके आदमी साबित होने का सारा दारोमदार इस मामूली-सी बेंच पर ही है।' इस मौके का वह लाभ उठाता है और बेंच पर बैठ जाता है। उसकी इस मनोदशा का बड़ा अच्छा चित्रण कथाकार ने किया है :

> 'बेंच पर बैठने के बाद ऊपर से तो वह शान्त दीख रहा था पर उसका दिल बुरी तरह धड़कने लगा। दो विरोधी विचार दिमाग में उथल-पुथल मचा रहे थे। एक आवाज़ कहती—तुम्हें इस बेंच पर नहीं बैठना चाहिए था। पहला विचार उसके अतीत को दिखलाता, खेतों पर उसकी जानलेवा काम की याद दिलाता, उसके पिता की झुकी आकृति सामने लाता और उसके पिता के पिता का इतिहास खोलता जो खच्चर की तरह पैदा हुए, खच्चर की तरह ज़िन्दगी बिताए और खच्चर की तरह ही मर गए। दूसरी आवाज़ में भविष्य के सपने थे—कार्ली, तुम एक आदमी हो। तुमने वह साहस दिखलाया है जो तुम्हारा पिता नहीं दिखला सका। तुमको आदमी की मौत मिलेगी।'

उसने अखबारों में कभी-कभार ऐसी तसवीरें देखी थीं जिनमें आंदोलनों में गिरफ्तार लोग मुस्कराते हुए दिखलाई पड़ते थे और वह इस पहेली को नहीं समझ पाता था। कहानी के अन्त में एक गोरा युवक पुलिस की मदद लेता है और कार्ली को बेंच पर से उठने को मजबूर करता है :

> 'नहीं उठता है तो साले को एक बूट दो—कार्ली की गर्दन पर हाथ लगाते हुए गोरे युवक ने कहा—उठ, साले उठ—हरामज़ादे! 'कार्ली ने प्रतिरोध में बेंच को कसकर पकड़ लिया। कई आदमी मिलकर उसे खींच रहे थे और बर्बरतापूर्वक उस पर प्रहार कर रहे थे। अचानक उसे लगा जैसे किसी ने उसकी आँख पर एक घूँसा लगा दिया है। आँख के पास से खून टपकने लगा। वह अब लड़ेगा। पुलिस कांस्टेबल ने अपने दोनों हाथों से उसकी कलाई पकड़नी चाही और भीड़ में खींचना चाहा। कार्ली भीड़ से जूझता रहा और उसके ऊपर अनगिनत प्रहार होते रहे। सहसा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पिछले दिनों, अगस्त १९७० में दक्षिण अफ्रीका के प्रमुख नाटककार एथोल फ्यूगार्ड को अमरीका जाने के लिए पासपोर्ट देने से महज़ इसलिए इनकार कर दिया गया क्योंकि वह सरकार की दमनकारी नीतियों का समर्थन करने में अपने को असमर्थ पाते थे। फ्यूगार्ड का नाटक 'बोनमैन एण्ड लीना' न्यूयार्क में खेला जाने वाला था और उसका रिहर्सल देखने के लिए उन्हें आमंत्रित किया गया था। इसी प्रकार की घटना दस वर्ष पूर्व 'क्राइ द बिलवेड कंट्री' नामक विख्यात उपन्यास के लेखक एलेन पैटन के साथ भी हो चुकी है।

इन स्थितियों में जबकि लिखने मात्र पर (प्रकाशन की तो बात ही अलग है) प्रतिबन्ध लगा दिया गया हो, उस समय आप यदि अच्छा या बुरा कैसा भी लिख रहे हों तो दक्षिण अफ्रीका में रंगभेद-नीति के विरोध का यह एक तरीका माना जाएगा।[७]

इसीलिए दक्षिण अफ्रीका का लेखन आज पश्चिमी दुनिया के स्थापित मानदण्डों की परवाह न करते हुए अपनी रचनात्मकता के अलग मानदण्ड स्थापित कर रहा है। पश्चिमी दुनिया के सामने अपना 'औचित्य' साबित करने वाली रूढ़ धारणाओं को जब तक वह ध्वस्त नहीं कर देता, वह अपने को स्वतन्त्र एवं विचारवान नहीं साबित कर सकता। 'जहाँ तक सामाजिक जीवन का सम्बन्ध है, पश्चिमी विचार-पद्धति मृत हो चुकी है। वह अब आगे नहीं जा सकती बल्कि एक गोले में ही घूमती रहेगी और और अफ्रीका के बुद्धिजीवी को इसके लिए एक रास्ता बनाना होगा और अपने बारे में सोचना होगा।[८] और जिन लेखकों ने इस दिशा में सोचा है, उनका लेखन सही अर्थों में विरोध का लेखन साबित हुआ है। कुछ लोगों का कहना है कि जहाँ राजनीतिक संभावनाएँ इतनी प्रशंसनीय हैं वहीं साहित्यिक स्तर में गिरावट आई है पर साथ ही यह भी सही है कि 'रंगभेद-नीति की भर्त्सना करने वाले विश्व जनमत ने आलोचकों को उन सारी कृतियों को साहित्यिक मानने को तैयार कर दिया है जिनका राजनीतिक महत्त्व ज़्यादा है। दक्षिण अफ्रीकी साहित्य की उत्कृष्टता का निर्णायक तत्त्व विषय-वस्तु है।'[९]

दिसम्बर, १९६२ में अकरा (घाना) में अफ्रीकावादियों के प्रथम अन्तरराष्ट्रीय कांग्रेस में एज़किएल म्फालेले ने अपना एक लेख पढ़ा था जिसमें कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाए गए थे। उनका विचार था कि केवल शोषित-पीड़ित 'अश्वेत अफ्रीकियों' द्वारा लिखे गए के नाम पर किसी कृतित्त्व की परख नहीं की जा सकती बल्कि उन विशिष्टताओं को इंगित करना ज़्यादा आवश्यक है जो आम लेखन से उसे अलग करती है। और यदि गौर करें तो दक्षिण अफ्रीका के श्वेत एवं अश्वेत लेखकों के बीच स्वयं एक अन्तर दिखलाई पड़ेगा।

ऐसा होना स्वाभाविक भी है। श्वेत एवं अश्वेत लेखक के सोचने के तरीके में, अनुभव के दायरे में अन्तर होगा ही। यह सच है कि अफ्रीका के प्रगतिशील श्वेत लेखक भी रंगभेद-नीति का विरोध करते हैं जिसका उदाहरण एलेन पैटन का 'क्राई द बिलवेड कंट्री' नेदिन गार्डीमर का 'द लेट बुर्जुवा वर्ल्ड' उपन्यास एवं इनकी तमाम कहानियाँ तथा माइकेल पिकार्डी की तमाम रचनाएँ हैं पर एक अश्वेत लेखक जिसके लिए रात में ११ बजे के बाद ज़्हान्सबर्ग में कर्फ्यू लग जाता है, जिसे बिना पास लिए घूमने पर गिरफ्तार कर लिया जाता है, जिसकी जमीन किसी भी समय 'श्वेत क्षेत्र' घोषित करके छीन ली जाती है, जिसे घंटों तक बस स्टॉप पर खड़ा रहना पड़ता है और खाली जाती बसों में बैठने की इच्छा दबाकर उस बस का इन्तज़ार करना पड़ता है जो अश्वेतों के लिए है, जो पार्क की खूबसूरत बेंचों पर नहीं बैठ सकता क्योंकि उस पर 'फॉर ह्वाइट्स ओनली' या 'स्लेग्स वर ब्लैक्स' लिखा रहता है, जिसके सामने पुलिस वाले की लाल आँखें हरदम आग उगलती रहती हैं, जेब में पैसे होने पर भी जो किसी होटल में जाकर चाय नहीं पी सकता क्योंकि वह केवल गोरों के लिए है—उसकी विचार-प्रक्रिया एवं रचना-प्रक्रिया में तथा सारी सुविधाओं का उपभोग करने वाले प्रगतिशील श्वेत लेखकों की रचना-प्रक्रिया में कोई अन्तर न हो, ऐसा हो ही नहीं सकता। म्फालेले यदि कहते हैं कि 'कोई भी स्पष्ट रूप से देख सकता है कि वे (श्वेत लेखक) रंग लाइन के श्वेत वाले हिस्से में हैं क्योंकि उनका तादात्म्य अश्वेत पात्रों की अपेक्षा श्वेत के ज़्यादा निकट है'[१०] या जॉन एफ० पोवॉय का कथन कि 'श्वेत-अश्वेत लेखक एक ही एप्रोच के साथ लिखना शुरू करते हैं लेकिन श्वेत लेखक अधिक अलग-अलग-सा लगता है'[११] या केन्या के कथाकार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जेम्स न्गुगी का खोजकर 'श्वेत घुसपैठिए'[12] कहने के पीछे यही पृष्ठभूमि है।

निस्संदेह अश्वेत लेखक रिचर्ड रॉइव की 'बेंच'[13] कहानी का नायक कार्ली या 'ड्राइव इन'[14] का नायक बिल श्वेत लेखक एलेन पैटन या माइकेल पिकार्डी के नायकों की तुलना में अधिक जुझारू दीखते हैं। पर इसके पीछे श्वेत लेखकों की कोई सुनियोजित योजना हो ऐसा मैं नहीं मानता बल्कि मेरे विचार से यह व्यवस्था-विशेष में रहने वाले लेखक की मजबूरी है। रिचर्ड रॉइव, अलेक्स ला गुमा या अन्य अश्वेत लेखकों ने यदि काली जाति के संगठित होने और गोराशाही के विरुद्ध मुकाबला करने की सम्भावनाओं को ढूँढा है जो श्वेत लेखक एलेन पैटन, फिलिप्स अल्टमॉन, नेदिन गार्डिमर आदि ने भी उन स्थितियों को पूरी ईमानदारी के साथ उभारा है जो गोराशाही के प्रति तीखी नफरत पैदा करती हैं और जिसका सम्यक् प्रभाव कमोवेश वही होता है जो अश्वेत लेखकों की कृतियों का है। इस संदर्भ में एलेन पैटन के पैम्फलेट 'द पीपुल वेप्ट' मात्र का ही उल्लेख कर देना पर्याप्त होगा।

रिचर्ड रॉइव की 'बेंच' कहानी का नायक कार्ली अपने गाँव से किसी कार्यवश कैपटाउन आता है और उसे यहाँ कुछ अजीब बातें देखने को मिलती हैं जिससे वह अभिभूत हो जाता है, मसलन गोराशाही के विरुद्ध खुली सभा जिसमें गोरे और काले साथ-साथ बैठकर रंगभेद-नीति का विरोध करते हैं, उस कानून को चुनौती के रूप में स्वीकार करने की 'ज़िम्मेदारी' का बोध कराते हैं जो 'किसी के ज़िन्दा रहने के अधिकार को छीनता है।' वह देखता है कि सभा-मंच पर उस क्षेत्र का अश्वेत मज़दूर नेता एंजेली एक गोरी महिला को सिगरेट पेश करता है और वह सहर्ष उसे ले लेती है। यह सारी चीज़ें कार्ली ने कभी सपने में भी नहीं सोची थीं। वह अपने अन्दर 'एक तूफान महसूस कर रहा था···एक ऐसा तूफान जिसके बाहर आने के विषय पर उसने पहले कभी नहीं सोचा था।'

शाम को जब वह अपने गाँव जाने के लिए स्टेशन पहुँचता है तब तक उसके अन्दर कई नए विचार घर कर चुके होते हैं। उसे स्टेशन पर एक बेंच दिखलाई देती है जिस पर साफ-साफ अक्षरों में 'केवल गोरों के लिए' लिखा होता है। उसे महसूस होता है कि 'उसके और आदमियत के बीच का रोड़ा यह बेंच ही है...अगर वह बेंच पर नहीं बैठता है तो उसे अपने को आदमी कहने का कोई अधिकार नहीं है। उसके आदमी साबित होने का सारा दारोमदार इस मामूली-सी बेंच पर ही है।' इस मौके का वह लाभ उठाता है और बेंच पर बैठ जाता है। उसकी इस मनोदशा का बड़ा अच्छा चित्रण कथाकार ने किया है :

> 'बेंच पर बैठने के बाद ऊपर से तो वह शान्त दीख रहा था पर उसका दिल बुरी तरह धड़कने लगा। दो विरोधी विचार दिमाग में उथल-पुथल मचा रहे थे। एक आवाज़ कहती—तुम्हें इस बेंच पर नहीं बैठना चाहिए था। पहला विचार उसके अतीत को दिखलाता, खेतों पर उसकी जानलेवा काम की याद दिलाता, उसके पिता की झुकी आकृति सामने लाता और उसके पिता के पिता का इतिहास खोलता जो खच्चर की तरह पैदा हुए, खच्चर की तरह ज़िन्दगी बिताए और खच्चर की तरह ही मर गए। दूसरी आवाज़ में भविष्य के सपने थे—कार्ली, तुम एक आदमी हो। तुमने वह साहस दिखलाया है जो तुम्हारा पिता नहीं दिखला सका। तुमको आदमी की मौत मिलेगी।'

उसने अखबारों में कभी-कभार ऐसी तसवीरें देखी थीं जिनमें आंदोलनों में गिरफ्तार लोग मुस्कराते हुए दिखलाई पड़ते थे और वह इस पहेली को नहीं समझ पाता था। कहानी के अन्त में एक गोरा युवक पुलिस की मदद लेता है और कार्ली को बेंच पर से उठने को मजबूर करता है :

> 'नहीं उठता है तो साले को एक बूट दो—कार्ली की गर्दन पर हाथ लगाते हुए गोरे युवक ने कहा—उठ, साले उठ—हरामज़ादे! 'कार्ली ने प्रतिरोध में बेंच को कसकर पकड़ लिया। कई आदमी मिलकर उसे खींच रहे थे और बर्बरतापूर्वक उस पर प्रहार कर रहे थे। अचानक उसे लगा जैसे किसी ने उसकी आँख पर एक घूँसा लगा दिया है। आँख के पास से खून टपकने लगा। वह अब लड़ेगा। पुलिस कांस्टेबल ने अपने दोनों हाथों से उसकी कलाई पकड़नी चाही और भीड़ में खींचना चाहा। कार्ली भीड़ से जूझता रहा और उसके ऊपर अनगिनत प्रहार होते रहे। सहसा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह ढीला पड़ गया। लड़ना व्यर्थ है—उसने सोचा। हाँ, अब उसकी बारी है मुस्कराने की—वही मुस्कराहट जो अखबारों में छपी तस्वीरों के चेहरों पर थी। उसने चुनौती दी और विजय महसूस की, परिणाम की किसको परवाह है!

'इधर आ साले—पुलिस वाले ने भीड़ के बीच से उसे खींचते हुए कहा।

'हाँ, हाँ शौक से—कार्ली ने पहली बार अपनी ज़बान खोली और पुलिस वाले की तरफ उस गुस्ताख़ की नज़रों से देखा, जिसने गोरों की बेंच पर बैठने की हिमाक़त की थी।'

रिचर्ड रॉइव की यह विशेषता है कि वह एक छोटी घटना से या एक-दो चरित्रों के माध्यम से समूचे उद्देश्य एवं भावनाओं की पर्त-दर-पर्त खोलते जाते हैं। अपने पहले उपन्यास 'इमरजेंसी'[१५] में उन्होंने बड़ी कुशलता से उस सामाजिक एवं नस्ली पृष्ठभूमि का चित्रण किया है जिसमें पलकर केपटाउन का एक अश्वेत लड़का ऐण्ड्रयू ड्रेयर बड़ा होता है। किस प्रकार वह डिस्ट्रिक्ट सिक्स की घरेलू तू-तू मैं-मैं और कलह आदि से किनारा करता हुआ विश्वविद्यालय तक की पढ़ाई पूरी करता है और रंगभेद-नीति विरोधी आंदोलन का संचालन करता है—इसका बड़ा सटीक चित्रण उपन्यास में मिलता है। ड्रेयर एण्ड्रयू तथा एक श्वेत लड़की रूथ के प्रेम को लेकर कहानी चलती है और इसी के साथ तमाम घटनाओं का तारतम्य जुड़ा रहता है। एण्ड्रयू का चरित्र बहुत कुछ 'ड्राइव इन' के नायक बिल से मेल खाता है। दोनों चौबीसों घंटे राजनीति की ही दुनिया में जीते हैं। दोनों किसी-न-किसी रूप में इसे मानते हैं कि 'कभी-कभी आदमी को खतरे उठाने पड़ते हैं। आज़ादी कोई प्लेट में परोस कर नहीं दे जाता।'[१६] बिल तो कभी-कभी ज़्यादा तीखा भी हो उठता है। दल में काम करने वाली श्वेत लड़की वाल्दा की अपने प्रति अतिरिक्त सहानुभूति देखकर वह उससे कहता है कि 'मुझे लगता है कि तुम रंग के बारे में ज़रूरत से ज़्यादा उदारता बरतने की कोशिश करती हो। यह एक तरह की उल्टी रंगभेद नीति है।'[१७] 'इमरजेंसी' के अति राजनीतिक संवाद कहीं-कहीं पाठक को उसी प्रकार उबारने लगते हैं जिस प्रकार म्फालेले की कहानियाँ जिनकी गति असाधारण रूप से धीमी रहती है।

हाँ, म्फालेले का आत्मकथात्मक उपन्यास 'डाउन सेकंड एवेन्यू'[१८] धीमी गति के बावजूद दिलचस्प और विचारोत्तेजक है। अफ्रीका में होने वाली दो आम घटनाओं का ज़िक्र इसमें शामिल है। नकली देशी शराब बेचने वाले दूकानों की तलाश में पुलिस द्वारा आम गिरफ्तारी और एक नीग्रो जिले का अनिवार्य रूप से खाली कराना और इसे खाली कराने में पुलिस की गोली से कुछ बच्चों का मर जाना। आत्मकथात्मक शैली में लिखे गए उपन्यासों में ब्लोक मोदिसेन का 'ब्लेम मी ऑन हिस्ट्री' तथा 'ट्रेजर ट्रायल' के एक अन्य अभियुक्त अल्फ्रेड हचिसन का 'रोड टू घाना' भी दक्षिण अफ्रीका की यातनापूर्ण ज़िन्दगी का चित्र प्रस्तुत करता है।

विषय और शिल्प, दोनों की दृष्टि से अलेक्स ला गुमा की कहानियाँ और उनके तीनों उपन्यास 'ए वाक इन द नाइट', 'एण्ड ए थ्री-फोल्ड कॉर्ड', और 'द स्टोन कंट्री' बेजोड़ हैं। पहले दोनों उपन्यासों में डिस्ट्रिक्ट सिक्स के लोगों की स्लम-ज़िन्दगी का, उनकी दिनचर्या का तथा उनकी आम मुसीबतों का जितनी आत्मीयता से वर्णन किया गया है वह बहुत कम देखने को मिलता है। अलेक्स ला गुमा को डिस्ट्रिक्ट सिक्स के लोगों से बेहद प्यार है, उन्होंने उन बच्चों को देखा है जिनकी 'आँखों में गरीबी का भरा तैरता है,' जिनके मकान के चारों तरफ 'पाखानों और पेशाबों की गंध भरी रहती है' और जिनकी सारी बरसात सीलन-भरे कमरे की टपकती हुई छाजन को जोड़ने में बीत जाती है। अलेक्स ला गुमा का एक नायक चार्ली एक दिन अपनी प्रेमिका को बुलाने उसके श्वेत मालिक के मकान पर जाता है जहाँ वह चौका-बरतन करती है। उस मकान को देखकर वह दंग रह जाता है और अपने पड़ोसी से उस मकान का वर्णन करता है: 'सुनो, सुनो चचा बेन, मैं एक बार फ्रेदा को देखने उसके मालिक के मकान पर गया। उसका मकान! इतना बड़ा मकान था जैसे शहर का टाउन हॉल हो और वहाँ एक बूढ़ी कुतिया थी जिसके भूरे बाल थे और मोटे चूतड़ थे। उसका मर्द तो मील भर लंबी मेज़ पर बैठ कर खाना खा रहा था और उस मेज़ पर, बाप रे बाप, कितना सामान रखा था। मेरी तो वाज़े को छूने तक की हिम्मत नहीं हुई। चमचमाती मेज पर दुनिया-भर का गोश्त और कबाब रखा था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेकिन जब वह कहता कि, 'मेरा दोस्त कहता था अगर दुनिया की सारी चीज़ें सब लोगों में बराबर बाँट दी जाएँ तो कोई परेशानहाल न रहे,' तब चचा बेन उसे रोक देते हैं, 'नहीं बेटे, बाइबिल में लिखा है कि दूसरे की चीज़ पाने की इच्छा न करो।'[२०] वही चार्ली जब बारिश में दिन-रात अपनी छत दुरुस्त करता रहता है तो बड़बड़ाता है, 'क्या मज़ाक है ! यहाँ लाखों लोग ऐसे हैं जो अपनी छत ही दुरुस्त करते रह जाते हैं और न जाने कितने साले ऐसे हैं जिनके रहने के लिए आलीशान मकान बना है...वैसा ही मकान जिसमें फ्रेदा काम करने जाती है।'[२१] अलेक्स ला गुमा के पात्र संघर्ष में पलते हुए थकते नहीं बल्कि संघर्ष उन्हें और तपा देता है और वे ज़िंदगी को खुशहाल बनाने की दिशा में किसी मौलिक बदलाव की बात सोचते हैं।

इसके विपरीत एलेन पैटन, माइकेल पिकार्डी, नेदिन गार्डिमर या फिलिप्स अल्टमॉन जैसे श्वेत लेखकों के अश्वेत पात्र हमेशा बेचारगी की स्थिति में ही दिखलाई पड़ते हैं। रंगभेद-नीति के कारण गोरों द्वारा किए अत्याचारों के प्रति उनकी विवश सहनशीलता उनके प्रति सहानुभूति पैदा करती है। इनका एप्रोच भी बड़ा आदर्शवादी है। 'क्राइ द बिलवेड कंट्री' का जुलू पादरी अपने भटके हुए लड़के की तलाश में जान्सबर्ग की खाक छानता है और उसे एक श्वेत व्यक्ति की हत्या के जुर्म में बंद पाता है। व्यग्र पादरी कुमालों को तभी शांति मिलती है जब वह मृत व्यक्ति के पिता के साथ रहने लगता है। सम्पूर्ण कथानक दहला देने वाला है। लगभग पच्चीस वर्ष पूर्व (१९४४ में यह उपन्यास पहली बार प्रकाशित हुआ था) फादर कुमालो द्वारा व्यक्त की गई धारणा कि 'एक दिन जब वे (श्वेत) हमें प्यार करने के लिए विवश होंगे तब तक हमारे भीतर भारी मात्रा में उनके लिए घृणा इकट्ठी हो गई रहेगी,'[२२] कितनी सच लगती है।

एलेन पैटन की एक अन्य कहानी 'ए ड्रिंक इन द पैसेज'[२३] का नायक अश्वेत शिल्पी है जिसकी एक मूर्ति 'माँ और शिशु' से अभिभूत हो कर एक श्वेत युवक उसे अपने घर ले जाता है और शराब पिलाता है। शराब पीते समय युवक उसकी प्रशंसा करता रहता है और शिल्पी भयभीत रहता है कि कहीं किसी तरफ से पुलिस आकर गोरों की बिल्डिंग में उसकी मौजूदगी पर उसे गिरफ्तार न कर ले। अन्त में वह श्वेत युवक उसे अपनी कार में स्टेशन तक छोड़ आता है और कुछ कहना चाहता है पर कह नहीं पाता। लेकिन शिल्पी की समझ में सारी बात आ जाती है :

'हाँ, मैं उसका मकसद समझ गया था। मैं समझ गया कि वह भी मुझे छूना चाहता है लेकिन यह मुमकिन नहीं था क्योंकि सदियों के अंधेरे ने उसे अन्धा बना दिया था। यह एक दयनीय स्थिति थी क्योंकि दो व्यक्ति यदि एक-दूसरे को छू नहीं सकते तो तय है कि वे एक-दूसरे पर किसी-न-किसी दिन ज़रूर प्रहार करेंगे। वह छू नहीं सकता था क्योंकि गोरा आदमी कभी काले को छू नहीं सकता। अगर छू भी ले तो दुर्घटनावश—उन्हीं हालातों में जब कोई 'माँ और शिशु' जैसी कृति बनावे।

'तुम क्या सोच रहे हो ?'—उसने पूछा।

'बहुत कुछ—मेरे इस जवाब से वह उदास, पराजित और थका-थका-सा दिखने लगा। स्टेशन का फाटक आ गया था, उसने कार रोकी...मैंने शुक्रिया अदा की और उतर गया। वह क्या सोच रहा था यह मैं नहीं कह सकता। हाँ, मैं यह ज़रूर सोच रहा था कि लोहे के जूते पहनकर वह दौड़ में भाग ले रहा है पर यह नहीं समझ पा रहा है कि कौन-सी चीज़ उसके दौड़ने में रुकावट डाल रही है।'[२४]

श्वेत क्षेत्र में बिना स्पेशल पास के पाए जाने पर कोई भी अश्वेत व्यक्ति पुलिस से बच नहीं सकता भले ही वह किसी श्वेत व्यक्ति का मेहमान ही क्यों न हो। मुकदमा चलता है और सज़ा मिलती है। इसके अलावा पुलिस उसकी भरपूर पिटाई भी करती है और वह नीग्रो या 'निग्गर' या 'काफ्फिर' डर के मारे जज से कुछ कह भी नहीं पाता। माइकेल पिकार्डी का पात्र एमोस अपने ही देश में किस यातना का अनुभव करता है :

'कचहरी के बरामदे में एमोस मौजूद था। मार्था ने पिछले तीन दिनों से—गिरफ्तारी की रात से ही उसे नहीं देखा था...एमोस के होंठ सूजे और फटे हुए थे। माथे पर गहरा काला दाग पड़ा था।

'उन्होंने तुमको पीटा भी ?'—मार्था ने पूछा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'हाँ—उसने जवाब दिया—मैं चाहता था कि जज साहब को बतलाऊँ पर हिम्मत न पड़ी।'

'क्यों ?'—उसकी आँखें भर आई थीं।

'मैं बेहद डरा हुआ था।'

मार्था की तबियत हुई कि वह खूब तेज आवाज़ में चीखे, उसके कंधों को थपथपाए, होठों पर के घावों पर अपने होंठ रख कर सारा दर्द खींच ले पर वह कुछ कर न सकी।'[२५]

दक्षिण अफ्रीका के श्वेत लेखकों की ऐसी तमाम कहानियाँ भी हैं जिनमें रंगभेद-नीति का कोई संदर्भ नहीं है पर उनका मूल स्वर यही है क्योंकि पिछले कई वर्षों की गोराशाही ने जिस सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था का जन्म दिया है तथा उसमें पले लोगों का चित्रण जिस रूप में भी किया गया है उन्हें आप रंगभेद-नीति के प्रभाव से कैसे अछूता मान सकते हैं !

सहारा के दक्षिण और जांबेसी नदी के तट तक फैले भाग में अफ्रीका के उन देशों का काफी बड़ा हिस्सा आ जाता है जहाँ या तो स्वतंत्रता मिल चुकी है या स्वतंत्रता के लिए मुक्ति-संघर्ष चल रहे हैं या प्रत्यक्षतः साम्राज्यवाद तो समाप्त हो चला है पर नव उपनिवेशवाद के चंगुल में देश छटपटा रहा है। उन देशों में जनता की आंकाक्षाओं का हनन अपनी ही सरकार द्वारा हो रहा है क्योंकि विदेशी शासक तो चले गए पर सत्ता की बागडोर राष्ट्रीय पूँजीपतियों के हाथ में आ गई। इस संदर्भ में केन्या एक ज्वलंत उदाहरण है। किसी जमाने में महान क्रांतिकारी समझे जाने वाले जोमो केन्याटा के प्रशासन ने वहाँ किस हद तक असमानता, भ्रष्टाचार, पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था का जन्म दिया है तथा अपने राजनीतिक विरोधियों (उदाहरण के लिए ओजिगा ओडिंगा) को अन्यायपूर्ण ढंग से जेल में बंद कर दिया है यह दृष्टव्य है। नाइजीरिया का गृहयुद्ध हम पिछले दिनों देख ही चुके हैं। घाना में एक के बाद एक विदोहों की श्रृंखला भी किसी से छिपी नहीं है। तंजानिया जैसे गिने-चुने देशों को छोड़ कर सब की हालत कमोबेश ऐसी ही है।

इसलिए पश्चिमी, पूर्वी या मध्य अफ्रीका के उपन्यासकारों की थीम साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद एवं नव-उपनिवेशवाद विरोधी है। दक्षिण अफ्रीका के साहित्य में रंगभेद-नीति-विरोधी तथा अफ्रीका के अन्य हिस्सों के साहित्य में साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद-विरोधी तत्त्व अफ्रीका की सामाजिक एवं ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की ही उपज हैं।

जेम्स न्गुगी, शीनुआ एशेब, वोल सोयिन्का, शाहप्रयन एक्वेन्सी, मांगो बेती, फेरदिंद ऑयोनो, अमा अता आइडू आदि के उपन्यासों या कहानियों में दक्षिण अफ्रीकी लेखकों के मुकाबले एक स्पष्ट अन्तर देखा जा सकता है। 'दक्षिण अफ्रीकी लेखक जहाँ यह सोचता है कि सरकार बदल जाने से स्थितियाँ बेहतर हो सकती हैं, नाइजीरिया का लेखक ऐसा नहीं सोचता। उसकी आलोचना किसी पार्टी-विशेष को लक्ष्य करके नहीं है बल्कि देश के समूचे राजनीतिक एवं सामाजिक ढाँचे पर तीखा प्रहार है। सरकार की भर्त्सना करने के बजाय वे भ्रष्ट करने वाली भावनाओं यथा घूसखोरी, भ्रष्टाचार, पद-लोलुपता, हिंसा आदि की भर्त्सना करते हैं।'[२६]

शीनुआ एशेब का उपन्यास 'ए मैन आफ द पीपुल',[२७] १९६६ में प्रकाशित हुआ और उपन्यास के प्रकाशन के एक माह बाद ही नाइजीरिया में पहली सैनिक क्रांति हुई। ऐशब को इस विस्फोट का पूर्वाभ्यास हो चुका था। उक्त उपन्यास स्वतन्त्रता के बाद देश में फैले भ्रष्टाचार की विस्फोटक स्थिति का जिस व्यंगात्मक लहजे में पर्दाफाश करता है उसे पढ़ कर यह स्पष्ट हो जाता है कि आज़ादी के बाद जिन लोगों ने सत्ता संभाली वे जनता के आदमी (ए मैन आफ द पीपुल) नहीं थे बल्कि भूतपूर्व शासकों के ही आदमी (व्हाइट मैन्स् पीपुल) थे। उपन्यास का नायक ओडिली और एक प्रमुख पात्र राजनीतिक नेता चीफ नांगा के चरित्र के माध्यम से मौजूदा राजनीतिक स्थिति पर तीखा व्यंग्य किया गया है। व्यक्तिगत प्रतिशोध की भावना से प्रेरित हो कर युवा ओडिली राजनीति के क्षेत्र में घुसता है और वह प्रारम्भ में काफी वामपंथी विचारों वाला लगता है पर बाद में पता चलता है कि चीफ नांगा और कोको से वह किसी माने में कम नहीं है। हाँ, चीफ नांगा के मुकाबले धूर्तता, घूसखोरी आदि के तरीकों में वह चालाकी नहीं बरत सका। सम्पूर्ण उपन्यास की कथा का वर्णन ओडिली करता है।

एशेब के दूसरे उपन्यास 'नो लांगर ऐट ईज़' [२८] के एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजनीतिक नेता साम की दुनिया भी अजीब ही है। वह बतलाता है कि 'मेरे पास सहायक के रूप में एक नाइजीरियन था पर वह बड़ा इडियट था। उसका सर ऐसा फूला रहता था जैसे कोई सिपाही हो क्योंकि वह आइव्दन का पढ़ा हुआ था। अब मेरा सहायक एक गोरा व्यक्ति है, उसकी शिक्षा-दीक्षा भी ऑक्सफोर्ड में हुई है और वह मुझे 'सर' कहता है।...अपने देश के लोगों को अभी बहुत-कुछ सीखना है।' साइप्रयन एक्वेंसी के उपन्यास "ब्यूटीफुल फीदर्स'[२९] का पात्र जैकोब, टी० एम० आकुल्को के 'वन मैन, वन मैचेट'[३०] का पात्र बैंजामिन या 'किन्समैन एण्ड फोरमैन'[३१] का नायक—इन सबके माध्यम से नाइजीरिया का वही चित्र उभरता है जिसकी आज़ादी के पूर्व कभी किसी ने कल्पना भी नहीं की थी।

यूरोपीय साहित्य के पाठकों को इन उपन्यासों में शायद वह स्वाद न मिले जिसके वे आदी हो चुके हैं पर जैसा कि शीनुआ एशेब ने कहा है, 'यूरोपीय लेखकों के विपरीत अफ्रीकी लेखक अपने समाज के लोगों की आकांक्षाओं के विरुद्ध विद्रोह की स्थिति में नहीं है। जनता को पुनर्शिक्षित और पुनर्जाग्रत करने के दायित्व से लेखक छुटकारा नहीं पा सकता और उसे यह करना ही होगा। वस्तुतः इसके लिए उसे मोर्चे की पहली कतार में होना चाहिए क्योंकि चाहे कुछ भी हो वह अपने वर्ग का एक संवेदनशील प्राणी है।'[३२]

सामाजिक दायित्व की यही भावना केन्या के युवा लेखक जेम्स न्गुगी के उपन्यासों में भी देखी जा सकती है। न्गुगी के विचार से व्यापक या विश्वजनीन मूल्यों का कोई अर्थ नहीं है। यदि कहीं व्यापक मूल्य हैं तो वे सामाजिक यथार्थ के चौखटे के भीतर ही हैं।[33] एक अन्य अफ्रीकी आलोचक के अनुसार 'एक पूर्वी अफ्रीकी लेखक निर्वात (वैकुअम) में नहीं जीता है जहाँ से वह एकदम 'निस्संग' हो कर ऐसी रचना कर सके जो उसके समाज-विशेष की न हो कर आम मानवता के लिए हो। वह जिस समाज में रहता है उसके बारे में लिखते समय उसके विचारों से प्रभावित होने के लिए वह विवश है।'[३४] जेम्स न्गुगी के तीनों उपन्यास 'वीप नाट चाइल्ड', 'द रीवर बिट्वीन' और 'ए ग्रेन आफ व्हीट'[३५] में गुलाम केन्या का, माउ माउ संघर्ष काल के केन्या का, दो संस्कृतियों की चक्की में पिसते केन्या का विविध रूप हमें दिखलाई पड़ता है।

'वीप नाट चाइल्ड' में माउ माउ आंदोलन काल के केन्या का चित्रण मिलता है। संभवतः इस आन्दोलन का उनके दिमाग पर बड़ा गहरा प्रभाव था। वह स्वयं उस दौर से गुजरे थे और उन्होंने महसूस किया था कि निरंतर गोलियों और बारूदों के बीच सात वर्ष कैसे बीते थे। अपने इस उपन्यास में उन्होंने मृत लोगों के प्रति—चाहे वे यूरोपीय हों या अफ्रीकी—गहरा शोक व्यक्त किया है। कुछ आलोचकों ने इस उपन्यास को पढ़ कर तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त की और कहा कि यह सर्वथा अप्रतिबद्ध लेखन है, महज़ एक विवरण है जैसा इतिहास की पुस्तकों में मिलता है। लेकिन क्या इस उपन्यास में माउ माउ की निरर्थकता और उसका गंदा हिंसात्मक रूप ही उभरता है? मेरे विचार से ऐसा नहीं है। माउ माउ आंदोलन एक ऐसी व्यवस्था को नष्ट करने के लिए शुरू हुआ था जो अन्याय एवं शोषण की नींव पर खड़ी थी। इस दृष्टि से माउ माउ आंदोलन अफ्रीका के परिप्रेक्ष्य में एक अनिवार्यता थी और लेखक ने इससे कहीं भी इनकार नहीं किया है। यह आंदोलन उपनिवेशवादी व्यवस्था को खत्म करने के लिए था। इसलिए मूल में गड़बड़ी आन्दोलन की नहीं है बल्कि व्यवस्था की है। उपन्यास में लेखक कहीं-कहीं अधिक भावुक हो गया है और यही उपन्यास की खामी है।

पर न्गुगी का तीसरा उपन्यास 'ए ग्रेन आफ व्हीट' असाधारण रूप से सुंदर है। इसे डेकर फेस्टीवल में महत्त्वपूर्ण साहित्यिक पुरस्कार भी प्राप्त हो चुका है। उपन्यास का कथानक १९६३ के केन्या के स्वतन्त्रता दिवस समारोह से शुरू होता है। बीच-बीच में फ्लैश-बैक के सहारे १९५० के आसपास के गिकुयू विद्रोह की झलक भी दिखलाई पड़ती है। उपन्यास में ऐसे कई अपराधियों का चरित्र उभरता है जो आंदोलन के दिनों में उपनिवेशवादियों का छिपे तौर पर साथ दे रहे थे क्योंकि उन्हें उपनिवेशवादियों की पराजय पर विश्वास नहीं था। बावजूद इसके, स्वतंत्रता दिवस समारोह में वे जनता का सत्कार पा रहे हैं। साधारण नागरिक, जिसने आज़ादी की लड़ाई में निष्ठा से भाग लिया था उसकी कहीं पूछ नहीं है और नकली नेतागण सम्मान लूट रहे हैं। एशेब के उपन्यास 'ए मैन आफ द पीपुल' में भी ओडिली

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आश्चर्य व्यक्त करता है कि घूसखोरी भ्रष्टाचार और अन्याय को दूर किए बिना समाज अपनी शिथिलता से कैसे मुक्ति पा सकता है ? न्गुगी का विचार है कि जब तक प्रत्येक व्यक्ति तथा राष्ट्र अपनी गैर-ईमानदारी से सीधे-सीधे साक्षात्कार करने के लिए तैयार नहीं होंगे तब तक यह आजादी एकदम अपर्याप्त है ।

वोल सोयिन्का का 'द इण्टरप्रेटर्स,' गैब्रियल ओकारा का 'द वायस', न्गुगी का 'ए ग्रेन ऑफ व्हीट', साइप्रयन एक्वेन्सी का 'जगुआ नाना' और 'ब्यूटीफुल फीदर्स', शीनुआ एशेब का 'ए मैन ऑफ द पीपुल' आदि ऐसे उपन्यास हैं जिन्होंने तथाकथित स्वतंत्रता के सामने एक प्रश्नचिह्न लगा दिया है और लोगों के दिमाग में आज़ादी का सही अर्थ स्पष्ट होने लगता है ।

जेम्स न्गुगी इस तथ्य को अच्छी तरह समझते हैं कि 'उपनिवेशवादी को जब पता चलता है कि उसका खेल समाप्त हो रहा है तो वह तत्काल राष्ट्रवादी ताकतों के साथ समझौता करके उन्हें आजादी दे देता है लेकिन किसान-मजदूर, जो संघर्ष के सही आधार हैं, उनके लिए यह असली आज़ादी नहीं हुई बल्कि यह एक अहसास हुआ कि उनका शोषण अभी जारी रहेगा और इसके लिए नए सिरे से संघर्ष की आवश्यकता है ।'[३६]

अफ्रीका का लेखक आज उसी संघर्ष के लिए विचार धारात्मक आधार तैयार करने में संलग्न है ।

टिप्पणियाँ

१. एनकाउंटर, अगस्त, १९६३, पृष्ठ १५ ।
२. ट्रेण्ड्स इन प्रेजेंट डे अफ्रीकन राइटिंग—एज़किएल म्फालेले, यूनेस्को कूरियर जून, १९६७ ।
३. 'ट्वेल्व इयर्स !' इट्स नथिंग ! —मेरी बेन्सन, साउथ अफ्रीकन राइटिंग टु डे, पेंग्विन ।
४. 'ए वाक इन द नाइट'—अलेक्स ला गुमा, अफ्रीकन राइटिंग सिरीज, हाइनमन, लंदन ।
५. 'एण्ड ए थ्री फोल्ड कार्ड'—अलेक्स ला गुमा, सेवन सीज़, बर्लिन ।
६. 'द स्टोन कंट्री'—अलेक्स ला गुमा, सेवन सीज़, बर्लिन ।
७. 'प्रोटेस्ट अगेन्स्ट अपार्थीड—डेनिस ब्रूटस । प्रोटेस्ट एण्ड कांफ्लिक्ट इन अफ्रीकन लिटरेचर, लन्दन ।
८. 'अफ्रीका—द डाइनेमिक्स आफ चेंज' में एडवर्ड शिल का एक लेख ।
९. 'द पोलिटिकल थीम इन साउथ एण्ड वैस्ट अफ्रीकन नावेल्स,' —जान एफ० पोवाय
१०. 'ट्रेण्ड्स इन प्रेजेन्ट डे अफ्रीकन राइटिंग'—एजकिएल म्फालेले
११. 'द पोलिटिकल थीम इन साउथ एण्ड वैस्ट अफ्रीकन नोवेल्स'-जान एफ० पोवॉय
१२. 'द न्यू अफ्रीकन' (लन्दन) नं० ५३, नवंबर १९६९ ।
१३. 'अफ्रीकन सांग—रिचर्ड राइव, सेवन सीज़, बर्लिन ।
१४. वही ।
१५. 'इमरजेंसी'(उपन्यास),रिचर्ड राइव, फेबर एण्ड फेबर, लन्दन
१६. 'ड्राइव इन' (अफ्रीकन सांग, रिचर्ड,राइव, सेवन सीज़ बर्लिन
१७. वही ।
१८. 'डाउन सेकंड एवेन्यू', एज़किएल म्फालेले, सेवन सीज़ बर्लिन
१९. 'एण्ड ए थ्री फोल्ड कार्ड,—पृष्ठ ८३
२० वही, पृष्ठ ८३
२१. वही, पृष्ठ ८९
२२. 'क्राइ द बिलवेड कंट्री'—एलेन पैटन, पृष्ठ २३५ (पेंग्विन)
२३. 'ए ड्रिंक इन द पैसेज— एलेन पैटन ('कम बैक अफ्रीका इन्टरनेशनल पब्लिशर्स, न्यूयार्क)
२४. 'ए ड्रिंक इन द पैसेज'
२५. 'आइ हैड ए ब्लैक मैन' माइकेल पिकार्डी (कम बैक अफ्रीका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२६. जान एफ० पोवॉय (द पोलिटिकल थीम इन साउथ एण्ड वैस्ट अफ्रीकन नावेल्स)

२७. 'ए मैन आफ द पीपुल'—शीनुआ एशेव, अफ्रीकन राइटिंग सिरीज़, हाइनमन, लन्दन।

२८. 'नो लांगर एट ईज़'—शीनुआ एशेव, अफ्रीकन राइटिंग सिरीज़, हाइनमन, लन्दन।

२९. 'ब्यूटीफुल फीदर्स—साइप्रयन एक्वेंसी, म्बारी पब्लिकेशन्स, नाइजीरिया।

३०. अफ्रीकन राइटिंग सिरीज़, हाइनमन, लन्दन

३१. वही।

३२. 'नावलिस्ट ऐज़ टीचर'—शीनुआ एशेव द्वारा १९६४ में लीड्स में आयोजित राष्ट्रमंडलीय लेखक सम्मेलन में पढ़ा गया लेख।

३३. जेम्स न्गुगी का इन्टरव्यू, कल्चरल इवंट्स इन अफ्रीका बुलेटिन, लन्दन। नं० ३१।

३४. पीटर नाज़ारेथ, उगांडा, ट्रांजिशन—२४, पृष्ठ ६।

३५. अफ्रीकन राइटिंग सिरीज़, हाइनमन, लन्दन से तीनों प्रकाशित

३६. कल्चरल इवंट्स इन अफ्रीका, बुलेटिनलन्दन, नं० ३१।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्रांतिकारी स्वच्छंदतावाद

विली थामसन

इस शताब्दी के गत चतुर्थांश के दौरान, विश्वसाम्राज्यवाद के ढाँचे पर अनेकानेक संकट आये हैं। न केवल एक बहुत बड़ा भौगोलिक क्षेत्र और असंख्य आबादी साम्राज्यवादी परिधि-कथा से पूर्णतया निकल कर समाजवादी गुट में शामिल हुई है, अपितु, औद्योगिक राज्यों और अतिशोषित 'तृतीय-विश्व'—दोनों में, जहाँ साम्राज्यवादियों का नियंत्रण आज भी है; उनके शासन का तथा उस शासन को चलाने के उनके अधिकार का अस्वीकार उस बड़े पैमाने पर बढ़ा है, जो द्वितीय विश्व-युद्ध से पूर्व अनजाना था। पहले के निष्क्रियवर्ग और स्तर, चाहे वे औपनिवेशिक किसान हों, या अमरीकी नीग्रो हों या संयुक्त राज्य अमरीका और पश्चिमी यूरोप के छात्र हों, एक दृढ़ और सोद्देश्य ढंग से, संघर्ष में शामिल हो गये हैं।

इसके साथ ही, क्रांतिकारी खेमे में भी बहुत ही सार्थक परिवर्तन घटित हुए हैं। १९४० से पहले, विश्वक्रांतिकारी आंदोलन अपने संपूर्ण उद्देश्यों और अभिप्रायों के लिए साम्यवादी-अंतर्राष्ट्रीय (कम्यूनिस्ट इंटरनेशनल) का पर्याय और एक इकाई के रूप में समझा जा सकता था। १९५० से, राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन के उदय और समाजवाद के साथ इसके विविध प्रकार के संबंधों से, शीतयुद्धीय हिम-युग के पश्चात् संयुक्त राज्य और पश्चिमी यूरोप में क्रांतिकारी चेतना की एक नयी स्थिति में नवीकृत अभिवृद्धि से, और विभिन्न समाजवादी दलों तथा विभिन्न समाजवादी राज्यों के बीच खुलेआम अभिव्यक्त असहमति और मत-भेदों से, क्रांतिकारी प्रवृत्तियों में एक महत्त्वपूर्ण वैविध्य आया है।

इन प्रक्रियाओं के विकास ने, पुनः एक प्रकार का राजनीतिक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है, जिसे सुविधा-हेतु 'क्रांतिकारी स्वच्छंदतावाद' कहा जा सकता है। यह किसी एक विशिष्ट राजनीतिक विचारधारा के आधार पर व्याख्यायित नहीं किया जा सकता, क्योंकि, यह न केवल विविध अपितु अंतर्विरोधी सिद्धान्तों को भी अपने अंतर्गत समायोजित करके चल रहा है। क्रांतिकारी स्वच्छंदतावाद के बहुत से प्रकारों में प्राप्य जो समान-विशिष्टता है उसका संबंध नीति से कम क्रांति और राजनीति के प्रति पद्धति या रवैये से अधिक है। वर्तमान काल में, यह, मूल क्रांतिकारी शक्ति के रूप में, श्रमिक वर्ग की भूमिका, मार्क्सवादी दलों और समाजवादी राज्यों की प्रकृति और प्रभावशाली, क्रांतिकारी सिद्धान्त के रूप में मार्क्सवाद के मूल्यांकन पर टिका है।

यदि हम क्रांतिकारी स्वच्छंदतावाद के कुछ पहलुओं के प्रतिनिधि के रूप में, कुछ लेखकों और प्रचारकों की यहाँ निवेचना कर रहे हैं, तो सिर्फ इसीलिये कि वे प्रस्तुत प्रवृत्ति के सर्वाधिक सुसंगत, और मुखर प्रवक्ता हैं। इससे यह नहीं समझा जाना चाहिये कि उल्लिखित प्रवृत्तियों-'काली शक्ति' के अपवाद को छोड़ कर—का कोई निश्चित संगठनात्मक स्वरूप है या त्रात्स्कीवाद की तरह, किसी के पास एक राजनीतिक आंदोलन का आधार है।

"कोई समझौता नहीं"

जो नारा क्रांतिकारी स्वच्छंदतावाद की बहुविध-विषयवस्तुओं के समाहार के सर्वाधिक निकट है वह है—"कोई समझौता नहीं"—अपने दोनों गतार्थों में—कि वर्ग-शत्रु के प्रति किसी भी प्रकार का अस्थायी सुलहनामा या छूट नहीं; और कि, प्रतिकूल परिस्थितियों में जीवित रहने के लिये क्रांतिकारी सिद्धान्तों की शुद्धता के संदर्भ में भी कोई समझौता नहीं।

स्वच्छंदतावादी क्रांतिकारियों की राय में वर्तमान क्रांतिकारी आंदोलन और श्रमिक संगठन पर्याप्त गतिशील नहीं हैं; वे खट्टे और अपभ्रष्ट हो गए हैं, वे साव-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धानियों और समझौतों के कारण वृद्ध हो गये हैं; उनमें सैद्धान्तिक क्षमता नहीं रही अथवा अमानवीय और निर्दय नौकरशाहियों के समाज में भी, अमूर्त्त-सैद्धान्तिक-मान्यताओं के लिये वास्तविक मानव-संबंधों की निष्ठुरता से बलि देने वाले हो गए हैं। क्रांतिकारी स्वच्छंदतावादी इस प्रकार महसूस करता है कि नाटकीय उपलब्धियाँ किन्हीं भी परिस्थितियों में संभव हैं, और, कि, सिर्फ अतिरिक्त सावधानी और बुज़दिली ही किसी भी चमत्कारिक क्रांतिकारी प्रगति के मार्ग में बाधक हैं; जबकि वे प्रायः यह आशा करते हैं कि क्रांति के बाद समाज भटकाव रहित सीधी रेखा में आगे बढ़ता हुआ निकट भविष्य में ही पूर्ण साम्यवाद की अवस्था प्राप्त कर लेगा।

किंतु ऐसा सदा नहीं संभव नहीं हो पाया। रूसी क्रांति के एकदम बाद के समय में क्रांतिकारी स्वच्छंदतावाद की एक बहुत ही सशक्त धारा ने अंतर्राष्ट्रीय साम्यवादी आंदोलन के भीतर स्थान प्राप्त कर लिया। जब लेनिन ने अपनी पुस्तक 'वाम-पक्षीय साम्यवाद' लिखी तब उनके दिमाग में संगठित रूप से काम करने वाले विघटनकारी कठमुल्ले नहीं थे अपितु ऐसे आदमी थे जिनके रणनैतिक विवेक पर उनका रागात्मक सम्मान हावी था।

फिर भी, तब से, अविश्वसनीय रूप से कठिन परिस्थितियों में भी प्रथम समाजवादी राज्यों का आविर्भाव हुआ और उनका अस्तित्व सुरक्षित रहा जब कि प्रतिक्रियावादी शक्तियों की ओर से भीषण प्रत्याक्रमण होता रहा जो अपप्रचार और आतंक के सूक्ष्मतम तरीकों से लैस था और जिसमें संभावित रणनैतिक विकल्प के रूप में, भूमण्डल के सर्वनाश तक की योजना बना ली गई थी।

जटिल पृष्ठभूमि

अस्तित्व की रक्षा के लिये संघर्ष की लगातार आवश्यकता के अतिरिक्त, गत वर्षों में घटित होने वाला विराट् सामाजिक रूपांतरण असंभव होता यदि मार्क्सवाद ने संघर्ष की इच्छाशक्ति और समझदारी प्रदान की होती अथवा ऐसी कम्युनिस्ट पार्टियाँ न होतीं जो राजनीतिक संघर्ष और सामाजिक सिद्धांत के बीच संबंध-विधान करने वाले क्रांतिकारी शक्ति के प्रतिरूप तथा रूपान्तरकारी समूह से सुसज्जित हैं।

तथापि, मार्क्सवादी सिद्धांत का साम्यवादी दलों के द्वारा सामाजिक संघर्ष के हेतु उपयोग की क्रिया सीधे-सादे कार्य-व्यापार से बहुत दूर की वस्तु है। अभूतपूर्व रूप से रक्त-पिपासु प्रतिक्रांति के जिसने अत्यधिक बड़े पैमाने पर वर्ग-समाज के संपूर्ण दुःस्वप्न पैदा किए हैं, प्रतिरोध का प्रभावशाली रूप से मुकाबला करने के लिये क्रांतिकारी-व्यवहार-पद्धति के निर्वाह में, क्रांतिकारी आंदोलन को कई बार गम्भीर पराजय ही हाथ लगी है; यही नहीं अपितु प्रतिक्रिया के दीर्घ-अंतरालों में जब राजनीतिक अग्र विकास की आशायें अल्पतम थीं, रक्षात्मक स्थितियों के लिये इसे स्वयं को तैयार रखना पड़ा है। 'ब्रेस्त लितोव्स्क संधि' और 'नयी अर्थनीति' से लेकर, जर्मन-सोवियत 'अनाक्रमण संधि' से संयुक्त राज्य अमरीका के साथ नवीनतम समझौता वार्त्ताओं और मई, १९६८ की फ्रांस की घटनाओं तक, समाजवादी सरकारों और साम्यवादी दलों पर क्रांति के विक्रय करने के अभियोग लगाये जाते रहे हैं।

हम इस बात को दुहराने की ज़रूरत महसूस नहीं करते कि इस कहानी का इससे भी अंधियारा पहलू है। प्रतिक्रियावादियों की हिंसा और परिस्थितियों के दबाव द्वारा आरोपित चक्करदार मार्गों के साथ-साथ, आन्दोलन में संघर्ष के दबाव से, अशुभ तत्त्व भी उभरे हैं। घेरेबंदी में पड़े राज्य साधारणतया, उदारनीतियों द्वारा शासित नहीं होते और क्रांतिकारी सरकारें अपने शत्रुओं के प्रति बहुत दमनकारी होने के लिये बाध्य होती हैं, किन्तु यह आवश्यकता मौके के अनुसार इस क़दर तोड़ी मरोड़ी गई है कि सर्वहारा अनुशासन और क्रांतिकारी एकता के मूल्य और समाजवादी राज्यों की सर्वाधिक भयंकर बुराइयों और अपराधों का दुरुपयोग उनका औचित्य सिद्ध करने के लिये किया गया है।

अंत में, १९४० और फिर १९६० के बाद के वर्षों में पश्चिमी साम्राज्यवाद ने स्वयं स्वास्थ्य लाभ किया और अपने जीवन की अप्रत्याशित शक्तियाँ खोज निकालीं, और जिन देशों में समाजवादी क्रांति परिपक्व होती दिखाई दी, जैसे कि इटली और फ्रांस में, उसे रुद्ध कर दिया; ब्रिटेन में साम्राज्यवादी विश्व के सर्वशक्तिशाली मजदूर आंदोलन ने लेबर पार्टी के नेतृत्व द्वारा स्वीकृत शीतयुद्ध की राजनीति और वर्ग-सहयोग को चुपचाप स्वीकार करके घुटने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

टेक दिए और संयुक्त राज्य अमेरिका में १९१४ से पूर्व का उदीयमान समाजवादी आंदोलन ऐसा डूबा कि उसका नामोनिशान न बचा।

आश्चर्यजनक नहीं

ऐसी परिस्थितियों में, यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि कुछ सैद्धान्तिक विकास, जो सिद्धांत में किसी भी प्रकार से समाजवाद-विरोधी और प्रतिक्रांतिकारी नहीं है, अप-भ्रष्ट और नौकरशाही ग्रस्त 'सामाजिक-लोकतंत्र' के साथ ही आंदोलन की मुख्य धारा के सिद्धान्त की प्रतिक्रिया में अग्रसर हुआ। मार्क्सवाद ने जहाँ क्रांति के लिये मजदूरों की भूमिका पर ज़ोर दिया, क्रांतिकारी स्वच्छंदतावदियों ने लम्बे समय से स्थापित एक उदार मजदूर वर्ग, अधिकंतु, उसे साम्राज्यवाद के अंतर्गत मुटियाते हुए और अपने क्रांतिकारी दाय के प्रति लापरवाह होते हुए देखा; जहाँ साम्यवादी दलों ने संगठित मजदूर आंदोलन को अपने पक्ष में करने को प्राथमिकता दी, स्वच्छंदतावादियों ने उसे रद्द कर दिया। दूसरे शब्दों में, एक ओर धैर्यपूर्ण अनुशासित कार्य की मांग है तो दूसरी ओर चमत्कारपूर्ण महाकार्यों को कर गुज़रने की हवस। कुछेक दिमागों द्वारा मार्क्सवाद भ्रष्ट, यांत्रिक या अनैतिकवाद के रूप में देखा गया और इसके सुविस्तृत परिघूरण या स्थानापन्न की खोज की गई।

यदि क्रांतिकारी स्वच्छंदतावाद मात्र कुछ बुद्धिजीवियों तक ही परिसीमित रहता, तो यह किसी मतलब का न हुआ होता; किन्तु वस्तुतः इसके नारों—विशेष रूप से 'काली-शक्ति' और 'छात्रशक्ति'—के अंतर्गत जनता (ओं) को संघटित किया गया है। एक दूसरे मोर्चे पर इस धारा के चिंतकों ने मार्क्सवादी बहसों को गंभीर रूप से प्रभावित किया है। हमें यह आशा नहीं करनी चाहिये कि स्वच्छंदता-वादी क्रांतिकारी विचारों की शक्ति वैसे ही कम होती जायेगी जैसे कि समाजवादी खेमा अपने अखण्डित विम्ब को क्रमशः खोता जा रहा है, जैसे समाजवाद की प्राप्ति के लिये विभिन्न दल विशिष्ट और विविध रणनीतियाँ अपना रहे हैं, जैसे कि विकासमान शिक्षा और तकनीकी विकास मजदूर वर्ग के अंदर संरचनात्मक परिवर्तनों को बराबर पैदा कर रहे हैं; अपितु, जिस प्रकार तेजी से परिवर्तनशील परिस्थिति क्रांतिकारी सिद्धांत और व्यव-हार के प्रति नयी और अभूतपूर्व माँगें प्रस्तुत करती है स्वच्छंदतावादी विचारों का फूलना-फलना निश्चित है ऐसे विचार समाजवाद में संक्रमण के बाद भी हम "हमेश अपने साथ रखेंगे;" वैज्ञानिक समाजवाद की धारा को क्रांतिकारी स्वच्छंदतावाद की अपेक्षा प्रत्येक समय जनता के सामने परिस्थितियों के बेहतर नियंत्रण के स्पष्ट प्रदर्शन के द्वारा अपने प्रत्यय-पत्र सिद्ध करने की आवश्यकता होगी यह सम्पूर्णतया स्वागत के योग्य है।

मजदूर वर्ग की भूमिका

अब हम, क्रांतिकारी स्वच्छंदतावाद के सिद्धांतों और केन्द्रीय विचारों का, यह ध्यान रखते हुए कि वे एक सुसं-गत सिद्धांत का विधान नहीं करते, विवेचन करेंगे और कि, यहाँ, एक सिद्धांत के प्रति किसी व्यक्ति का लगाव इस बात की गारंटी नहीं है कि विवेच्य व्यक्ति दूसरे सिद्धान्तों में से किसी एक को सचेत रूप से स्वीकार करता है। उक्त केन्द्रीय विचार और सिद्धान्त ये हैं :

१. समाजवाद में संक्रमण के लिये, प्रमुख क्रांतिकारी शक्ति और आधार के रूप में मजदूर वर्ग और साम्यवादी दलों की महत्त्वपूर्ण भूमिका को नका-रना।

२. इस स्थिति में, उनके स्थानापन्न के रूप में अन्य सामाजिक समूहों की स्थापना।

३. मार्क्सवाद का पर्याप्त संशोधन या परित्याग।

जेम्स बर्नहम और फ्रांज़ बोर्केनो जैसे प्रतिक्रियावादी विचारकों ने १९३० में, साम्राज्यवाद की सेवा के लिये सामाजिक-सामंजस्य के अंतर्गत मजदूर वर्ग का एकीकरण घोषित किया था, किन्तु पाँचवें दशक के उग्रपंथी अमरीकी समाजशास्त्री सी० राइट मिल्स, उस समय अमरीका के मजदूर वर्ग की प्रतीयमान निश्चलशीलता पर टिप्पणी करते हुए, इस बात को स्वीकार करने के लिये तैयार हैं कि इसे प्रभावशाली ढंग से तटस्थ बना दिया गया है राइट मिल्स अपने सामाजिक विश्लेषण को शुद्ध और कुछ कुछ अमूर्त्त शक्ति-संबंधों के शब्दों में प्रकट करते हैं उनकी अभिनव कृति 'द पॉवर इलीट' और 'व्हाइट कॉलर' अमरीकी शासक वर्ग को इन्हीं शब्दों में विश्लेषित करती है, जबकि उसकी बुर्जुआ-समाजशास्त्र की आलोचना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बहुत ही विध्वंसक हैं ।

तथापि, मार्क्सवादी न होते हुए भी राइट मिल्स स्वयं इस बात पर विश्वास नहीं कर सके कि मजदूर वर्ग कभी शक्तिसंपन्न भद्र वर्ग के बराबर शक्ति पैदा कर सकेगा और इसीलिये, उन्होंने तर्क किया कि क्रान्तिकारी-आवेग 'बाहरी व्यक्तियों' के द्वारा ही, सिद्धान्ततया, उनके विचार में, बुद्धिजीवियों की तरफ से ही आना चाहिये, जो समसामयिक पूँजीवाद में हो रहे गड़बड़-घोटाले को सैद्धान्तिक रूप से समझने में सक्षम हैं ।

हर्बर्ट मार्कूस

इस प्रकार की स्थापना का, अपेक्षाकृत अधिक विकसित और स्वघोषित "मार्क्सवादी" रूप, क्रान्तिकारी स्वच्छंदतावादियों में एक सर्वाधिक प्रसिद्ध व्यक्ति हर्बर्ट मार्कूस द्वारा विकसित किया गया है । मार्कूस हिटलरी-आतंक के फलस्वरूप एक ऑस्ट्रियन शरणार्थी हैं । मार्कूस ने कुछ उत्कृष्ट कृतियाँ लिखी हैं—खासकर 'रीज़न एण्ड रिवोल्यूशन' जो हेगेल पर लिखी गई सर्वोत्तम पुस्तक और इस शती का सर्वोत्तम मार्क्सवादी ग्रंथ है, । तथापि वह अपनी पुस्तक 'एकायामी मानव' (वन डाइमेंशनल मैन) के द्वारा अधिक प्रसिद्ध हुआ है, जिसमें युद्धोत्तर काल के पश्चिमी समाज का विश्लेषण और इसके सम्पूर्णतः अमानवीय मूल्यों और मानदण्डों, इसकी आकस्मिक हिंसा, इसकी पागल प्रतियोगिता, इसकी मन-मौजी आणविक रणनीतियों का उद्घाटन, किया गया है । विशेष रूप में, यहाँ, मार्कूस लोकतांत्रिक मूल्यों और संस्थाओं की तोड़मरोड़ को परीक्षित करता है, जो यह तय करता है कि सार्वभौम मताधिकार, अनन्त काल तक, मिथ्या चुनाव की यांत्रिकता के माध्यम से एक दानवी और उत्पीड़क शासक वर्ग के प्रतिनिधियों को पुनर्निर्वाचित करता है । मार्कूस निष्कर्ष निकालते हैं कि यौनलिप्सा, अर्थ लिप्सा और इनको संतुष्ट करने की आश्वस्ति की आकांक्षाओं के ऊपर एक सफल आन्तरिक परिचालन के द्वारा, जो पद-लिप्सा और यौन फैंटैसी के रूप में तंत्र को शक्तिशाली बनाता है, मजदूर वर्ग हमेशा के लिए, अमरीकी साम्राज्यवाद की महत्त्वाकांक्षाओं और लक्ष्यों में समाहित हो गया है । इसके अतिरिक्त वह क्रान्तिकारी चेतना को उन समूहों में सम्भव मानता है जो बुर्जुआ-सर्वसम्मति, से पूर्णतः अपवर्जित हैं, जिसे अत्याचार और विशेषीकृत पृथक्करण का विषय होने के कारण मूर्ख नहीं बनाया जा सकता जैसे कि छात्र, नीग्रो, अपराधी वर्ग, जंकी (junkies), मानसिक व्याधिग्रस्तों के समूह ।

गो, मजदूर वर्ग की शक्ति कहीं भी प्राथमिक नहीं मानी गई है, फिर भी मार्कूस का सिद्धान्त राइट मिल्स के सिद्धान्त से अपेक्षाकृत अधिक ब्यौरा भरा है, जिसे वह न केवल अनुमानाश्रित प्रमाणों से ही प्रमाणित करता है, अपितु, प्राकृतिक विज्ञान के साथ मार्क्सवाद के सम्बन्ध की समर्थ पुनर्व्याख्या से भी, जिसे हम नीचे विवेचित करेंगे, प्रमाणित करता है, और जो उसे उपर्युक्त आदर्श को उसकी मूलभूत तात्विकताओं में समाजवादी देशों को एक समान स्थिति में बनाये रखने के लिए अनुगृहीत करता है ।

इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि अमरीकी दृश्यपटल पर होने वाले परवर्ती विकास उपर्युक्त विश्लेषण को पक्का करने के लिए दृष्टिगोचर हो सकते हैं; "जीवन के अमरीकी तरीकों के लिए सबसे भयानक चुनौती नीग्रो और छात्रों की 'कालीशक्ति' और 'छात्रशक्ति' के संगत सिद्धान्तों-नारों से है, जो कि परिस्थितियों के अन्तर्गत आवश्यक और वैध हैं, किन्तु स्वच्छंदतावादी दृष्टिकोण और भ्रान्ति के लिये इनमें काफी गुंजाइश है ।

कालीशक्ति

'कालीशक्ति' के अधिवक्ता एकदम सही हैं, जब वे यह दावा पेश करते हैं कि अमरीकी नस्लवादी अपनी क्रूर नृशंसताओं को बरकरार रखने में कामयाब रहे हैं क्योंकि उन्होंने नीग्रो लोगों को एक वशीकरण में बाँध रखा है, एक ऐसे शक्तिशाली, संगठित अवरोधन के लिये उनकी क्षमता का निरास करते हुए एक ऐसे दिमागी-ढाँचे में बन्द कर दिया है, जहाँ उनकी भूमिका हीन मान ली गई है, और अहिंसा को उनकी भूमिका के संदर्भ में एक अपरिवर्तनशील सिद्धान्त स्वीकृत कर लिया गया है ।

इस वशीकरण बन्धन को तोड़ डालना और नस्लवादियों को यह पाठ सिखलाना, कि उनकी उत्तेजक कार्यवाहियों का हिसाब ब्याजसहित चुकाया जा सकता है, 'काली-शक्ति' की ऐतिहासिक क्षमता है ।

'काली-शक्ति' आन्दोलन का सर्वाधिक पठित प्रवक्ता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्भवतया स्टोकली कारमाइकेल है और उसकी पुस्तक 'कालीशक्ति' (चार्ल्स वी० हैमिल्टन के सहयोग में लिखित) के विचार की क्षमताओं और कमज़ोरियों को बड़े विशद् रूप में चित्रित करती है।

'श्वेत-वातावरण' में कुछ लोगों के घुस जाने—नीग्रो लोगों के द्वारा इस सांकेतिक विकास के अस्वीकार में, नीग्रो आंदोलनों के लिये एक अनिवार्य नियति के रूप में 'श्वेत-मध्यवर्गीय' नेतृत्व के परित्याग में, तथा इस बात पर जोर देने में कि अत्याचार सशक्त रूप से रोका जाना चाहिये, 'काली शक्ति' पूर्णतया दृढ़ आधार-भूमि पर स्थित है। यह वहीं असफल होती है, जब यह इससे परे नहीं देखती और ऐसा यह तब तक नहीं कर सकती, जब तक कि यह संयुक्त राज्य के मूल विभाजन को 'काले' और 'गोरे' के रूप में परिगणित करती है। कारमाइकेल, यद्यपि, यह मानता है कि, रंगभेद की समस्या मूलतः वर्ग-समस्या है, किन्तु वह इसे उन अर्थों में विवेचित करता है, जो यह प्रतीति कराते हैं कि सारे गोरे एक तरफ समाहित हैं, और सारे काले लोग दूसरी तरफ। गोरे या काले समाज में से किसी के भी वर्ग-विभाजन का विश्लेषण वहाँ नहीं है। 'कालीशक्ति' की अनुक्रमणिका में न तो 'साम्यवाद' ही मिलेगा, और न पूंजीवाद या समाजवाद ही।

'कालीशक्ति' की प्रमुख आलोचना यही है कि दुर्दमनीय युयुत्सा और क्षमता वाले क्रांतिकारी आंदोलन का दावा करते हुए और अमरीकी क्रान्ति के लिये उचित माध्यम के रूप में प्रचारित होते हुए भी,'घेरों' से परे नहीं देख पाती और क्रान्ति को मात्र 'काले लोगों की मुक्ति' के रूप में पाती है। कारमाइकेल कहता है: "(इसका) अंतिम मूल्य या लक्ष्य दूसरे समूहों का शोषण या प्रभुत्व प्राप्ति नहीं है, अपितु समाज की कुल शक्ति के अन्तर्गत एक प्रभविष्णु हिस्सेदारी है।" यहाँ ऐसा कोई संकेत नहीं है कि किस प्रकार का समाज इस 'अंतिम' उद्देश्य के उपयुक्त है। यदि काली शक्ति मात्र एक 'आत्म-रक्षात्मक-संगठन' से अधिक कुछ है, तो इसी प्रश्न के संदर्भ में कि एक समाज में कौन-कौन से बदलाव आवश्यक हैं ? इसे स्वयं को परिभाषित करना चाहिये। अन्यथा, वहाँ अमूर्तता और अस्पष्टता निरन्तर वर्तमान रहेगी।

'मुक्ति' का अर्थ क्या है ? यह प्रश्न भी, 'कालीशक्ति' की पारिभाषिक शब्दावली में, एक बड़ी भ्रांति का विषय है। इसका सर्वाधिक जनप्रिय विचार, श्वेत-समाज के समान्तर और पूर्णतया आत्मनिर्भर एक काले-समाज का निर्माण प्रतीत होता है। एक राज्य में जहाँ नीग्रो निर्णायक अल्पमत में और उस पर भी बिखरे हुए हों, यह विचार हवाई लगता है। चूंकि नीग्रो-लोगों को श्वेत-लोगों के साथ रहना ही है, अतः किसी भी प्रकार के सहयोग का प्रश्न, श्वेतों के कुछ वर्गों के साथ नीग्रो-समता का प्रश्न पूरी तरह से एक महत्त्वपूर्ण सवाल है, जिसका कारमाइकेल सामना नहीं करना चाहता, और जो उसे उसकी दक्षिण-पंथी विशेषताओं को सारी कहानी में समान रूप से प्रस्तुत करते हुए अमरीकी मजदूर आंदोलन के पिछले इतिहास के अनर्गल तथ्य विकृति की ओर ले जाता है; अथवा जैसा वह अन्यत्र लिखता है:

"अमरीकी मजदूर वर्ग तीसरी दुनिया के मजदूरों की मजदूरी के फलों का उपभोग करता है। सर्वहारा वर्ग 'तीसरी-दुनिया' बन गया है। श्वेत पश्चिमी समाज बुर्जुआजी है।"

'कालीशक्ति' की सर्वाधिक कट्टर आयोजना को 'काले यहूदीवाद' की संज्ञा देकर कुछ अनुचित नहीं किया गया है। खेद तो यह देखकर होता है कि 'काले यहूदीवादी यहूदियों के विरोध को पाल रहे हैं--' यह तथ्य कुख्यात हो चुका है और इससे भी बुरा तो यह है कि इसके लिए शेखी बघारी जाती है।

'छात्र-शक्ति' एक नारे के रूप में

एक बड़ी राजनीतिक शक्ति के रूप में, 'कालीशक्ति' संयुक्त राज्य अमरीका तक ही सीमित रहने के लिए बाध्य है। 'छात्र-शक्ति' सिर्फ ब्रिटेन में ही नहीं, अपितु अन्य देशों में भी सैद्धान्तिक अभिव्यक्ति और व्यावहारिकता-उपयोगिता प्राप्त कर चुकी है।

मूलतः, नागरिक अधिकारों की रक्षा के लिये, या उच्चतर शिक्षा में बहुत समय से अपूर्त्त सुधारों को लागू कराने के लिये—सीधे संघर्ष से अधिक कुछ भी गर्भितार्थ नहीं रखती थी; किन्तु, ठीक वैसे ही जैसे कुछ विचारकों ने अमरीकी नीग्रो लोगों में, मजदूरवर्ग के लिए एक क्रान्तिकारी प्रतिनिधि प्राप्त किया; कुछ अन्यों ने उसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भूमिका के लिये छात्रों को चुना। अपने द्वारा बुर्जुआ राज्य व्यवस्था को उलटने वाले छात्रों की दृष्टि अधिक अतिवादी—या अधिक अव्यवस्थित है; और कि छात्र और युवा ही मूलतः क्रान्तिकारी वर्ग है, इस बात का प्रदर्शन करने वाले भी कुछ बहुश्रुत सैद्धान्तिक अध्ययन हुए हैं ('इन्टरनेशनल सोशलिस्ट जर्नल' का नं० २५ देखिये)।

दूसरे लोग, हालाँकि, इस बात को मानने के लिए तैयार हैं कि बिना मजदूर वर्ग के कोई भी क्रान्ति सम्भव नहीं है; और वे सन्तुष्ट हैं, कि छात्रों को नेताओं और सैद्धान्तिक परामर्शदाताओं का स्थान ले लेना चाहिये, क्योंकि व्यापक और सामान्यीकृत स्तर पर समाज के अध्ययन के लिए पर्याप्त सुविधाएँ और समय छात्रों के पास है; जबकि इस रूप में आगे न जाकर, अर्नेस्ट मैंडिल, 'न्यू रिवोल्यूशनरीज : लेफ्ट अपोज़िशन' (तारिक अली द्वारा सम्पादित पुस्तक) में कहता है कि छात्र "नया हिरावल दस्ता है...वे बुर्जुआ राज्य व्यवस्था और पूंजीवादी समाज को चुनौती देने के लिए मजदूर वर्ग में, असीम ताकत भर सकते हैं।"

मई, १९६८ से, इस प्रकार के क्रान्तिकारी स्वच्छंदतावादी यह स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत हैं कि अन्ततोगत्वा मजदूरवर्ग क्रान्तिकारी हो सकता है, किन्तु मजदूर वर्ग ने अनेक दशाब्दियों के संघर्ष के द्वारा अपनी रक्षा और आक्रमण के हथियारों के रूप में, ट्रेड यूनियनों और राजनीतिक दलों के रूप में, जो संगठन—विशेषकर कम्युनिस्ट पार्टी विकसित की उस पर ज़हर उगला जाता है। यह अक्सर कहा जाता है कि क्रान्ति के मार्ग में प्रमुख व्यवधान वास्तव में यही हैं। पेरिस के छात्र नेताओं में से एक एलेन गीज़मर के अनुसार "यह आश्चर्यजनक नहीं है कि (राज्य सत्ता के दमन में) परिणाम विश्वविद्यालय में अधिक स्पष्ट रूप में मालूम पड़े...क्योंकि वहाँ तथ्यों को छिपाने के लिए कोई भी ट्रेड यूनियन जैसे ढाँचे नहीं हैं।"

ब्रिटेन में, ट्रेड यूनियन के चालू ढाँचे को समाप्त करने और अधिक नवीन और स्वतःविकसित संगठनों की शुरुआत कराने के लिए "क्रान्तिकारी समाजवादी छात्र-संघ" द्वारा उठाई माँगें हमारे सामने हैं।

कुछ सक्रियतावादी छात्रों और उनके विचारों द्वारा "आधिकारिक" मजदूर वर्ग के संगठनों के अस्वीकरण से, लगाकर, कोहेन बेंदी के द्वारा प्रस्तुत की गई विचार-पद्धति हमारे सामने है, जो कि संगठन और नेतृत्व को सिद्धान्ततः अस्वीकार करती है; और स्वतः स्फूर्तता को रूढ़ि के रूप में स्वीकार करती है।

"(हमारा आन्दोलन) इसे समाहित करने की, अथवा, अपने लाभ के लिए इसके द्वारा प्रवर्तित क्रियाशीलता का उपयोग करने की कोशिश के बिना ही यह एक प्रकार की स्वतः प्रेरणा देता है।"—कोहेन बेंदी (ज़्याँ पॉल सार्त्र के साथ साक्षात्कार)। यही 'लाल-डैनी' इससे भी आगे बढ़कर अन्ततः क्रान्तिकारी सिद्धान्त को ही अस्वीकार कर डालता है :

"प्रत्येक (व्यक्ति) का अपना सिद्धान्त होता है···ये सभी विश्लेषण अधिक या कम ठीक हैं; किन्तु मेरे लिये अपेक्षाकृत कम महत्त्व के हैं।" (वही)

ऐसे तर्क यदि स्वीकृत कर लिये जाएँ तो ये जन-समूह को संगठन और सिद्धान्त से मुक्त करने के बजाय, पूंजीवादी संगठन और सिद्धान्त के अधीन बना देंगे। क्रान्ति के चरमोत्कर्ष पर जबकि प्रमुख शत्रु पूर्णतया 'अकेला' कर दिया गया हो, और, सार्वजनीन आक्रमण का लक्ष्य हो गया हो जैसे कि मार्च १९१७ में यह नव्य उत्साह सभी को अपने प्रवाह में बहा ले जा सकता है, किंतु यह प्रश्न कि पहले तो आक्रमण किया जाय, और फिर यदि मोर्चे जीत लिए जाएँ तो उसे कैसे कायम रखा जाय या विस्तृत किया जाय, यह सब कुछ एक सही सिद्धान्त और उचित संगठन पर निर्भर है। जब १९१७ में लेनिन ने कहा था कि बोल्शेविक 'अस्थायी सरकार' का विरोध करें, तो, कुछ ने उन्हें पागल समझा था फिर भी अप्रैल में उस सिद्धान्त की विजय के बिना, अक्तूबर की राजनीतिक विजय असम्भव रही होती।

मजदूर वर्ग की क्रान्तिकारी चेतना के एक विकल्प के रूप में छात्र-शक्ति का विरोध करने का अर्थ, इस बात से इनकार नहीं है कि, अपने क्षेत्र में, विशेषतः, छात्र-सुविधाओं की माँगों के लिए लागू किये जाने के संदर्भ में, यह विचार पूर्णतया सही है। हालाँकि इस क्षेत्र में भी, दो बहुत ही भिन्न प्रकार के लक्ष्यों—वे जो छात्र-संघर्ष के ही द्वारा प्राप्तव्य हैं, और, वे जो पूंजीवादी सम्बन्धों के दमन के द्वारा ही सम्भव हैं, के बीच कुछ युयुत्सुओं में भ्रांति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की प्रवृत्ति रही है। पूंजीवादी राजतंत्र से, ऐसी संस्थाओं को, जो सचेष्ट रूप से इसके विनाश के लिये स्वयं को होम कर रही हैं, आर्थिक सहायता की आशा करना व्यर्थ है, और, इसलिये उदाहरणार्थ, कि 'आधिकारिक' पाठ्यक्रमों में एक क्रान्तिकारी 'कथ्य' होना चाहिये, या सभी प्रकार की वर्त्तमान परीक्षा-प्रविधि की शीघ्र समाप्ति की माँग करना—एक निश्चित पराजय और नैतिक-पतन को आमंत्रित करना है। इस प्रकार के दूरगामी लक्ष्य छात्रशक्ति से न जीते जाकर, मात्र राजनीतिक क्रान्ति से ही जीते जा सकते हैं।

'तृतीय विश्व-वाद'

तथापि, न तो 'छात्रशक्ति' और न 'कालीशक्ति' ही, हालाँकि ये दोनों क्रान्तिकारी स्वच्छंदतावाद की रूपरेखा बनाते हैं, 'तृतीय विश्ववाद' के रूप में परिभाषित दृष्टिकोण की बराबरी कर सकते हैं; क्योंकि, बुरी तरह से शोषित उपनिवेशों और भूतपूर्व-उपनिवेशों की भूमि पर रहने वाली किसान जनता में से ही सर्वहारा का सर्वाधिक संभाव्य उत्तराधिकारी अस्तित्व में आता दीखता है। 'तृतीय-विश्ववाद' से, पृथ्वी के, गरीबी की मार से पीड़ित क्षेत्रों को, दूसरी दो दुनियाओं—समाजवादी और पूंजीवादी—से विरोध प्रकट होता है और समाजवादी राज्यों तथा आर्थिक रूप से पिछड़े हुए देशों के मध्य हितों का तादात्म्य धुँधला पड़ जाता है। इस संदर्भ में विवेचना करने पर यह बात आश्चर्यजनक नहीं लगती कि औपनिवेशिक क्रान्तियाँ समाजवादी और साम्राज्यवादी खेमों के बीच ऐतिहासिक द्वंद्व से अलग-थलग कटी हुई घटित प्रतीत होती हैं; और समाजवादी देशों की भूमिका उपेक्षित हो जाती है जिनके संघर्ष ने ऐसी परिस्थितियाँ पैदा कीं, और वस्तुतः जिन्होंने औपनिवेशिक क्रान्तियाँ को सक्षम बनाया।

'तृतीय-विश्व-क्रान्ति' के दो विशेष लक्षण ऐसे थे, जिन्होंने इसे एक स्वच्छंदतावादी व्याख्या के लिये, अतिरिक्त रूप से, अनुकूल बनाया। प्रथमतः, इस क्षेत्र में आपाततः संघर्ष, यूरोप या उत्तरी अमरीका और १९४५ के बाद विकसित देशों की अपेक्षा अधिक नाटकीय था। यह साम्राज्यवाद के साथ एक सशस्त्र मुकाबले का, भीषण भुखमरी, वीभत्स अत्याचारों और ज़िंदगी तथा मौत की लड़ाई का अखाड़ा था। इस प्रकार यह स्वीकार करना, अपेक्षाकृत एक छोटा कदम था कि एशिया, अफ्रीका, लातीनी अमरीका के विलक्षण तीखे संघर्ष ही महत्त्वपूर्ण हैं, अथवा, गोलाबारी ही वर्ग-संघर्ष की एकमात्र सार्थक प्रविधि है।

द्वितीयतः एक बात यह भी है कि छठे और सातवें दशक की सर्वाधिक प्रचारित साम्राज्यवाद विरोधी क्रान्तियाँ, विश्वसमाजवादी आन्दोलन से असंबद्ध ऐसे दलों द्वारा की गई थीं जिन्होंने जनसमर्थन को संघटित और जागृत करने के हेतु अपने कार्यक्रमों के अंतर्गत 'समाजवाद' शब्द को ईमानदारी से कभी भी अंकित नहीं किया। इस प्रकार, उन लोगों के लिये, वैज्ञानिक समाजवाद के दृष्टिकोण से भिन्न एक नया परिप्रेक्ष्य खुला जो इसे समाजवाद के प्रति एक नई दृष्टि मानने के लिए प्रस्तुत थे और उन्होंने ही देशभक्ति की आन्दोलनकारी शक्तियों में से कुछ में समाजवादी शिविर द्वारा परित्यक्त क्रान्तिकारी उत्साह को सुरक्षित माना और उन्हीं के द्वारा समाजवादी निर्माण के अगुओं द्वारा भोगे हुए बलिदानों और गलतियों को बचाते हुए एक नवीन समाजवाद का निर्माता संभव समझा। इसके साथ यह भी ठीक समझा गया था कि ऐसे राज्यों का समान रूप से शीतयुद्ध के निर्माण एवं अपराधी के रूप में निर्णीत 'पश्चिम' और 'पूर्व' के बीच एक तटस्थता की स्थिति अख्तियार करनी चाहिए क्योंकि वे राज्य ऐसा कर सकते हैं।

इस संदर्भ में, अलजीरिया का मामला उल्लेखनीय है। पश्चिम के बहुत से वामपंथियों की दृष्टि में 'एफ. एल. एन.' ऐसा क्रान्तिकारी दल था जो मुक्ति आन्दोलन की अग्नि में तपी हुई देशभक्तिक-एकता के आधार पर एक समाजवादी व्यवस्था की रचना करने में सक्षम है और जिसकी दृष्टि अप्रत्याशित रूप में विशुद्ध है और व्यावहारिक क्षमता अद्भुत है। किन्तु बाद की घटनाओं ने इस विश्वास को ध्वस्त करके यह प्रदर्शित कर दिया कि 'राष्ट्रीय मुक्ति' प्रक्रिया का पहला चरण है, और देशभक्त-मोर्चे की एकता इसी एक शर्त पर कायम रखी जा सकती है कि उसके अंदर मजदूरवर्ग और मार्क्सवादी शक्तियों की पहल हो।

क्यूबा की क्रांति

आम तौर पर जो चीज़ उपनिवेश-विरोधी क्रान्ति के साथ शुरू हुई थी, क्यूबाई-क्रान्ति के साथ विशेष तौर पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जारी रही।

क्यूबाई-क्रान्ति की एकमात्र शैली—अपने सिगारों से लेकर जनशिक्षण अभियानों तक—अपनी स्थिति की भयानक कठिनाइयों के बावजूद सफल होने का और लातीनी अमरीका में महाद्वीपीय क्रान्ति की प्रगति को यथेष्ट सहयोग देने का उनका स्पष्ट निश्चय और अन्त में चे गुएवारा के जीवन ने, क्यूबाइयों को स्वच्छंदतावादी हृदयों के लिये प्रिय बना दिया। इन लोगों के द्वारा समाजवाद "भौतिक प्रेरणा की अपेक्षा नैतिक प्रेरणा" का आदर्श बन गया।

तथापि, साम्यवादी आन्दोलन का यह एक मूलभूत सिद्धान्त है कि प्रत्येक राष्ट्र समाजवाद के लिये अपना मार्ग निश्चित करता है जो स्थानीय परिस्थितियों और संस्कृति पर निर्भर है। चीन की पार्टी की तरह अन्य पार्टियों की, जो इस बात को अस्वीकर करती हैं, आलोचना उचित ही की गई है। क्यूबाई क्रांतिकारियों ने एक कार्यक्रम के आधार पर, जो सुधार के संदर्भ में काफी आगे जाता था, किन्तु जो निश्चय ही पूर्ण समाजवादी नहीं था, अत्यधिक भ्रष्ट और बर्बर कुलीनतंत्र को शिकस्त दी।

इसके सुधार-कार्यक्रमों को लागू करने में, अपने संघर्षों के द्वारा, अमरीकी साम्राज्यवाद को चुनौती देने के लिए तथा मजदूरवर्ग पर निर्भर करने के लिए, और इस तरह इस क्रान्ति को एक समाजवादी दिशा में मोड़ने के लिए, क्यूबा की क्रान्तिकारी सरकार ने स्वयं को मजबूर पाया। इस प्रकार साम्राज्यवाद-विरोधी क्रान्ति समाजवाद के लिये संक्रांति में विलयित हो गई और अब उसे, पिछले क्रांतिकारी दलों और समूहों के द्वारा निर्मित—क्यूबाई साम्यवादी दल के द्वारा चलाया जाता है।

ब्रिटेन में क्यूबाई अनुभव और शैली की नकल करने की कोशिश करना हास्यास्पद होगा और लातीनी अमरीका में समाजवादी क्रान्ति द्वारा पूर्वी-यूरोप में अपने प्रतिरूप के साथ एक ऊपरी सादृश्य रखने की उम्मीद करने के लिये भी कोई, सार्थक तर्काधार नहीं है।

चे गुएवारा ही, जो साहस, आत्मबलिदान और सिद्धान्त का एक उचित प्रतीक बन गया है, ऐसा प्रथम व्यक्ति होता जो अपनी इस 'भक्ति' से घृणा करता, जो उसके नाम के चारों ओर स्थापित कर दी गई है, और जो बहुत से नीग्रो लोगों द्वारा, जिनके राजनीतिक दृष्टिकोण उसके दृष्टिकोण से पूर्णतया अजनबी हैं, व्यवहृत की जाती रही है।

पिछले कुछ वर्षों में, स्वच्छंदतावादी क्रान्तिकारियों के लिये क्यूबाई अनुभव की सार्थकता को वियतनाम युद्ध के कारण 'ग्रहण' लग गया है, जहाँ हथियारों का ऐसा 'भव्य-प्रदर्शन' पहले कभी नहीं देखा गया था। यह मामला, इसलिये, विशेषरूप से दिलचस्प है कि इस स्थिति में, दोनों वियतनामों में मार्क्सवादी दल की भूमिका और मूलभूत क्रान्तिकारी सिद्धान्तों का आश्चर्यजनक आदर्श रूप से सफल प्रयोग का अस्वीकार, असंभव है। इस संघर्ष के दौरान हुई विराट् उपलब्धियाँ इस कपोल-कल्पना का सुस्पष्ट खंडन करती हैं कि, साम्यवादी दल अपने गत 'स्तालिनवाद' से अनिवार्यतः अपभ्रष्ट हुए हैं। वे राजनीतिक प्रवृत्तियाँ जो इससे संश्लिष्ट थीं, अब ये आड़े-तिरछे तर्क प्रस्तुत करने लगी हैं कि शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के लिए दूसरे समाजवादी राज्य वियतनाम के लोगों को धोखा देने का षड्यंत्र कर रहे हैं।

फैनॅन की दृष्टि

उपनिवेशी-क्रांति की वर्गीय प्रकृति के बारे में बहुत से सुनिश्चित वक्तव्यों में से एक, फ्रांज फैनन के द्वारा दिया गया है, जो लिखता है कि "यह स्पष्ट है कि उपनिवेशी-राज्यों में सिर्फ किसान ही क्रांतिकारी हैं, क्योंकि उनके पास खोने को कुछ नहीं, हरेक चीज़ पाने के लिये है।" और जो यह दावा पेश करता है कि चूँकि अविकसित देशों में शहरी सर्वहारा, जीवन स्तर के अर्थों में किसान जनता से अपेक्षा या अधिक सुविधाभोगी है, अतः यह क्रांति का अगुआ दस्ता होने में अक्षम है। तथापि, मार्क्सवादी युक्तियाँ सापेक्षिक गरीबी की मात्रा पर कभी निर्भर नहीं रही हैं। निष्कर्ष यह है कि सिर्फ सर्वहारावर्ग ही क्रांतिकारी वर्ग है, क्योंकि यही ऐसा वर्ग है जो अपनी समस्यायें व्यक्तिगत-संपत्ति-संबंधों के आधार पर हल नहीं कर सकता; यह उन्हें सिर्फ समाप्त कर सकता है। किसान भूमि बाँट सकते हैं और पुनः सर्वत्र व्यक्तिगत संचयन और बेदखली के चक्र को शुरू कर सकते हैं, किंतु, कामगर कारखानों को नहीं बाँट सकते (देखिये—'मार्क्सिज्म टुडे' के मार्च, १९६९ के अंक में 'हू विल लीड द रिवोल्यूशन' नामक जेम्स वॉडिस का लेख)।

किंतु, फैनन का यह दृष्टिकोण, उदीयमान-राज्यों में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बुर्जुआ-राजनीतिज्ञों की भ्रष्टता और कमजोरी के पैने विश्लेषण या उपनिवेशीकृत जनसंख्या के प्रति उसकी भावुकता शून्य दृष्टि की यथार्थता, जो इस बात पर ज़ोर देती है कि क्रान्तिकारी उद्योग के बिना अपने पिछड़ेपन और पुराणपंथी मनोवृत्ति से उबरना असंभव है, को प्रभावित नहीं करता।

रेज़ी देब्रे

'तृतीय-विश्व' के कुछ क्षेत्रों में, वास्तविक रूप से क्रांति की पूर्णता का सवाल, सांप्रतिक बोलीविया में चेगुएवारा के अंतिम अभियान के साथ निकटता रखने के कारण कारावास-दंड भोगते हुए, फ्रांसीसी दार्शनिक रेज़ी देब्रे द्वारा काफी विस्तार के साथ निरूपित किया गया है। उसकी पुस्तक 'क्रान्ति के अन्दर क्रान्ति' का बहुत भारी स्वागत हुआ है, और उसी प्रकार से, उस पर बहुत से आलोचनात्मक आक्रमण भी किये गये हैं। हालाँकि वह यह अस्वीकार करता है कि वह एक सामान्य आदर्श का निर्माण करने की कोशिश कर रहा था, किंतु उसकी पुस्तक द्वारा संप्रेषित प्रभाव निश्चय ही ऐसा नहीं है।

यह पुस्तक क्रांति के कुछ समसामयिक आदर्शों को ध्वस्त करती है; जैसे "सशस्त्र आत्मरक्षा," जिससे शक्ति केन्द्रों पर एक क्रांतिकारी प्रहार बहिष्कृत है; 'सशस्त्र प्रचार' और 'छापामार केन्द्र' जो चीनी और वियतनामी अनुभव की यांत्रिक प्रतिकृतियाँ हैं। आगे वह छापामार दस्ते के बारे में अपना हल प्रस्तुत करता है :

"आज किसे मजबूत किया जाय—पार्टी को या जन सेना के भ्रूण छापामारों को? इन दोनों में से कौन-सी कड़ी निर्णायक है?" और वह उत्तर देता है कि इस संदर्भ में पार्टी न्यूनतम महत्त्व की ठहरती है; प्रत्येक वस्तु, दूरस्थ देहातों में स्थित और शहरों के सभी प्रकार के संपर्कों से वंचित छापामार केन्द्र पर निर्भर करनी चाहिये। वह यहाँ तक कहता है कि "शरीर विज्ञान और विचारधारा में एक घनिष्ठ सम्बन्ध है" यानी सिर्फ वही आदमी, जो छापामार के रूप में कार्य कर सकते हैं, वास्तविक क्रांतिकारी हो सकते हैं। देब्रे के अनुसार क्रांतिकारी हिरावल दस्ता एक सैनिक इकाई है और वह हिरावल दस्ता स्वयं ही क्रान्तिकारी पार्टी भी है। यह धारणा 'विकल्पवाद' की अंतिम सीमा है। यह ध्यातव्य है, कि कुछ शुभचिंतक आलोचकों ने संकेत किया है कि क्यूबाई-क्रांति में जिसे देब्रे अप स्थापना के मूर्त उदाहरण के रूप में पेश करता है, सश सेना और राजनीतिक दलों के बीच का संबंध, देब्रे धारणा से नितांत भिन्न है।

मार्क्सवाद और प्राकृतिक-विज्ञान

क्रांतिकारी स्वच्छंदतावादियों के कुछ वर्गों में, क्रांतकारी सिद्धांत के रूप में, मार्क्सवाद की मान्यता पर बड़ी गर्म बहस हुई है किंतु, सामान्यतया सामाजि यथार्थ को ठीक से समझने और उसे बदलने के लिए अप अत्यधिक कार्य-क्षमता के कारण, अराजकतावादियों छोड़कर मार्क्सवाद सर्वत्र सम्मानित रहा है।

किंतु जिस चीज़ पर उग्रतम आक्रमण हुआ है जिसे भ्रष्ट एवं कुत्सित कहकर तिरस्कृत किया गया है है कम्युनिष्ट आन्दोलन द्वारा विकसित मार्क्सवाद। स्वच्छंदतावादियों का आग्रह है कि ऐसे हाथों में पड़ मार्क्सवाद एक प्रकार के पूजा-पद्धति-सम्मत अंध-धर्म रूप में विकृत हो गया है, जो सामाजिक यथार्थ के कि भी पहलू को सही-सही व्याख्यायित नहीं करता, अपितु एक या दूसरे साम्यवादी दलों की अवसरवादी नीतियों लिये, एक प्रकार के सुविधाजनक पक्षसमर्थक के रूप सेवारत है, और निर्जीव-सूत्रों की एक बड़ी संस्था ने द्वं त्मक तर्क पद्धति का स्थान ग्रहण कर लिया है।

इस कथित विकृति का मुख्य दोषारोपण स्वाभा रूप से 'स्टालिन' के शासन की दहलीज पर रखा जाता किंतु दोषारोप्य प्रक्रिया के आरंभ के अपराधी स्वयं एं बताए जाते हैं, जिन्होंने मार्क्सवाद को विकृत किया कुछ तो उसे जनता के लिये सीधे तरीके से बोध बनाकर, और कुछ इसलिये भी कि वह स्वयं मार्क्स अति-सूक्ष्मता को समझने में अक्षम थे। एंगेल्स और भी मूलभूत अपराध यह है कि उन इस बात पर ज़ोर दिया कि मार्क्सवाद एक वि है, और वे प्राकृतिक विज्ञानों के प्रतिआदर रखते थे। 'सोशलिस्ट रजिस्टर' १९६५ में डोनाल्ड हॉजेज़ के अनुसार 'इसके बावजूद कि एंगेल्स तत्व मी सात्मक विचार-परम्परा पर आक्रमण करता है...गति बारे में उसके अपने सामान्यीकरण भी पारंपरिक मीमांसा के सामान्यीकरणों की अपेक्षा कुछ कम अमूर्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सार्वभौमिक नहीं है। उस सीमा तक वे खोखल के समान ही हैं।" इस लेखक ने यह दावा बहुत पहले ही पेश किया है कि एंगेल्स ने मार्क्सवाद का अपना प्रतिपादन एक ऐसे दृष्टिकोण से किया है कि जिसने मार्क्स को, उसके अंतिम दिनों में संदूषित भी किया। इस प्रकार 'युवा मार्क्स, यानी मार्क्स की १८४० के दशक की आरम्भिक रचनाओं को मार्क्स की सर्वाधिक प्रामाणिक कृतियों के रूप में पेश किया जाता है; जैसे-जैसे वह दर्शनशास्त्र से राजनीतिक अर्थ-शास्त्र की तरफ शीघ्रता से मुड़ता चला जाता है, उसकी परवर्ती रचनाएँ एक संकीर्ण केन्द्र-बिन्दु बनाती चली जाती हैं।

'मार्क्सवाद बनाम प्राकृतिक विज्ञान' के सर्वाधिक प्रसिद्ध और सशक्त व्याख्याता फ्रांसीसी दार्शनिक ज्याँ पाल सार्त्र हैं जिन्होंने पिछले डेढ़ दशक में इसी दृष्टिकोण के संदर्भ में मार्क्सवाद की समीक्षा का बीड़ा उठाया है। उसका महाकाय ग्रंथ 'द क्रिटीक ऑफ डायलेक्टीकल रीज़न' सामाजिक व्यवहार को मार्क्सवादी ढाँचे के अन्तर्गत मानव-चेतना, वरण, और स्वतंत्रता प्रभृति अस्तित्ववादी विषयों के समावेश के द्वारा सामाजिक व्यवहार के विश्लेषण का दावा पेश करता है।

सार्त्र का उक्त दावा अपने-आप में बिल्कुल सही है क्योंकि सार्त्र के अनुसार पिछले दशकों में विकसित मार्क्स-वाद जनता और वर्गों के आन्दोलनों पर अपना ध्यान केन्द्रित करने के कारण, एक ऐसी कमज़ोरी जिसे दूर करने के लिए सार्त्र ने बहुत कुछ स्वयं भी किया है,—वैयक्तिक-चेतना के प्रश्न को उपेक्षित करता रहा। किन्तु, सार्त्र का यह दावा और भी आगे जाता है, जहाँ वह मार्क्स-वाद को एक नितान्त भिन्न आधार पर पुनःस्थापित करने का प्रयास करता है जिसकी दो मूलभूत आलोचनाएँ स्पष्ट-तया संभव हैं।

प्रथमतः तकनीकी विकास के प्रति एक गहरे संदेह से सार्त्र अपनी बात आरम्भ करता है, और ऐसा विश्वास करता हुआ लगता है कि मानवीय सम्भावनाओं की मुक्ति के बजाय इन सबका उपयोग अनिवार्यतया शोषण और धोखाधड़ी के लिये होता है। वह वैज्ञानिक प्रणाली को काफी हेय समझता है और 'द्वंद्वात्मक-तर्क' से उसका जो अर्थ है, उससे भी वैज्ञानिक प्रणाली को हीन मानता है।

यह बात उसकी दूसरी आलोचना को जन्म देती है। सार्त्र की चिंतन-पद्धति में एक ऐसी दृष्टि अनुस्यूत है जो मानसिक प्रक्रिया को अपनी विशिष्ट शोध-प्रक्रिया के द्वारा यथार्थ के किसी नितान्त भिन्न धरातल पर—प्राकृतिक विज्ञान के धरातल से भी भिन्न धरातल पर—ले जाकर स्थित कर देती है। यहाँ तक, गो, वह बहुत जोर के साथ इस बात को नकारता चलता है फिर भी, मूलतः एक भाव-वादी आधार रखने के कारण सार्त्र के दर्शन को दोषरहित ठहराना भी कठिन ही है।

"हम, निर्वासित आदमी को एक वस्तु के साथ या बाहरी परिस्थितियों को अनुशासित करने वाले भौतिक नियमों के साथ उसके निर्वासन के मध्य किसी भी भ्रान्ति को अस्वीकार करते हैं। **हम मानवीय कार्य की विशेष प्रकृति को मान्यता देते हैं...।"** **(क्रिटीक)**

प्राकृतिक विज्ञान को नकारने में मार्क्स सार्त्र से भी अधिक अतिवादी स्थिति में है। उसका विश्वास है कि आधुनिक युग के विश्व दृष्टिकोण के रूप में उसकी स्वीकृति ही, ऐसे 'एक आयामी' समाज के लिये उत्तरदायी है। वह इस प्रकार के यान्त्रिक दृष्टिकोण को बुर्जुआ नीति-विज्ञान और मूल्यों का अनिवार्य-जनक मानता है और वह मार्क्स-वाद के वैज्ञानिक घटकों के अस्वीकरण में सबसे ज्यादा ज़ोरदार है।[9]

कुछ अन्य राजनीतिक मोर्चे और अभिमत भी क्रान्ति-कारी स्वच्छंदतावाद के शीर्षक के अन्तर्गत खूब अच्छी तरह से रखे जा सकते हैं किन्तु हमें विश्वास है कि हमने उन सभी का संकेत कर दिया है, जो इस संदर्भ में सर्वाधिक सार्थक हैं। 'न्यू लेफ्ट रिव्यू' नामक द्वैमासिक पत्रिका ब्रिटेन में इस विचारधारा के अन्तर्गत आने वाले विचारों के लिये एक मंच प्रस्तुत करने में सक्रिय है; और जबकि उसके संपादक-मंडल की अपनी दृष्टि है और व्यक्तिगत हैसियत से प्रत्येक संपादक विविध प्रकार के दृष्टिकोण उपस्थित करते हैं।

(स्वच्छंदतावादी) दृष्टिकोण का सार-तत्त्व

अब प्रश्न उठता है कि राजनीतिक विकास के वर्त-मान काल में, इस क्रान्तिकारी स्वच्छंदतावाद की सार्थकता क्या है?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रथमतः, इसे राजनीतिक कठमुल्लेपन से शीघ्राति-शीघ्र भिन्न किया जाना चाहिये; जिसका प्रमाण-चिह्न ये गलत राजनीतिक फैसले नहीं हैं जो क्रान्तिकारी स्वच्छंदतावादियों को प्रभावित करते हैं। किन्तु,—'सतत-क्रान्ति' या 'सांस्कृतिक-क्रान्ति' या 'राज्य-पूंजीवाद' जैसी कुछ ऐसी जड़ अवधारणाएँ हैं जिनका उपयोग इस दल के लोग प्रायः करते पाए जाते हैं।

सर्वसम्मति से, क्रान्तिकारी स्वच्छंदतावादियों का क्षेत्र, कट्टरपंथियों को एक अनुकूल 'भरती की जमीन' प्रदान करता है, जिसका फायदा उठाने के लिये वे बाद में कोशिश करते रहे हैं। अभी-अभी 'न्यू रिवोल्यूशनरीज़, लैफ्ट अपोजीशन' (पीटर ऑवेन) नामक पुस्तक प्रकाशित हुई है जिसमें—'देब्रे', 'स्टोकली कारमाइकेल', 'छात्रशक्ति-विचारकों' इत्यादि के योगदान के साथ स्वच्छंदतावादी क्रान्तिकारी सिद्धान्त का एक दिलचस्प सारांश प्रस्तुत किया गया है जिसे अन्तर्राष्ट्रीय मार्क्सवादी ग्रुप (चतुर्थ अंतर्राष्ट्रीय) के तारिक अली ने संपादित किया है, तथा उसमें पियरे फ्रांक तथा अर्नेस्ट मांडेल जैसे विश्रुत प्रतिनिधि त्रात्स्कीवादियों की सामग्री भी शामिल की गई है। समाजवादी देशों में भी, वहाँ की सरकारों को पलटने में पर्याप्तरूपेण सक्षम एक राजनीतिक संकट पैदा करने वाले छात्र-असंतोष के बारे में भी, इस पुस्तक में, अटकलें भिड़ाई गई हैं।

इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं, जैसा कि इस पुस्तक में कहा गया है, कि—क्रान्तिकारी स्वच्छंदतावाद की प्रमुख धाराओं को एक संगठनात्मक रूप प्रदान करने के लिए, उपर्युक्त कथ्यों के प्रकार के आधार पर एक कार्यक्रम बनाने के लिए और वर्तमान क्रान्तिकारी दलों को पदच्युत करने के लिये और एक निश्चित क्रान्तिकारी विकल्प प्रस्तुत करने के आधार पर विविध तत्वों को संगठित करने के लिये कोशिशें की जा रही हैं। 'ब्लैक ड्वार्फ' शीर्षक से तारिक अली का, इसी दिशा में एक निबन्ध भी प्रकाशित हुआ है। यह अस्वाभाविक ही होगा, यदि, आधुनिक-विक्षुब्ध-यथास्थिति में, ये कट्टरपंथी अपने विकास के लिए सबसे अच्छा अवसर न देखें; और अपने विचारों की समानुरूपता के द्वारा एक जन-आन्दोलन को पैदा करने के हेतु और इसे अस्तित्व में ले आने के लिये कोई कसर बाकी न छोड़ने के लिये, इससे अच्छा मौका कभी पाने से रहे। हम साम्यवादियों को, एक बहुत बड़ी जनसंख्या—जो उक्त विचारों से प्रभावित है, को जीतने की चुनौती को स्वीकार कर लेने की आवश्यकता है क्योंकि, लक्ष्यों के प्रति अपेक्षाकृत कुछ अधिक मौलिक राजनीतिक समझ और अधिक पर्याप्त कुशल कार्यनीतिक दृष्टि हमारे पास है।

सीखने के लिये प्रस्तुत

सिर्फ मूल मार्क्सवादी ग्रंथों से उद्धृत करते रहने पर निर्भर रहने से यह सब कभी नहीं किया जा सकता। जब तर्क अस्वीकार्य हों, तब, उन्हें ठोस प्रमाणों और वृहद्-शोधों के आधार पर सिद्ध किया जाना चाहिये। क्रान्तिकारी स्वच्छंदतावाद तब पैदा होता है जब राजनीतिक फेरबदल होती है, और जब वर्ग-अंतर्विरोध तेजी से सामने आते हैं और जब पहले की निष्क्रिय जनता, राजनीतिक रूप से सचेष्ट होना शुरू करती है, किंतु यह तभी होता है, जब आगे के मार्ग का कोई साफ परिदृश्य पास में नहीं होता। ऐसी परिस्थितियों में, संक्षिप्त मार्ग (शार्ट-कट्स) और फौरी क्रान्तिकारी नुसखे खोजे जाते हैं, और सिद्धान्त, जो मनःस्थितियों में ही ठीक होते हैं, तत्काल स्वीकृति पाते हैं। क्रान्तिकारी-भावना प्रखरता की सर्वोच्च कसौटी के स्तर तक कसी जाती है, किन्तु यदि सफलता शीघ्र नहीं मिलती तो यह अपने पीछे एक भाव-शून्यता और स्थितियों के मोहभंग को छोड़ती हुई, ढहने लगती है। यह इन सवालों के संदर्भ में साफ-साफ दिखाई पड़ेगा कि ब्रिटेन में एक लम्बे अरसे के संगठन और वर्ग-संघर्ष की मौजूदगी के अभाव-स्वरूप क्रान्तिकारी स्वच्छंदतावाद मजदूर आन्दोलन से बाहर के जनसमूह को ही क्यों आकर्षित करता है? दूसरी तरफ इससे इंकार नहीं किया जा सकता कि, तेजी से विकासमान स्थितियों में स्थापित आन्दोलनों के द्वारा, परिस्थितियों के कुछ महत्त्वपूर्ण छूटे हुए सत्य और पहलुओं को, संघर्ष के लिये तैयार मस्तिष्क, शीघ्रता से पकड़ सकते हैं।

हमें, उनको सीखने के लिये सदैव प्रस्तुत रहना चाहिये।

अनुवाद : सुधीश पचौरी

['मार्क्सिज्म टुडे' के मई १९७० के अंक से साभार]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मतदान से पहले

त्रिनेत्र जोशी

अस्तु प्रभु
अपना हाथ वापस लेता हूँ
अन्धेरे के बीच फड़फड़ाते
शब्दों में । वह बात कहाँ
जिसे बोलना था
चालू चीख के विपरीत
क्यों कहाँ गई । सुबह । सूरज
कागजों के फैलते धुन्ध में
सचमुच । छिप गया
सब कुछ । और
एक डरी हुई जाति को डराने
फिर निकल आया
सूरज की जगह । बंदूक की बैरल से
एक कानून । मैं जानता था । हूँ
ताबूतों में ढल जायगी जिन्दगी
और तब स्याह
सुनसानी को । चुपचाप
ठेलता । मैं देख रहा हूँगा
अहमदाबाद के लाल रंग से
उठती हुई एक संध्या
वियतनाम की खाइयों में दुबकी
तरक्की । आदमी के खिलाफ
हथियार उठा रहे । वायदों को
झंडे के नीचे फैलाते
लोगों का गीत
खिलाफ़ लहरा रहे रंगों को
राजपथ पर । छटपटाते
महापुरुषों के शब्दों में
कसमसाते । अपनी इच्छाओं को
देखूंगा
एक अगली विस्फोटक तैयारी में
मरते-खपते
कभी अकाल में सड़ते
कभी बाढ़ में बहते
अपने ही तंत्र के बारूदों का
सामना करते । लौट आऊँगा
पर्दे के पीछे
चुपचाप
कभी दफ्तर की कुर्सी पर
समाचार बनते
कभी देश के महामंत्री का
हाल पूछते
और कभी अदालत में रिरियाते
कि.....
षड्यंत्र मैंने नहीं
अदालत ने किया था
मगर अदालत के लोग । बेलाग
हँसेंगे । निराशाओं में शामिल भीड़ पर
किसी भी धारा के प्रवाह में
गोलियाँ चलेंगी
शर्म से गिर रही होंगीं
हड्डियाँ और खून
धत्त-तेरे की
केवल शब्दों में बच जाता
हाथ हिलाता । सुसंस्कृत, सभ्य
कुर्सी की फाइल का
गणतंत्र दिवस । के बीच
खड़े—
पंडित ऊबाऊनाथ
मौलाना मुकाबिला मोहम्मद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की शतरंज का विवादास्पद
मोहरा
उज्ज्वल भेड़िये के शब्दों का
निशाना
श्रीमती जी की बिगड़ती रियासत का
चिराग़े अलादीन
ढोना और ढोना और ढोना
ऐसे ही ले जाना । अपने विरुद्ध
जो मैं कतई नहीं
संसद की बहसों के बीच
वही मैं
हूँ । हूँ । हूँ । सब कुछ
नहीं । मैं नहीं स्वयं । रहा
रहना था जिसको
किसी दुर्घटना में
अखबार की खबर बनता
समाप्त हो गया । इस तपस में
चावल के दाने बीन रहे
ताप पा रहे । लोग
इतिहास में उठाते
उजाड़ । उदास । खण्डहर । खड़ा
आँखों को
बीड़ी के धुएँ में भिगाता
वह । एक कश और खींचता
दर्द का या फर्ज का
महापुरुष की तसवीर के नीचे
हरकतों का एक कानूनी मिजान
बनाता । पुलिस कप्तान
और पताका फहराता । मौसम पर
मुस्कराता । पत्रकारों के सामने
अकाल-पीड़ित । नक्शे की व्यवस्था करता
मंत्री । खिलखिलाता
हरे राम । हरे राम
उनका परम कर्तव्य
कर बढ़ाता । भत्ते बनाता
पूँछ हिलाता । फिर आ रहा
मतदान की पेटी के पास

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साहित्य और सहृदय

सरनाम सिंह शर्मा 'अरुण'

सबसे पहले रसविषयक चर्चा भरतमुनि के सूत्र में प्रारम्भ हुई। वह सूत्र है 'विभावानुभावसंचारिसंयोगाद्रस-निष्पत्तिः'। यह चर्चा इतनी प्रौढ़ है कि लगता है कि उससे पहले भी कोई मत रहा होगा और रस के विषय में चर्चा हुई होगी। इस सूत्र में 'विभावादि' शब्दों की पारिभाषिकता तथा 'संयोग' और 'निष्पत्ति' शब्दों के अर्थ की उपयुक्तता बड़ी महत्त्वपूर्ण है। मेरी दृष्टि में 'संयोग' और 'निष्पत्ति' शब्दों की संगति में 'विभावादि' का पारिभाषिक अर्थ बहुत स्पष्ट हो जाता है। यह समझ लेने पर कि 'रस' का सम्बन्ध 'प्रमाता' से है, 'संयोग' शब्द बड़ी विशदता से आलोचक के समक्ष आ जाता है। 'संयोग' से उसके दो पक्ष भी प्रत्यक्ष हो जाते हैं। एक 'संयोगी' पक्ष और दूसरा 'संयुक्त' पक्ष।

सूत्र की व्याख्या में बताया गया है कि संयुक्त पक्ष में स्थायी भाव का नाम आता है जिसका सम्बन्ध प्रमाता या सहृदय के मानस से है और उसके मानस में स्थायी भाव से संयोग के लिए किसी व्यक्ति या वस्तु की गुंजाइश नहीं हो सकती। इससे स्पष्ट है कि स्थायी भाव के संयोगी विभावादि भाव मात्र हैं।

जो विभाव, अनुभाव और संचारी नाम से अभिहित हैं वे मात्र भाव हैं। उनका उपयोग कवि अपने भाव के परिवेश के रूप में करता है। ये भाव आश्रय से सम्बन्धित व्यक्तियों, वस्तुओं, उक्तियों, क्रियाओं और भावों के प्रतिनिधि होते हैं। साहित्यदर्पणकार ने विभाव की व्याख्या में लिखा है—'रत्याद्युद्बोधका लोके विभावाः काव्य-नाट्ययोः', अर्थात् लोक में रत्यादि के उद्बोधक ही काव्य और नाटक में 'विभाव' कहलाते हैं। विभाव के मुख्य अवांतर भेद आलम्बन और उद्दीपन हैं। इसी प्रकार अनुभाव के लक्षण हैं जिनसे आश्रय के मनोगत भाव का परिचय मिलता है। इनमें भाव-परिवर्तिता का आश्रय निहित है। रत्यादि के संचरण में सहयोग देने वाले उठने-मिटने वाले, आश्रय से सम्बन्धित भावों के प्रतिनिधि भाव काव्य और नाटक में संचारी कहलाते हैं।

लोक-रति आदि का आधान काव्य या नाट्य में 'आश्रय' अभिधा प्राप्त करता है। कवि या नाटककार वास्तव में अपने भाव का ही निरूपण करता है और निरूप्य भाव को वह आश्रय में निक्षिप्त कर देता है। कवि या तो स्वयं आश्रय होता है या आश्रय उसका प्रतिनिधि होता है। प्रत्येक दशा में कवि अपना ही भाव व्यक्त करता है। आश्रय के भाव के रूप में व्यक्त उसका अपना आवृत भाव है। अपने भाव का अनावरण वह आश्रय के भाव के रूप में करता है। जिस आश्रय के माध्यम से वह अपने भाव का अनावरण करता है, उसका पक्ष धारण करता है। वह अपने भाव का आश्रय बदल भी सकता है। प्रबन्ध-काव्यों में उसका भावाश्रय परिवर्तित होता रहता है।

यह समझना भ्रम होगा कि कवि या नाटककार प्रबंध-काव्य या नाटक में किसी विशेष नायक या नायिका का ही पक्ष लेता है। वह तो प्रतिनायक-नायिका का भी पक्ष लेता है। अपनी बात कहने के लिए वह किसी भी पात्र में फूंक मार कर खड़ा कर देता है। उसे जो कुछ कहना होता है उसे पात्रों के मुख से कहता है। वह दो पक्ष खड़े करके लौकिक स्वर में दोनों का वकील बनकर बोलता है। कवि दोनों पक्षों में बोलता है, सब पात्रों में बोलता है; किन्तु अन्ततोगत्वा उसका इष्ट पक्ष या इष्ट आश्रय ही विजयी होकर विजय-पताका धारण करता है।

यह तो स्पष्ट कर ही दिया गया है कि कवि-भाव का परिवेश आश्रय के भाव का परिवेश है। हमें आश्रय के दो पक्ष दृष्टिगोचर होते हैं: एक उसका बाह्य पक्ष जिसके अन्तर्गत आलम्बन विभाव, उद्दीपन विभाव और अनुभाव की गणना की जाती है और दूसरा पक्ष अन्तःपक्ष है जिसमें उसका भाव और संचारी आते हैं। कवि को आश्रय के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाव का उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं होती। विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के सम्बन्ध से आश्रय-भाव का पूर्ण परिवेश निर्मित हो जाता है। विभाव, अनुभाव और संचारी आश्रय के भाव का भावात्मक परिवेश हैं। काव्य की इस भाव-स्थिति को कवि-भाव का परिवेश भी कह सकते हैं।

सामान्य रूप में हमें भाव की तीन श्रेणियाँ दृष्टिगोचर होती हैं: व्यक्ति-भाव, कवि-भाव और सहृदय-भाव। साहित्य में व्यक्ति-भाव अपने मौलिक रूप में संनिविष्ट नहीं होता। वास्तव में कवि-भाव ही साहित्य में प्रतिष्ठा पाता है। इसके अनेक कारणों का उल्लेख आगे किया गया है। कवि सहृदय की भी उपेक्षा नहीं कर देता क्योंकि रस का सम्बन्ध एक ओर उसके उपकरणों से है जिनकी सृष्टि कवि करता है और दूसरी ओर सहृदय से जो उन उपकरणों के संस्पर्श से आस्वाद्यता को प्राप्त अपने ही स्थायी भाव की अनुभूति का आनन्द लेता है। स्थायी भाव सहृदय की हृदय-सम्पत्ति है, असहृदय की नहीं। साहित्य को पढ़कर जो भाव उद्बोधन को प्राप्त होता है उसी स्थायी भाव की परिणति रस-रूप में सहृदय में होती है।

यहाँ एक प्रश्न यह भी उठता है कि क्या असहृदय व्यक्ति भाव-शून्य होता है? नहीं, ऐसी बात नहीं है कि असहृदय व्यक्ति भाव-शून्य होता है, किन्तु उसमें संस्कारों का अभाव होने से वह सहृदय संज्ञा प्राप्त नहीं कर सकता। संस्कार सहृदय को साहित्य की अवगति में योगदान देते हैं। संस्कारी व्यक्ति का भाव ही साहित्यानुशीलन से द्रवण-स्फुरणशील होकर स्थायी भाव की संज्ञा प्राप्त करता है। जो भाव सम्यक् द्रवणशीलता एवं स्फुरणशीलता से वंचित है, वह मात्र भाव है, स्थायी भाव नहीं है।

यहाँ भाव और स्थायी भाव का अन्तर स्पष्ट हो जाना चाहिये। भाव तो मन की प्रथम विक्रिया है, किसी भी दृश्य या घटना से भाव की उत्पत्ति हो सकती है, किन्तु वह वस्तु-जन्य होने से मात्र भाव रह जाता है। दृश्य और घटना अपनी वस्तुपरकता छोड़कर कवि-हृदय में भावित होकर उसके शब्दों में भाव-रूप ग्रहण करती हैं।

इन भावों के सम्पर्क में केवल सहृदय आता है। जो व्यक्ति दृश्य या घटना के वास्तविक सम्पर्क में आता है वह काव्य-नाट्य में आश्रय कहलाता है और कवि-प्रणीत भावों के सम्पर्क में आने वाला व्यक्ति सहृदय कहलाता है। जो व्यक्ति कवि के बोध और भावों से सम्पर्क स्थापित नहीं कर सकता वह सहृदय नहीं है। सहृदय में कवि का-सा हृदय होना चाहिये। सहृदयता को ईश्वरदत्त मानकर संस्कारों की उपेक्षा नहीं की जा सकती है। इसमें सन्देह नहीं है कि 'कल्पना-शक्ति' मनुष्य की एक बड़ी भारी शक्ति है। इसको दिव्य-दान मान सकते हैं किन्तु संस्कारों से कल्पना में जो प्रखरता आती है वह भी विस्मरणीय नहीं है। अतएव सहृदयता मनुष्य का एक उपलाभ है जिसमें उसके प्रयत्न, अभ्यास, वातावरण, सम्पर्क, अध्ययन आदि का प्रथिति योग होता है।

जो व्यक्ति संस्कारहीन है उसकी कल्पना निर्बल एवं मन्द होती है। वह कवि द्वारा चित्रित दृश्यों और घटनाओं की मर्मावगति करने में ही असमर्थ नहीं होता, अपितु वास्तविक अवगति करने में भी असफल सिद्ध होता है।

कुछ लोग आश्रय में ही स्थायी भाव की स्थिति मान कर रस-सिद्धान्त को भ्रामक बना देते हैं। आश्रय वह व्यक्ति है जिससे कवि किसी मनोविकार की जागृति की बात करता है और आलम्बन वह व्यक्ति या दृश्य है जिसके सम्बन्ध से आश्रय के मन में विक्रिया पैदा होती है। उद्दीपन से यह विक्रिया और भड़कती है।

आश्रय को सहृदय का पर्यायी मानकर रस-सिद्धान्त की छीछालेदर करने वाले भी लोग विद्यमान हैं; किन्तु आश्रय के भाव का सम्बन्ध वस्तु, व्यक्ति या घटना से है और सहृदय के भाव (जिसको स्थायी भाव कहते हैं) का सम्बन्ध कवि-प्रणीत सामान्य भाव से है। यह आवश्यक नहीं है कि कवि सभी विशिष्ट भावों को प्रत्यक्ष कराये, कुछ भाव-निरूपण-कौशल से सहृदय की कल्पना के अंग बने बिना नहीं रहते। उनके वर्णन के निरूपण से—निरूपण की वृत्ति के सहयोग से—जो भाव उभर कर सहृदय के मानस को आच्छादित कर लेता है वही तो रस-रूप में अनुभूत होता है।

भाव और रस

साहित्य भावों का निरूपण होता है। जब तक भावों को मिलने का उपयुक्त अवसर नहीं दिया जाता, तब तक वे भाव ही रहते हैं, वे स्थायी भाव को रस-रूप में परिपक्व

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं कर सकते। अपने सहयोगियों का उपयुक्त सहयोग पाकर स्थायी भाव रस की स्थिति पा लेता है। स्थायी भाव में रस-रूप में परिणति प्राप्त करने की क्षमता होती है और सहगामी या सहयोगी भावों में उस परिणति में सहयोग देने की क्षमता होती है। अपने सहचर भावों का सहयोग पाकर ही सहयुक्त भाव रसावस्था को प्राप्त होने की क्षमता रखता है।

कभी-कभी सहयोगी भाव अप्रत्यक्ष रहता है, किन्तु स्थायी भाव उससे या उनसे उपयुक्त सहायता ले लेता है। ऐसी स्थिति में वह अप्रत्यक्ष सहचर स्थायी में अपनी शक्ति या गुण निक्षिप्त कर देता है अर्थात् उस भाव के अप्रत्यक्ष रहने पर भी उसकी कल्पना कर ली जाती है। निक्षिप्त भावों की कल्पना का अवसर प्रायः उन मुक्तक रचनाओं में रहता है जिनके छंद छोटे होते हैं और जो परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं रखते। प्रबन्ध-काव्य में ऐसे अवसर बहुत कम आते हैं। निक्षिप्त भावों को ध्वनित या व्यंजित करने की क्षमता बड़े कुशल कलाकारों में ही होती है और सबको ग्रहण करने के लिए भी संस्कारवान् प्रमाता की अपेक्षा होती है, अन्यथा भाव की उद्गति नहीं होती।

परिवेश निरूपण से निक्षिप्त भाव की उद्गति को विशेष सहयोग मिलता है। परिवेश स्वयं ऐसी ध्वनि व्यक्त करता है जिसमें निक्षेप की क्षमताएं निहित रहती हैं। अतएव निक्षिप्त भाव की क्षमताओं का संनिधान परिवेश में भी रह सकता है।

जब तक स्थायी भाव को निक्षेप-लाभ नहीं होता तब तक वह भाव ही रहता है; उसे रस-परिणति नहीं मिल पाती। अतएव निक्षेप में कुशलता की भूमिका अपेक्षित होती है। इस कुशलता में कल्पना-कौशल भी सम्मिलित होता है। कल्पना मनीषा-प्रसूता होती है जो कवि को स्वयंभू बनाती है और वही कवि की विशद अनुभूति से मिलकर उसे 'परिभू' बनाती है। मनीषी कोई भी व्यक्ति हो सकता है, किन्तु 'स्वयंभू' होना दुष्कर है और 'परिभू' होना तो और भी दुष्कर है।

कवि अपने काव्य में पुनर्जात होता है, उसे कोई अन्य पैदा नहीं करता। अतएव वह अपने काव्य में 'स्वयंभू' है। उसका समग्र अन्तर, उसका समग्र व्यक्तित्व काव्य या उसकी रचना में अभिव्यक्त हो जाता है। उसका व्यक्तित्व लघु भी हो सकता है, किन्तु उस समय उसे 'परिभू' की उपाधि नहीं मिल सकती। जब वह 'महामानव' (विराट), के रूप में अवतीर्ण होता है तभी वह 'परिभू' होता है। उसका महामानव (विराट्) ही उसके 'परिभू' का प्रतिनिधि है।

रस की कायिकता

रस कायिक बिल्कुल नहीं है, वह एक सहयुक्त भाव की आनन्दमयी परिणति है जिसके लक्षण प्रमाता के शरीर और वाणी से भी व्यक्त हो सकते हैं।

कवि भी अपनी रचना में रस बनाकर नहीं दे देता, वरन् वह ऐसी भाषा की सृष्टि करता है जिसमें उसके भाव पिरोये रहते हैं। भाषा दो प्रकार की होती है: लिखित और उच्चरित। लिखित शब्द प्रमाता के मानस को लोचन मार्ग से जाग्रत करते हैं और उच्चरित श्रुति-मार्ग से। इन दो ही मार्गों से भाषा मानस को सजग करती है। मानस का प्रमुख कार्य भाव को पकड़ना है, शब्दों को पकड़ना नहीं, किन्तु भाव शब्दों के वाहन बनाकर आते हैं, इसलिये प्रमाता को उनकी भी अवगति रहती है। वे उसकी स्मृति पर अंकित हो जाते हैं।

स्मृति-अंकित शब्द या तो प्रमाता की स्वेच्छा से या किसी अनुषंग से प्रमाता के तत्सम्बन्धी भाव को फिर जाग्रत कर सकते हैं। पुनर्जागृति में भाव की तीव्रता स्मृति के सनिष्ठ आचरण पर निर्भर करती है।

लिखित भाषा में बोध को ज़ोर लगाना पड़ता है, किन्तु उच्चरित भाषा को शारीरिक संकेत भी सहयोग देते हैं, जिससे बोध का श्रम कम हो जाता है। यही कारण है कि नाटक की अवगति किसी काव्य की अवगति से सरल होती है।

कवि-प्रतिभा और मनीक्षा

ये दोनों ही मनुष्य की शक्तियाँ हैं, शारीरिक नहीं मानसिक। मनुष्य का मन, जिसके अनेक नाम लिये जाते हैं, एक अद्भुतालय है क्योंकि उसमें अनेक अद्भुत शक्तियाँ निहित हैं, जो आवश्यकता पड़ने पर मनुष्य की सहायता करती हैं। दोनों बुद्धि के परिवार की हैं। कवि के पास आकर दोनों वाग्देवी की सेवा करती हैं। मनीषा कवि-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर्म में उपादेय तत्त्वों को निरख-परखकर संकलित करती है, किन्तु प्रतिभा प्रखर-बोध की वह प्रतिक्रिया है जो नवीनता उद्भासित करती है। कालिदास ने महाभारत के शकुन्तलोपाख्यान को जिस 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' का रूप प्रदान किया, वह कवि की मनीषा का प्रसव नहीं है, वरन् उनके प्रातिभ प्राखर्य की सृष्टि है। इसी प्रकार कामायनी के अनेक सृजन-सूत्र कवि की मनीषा के आलोड़न-विलोड़न में अवश्य आये होंगे, किन्तु कामायनी ने जो स्वरूप प्राप्त किया है, वह प्रतिभा के सृजन-करों की देन है।

भाव और उसके उद्बोधकों का विभावादि से सम्बन्ध

भाव का जन्म किसी परिवेश में होता है। भाव का आश्रय कोई मनुष्य होता है अथवा मनुष्य-कल्प वस्तु या पदार्थ होता है। भाव के कारणों और लक्षणों को मैं 'परिवेश' नाम से अभिहित करता हूँ। जिसको काव्यशास्त्र में 'विभाव' संज्ञा दी जाती है, वह भी 'भाव-परिवेश' होता है और उसे 'कारण' कहना ही उचित है, किन्तु आश्रय के भाव की जिन-जिन बातों से प्रतीति होती है वे लक्षण कहलाते हैं। उनको काव्य-शास्त्रियों ने अनुभाव कहा है। अतएव भाव के परिवेश में विभाव और अनुभाव तो आते ही हैं' साथ ही संचारी भी आते हैं। संचारियों को परिवेश-संज्ञा इसलिए दी जा सकती है कि वे भाव के सहचर होते हैं। जब तक भाव रहता है तब तक संचारी भी उदय और विलय की परम्परा में चलते रहते हैं। एक के बाद दूसरा, तीसरा आदि क्रम से संचारियों की परम्परा चलती ही रहती है। भाव तो जितने समय तक रहता है, जमकर रहता है, किन्तु संचारी उठते-मिटते रहते हैं। उनका कोई नियम या क्रम नहीं है। यों तो प्रत्येक भाव के साथ कुछ विशेष संचारियों के नाम गिनाये जाते हैं, किन्तु इसका निर्णय परिस्थिति के आधार पर ही किया जा सकता है। कवि इन सबको सामने रख कर इनका निरूपण करता है। ऐसी बात नहीं है। उस समय प्रसंग या अनुषंग में जो भी निरूपणीय होते हैं, जिनकी आवश्यकता होती है, वही महत्त्व के समझे जाते हैं। एक के बाद दूसरा संचारी तरंग-परम्परा की भाँति उठता चला जाता है, इसलिए उनको संचारी और व्यभिचारी दोनों ही नाम दिये जाते हैं। उनसे भाव में आवेग पैदा होता है, फिर भी वे भाव से पृथक् नहीं रह पाते; अतएव भाव-परिवेश में ही उनकी गणना की जाती है।

भाव के साथ उसके संचारियों का नामोल्लेख करने की आवश्यकता कवि को नहीं होती। कवि भाव-निरूपण के लिए जो परिवेश तैयार करता है उसी से भाव-विशेष की अवगति हो जाती है।

एक ही आश्रय में कवि कालक्रम से अनेक भावों की सृष्टि दिखला सकता है; किन्तु यह बिल्कुल आवश्यक नहीं है कि उन सबका आलम्बन भी एक हो, फिर उद्दीपन के एक होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। भिन्न-भिन्न भावों के लक्षण भिन्न-भिन्न होते हैं क्योंकि भावों की भिन्नता लक्षणों की भिन्नता की स्वयंसिद्धि है।

व्यक्ति-विशेष में विशेष कारणों के संदर्भ से विशेष भाव की उत्पत्ति होती है, किन्तु कारणों के बदलते ही भाव की विशेषता भी बदल जाती है। 'श्याम' के मन में अपने शत्रु 'वक्रिम' के सम्बन्ध से उसके गाली देने पर जो भाव उत्पन्न होता है उसकी विशेषता, श्याम के स्थान पर 'राम' के होने पर, समाप्त हो जाती है। उद्दीपन के बदलने पर तो भाव की विशेषता की समाप्ति और भी अधिक सिद्ध होती है।

कवि-कल्पना का पुट लगते ही विशेष भाव (जो स्वयं कवि-संबद्ध भी हो) भी सामान्य हो जाता है, उसी प्रकार जिस प्रकार कि विशेष नदी समुद्र में मिलकर समुद्र हो जाती है। कारण यह है कि कल्पना के लिए विशेष संदर्भ खोजने पर भी वह सामान्य को ही पकड़ती है। प्रसाद ने श्रद्धा की गौरता के सम्बन्ध से जिस 'नील परिधान' का निरूपण किया है उसका संदर्भ विशेष होते हुए भी कवि-कल्पना ने उसे 'सामान्य' बना दिया है। प्रश्न उठ सकता है कि श्रद्धा और उसके परिधान की बात सामान्य कैसे हो गयी? इसलिए हो गयी कि श्रद्धा और उसके रूप-लावण्य का भाव कवि के मन की सृष्टि है, वह कल्पना-प्रसूत है: अतएव उसकी विशेषता का प्रश्न ही नहीं उठता। हमें यह न भूल जाना चाहिये कि कवि 'भाव' ग्रहण करता है, व्यक्ति को ग्रहण नहीं करता। जिस व्यक्ति या जिन व्यक्तियों को वह अपनी रचना में सँजोता है वे केवल भाव हैं। उस या उनके जो रूप-गुण-स्वभाव आदि कवि-रचना में निरूपित हुए हैं, वे कल्पना के साँचे से निकलकर आये हैं, अतएव विशेष नहीं हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कवि किसी भी आश्रय के सम्बन्ध से जिस भाव का निरूपण करता है, वह विशेष व्यक्ति या विशेष भाव न होकर कवि का कल्पित भाव है, जिसका कवि ने 'विशेष' पर आरोपण किया है; अतएव वह भाव विशेष न होकर सामान्य ही होता है।

एक विशेष बात और है जिस पर ध्यान देने की आवश्यकता है। वह यह है कि कवि किसी वर्तमान-भाव का निरूपण नहीं करता। जिस समय कवि-मानस विशेष भाव से आक्रान्त होगा उस समय वह कविता जैसा पुनीत कर्म कर ही नहीं सकता, क्योंकि भाव में तो सुख-दुःख निहित होते हैं और सुख की स्थिति भी काव्य-कृति के लिए उतनी ही बाधक होती है जितनी दुःख की। इसके अतिरिक्त भाव, निरूपण के समय भूत हो जाता है; वह वर्तमान रह ही नहीं सकता।

रही दूसरे के भाव-निरूपण की बात, सो वह तो भाव की भूतता ही सिद्ध करती है। दूसरे के भाव को प्रथम तो कवि निरूपित ही नहीं कर सकता और असम्भव को संभव मानकर यदि यह भी कहें कि वह ऐसा कर सकता है तो दूसरे का निरूपित भाव वर्तमान नहीं हो सकता।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि—(१) कवि किसी दूसरे के भावों का निरूपण नहीं कर सकता।

(२) कवि दूसरे के ही नहीं, अपने भाव का भी तत्काल निरूपण नहीं कर सकता; अतएव कवि-निरूपित सभी भाव भूतकालिक होते हैं।

(३) भूतकालिक भावों के निरूपण में कल्पना का पुट अनिवार्य है।

(४) भूतकालिक एवं कल्पना-पुटित भावों का निरूपण विशेषता-विरहित होता है। अतएव कवि-निरूपित भाव सामान्य होते हैं।

(५) भूतकालिक एवं कल्पना-पुटित कवि-निरूपित भाव सामान्य इसलिए भी होते हैं कि वे मौलिक परिवेश में प्रस्तुत नहीं होते और न उनका ऐसा प्रस्तुतीकरण सम्भव ही है।

मूलभाव और सामान्य भाव

मूलभाव उस व्यक्ति में होता है जिसको हम काव्य-शास्त्र में 'आश्रय' कहते हैं। वह विशेष कारणों से उत्पन्न होता है और उसके विशेष लक्षण होते हैं। कवि किसी मूलभाव को यथावत् निरूपण नहीं कर सकता क्योंकि किसी दूसरे क भाव का ज्यों-का-त्यों निरूपण दुष्कर ही नहीं, असम्भव भी है। कवि-निरूपित भाव कवि-कल्पित भाव होता है जिसका आरोप वह आश्रय पर करता है और उसका निरूपण इस प्रकार करता है मानों वह आश्रय का ही भाव रहा हो। जिस समय कवि स्वयं अपने ही किसी भाव का आश्रय-रूप में निरूपण करता है उस समय भी भाव भूतकालिक होने से मौलिक परिवेश से रहित होता है और निरूपण में उसे स्मृति से भी अधिक कल्पना का सहयोग प्राप्त करना पड़ता है। कल्पना के सहयोग और कौशल के उपयोग से वह अपनी स्मृति को जो अनुभूति बन गयी है, सामान्य भाव के रूप में प्रस्तुत करता है जो सहृदयों द्वारा सम्माननीय बनता है। विशेष भाव के साथ राग-द्वेष जुड़ा रहने से वह सभी सहृदय-पाठकों को मुग्ध नहीं कर सकता। राग-द्वेष के सम्बन्ध से सहृदय-वर्ग विभाजित हो सकता है।

इस विवेचन के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि तथ्यतः मूलभाव वह भाव है जिसका निरूपण कवि करता है और वह कवि के भाव से भिन्न नहीं है। कवि का भाव विशेष राग-द्वेष से मुक्त होकर काव्य में प्रतिष्ठित होता है। सहृदय को प्रभावित करने वाला कवि-निरूपित भाव ही होता है। किसी भी आश्रय का तात्कालिक भाव सामान्य सहृदय के आनन्दमय मानसिक वातावरण की सृष्टि नहीं कर सकता।

किसी से सुना हुआ भाव भी कवि की वाणी में होकर सहृदय के मन को प्रभावित करता है, यह बात उतनी ही अतथ्यमय है जितनी कि कोई कहे कि आपके वर्णन से आपकी चटनी का आस्वाद मुझे भी मिल गया। हम दूसरे के भाव की केवल कल्पना कर सकते हैं। आश्रय के गुण, स्वभाव और परिस्थिति आदि का भी भाव से सम्बन्ध होता है। कारण की विशेषता भी किसी भाव की विशेषता को अपना सहयोग प्रदान करती है। वास्तव में समय और परिस्थिति के बदलने पर कोई भी भाव नहीं रहता। वह स्मृति या अनुभूति के रूप में रह जाता है। स्मृति में केवल परिवेश रह जाता है! भाव का मौलिक रूप स्मृति में न

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रहने से, वह मात्र अनुभूति के रूप में हमारी सम्पत्ति बना रहता है।

भाव तत्कालीन होता है। उसका सम्बन्ध समय, परिस्थिति आदि से होता है, किन्तु स्मृति विगतकालीन होती है और परिवेश की सारी विशिष्टताएँ उसमें विद्यमान रहती हैं। इसके विपरीत अनुभूति विगत काल से सम्बद्ध होती हुई भी वह अपने भूतकालिक परिवेश का विसर्जन कर देती है। स्मृति क्षीण होने पर भी अपनी विशेषता के बिना जीवित नहीं रह सकती। स्मृति अपने इतिहास में लिपटी रहती है और अनुभूति इतिहास-तन्त्र से पृथक् अपनी स्वतन्त्रता स्थापित करती है। यद्यपि उसके प्राणों में इतिहास का अप्रत्यक्ष स्पन्दन होता है, किन्तु इतिहास स्मृति के रूपाकार की भाँति अनुभूति का रूपाकार नहीं बनता। जहाँ स्मृति होती है वहाँ अनुभूति मिल सकती है, किन्तु, अनुभूति के आधान में स्मृति का होना आवश्यक नहीं है।

प्रेषण किसका ?

प्रेषण आश्रय के भाव का नहीं होता और न कवि के भाव (इमोशन या आवेग) का ही होता है। प्रेषण होता है कवि की अनुभूति या अनुभूतियों का जिन्हें कवि-कल्पना एक परिवेश में जगा कर ले जाती है। यह तो अन्यत्र कहा ही जा चुका है कि इस समग्र परिवेश का वाहन कवि की भाषा होती है।

अभी तक यह मान्यता रही है कि भाव का वाहन भाषा है। सामान्य शब्दावली में तो यह बात स्वीकार की जा सकती है, किन्तु पारिभाषिक शब्दावली में ऐसा कहना अनुचित है। पारिभाषिक शब्दों में यही कहना होगा कि कवि की अनुभूति या अनुभूतियाँ अपने परिवेशों के साथ भाषा के रथ में बैठकर सहृदय की दिशा में जाती हैं क्योंकि भाषा भाव (इमोशन) के भार को नहीं संभाल पाती। भाव (इमोशन) के भार से भाषा की आकृति, उसका सौन्दर्य बिगड़ सकता है। 'इमोशन' के बाद इमोशन की स्थिति समाप्त होकर केवल स्मृति की दशा रह जाती है।

भाषा में स्मृतियाँ जा सकती हैं, किन्तु उनमें राग-द्वेष, भाव (इमोशन) की 'विकृत अनुकृति' जा सकती है। अनुभूति जो कवि-कल्पना में जगकर भाषा के वाहन को स्वीकार करती है, वह संवेग-मुक्त होती है; अतएव सहृदय के मन में भी किसी संवेग को जागृत नहीं करती। कल्पना-व्यूढ़ अनुभूति भाषा के माध्यम से सहृदय में जिस आनन्दमय वातावरण का प्रादुर्भाव होता है, वही तो काव्य या साहित्य की विशेषता है। साहित्यकार की अपनी स्मृतियाँ भी जब कल्पना से संपुटित हो जाती हैं और कवि-भाषा पर आरूढ़ हो जाती हैं तो वे संस्मरण के रूप में साहित्य का रूप धारण कर लेती हैं। कवि-भाषा और कवि-कल्पना से विरहित स्मृतियाँ साहित्यिक संस्मरण नहीं बन सकतीं।

व्यक्ति का भाव तत्कालीन वातावरण में स्फूर्त होता है, स्मृति में लेटता है, अनुभूति में सोता है, और कल्पना में पुनः जाग्रत होता है। यदि व्यक्ति कवि है तो कौशल का सहयोग पाकर कल्पना उसको परिवेश देती है, जो कहीं बिम्ब में, कहीं प्रतीक में और कहीं अलंकार में स्फुटित होता है।

जो सहृदय इस परिवेश के सम्पर्क में आता है वह इसका उचित सम्मान करता है। यह परिवेश सम्मानित और समादृत होकर सहृदय के समभाव-तद्रूपानुभूति को उद्बुद्ध करता है और अपनी सद्य व्याप्ति से मन और मनःशासित अंग-प्रत्यंग को अनुभूत कर देता है। यह मन की निर्विशेष दशा होने से निष्कलुष, सत्त्वप्रतिष्ठ आनन्द-दशा होती है। जब तक कवि-भाव-परिवेश सहृदय की कल्पना-दृष्टि में रहता है तब तक यह आनन्द-दशा भी रहती है। परिवेश से विरहित होने पर सहृदय का मन आनन्द-मुक्त हो जाता है।

स्थायी भाव

भरतमुनि के रस-सूत्र में कहीं भी स्थायी भाव का नाम नहीं आया। क्यों ? यह एक विचारणीय प्रश्न है, सम्भवतः इसलिए कि भरतमुनि ने स्थायी का सम्बन्ध सहृदय से जोड़ा है। विभाव, अनुभाव और संचारी की व्यवस्था कवि को करनी पड़ती है। स्थायी सहृदय से सम्बन्धित है। विभाव, अनुभाव और संचारी ये सहृदय के मन से बाहर के होते हैं और स्थायी सहृदय के मन का सुषुप्त भाव होता है। विभावादि का प्रेषण होता है और स्थायी का उद्बोधन।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विभावादि

कवि के निरूप्य भाव होते हैं। भाव उसके अपने होते हैं। जब वह कभी दूसरे के भावों का निरूपण करता हुआ-सा लगता है तब भी वह अपने ही भावों का निरूपण करता है। दूसरे के लगने वाले भाव उसके अपने आरोपित भाव होते हैं।

दूसरे के भावों का, दूसरे के अन्तर का वर्णन करना दुष्कर ही नहीं, असम्भव काम भी है। कवि किसी अन्य व्यक्ति के भावों का अनुमान उसकी क्रिया-प्रतिक्रियाओं से ही कर सकता है जो कायिक, वाचिक और सात्विक के रूप में प्रकट होती हैं। ये भाव के लक्षण मात्र हैं, भाव नहीं हैं।

ये लक्षण किसी व्यक्ति द्वारा किसी अन्य वस्तु या व्यक्ति के सम्पर्क में आने पर व्यक्त होते हैं। निश्चित रूप से ये लक्षण किसी भाव के द्योतक होते हैं। जिस भाव का ये द्योतन करते हैं वह मात्र भाव है, किन्तु उस भाव की उत्पत्ति किसी अन्य वस्तु या व्यक्ति के कारण होती है। भावोत्पत्ति के कारणों के दो रूप होते हैं—एक तो मूलोत्पादक और दूसरे उद्दीपक। कवि वर्णित होने पर इन्हीं को आलम्बन और उद्दीपन नाम से अभिहित किया जाता है। दोनों ही विभाव के अन्तर्गत सम्मिलित किये जाते हैं। मूलभाव की उत्पत्ति जिस व्यक्ति में होती है वह आश्रय कहा जाता है। आश्रय कवि स्वयं भी हो सकता है और कोई अन्य व्यक्ति भी हो सकता है। मानवीकरण की धरा पर कवि कभी-कभी किसी वस्तु, पदार्थ या भाव को भी आश्रय रूप में कल्पित कर लेता है। इस स्थिति में उत्पादक कारण भी वस्तु, पदार्थ या भाव का रूप ले सकते हैं। उदाहरण के लिए—

तड़पती क्यों वेदने तू
कुलिश-मन का मान लख कर;
बहकती पगली अरी क्यों ?
मोह को प्रतिमान रख कर ! !

यहाँ 'वेदना' भाव-रूप आश्रय है और कुलिश-मन आलम्बन है।

कवि जब अपने भाव का निरूपण स्वयं करता है तब वह स्वयं आश्रय होता है, अन्यथा कोई दूसरा आश्रय होता है। कभी-कभी वह अपने पर आश्रय का आरोपण करता हुआ प्रतीत होता है। 'रुपये की आत्मकहानी', 'इत्यादि की आत्मकथा' आदि विषयों के प्रतिपादन में कवि अपने पर 'रुपये' या 'इत्यादि' का आरोपण कर लेता है अर्थात् कवि या लेखक इनमें से किसी का वकील बन कर अपने मुवक्किल की पैरवी 'उत्तम पुरुष' में करता है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा', 'शेखर : एक जीवनी' आदि रचनाओं में इसी प्रकार की पैरवी दिखायी पड़ती है।

यह विवेचन हमें एक निष्कर्ष पर ले पहुँचता है, वह यह है कि कवि या साहित्यकार अपने भावों का निरूपण करता है, वह किसी वस्तु या व्यक्ति का वर्णन नहीं करता। किसी अन्य व्यक्ति के भाव का निरूपण तो वह कर ही नहीं सकता। इसलिए यह कहना बहुत ग़लत होगा कि कवि किसी अन्य आश्रय के भावों का निरूपण करता है। तुलसीदास जिस रावण के भावों का १६वीं शती में निरूपण करते हैं क्या वह कवि के समय में था ? इतिहास साक्षी है कि तुलसीदास के समय में न कोई रावण था और न राम। इससे स्पष्ट है कि राम या रावण के भावों का जो भी निरूपण तुलसीदास ने किया है उसे हम या तो पूर्ववर्ती कवियों का मान कर तुलसीदास को उनकी मौलिकता के श्रेय से वंचित कर दें अथवा उसे रावण में तुलसी का आरोपित भाव मान कर कवि की सृजन-प्रतिभा को समुचित आदर प्रदान करें। औचित्य दूसरी ही बात का समर्थन करता है।

अनेक अवसरों पर कवि अनेक प्रकार की अनुभूतियों का संचय करता रहता है जो उसके संस्कारों की गरिमा बढ़ाती रहती हैं। साथ ही उनसे उसकी कल्पना-शक्ति को भी बल मिलता रहता है। कल्पना-प्रतिभा की अमोघ एवं प्रमुख शक्ति है, किन्तु अनुभूतियों के सहयोग से उसकी क्षमताओं का विस्तार होता जाता है। अब प्रश्न यह उठता है कि कवि जिस आत्मेतर आश्रय का शब्द-चित्र प्रस्तुत करता है क्या वह वास्तविक भी हो सकता है, या कल्पित ही ? इससे यह तात्पर्य नहीं है कि कवि-कल्पना नितान्त अवास्तविक होती है : उसमें वास्तविकता के सभी लक्षण होते हैं, क्योंकि वह अपनी शक्ति का विस्तार शून्य से नहीं करती; वास्तविक अनुभूतियों से सूक्ष्म या स्थूल सूत्र लेकर वह प्रतिभा को अपनी कारयित्री श्रद्धा अर्पित करती हैं। इसलिए साहित्यिक कृति में कल्पना की अवा-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्तविकता खोजना अनुचित ही नहीं, प्रायः असंभव है। किसी भी साहित्यिक भवन के ईंट-रोड़े और चूने का सम्बन्ध किसी एक स्रोत से जोड़ना नितान्त असंभव है। एक निर्मिति में जिन अनेक स्रोतों की सह-युक्ति रहती है उनके सफल संयोजन में ही तो कल्पनावत्सल प्रतिभा का योग-दान रहता है।

कवीतर आश्रय कल्पित हो सकता है, आलम्बन और उद्दीपन कल्पित हो सकते हैं, आश्रय की चेष्टादि का कवि जो वर्णन करता प्रतीत होता है वह भी कल्पित हो सकता है। आश्रय के भावों की कल्पितता तो स्वयंसिद्ध है; किन्तु कवि-कल्पना में जितना सत्य होता है उसको झुठलाया नहीं जा सकता। फिर भी कल्पना को सत्य की वैज्ञानिक भूमि पर प्रतिष्ठा नहीं दी जा सकती क्योंकि उस भूमि पर कल्पना अपनी शक्ति को सुरक्षित नहीं रख सकती; तब उसके नाम की सार्थकता भी कहाँ रह सकती है? अपने ढंग से सत्य का संरक्षण करती हुई कल्पना ही कवि को 'स्वयंभू' के पद पर आसीन होने का गौरव प्रदान करती है।

काव्य में वास्तविकता निषिद्ध नहीं है, किन्तु विशिष्ट वास्तविकता को काव्य अंगीकार नहीं करता। कवि की विशिष्ट वास्तविक अनुभूतियाँ स्मृति के भंडार में तो अपनी-अपनी विशेषताओं को सुरक्षित रखती हैं, किन्तु जब वे भाव-पथ से कारयित्री प्रतिभा के करों में होकर कल्पना का स्पर्श पाकर गुज़रती हैं तो अपने विशेष रूप का विसर्जन कर देती हैं और सहृदय के स्थायी भाव का स्पर्श वे सामान्य भाव के रूप में ही करती हैं।

अतएव विभावादि के सम्बन्ध में यह कहना उचित ही होगा कि वे 'स्मृतियाँ' भी नहीं हैं और वे अनुभूतियाँ भी नहीं हैं। वे तो अनुभूतियों से बनी हुई संश्लिष्ट भाव-प्रकृति का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसीलिए भाव के उत्पादक कारण 'आलम्बन-उद्दीपन' अनुभूतियों की सामान्य एवं कल्पना-संपुटित स्थिति से निकलकर विभाव में गृहीत किये गये हैं।

विभाव, अनुभाव और संचारी वे उपकरण हैं जिनको कवि साहित्य के माध्यम से सहृदय को अर्पित करता है। इन उपकरणों के संकलन के लिए वह आश्रय को ही अपना लक्ष्य बनाता है। जो भाव कवि के अपने मन का है, उसकी उत्पत्ति वह आश्रय में दिखाता है और उसकी उत्पत्ति के लिए वह आश्रयेतर उपादानों की कल्पना करता है, जिनको काव्य में आलम्बन और उद्दीपन नाम दिया गया है। कवि आश्रय के भाव के साथ उसके मन की संचारी तरंगों और उसकी चेष्टादि की भी कल्पना करता है। मन की तरंगों का नाम काव्य में संचारी या व्यभिचारी भाव रखा गया है और चेष्टादि को अनुभाव संज्ञा दी गयी है।

इस प्रकार कवि अपने या अपने आरोपित भाव का निरूपण करते समय अपना या आश्रय का एक परिवेश तैयार करता है जिसके अन्तवर्ती स्वरूप में संचारी भाव निहित होते हैं और बाह्य स्वरूप में विभाव और अनुभाव निहित रहते हैं।

विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के निरूपण में निश्चित रूप से एक परिवेश बनाता है जो सहृदय के मानस को आच्छादित करके, उसके स्थायी भाव को उद्बुद्ध, उद्दीप्त और संचारित करके उसी में विलीन हो जाता है।

रस और साहित्य

कुछ लोगों को यह कहते सुना जाता है कि साहित्य में रस होता है। यह मान्यता उचित नहीं है। यदि साहित्य में रस होता है तो प्रमाता को तो पकी-पकायी वस्तु मिल जाती है। फिर उसकी सहृदयता का कोई मूल्य ही नहीं रह जाता। यह बात कहीं पहले भी कही जा चुकी है कि 'रस', मन या हृदय की वस्तु है। साहित्य में कुछ रस-तत्व रहते हैं जिनको विविध नामों के अन्तर्गत अभिहित किया जाता है। वे भाव कुछ ऐसे वर्णनों में निहित रहते हैं जो प्रमाता के मन में एक परिवेश की सृष्टि करते हैं, जिससे प्रमाता का स्थायी भाव आन्दोलित, उद्दीप्त एवं संचारित होता है। 'संचारित' से तात्पर्य यह है कि स्थायी भाव उस परिवेश को ग्रहण करता है जो उसकी व्याप्ति को प्रेरित करता है। व्याप्त स्थायी भाव का केन्द्र मन होते हुए भी रग-रग में विद्युत की भाँति उसकी धारा दौड़ जाती है। उस तरंग का आदि भी मन है और अवसान भी मन है। मन में ही वह तरंग जाग्रत होती है और मन में ही उसका विलय हो जाता है। वह तरंग उसमें डूब जाती है। उस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संचारित भाव की व्याप्ति का कुछ अनुमान हमें कबीर की इस साखी से हो सकता है—

सब रग तंत रबाब तन, विरह बजावै नित्त ।
और न कोई सुन सके, कै साँई कै चित्त ।।

विरह एक भाव है जिसका संचारण रक्त-धारा की भाँति रग-रग में हो जाता है । समग्र शरीर उसकी व्याप्ति से अभिभूत हो जाता है, बिल्कुल उसी प्रकार जिस प्रकार कि तने हुए झंकृत तन्तुओं के साथ रबाब की दशा होती है । इस दशाकी अवगति या तो स्वामी (परमात्मा) को होती है अथवा मन को ।

कबीर की यह उक्ति अध्यात्म भाव को व्यक्त करने में तो सशक्त है ही, किन्तु इससे ब्रह्मानन्द सहोदर 'रस' की स्थिति का भी अनुमान किया जा सकता है । जो स्थायी भाव रसोपकरणों का परिवेश प्राप्त करके मन को आन्दोलित कर देता है और मन के सम्पर्क से समग्र शरीर सारी इन्द्रियाँ अपनी विषय-संवेदना की उस भाव-व्याप्ति को अर्पित कर देती हैं तब मानस में इन्द्रिय-भोगातीत दशा का एकानुशासन होता है । वही रस-दशा है, जो प्रमाता का संस्कारजन्य सौभाग्य है । यह निश्चित रूप से प्रमाता के मन की आनन्द-दशा है । साहित्य मात्र इसका सहयोगी है, यह दशा साहित्य का उपलाभ नहीं है ।

साहित्य रस नहीं है, रस का आकर नहीं है, जिसमें से पात्र भरभर कर सहृदय निरंतर पीता चला जाये । साहित्य तो कवि के भाव या भावों की प्रेषण-प्रक्रिया है । इसी प्रक्रिया में कवि के भाव 'विभावादि' अभिधा पाते हैं । प्रेषण भाव नहीं है, भाव का वाहन है; किन्तु भाव के बिना उसके वाहन (भाषा) की कल्पना नहीं की जा सकती । भाषा भावों की वाहिका है । वह जितनी सशक्त एवं सक्षम होगी भाव उतनी ही सहज क्षिप्रता से सहृदयता का आलिंगन कर सकेगा ।

भाव-द्वारा सहृदयता का आलिंगन और स्थायी भाव का उद्बोधन रस-प्रक्रिया की दो सहवर्ती क्रियाएँ हैं । जिस प्रकार आलिंगन और उद्बोधन की निरन्तरता सिद्ध होती है उसी प्रकार भाव-संचरण और भाव-व्याप्ति में भी निरन्तरता रहती है । कहने का आशय यह है कि भाषा का प्रयोजन सहृदयता से कवि-भाव का आलिंगन कराना है । सहृदयता की दुर्बलता या भाव की अपुष्टता आलिंगन का व्यवधान बन सकती है । भाषा की असमर्थता आलिंगन का व्यवधान बनकर अन्ततोगत्वा भाव की असमर्थता का ही रूप धारण कर लेती है । ऐसी स्थिति में रस ही नहीं भाव भी व्याहत होता है और रसाभास तो दूर की बात है, व्यवधान का सूत्रधार 'भावाभास' ही बन जाता है । अतएव भाव और भाषा दोनों की सम्मिलित शक्ति का नाम ही साहित्य है । इस शक्ति का परिचय प्रेषण से मिलता है जो सहृदय के मन की एक तीव्र, किन्तु दृढ़ पकड़ है ।

जीवन और साहित्य का गहन सम्बन्ध है । जीवन सृष्टि है और साहित्य जीवन का पुनः सृजन । अंग्रेज़ी में कह सकते हैं कि जीवन की वास्तविक सत्ता भावों में होती है और साहित्य की वास्तविक सत्ता भाव-प्रतिरूपण में होती है । भाव-प्रतिरूपण एक परिवेश में होता है जिसे काव्यशास्त्रीय भाषा में विभाव, अनुभाव और संचारी कहते हैं । यह संभव है कि इनमें से किसी एक की भी उपस्थिति कवि भाव को परिवेष्टित कर ले अर्थात् इनमें से किसी एक से भी कवि-भाव का परिवेश निर्मित हो जाये । भाव-विशेष होता है क्योंकि उसका परिवेश विशेष होता है । कवि-भाव सामान्य होता है क्योंकि वह 'विशेष-विनिर्मुक्त' होता है । कल्पना के पुट से उसमें सामान्यता आ जाती है, क्योंकि कल्पना में 'विशेष' की स्थिति नहीं रहती । यहाँ कल्पना से तात्पर्य कवि-कल्पना से है । वास्तव में कवि-कल्पना ही उसके भाव को प्रयोज्य बनाती है । भाव अपने विशेष रूप में, चाहे वह कवि का ही क्यों न हो, साहित्य प्रयोज्य नहीं होता । वह आवेग या उद्वेग मात्र होता है और कल्पना एवं कौशल के लिए उसमें कोई अवकाश नहीं होता । जिस प्रकार उत्तप्त जल प्रायः पेय नहीं होता उसी प्रकार भाव (इमोशन) प्रयोज्य नहीं होता । जब उसमें से व्यक्ति-संनिधान का अभाव हो जाता है तब वह प्रयोज्य होता है । इसके लिए भावोत्तर परिस्थिति और कल्पना का पुट आवश्यक है । तभी उसे कवि-भाव की संज्ञा मिलती है । कवि-भाव को सामान्य होने के लिए सहृदय की आवश्यकता नहीं है । सहृदय को उसके संस्पर्श से जो आह्लादक आस्वाद उपलब्ध होता है वह उसके सामान्य होने पर ही मिलता है ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साधारणीकरण की समस्या

अनेक विद्वानों की यह मान्यता रही है कि साधारणीकरण कवि के भावों का होता है। मेरा कहना यह है कि कवि अपनी अनुभूतियों में से भाव निकालकर प्रतिभा के कारखाने में डालकर कल्पनापुट से अपनी रचना में जिन भावों को निरूपित करता है, वे साधारण ही होते हैं। राग-द्वेष की विशेषता से युक्त भाव सामान्य सहृदय की रुचि को तोष नहीं दे सकते। अतएव वे विशेष सहृदय के लिए ही तोषक हो सकते हैं; किन्तु हम देखते हैं कि सुकाव्य सभी सहृदयों को प्रणीति करता है, सबको आनन्ददायी होता है। इससे स्पष्ट है कि काव्य-प्रणीत भावों की विशेषताएँ विगलित हो जाती हैं, इसलिए वे सर्व-रोचक और सर्व-प्रीणन-सक्षम होते हैं।

सहृदय की व्याख्या में यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि सहृदय वह व्यक्ति है जिसका मानसिक स्तर कवि के भाषा-भाव-स्तर तक पहुँच सकता है, अर्थात् अपने भावों को जिस कल्पना और कौशल के साथ कवि सहृदय तक प्रेषित करता है वह उसे ग्रहण करने में समर्थ होता है। उसकी अनुभूतियाँ अधिक भले ही न हों और उसकी कल्पना-शक्ति में उतनी सर्जन-क्षमता भी भले न हो, किन्तु वह काव्य-प्रणीत अनुभूतियों और कल्पना-पुटों के मर्म को समझने की क्षमता रखता हो। जिन संस्कारों के परिवेश में कवि अपने काव्य की रचना करता है उन संस्कारों से वह वंचित न हो, उनसे वह अनभिज्ञ न हो तब तो वह सहृदय है, अन्यथा नहीं।

सहृदय और समाज

जिस प्रकार कवि सामाजिक प्राणी है उसी प्रकार सहृदय भी सामाजिक प्राणी होता है। विशेष संस्कारों की बात छोड़ी जा सकती है, किन्तु समाज से जिसने सामान्य संस्कार भी ग्रहण नहीं किये हैं, वह संस्कारहीन व्यक्ति काव्यानन्द का अधिकारी नहीं है। जो व्यक्ति संस्कारों के अभावों से कवि की अनुभूतियों और कल्पनाओं तक नहीं पहुँच सकता है, उनमें प्रवेश कर उनके मर्म को नहीं जान सकता है वह कवि-रचना के समुचित आनन्द का अधिकारी नहीं है। संस्कारों के क्षेत्र में हम भाषा-संस्कारों को भी विस्मृत नहीं कर सकते। यही कारण है कि सब लोग सभी कृतियों का आनन्द प्राप्त नहीं कर सकते। क्या वे सहृदय हैं? उत्तर स्पष्ट है कि सहृदयता अनुभूति, कल्पना और भाषा के साथ चिन्तन-संस्कार भी चाहती है। फिर भी सहृदय को सर्वज्ञ नहीं माना जा सकता। अतएव सहृदय के संस्कार सर्वज्ञता का ठेका नहीं ले सकते। उदाहरण के लिए जो व्यक्ति किसी संस्कृत-रचना को नहीं समझ सकता है, हिन्दी-उर्दू की रचना से ही आनन्द ले सकता है, स्पष्ट है कि वह उन्हीं रचनाओं के सम्बन्ध में (जिनको वह समझता है और कवि के भावों में प्रवेश कर सकता है) वह सहृदय कहा जा सकता है।

नाटक और सहृदय

नाटक-अभिनय के समय सहृदयता के बाट कुछ हल्के होते हैं क्योंकि अभिनय को देखने वाले व्यक्तियों को कायिक और वाचिक भंगिमाओं से नाटक के विषय में बहुत-कुछ अवगति हो जाती है। इसीलिए यह देखने में आता है कि अनेक दर्शक अंग्रेज़ी का सामान्य ज्ञान भी न होने पर अंग्रेज़ी के खेलों को देखने जाते हैं और संतोष की मुद्रा लेकर लौटते समय अपनी सहृदयता का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं।

काव्य और नाटक की भाषा में बहुत अन्तर हो सकता है क्योंकि कवि को यह ध्यान रखने की आवश्यकता नहीं है कि उसकी रचना को कौन पढ़ेगा और समझेगा, किन्तु नाटककार इस बात की उपेक्षा नहीं कर सकता। किसी नाटक के व्यावसायिक उपयोग की बात छोड़ देने पर भी उसका दृश्यात्मक मूल्य अविस्मरणीय है। यह सोचना ग़लत होगा कि नाटक-दर्शकों में सब लोग एक ही स्तर के होंगे अथवा सब कवि के स्तर के होंगे। उनके बौद्धिक धरातल में अन्तर हो सकता है, फिर भी वे एक सामान्य सामाजिक स्तर पर तो हो ही सकते हैं। नाटककार उसी स्तर को रखने का प्रयत्न करता है। यदि वह ऐसा नहीं कर पाता है तो उसकी नाट्यकृति सामान्य सहृदय के स्तर से ऊँची होने के कारण प्रसाद के नाटकों की स्थिति में जा पहुँचती है।

इसी प्रकार किसी दार्शनिक सिद्धान्त के आधार पर लिखी हुई काव्य-कृति विशिष्ट सहृदय का रुचि-तोष कर सकती है, फिर भी कवि-कला की भूमिका पर उसकी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विशिष्टता सहृदय की रुचि को व्याहत नहीं कर देती। कामायनी में अनेक स्थलों पर सैद्धान्तिक प्रतीक हैं। सामान्य पाठक उनको समझने में कठिनाई का अनुभव कर सकता है, किन्तु उसको समझने के लिए, उससे आनन्द पाने के लिए आवश्यक संस्कार बनाने पड़ेंगे। उसी स्थिति में ही उसको सहृदय की संज्ञा दी जा सकती है।

भाव-परिवेश

कवि सहृदय तक अपने भाव को किसी परिवेश में निहित करके भेजता है। परिवेश में भाव उसी प्रकार संरक्षित या संप्रतिष्ठित रहते हैं जैसे मन्दिर में देव-प्रतिमा। यह परिवेश लघु भी हो सकता है और विशाल भी। प्रेषण और ग्रहण, दोनों दृष्टियों से परिवेश उपयोगी होता है। परिवेश किसी एक शब्द में भी निहित हो सकता है और अनेक शब्दों और वाक्यों में भी परिवेशों का प्रसार हो सकता है। परिवेश के भीतर सहृदय भाव-परिकल्पना सहजता से कर लेता है और रस-निष्पत्ति को उससे सहयोग मिलता है।

परिवेश भाव या भावों में बिखराव नहीं होने देता। इसके अतिरिक्त भाव-सम्बन्धों की रक्षा करके परिवेश प्रमाता के मन में सम्बद्ध भाव की प्रेषणा में सहयोगी उपकरण का श्रेय प्राप्त करता है। परिवेश की सृष्टि में कवि-कौशल से उसकी अनुभूति और कल्पना को बड़ी सहायता मिलती है।

भाव के अनुरूप परिवेश का होना नितान्त आवश्यक है। भाव-विषम परिवेश में कवि का इष्टभाव अपने मौलिक रूप में प्रमाता द्वारा गृहीत नहीं हो पाता। भावानुकूल परिवेश ही सुन्दर माना जाता है।

सुन्दर परिवेश कभी भी भाव-प्रतिकूल नहीं हो सकता। क्रोध, जुगुप्सा आदि भावों का परिवेश भी उनके आनुकूल्य में ही सुन्दर कहा जा सकता है। जो परिवेश प्रसंगानुकूल भाव का मित्र है वही सुन्दर परिवेश है।

परिवेश-सौन्दर्य प्रमाता की रुचि पर निर्भर नहीं होता, वह निर्भर होता है प्रसंग की आवश्यकता पर जो कवि-रुचि से सहयुक्त होती है। कौशल के सहयोग से कवि-निर्मित भाव-परिवेश ही सहृदय के मन में उपयुक्त वातावरण उत्पन्न करके उसमें समुचित रुचि का पुट दे देता है।

कवि द्वारा निरूपित विभावादि ही परिवेश का काम करते हैं। इसी परिवेश में निगूढ़ कवि-भाव सहृदय के मन में प्रवेश करके उसके सुषुप्त स्थायी भाव को सचेत करके आस्वाद्य बनाता है।

भाषा, कवि एवं सहृदय

साहित्य और दैनिक व्यवहार की भाषा में अन्तर होता है। दैनिक व्यवहार की भाषा में उस सौन्दर्य की अपेक्षा नहीं होती जिसकी अपेक्षा साहित्यिक भाषा में होती है। बिम्ब, प्रतीक, अलंकार आदि व्यावहारिक भाषा की आवश्यकता नहीं होते, वरन् कभी-कभी तो इनसे व्यावहारिक भाषा अपने अर्थ को व्यक्त कर देती है। हाँ, कभी-कभी अपने अभिप्राय को व्यक्त करने के लिए व्यक्ति अपनी व्यावहारिक भाषा में इनमें से किसी का प्रयोग कर सकता है। कवि की तो ये आवश्यकताएँ हैं। उपमान, प्रतीक और बिम्ब कल्पना के वाहन हैं : उस कल्पना के जो भाव-प्रेषण की नालिका है। यह हो सकता है कि कवि इनमें से कभी किसी से और कभी किसी से अपने अभिप्राय की पूर्ति कराता हो, किन्तु वह इन सबकी नितान्त उपेक्षा नहीं कर सकता। जिस प्रकार सामान्य घर और विवाह वाले घर के वातावरण में अन्तर होता है, उसी प्रकार सामान्य व्यावहारिक भाषा और साहित्यिक भाषा में अन्तर होता है। भाषा के साथ भाव का विवाह ही तो साहित्य है। विवाह के वातावरण में जो सजधज होती है, वही साहित्यिक वातावरण में होती है। शब्दों का चुनाव, संगति, प्रयोग-कौशल-ये सभी तो इस वातावरण का निर्माण करते हैं। इस वातावरणिक प्रसाधना में कल्पना का विशेष सहयोग होता है। उपमान, प्रतीक आदि तो कल्पना के सेवक होते ही हैं साथ ही अनुभूतियों की जोड़-तोड़, प्रसंगों की 'सैटिंग' और 'फिटिंग' में भी कल्पना का प्रमुख योग-दान रहता है।

जहाँ साहित्य है वहाँ अनुभूतियाँ हैं, कहीं छाँटी हुई, कहीं तोड़कर तराशी हुई और कहीं संधि-से-संधि मिलाकर जोड़ी हुई। प्रसंग से तात्पर्य किसी कथा-प्रसंग से नहीं है, वरन् द्रुत परिवेश प्रसंग से है क्योंकि प्रत्येक शब्द किसी परिवेश में प्रयुक्त होता है। प्रसंग-विरोधी शब्द परिवेश को ध्वस्त करता है। उदाहरण के लिए नीचे की पंक्तियों को ले सकते हैं—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शीतल दाह अमोघ यहाँ,
मैं कर दूँगा तेरा विनाश ।

यहाँ रौद्र के परिवेश में 'शीतल दाह' दाह में भी शीतलता की गवेषणा नहीं करता । यह चिन्ता का शमन करने वाली आशा का उत्साह नहीं है, वरन् यह वीर भाव को रौद्र की दिशा में ले जाने वाला उत्साह है, अतएव यहाँ 'दाह' के साथ 'शीतल' शब्द का प्रयोग परिवेश को ध्वस्त करता है। कल्पना साहित्य जगत् में ऐसे ध्वंस को जन्म देकर अपनी सृजनशीलता को कलंकित नहीं कर सकती ।

इस प्रकार कल्पना भाव का पोषण करती हुई अभिव्यक्ति को सशक्त बनाती है। कल्पना से एक ओर भाव प्रेष्य बनता है तो दूसरी ओर ग्राह्य भी बनता है । अतएव कल्पना द्विगुणित वरदान है—कवि के लिए भी वरदान है और सहृदय के लिए भी । यहाँ पर हम कवि के लिए वरदानस्वरूप कल्पना से सम्बद्ध हैं । हम जिस कल्पना की बात कर रहे हैं वह कवि की कारयित्री प्रतिभा की आत्मजा है ।

कारयित्री प्रतिभा की विशेषता उसकी सामान्य प्रतिष्ठा है, 'विशेष' की सीमा में वह अपनी व्याप्ति की गरिमा को खो सकती है, किन्तु प्रतिभा की प्रशस्यता इस खतरे को कभी भी स्वीकार नहीं कर सकती । प्रतिभा जितनी विभु एवं सौरभौम सिद्ध होगी उतनी ही सामान्य एवं अमोघ होगी । दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि कल्पना के पुट से कवि की अनुभूति अपनी सीमा का विसर्जन कर देती है । कल्पना जितनी पुष्ट होगी, जितनी गहन होगी वह उतनी ही व्यापक एवं अतिसीम होगी । अतएव कल्पना के पुट से व्यावहारिक भाषा भी साहित्यिक वेष धारण कर लेती है । इससे स्पष्ट है कि साहित्यिक भाषा के आनन्द लेने के लिए कल्पनाशील प्रमाता की आवश्यकता है । यहाँ हम यह पुनरावृत्ति न करने की भूल नहीं कर सकते कि कल्पना जहाँ दिव्यदान है वहाँ वह संस्कार की प्रदाति भी है ।

स्मृति, कल्पना और अनुभूति

स्मृति 'विशेष' के बोध से संबद्ध होती है । उसमें राग-द्वेष का पुट, स्मर्ता के दुःख-सुख का भाव निहित रहता है । सद्य स्मृति में प्रखरता और तीव्रता हो सकती है । उसमें दुःख-सुख का जितना अंश होता है, वह अनुभूति से संबंधित होता है । दुःख-सुख की गहनता या तीव्रता में अनुभूति की गहनता या तीव्रता रहती है । स्मृति के जिस अंश में विशिष्टता या वैयक्तिकता का ह्रास होता जायेगा, अनुभूति उतनी ही असंपृक्त होती चली जायगी । प्राचीनतम स्मृति वैयक्तिकता को खोकर सामान्यता के निकट आ जाती है और कुछ स्मृतियाँ तो एक-दूसरी में मिलकर सामान्य ही हो जाती हैं । किन्तु जब तक उनसे स्मर्ता का दुःख-सुखपरक संबंध रहता है तब तक वे उसके बोध की सहचरी होती हैं; परन्तु जब वे सामान्य रूप पा लेती हैं तब वे उसके हृदय-लोक की विशेष संपत्ति न होकर सामान्य निधि होती हैं ।

कुछ लोग यह सोच सकते हैं कि प्राचीन और नवीन के संबंध से कवि की अनुभूतियों में काल-व्यवधान रहता है। कवि अपनी स्मृतियों का भी पूरा उपयोग करता है, किन्तु स्मृतियों के रूप में नहीं, अनुभूतियों के रूप में अर्थात् अपनी अनुभूतियों का उपयोग कवि विशिष्ट परिवेश में नहीं करता सामान्य परिवेश में करता है । दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि जिन अनुभूतियों का प्रयोग साहित्य-रचना में होता है वे दुःख-सुख से मुक्त होती हैं । उनमें से स्मृति-तत्त्व नितान्त क्षय को प्राप्त हो जाता है। अतएव प्राचीन और नवीन स्मृतियों का कवि-सृष्टि में कोई मूल्य नहीं है। यदि है तो केवल इतना कि वे अनुभूति-रूप में कवि-कर्म की सहायक बन जाती हैं ।

कवि-कल्पना कवि-कर्म में अनेक प्रकार से सहायक होती है । उसका पहला काम तो यह है कि वह कवि की स्मृतियों को अनुभूतियों के रूप में ग्रहण करती है और फिर अनुभूतियों को व्यवस्था के अनुरूप काटती-तराशती है। इसके अतिरिक्त वह कवि-कौशल को सजग करके उसे सक्षम बनाती है । इसी कौशल के स्पर्श से कवि की कला, न केवल सौन्दर्य का विकास करती है, अपितु वह भाव-प्रेषण को स्फूर्ति प्रदान करती है ।

अनुभूति और कल्पना

अनुभूति और कल्पना में अति गहन संबंध होता है। सामान्य मनुष्य में भी इनका कुछ-न-कुछ संबंध रह सकता है, फिर भी यह संबंध अनिवार्य नहीं है, किन्तु कवि के सम्पर्क में आकर अनुभूतियाँ उसकी कल्पना का गहन स्पर्श पाकर अपने को सँवारे और सजाये बिना नहीं रह सकतीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिस प्रकार एक सुशिक्षक के हाथों में हिंस्र पशु भी संयत हो कर काम करता है उसी प्रकार सक्षम कल्पना के संस्पर्श से बेडौल अनुभूतियाँ भी सुडौल हो कर किसी भी व्यवस्था को स्वीकार करने के लिए सन्नद्ध रहती हैं।

अनुभूति और कल्पना का अन्योन्याश्रय संबंध है। कल्पना अनुभूति को नया रूप देती है और नया जन्म देती है तो अनुभूति भी कल्पना को सक्षम एवं सशक्त बनाती है। शरीर-विज्ञान जिस प्रकार मस्तिष्क और हृदय की अन्योन्याश्रयता स्वीकार करता है उसी प्रकार काव्यशास्त्र में भी कल्पना और अनुभूति का संबंध स्थिर होता है। अनुभूति और कल्पना, एक दूसरी से पृथक् रहकर केवल अपनी व्यर्थता सिद्ध कर सकती हैं। कवि-कर्म इन दोनों के पार्थक्य में कदापि संपन्न नहीं हो सकता। जहाँ कवि-कर्म की स्थिति होगी, वहाँ कल्पना और अनुभूति का अटूट सम्बन्ध भी होगा।

जिनको हम संस्कार कहते हैं वे अनुभूतियों से तो बनते ही हैं, कल्पना और अध्ययन से भी बनते हैं। जिस प्रकार अनुभूतियों से 'कल्पना' की क्षमता की अर्जना होती है, उसी प्रकार अध्ययन से भी कल्पना की अर्जना होती है और कल्पना स्वयं अध्ययन के माध्यम से अनुभूतियों को नव्यता प्रदान करती है। इससे यह स्पष्ट है कि संस्कार-निर्माण में भी कल्पना और अनुभूति का योग अविस्मरणीय है। ये संस्कार कवि-कर्म को तो प्रेरित और सक्षम करते ही हैं, साथ ही सहृदयता को भी सक्षम बनाते हैं। इनसे सहृदयता में शक्ति एवं स्फूर्ति आती है।

कवि-कल्पना का प्रसार और अनुभूतियों का उपयोग

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी अनुभूतियों और कल्पनाओं का लाभ उठाता है। उसके दैनिक जीवन में ये निरन्तर काम आती रहती हैं। ये दोनों उसके अर्जित ज्ञान-भंडार के उत्पादक तत्त्व हैं। जो व्यक्ति जितना कल्पनाशील होता है वह उतना ही अधिक विज्ञ समझा जाता है। हम किसी कल्पनाहीन व्यक्ति की कल्पना नहीं कर सकते; किन्तु, हाँ, बहुत से लोगों में कल्पना-शक्ति बड़ी क्षीण होती है, अतएव ऐसे लोग मन्दबुद्धि नाम से लांछित होते हैं। जिनकी कल्पना क्षीण होती है वे अनुभूतियों का सम्यक् उपयोग भी नहीं कर पाते और ऐसे लोगों के पास अनुभूति-संचय भी बहुत कम होता है। अनेक घटनाओं और परिस्थितियों में से निकल कर भी वे अनुभव का संकलन नहीं कर पाते। कल्पना की दुर्बलता के कारण अनुभव उनके पास ठहर नहीं पाता अथवा अनुभव की सहानुभूति कल्पना के साथ होती है। यह तो अन्यत्र कहा ही जा चुका है कि अनुभूति और कल्पना का बड़ा गहन सम्बन्ध है। इनमें से एक के क्षीण एवं निर्बल होने पर दूसरी की क्षीणता और निर्बलता स्वयंसिद्ध है। फिर भी दोनों का स्थान एक नहीं है, दोनों का काम एक नहीं है। कल्पनाशीलता अनुभूतियों के लिए सदाशयता का निर्माण करती है। कल्पना अनुभूतियों के उपयोग के लिए वातावरण बनाती है और उपयोग को स्वस्थ बनाने का काम भी कल्पना ही करती है। अनुभूतियों के टुकड़े करना या टुकड़ों को जोड़ना या अनेक अनुभूतियों को एकस्थ करना कल्पना की क्षमताओं के ही विविध रूप हैं। कल्पना को दिव्यदास कह कर भी उसके प्रति अनुभूति-सहयोग का विस्मरण संभव नहीं है। अनुभूतियाँ कल्पना को शक्ति प्रदान करती हैं। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि अनुभूतियों से कल्पना अपनी शक्ति बढ़ाती है। हर हालत में कल्पना सेव्य है और अनुभूतियाँ उसकी सेविका हैं। जिस प्रकार सेव्या अपनी सेविकाओं का संरक्षण करती है उसी प्रकार कल्पना भी अनुभूतियों का संरक्षण करती है। अनुभूतियों द्वारा कल्पना की सेवा की बात तो दिन के प्रकाश के समान स्पष्ट है ही।

कल्पना चाहे कवि में हो चाहे किसी दूसरे में वह सृजन-कार्य करती है। सच तो यह है कि वह शिल्प को प्रोत्साहित करती है। प्रतिभा के सूक्ष्मतम तंतुओं से कल्पना का सृजन होता है। जिसे प्रतिभा का आलोक मिला है वहीं कल्पना की शिल्पिता अपना वैभव प्रदर्शित करती है। यह दूसरी बात है कि वातावरण और परिस्थितियों के कारण कल्पना को अपनी अभिव्यक्ति का समुचित अवसर न मिलने से वह प्रतिष्ठा न पा सके। जो लोग कवि नहीं हैं उनमें भी कल्पना के चमत्कार देखे जाते हैं। जिस प्रकार कला के सौन्दर्य में कल्पना के कोमल करों का स्पर्श होता है, उसी प्रकार विज्ञान के साकार चमत्कार भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कल्पना की सृष्टि हैं। निर्माणशीलता कल्पना की प्रेरणा है। मनुष्य की प्रत्येक कृति में कल्पना की प्रेरणा को देखा जा सकता है। मनुष्य की निर्माण-दृष्टि और उपकरणहीन सृष्टि कल्पना का ही बीज है। कल्पना से विविध अनुभूतियों को जन्म मिलता है। अनेक प्रयोग कल्पना-प्रेरित होते हैं जिनसे अनुभूतियों को अवसर मिलता है और फिर वे अनुभूतियाँ कल्पना के प्रसार और प्रचार की स्वयं सेवा करती हैं।

यद्यपि कविता में शिल्प होता है, किन्तु अन्य शिल्पियों के शिल्प से कवि का शिल्प भिन्न होता है। उसके शिल्प के सब उपकरण सूक्ष्म होते हैं, अस्पृश्य एवं अदृश्य होते हैं। उसकी सैटिंग-फिटिंग भी भाव-भूमि पर होती है; अतएव काव्य-शिल्प निराला होता है। काव्य-शिल्प में भाव सँजोये जाते हैं जिनको भाषा में साकार किया जाता है। जिस प्रकार अच्छी प्रतिमा के बनाने में अच्छे प्रस्तर, अच्छी छैनी, अच्छी हथौड़ी, स्वस्थकर और स्वस्थ दृष्टि अनुपेक्षणीय हैं, उसी प्रकार कवि को भी अच्छी कविता के लिए अनेक अच्छे उपकरणों की आवश्यकता होती है, जिनका उल्लेख अन्यत्र किया जा चुका है।

मूर्ति आदि कलाकृतियों में मूर्त रूप होता है, अतएव वह प्रत्यक्ष होता है। काव्य-कृति में वर्णों के सिवा कोई चीज़ प्रत्यक्ष नहीं होती। उसमें जिस भाव की प्रतिमा का निर्माण होता है उसका निर्माण कल्पना करती है और वह भाव-रूप-रचना कल्पना में होती है। अनुभूतियों से भाव मिलने पर भी भाव-सौंदर्य का समस्त दायित्व कल्पना पर होता है।

सहृदय की दिशा में भी कल्पना का योगदान अविस्मरणीय है। कल्पना की जिस भूमिका पर कवि-कृति की सृष्टि हुई है सहृदय को उसी पर पहुँचने की क्षमता होनी चाहिये और वह क्षमता उसको प्रदान करती है कल्पना। सहृदय की इस कल्पना में अनुभूतियों की बलिष्ठता परम उपादेय होती है। जिनको हम संस्कार कहते हैं वे ऐन्द्रिय तो होते ही हैं काल्पनिक भी होते हैं। जहाँ-जहाँ अनुमान सहयोगी होता है वहाँ-वहाँ कल्पना-शक्ति स्फूर्त होती है।

कल्पना अध्ययन आदि से भी शक्ति संकलित कर लेती है। अतएव कल्पनाशीलता सहृदय का परमावश्यक गुण है। कल्पना कवि-मानस के परिवेश को सहृदय के मानस में भी निर्मित कर देती है। भाव-परिवेश कवि-कल्पना देन होता है और सहृदय के मानव में उसका प्रत्यंकन परिजागरण उसकी कल्पना का ही प्रतिदान है। अ भूतियों के होते हुए भी सहृदय कवि की भाव-प्रतिमा पकड़ नहीं सकता जब तक कि उसके पास कल्पना की फ चिमटी न हो। इस प्रकार कवि-भाव को पकड़ने के लि अनुभूति का आश्रय चाहिए और कल्पना की पकड़ चाहिए इन दोनों से सुसज्जित व्यक्ति ही संस्कारवान् कहलाने अधिकारी है, वही सहृदय अभिधा से अभिहित किया जा है। भाषा आदि की योग्यता सहृदय के संस्कारों उपतत्त्व है।

कल्पना और सौन्दर्य

जो रूप, वस्तु, वाणी या भाव मोहक प्रतीत हो उसक सामान्य भाषा में सुन्दर कहा जाता है। सौन्दर्य के विषय में भिन्न-भिन्न विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं। कोई उ वस्तुपरक बतलाता है और कोई भावपरक और कुछ विद्वा सौन्दर्य का संबंध वस्तु और भाव दोनों से जोड़ते हैं पश्चिम के भौतिकतावादी विद्वानों ने सौन्दर्य को वस्तुपरक माना है, किन्तु वहाँ भी बहुत से लोग ऐसे हैं जो उसे भाव परक या विषयीपरक मानते हैं। भारतीय मनीषियों ने भी सौन्दर्य को अपनी-अपनी दृष्टि से परखा है। यदि लैला-मजनूँ की कहानी की सहायता लें तो सौन्दर्य विषयीपरक सिद्ध होता है। गुलाब का सुन्दर सुमन सभी को आकर्षक लगता है, किन्तु कुछ लोग गुलाब से भी अधिक कमल को पसन्द करते हैं। इसमें रुचि-भेद ही भेदक तत्त्व सिद्ध होता है। इन सब मतों को संकलित करके परखने के पश्चात् यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि 'बाह्य रूप' के आकर्षकत्व में रुचि का विशेष योग होता है। बिहारी ने अपने एक दोहे में इसी तथ्य की पुष्टि की है। वे कहते हैं—

समै समै सुन्दर सबै, रूप कुरूप न कोइ।
जाती जेती रुचि जितै, तेतौ सुन्दर होइ॥

यह दोहा रुचि को सौन्दर्य का निर्णायक तत्त्व घोषित करता है। प्रसाद ने बिहारी की भाँति सौन्दर्य की वास्तविकता का विस्मरण न करके उसे हृदय से सम्बन्धित किया है—

हो नयनों का कल्याण बना,
आनन्द सुमन-सा विकसा हो।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथवा—

जो गूँज उठे फिर नस नस में
मूर्च्छना समान मचलता सा
आँखों के साँचे में आकर
रमणीय रूप बन ढलता-सा
नयनों की नीलम की घाटी
जिस रसघन से छाजाती हो;
वह कौंध कि जिससे अन्तर की
शीतलता ठंडक पाती हो।

अन्त में प्रसाद कहते है—

उज्ज्वल वरदान चेतना का
सौन्दर्य जिसे सब कहते हैं
जिसमें अनन्त अभिलाषा के
सपने सब जगते रहते हैं।

प्रसाद के अन्तिम पद ने यह निश्चय कर दिया कि सौन्दर्य अनेक अभिलाषाओं का प्रेरणा-स्रोत है और वे अभिलाषाएँ नित्य नवीन हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि प्रसाद सौन्दर्य को स्थिर नहीं मानते। मेरी दृष्टि में भी सौन्दर्य स्थिर नहीं है। स्थिर सौन्दर्य मात्र रुचि की जड़ता हो सकती है, चेतना का उज्ज्वल वरदान नहीं हो सकता। कालिदास की उक्ति भी सौन्दर्य को नवता का विकास सिद्ध करती है।

स्थिर सौन्दर्य से तात्पर्य उस सौन्दर्य से नहीं है जो अपरिवर्तनीय है, वरन् किसी नये पहलू से देखने पर भी जिसमें किसी विशेषता का आभास नहीं होता। दृष्टिकोण या पहलू का निर्णय रुचि करती है। अतएव रुचि को बाह्य सौन्दर्य का भी विशेष निर्णायक तत्व मानना ही पड़ेगा।

इसमें सन्देह नहीं कि कवि वस्तु-सौन्दर्य की भी उपेक्षा नहीं कर देता, किन्तु वह वस्तु-सौन्दर्य में अपनी रुचि का गुण भी भर देता है। उसकी आँख अपनी आँख होती है, उसकी दृष्टि अपनी दृष्टि होती है। उसी के अनुरूप वह सृष्टि करता है। स्पष्ट है कि उसकी दृष्टि में केवल चाक्षुष सौन्दर्य का महत्त्व नहीं है; उसकी दृष्टि कल्पना-दृष्टि है और उससे वह जिस सौन्दर्य की सृष्टि करता है वह इतनी कुशलता से प्रतिरूपित होता है कि उसका प्रभाव सहृदय पर वही होता है जो जादू का दर्शक पर होता है। जिस प्रकार जादूगर दर्शक की दृष्टि को अधिकृत कर लेता है, उसे बाँध लेता है उसी प्रकार कवि भी सहृदय की कल्पना को अधिकृत कर लेता है। यह जादू कवि द्वारा निर्मित भाव-परिवेश की उस सृष्टि में निहित रहता है, सहृदय की उस कल्पना की जागृति में निहित रहता है जो उसे समानुभूति की भूमिका पर ले पहुँचती है।

कवि-कृति दो प्रकार के सौन्दर्य का आधान होती है: परिवेश-सौन्दर्य एवं अभिव्यक्ति-सौन्दर्य। दोनों में कल्पना-सौन्दर्य सजग एवं स्फूर्त होता है। परिवेश-सौन्दर्य अनुभूतियों को भाव-रूप में व्यवस्थित करता है और अभिव्यक्ति-सौन्दर्य शब्दों का चयन और उनकी संगति-व्यवस्था करता है। अभिव्यक्ति को सरल और स्पष्ट करने के लिए वह जिन-जिन साधनों का उपयोग करता है वे उसके अभिव्यक्ति-सौन्दर्य के अंग होते हैं।

कवि-सृष्टि की उपयोगिता कवि के लिए अथवा सहृदय के लिए

पश्चिम में कला 'कला के लिए है अथवा उसका कोई उपयोग है', इस विषय पर काफी वाद-विवाद हो चुका है और काफी लिखा जा चुका है। इस जगत् में उपयोग का अमित महत्त्व है। भक्तों ने भक्ति तक में उपयोग की सुगन्ध फैलाकर उसका प्रचार किया और भक्ति-आन्दोलन का प्रसार किया। कला के सम्बन्ध में भी यह बात लागू होती है। यदि साहित्य-सृष्टि का कोई महत्त्व, उसका कोई उपयोग न हो तो कवि व्यर्थ ही उसमें अपना समय क्यों लगाये? कुछ लोग कहते हैं कि साहित्य-स्रष्टा को सृजन-काल में आनन्द आता है इसलिए वह साहित्य की सृष्टि करता है। यदि यह बात भी मान ली जाये तो आगे उसे छपाने, वितरण करने आदि में क्यों परिश्रम करता है? वह विद्वानों की, उन विद्वानों की जिनकी बात का लोक में कुछ मूल्य है, सम्मति क्यों चाहता है?

इन सब प्रश्नों के उत्तर में यही कहा जा सकता है कि साहित्य का उपयोग है। साहित्यकार साहित्य-सृष्टि इसलिए करता है कि उसे इस काम में आनन्द आता है, वह अपनी प्रशस्ति चाहता है। कीर्त्ति की अर्जना के साथ-साथ यदि अर्थोपलाभ हो जाये तो उसे आपत्ति भी कहाँ है? वरन् कोई-कोई साहित्यकार तो साहित्य की सृष्टि मूलतः व्यापारिक दृष्टि से करते हैं। यश की कामना उन्हें नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होती, ऐसी बात तो नहीं है, किन्तु उसका प्रमुख स्थान नहीं होता, यह सम्भव है। अतएव कवि-कर्म प्रयोजनहीन नहीं होता। मेरी दृष्टि में प्रयोजन के बिना कवि-सृष्टि या कोई भी कला सौन्दर्य के विकास की ओर बढ़ती भी नहीं है। अतएव काव्य के प्रयोजन के सम्बन्ध में 'काव्यप्रकाश' में 'काव्यं यशसे अर्थकृते व्यवहारविदे' आदि की जो बात कही गई है, वह सत्य प्रतीत होती है। यदि साहित्य सर्जना के प्रयोजनों में से औरों को एक बार भुला भी दिया जाये तो 'यशोलिप्सा' को तो नहीं भुलाया जा सकता। यश तो शिष्ट मानस की भी प्रथम दुर्बलता है। अतएव कवि-सृष्टि का प्रयोजन और उसकी उपयोगिता अविस्मरणीय है।

काव्य का प्रयोजन केवल कवि-दृष्टि से ही नहीं है, सहृदय की दृष्टि से भी है। कवि तो अपनी सृष्टि से आह्लादित होता हैं, अपने यश से प्रसन्न होता है, अर्थलाभ से तुष्ट होता है; किन्तु सहृदय कवि की कृति से तोष-लाभ करता है। उसकी मनोभूमि का परिष्कार होता है अथवा उसके संस्करों में वृद्धि होती है, उसका ज्ञान बढ़ता है। कविता उसको प्रेरणा देती है और उसके आचरण की धरा में परिवर्तन होता है। रूसो और वाल्टेयर के लेखों ने फ्रांस में जिस क्रान्ति को जन्म दिया था, इतिहास उसका साक्षी है। 'भारत-भारती' ने स्वराज्य की भूमिका में जो योगदान दिया साहित्यिक एवं राजनीतिक इतिहास उससे अनवगत नहीं है। कामायनी ने कितने हृदयों को मुग्ध नहीं किया। 'गोदान' किसका कंठहार नहीं बना ? ये बातें इस बात का प्रमाण हैं कि कवि-सृष्टि कवि के लिए ही प्रयोजनवती नहीं है, अपितु सहृदय के लिए भी है।

कवि और सौंदर्य

यह मानी हुई बात है कि सौन्दर्य चेतना का उज्ज्वल वरदान है और उससे ऐन्द्रिय रुचि की तृप्ति होती है। फिर कवि सौन्दर्य की उपेक्षा कैसे कर सकता है। कलाकार में सुन्दरता की ललक का होना स्वाभाविक है क्योंकि कला सौन्दर्य की अभिव्यक्ति है। यदि कवि-कला की प्रशंसा होती है तो कवि को उससे आह्लाद होता है, उसके मन को तोष मिलता है। कवि-कृति की प्रशंसा तभी हो सकती है जबकि उसमें सौन्दर्य की व्यवस्था की गयी हो—सौन्दर्य भी सामान्य नहीं, असामान्य। असाधारण सौन्दर्य ही कवि का अभिप्रेत होता है और होना भी चाहिये। कवि का सौन्दर्य उस कृति में भाव-व्यवस्था का सौन्दर्य होता है और अभिव्यक्ति का सौन्दर्य होता है। सुन्दर भाव-व्यवस्था में सुन्दर अभिव्यक्ति चार चाँद लगा देती है।

कवि का कौशल इसी में है कि वह भाव का चयन समझदारी से करे और बड़ी ईमानदारी से करे। 'समझदारी' से तात्पर्य है कि कवि किसी भी भाव को अपना निरूपण बना ले। जहाँ जिस भाव की अपेक्षा हो उसी को उचित सम्मान एवं उचित स्थान मिले। आवश्यकता न होने पर विरोधी भावों का मेला न लगाया जाये, यही कवि से अपेक्षित है। भाव की उचित परिवेश में अभिव्यक्ति की जानी चाहिये। जहाँ भाव का परिवेश आवश्यकता से अधिक संकीर्ण हो जाता है वहाँ वह अपना प्रभाव प्रकाशित नहीं कर सकता। इसी प्रकार परिवेश की अनावश्यक वृद्धि से भी भाव-सौन्दर्य क्षीण हो जाता है। जब कोई भाव वर्णनों के घटाटोप में फँस जाता है तब भी वह अपने प्रभाव को खो बैठता है। रामचन्द्रिका में ऐसे संकीर्ण और परिवृद्ध वर्णनों को देखा जा सकता है जहाँ भाव प्रभावहीन हो गया है।

एक भाव एक बार प्रभाव खोकर अपने सम्मान को वापस नहीं पा सकता क्योंकि फिर उसे न तो वह स्थान मिल सकता है और न वह व्यवस्था ही। दुबारा आकर वह पुनरावृत्ति-दोष का भागी ही बन सकता है। यदि प्रकारान्तर से वह आ भी जाये तो उसमें मौलिक क्रान्ति, क्षमता नहीं आ पाती। कवि अपनी कृति के अपेक्षित भावों से भी परिचित होता है, और वह भावों के प्रति अपने व्यवहार से भी परिचित होता है; किन्तु कभी-कभी वह 'उपेक्षा' और वह व्यवहार उसके अधिकार से बाहर हो जाता है। यही स्थिति उसकी कृति के सौन्दर्य को बिगाड़ने वाली होती है।

काव्य में भाव शिथिल नहीं होना चाहिये क्योंकि शिथिलता भाव के सौन्दर्य को सुरक्षित नहीं रख सकती। अधिक खिंचा हुआ भाव भी काव्य में कुरूपता पैदा करता है। भाव में शिथिलता अनेक भावों की घुसपेठ के कारण आती है। वर्णनों की अधिकता भी भाव में शिथिलता पैदा करती है। जहाँ भाव को समुचित निरूपण नहीं मिलता वहाँ वह अपना सही परिवेश नहीं पाता है और खिंचा-सा प्रतीत होता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रश्नोत्तर शैली में कितनी ही बार भाव की खिचाई बड़ी स्पष्टता से पाठक के समक्ष आ जाती है।

भाव का कलेवर भाषा में होता है। कलेवर के सही न बनने पर भाव की सही प्रतिमा प्रत्यक्ष नहीं होती। इसलिए जहाँ शब्दों के तनाव से भाव खिचा-खिचा सा प्रतीत होता है, वहाँ अनुपयुक्त शब्दों से भी भाव की सुन्दर प्रतिमा निर्मित नहीं हो पाती। सधा हुआ कलाकार ही जानता है कि कौन-सा शब्द उपयुक्त होता है और कौन-सा अनुपयुक्त। शब्द की उपयुक्तता और अनुपयुक्तता प्रसंग पर भी निर्भर होती है। इसके साथ एक शब्द दूसरे को अनुपयुक्त सिद्ध कर देता है। उदाहरण के लिए एक वाक्य ले सकते हैं। वह है—मित्र, आपने इधर-उधर की बातें मिलाकर मेरा 'कलेवर' बिगाड़ दिया है। यहाँ 'कलेवर' अनुपयुक्त शब्द है। इसके स्थान पर 'चित्र' उपयुक्त शब्द है। विशेषणों की अनुपयुक्तता भाव को प्रायः बिगाड़ देती है। सामान्य रूप में 'हरी घास' का प्रयोग ही होता है। 'हरी' विशेषण के स्थान पर 'काली' अनुपयुक्त विशेषण है। 'काली घास' का प्रयोग सामान्यतया नहीं मिलता। ऐसे ही, अनुपयुक्त क्रियाएँ भाव को कुरूप कर देती हैं। 'वह मुँह खोले चला आ रहा था' में जो भाव है वह 'वह मुँह फाड़े चला आ रहा था' का स्थान नहीं ले सकता, वरन् विशेष स्थान पर दूसरे वाक्य में निहित भाव की स्थिति पहले से स्पष्ट ही नहीं होती। अतएव भाव की प्रतिमा ही सही रूप में पाठक के समक्ष नहीं आ पाती।

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि प्रसंग के अनुरूप भाव की प्रतिष्ठा भाव को सौन्दर्य प्रदान करती है। प्रसंग-विरोधी भाव काव्य-सौन्दर्य का विरोधी होता है। शब्दों के सुन्दर होने पर भी उससे काव्य की प्रकृति समादृत नहीं होती। ऐसा भाव सहृदय के मानस में इष्ट परिवेश का प्रत्यंकन नहीं कर पाता। इस कारण रस-निष्पत्ति बाधित ही होती है। इसी प्रकार शिथिल अथवा खिचा भाव भी सहृदय के मन के उपयुक्त वातावरण को जाग्रत नहीं कर पाता। वास्तव में भाव-व्यवस्था ही काव्य को सुन्दर बनाती है और सहृदय का समुचित तोष और सम्यक् आनन्द की अनुभूति उसी से होती है। भाव-व्यवस्था ही भाव-सौन्दर्य का पर्यायी है।

यह ठीक है कि भाषा के प्रसाधनोपकरणों से भाव में कुछ घटत-बढ़त नहीं होती, किन्तु उनसे भाव में आकर्षण अवश्य आ जाता है। जिस प्रकार वन्दनवार वाले गृह को देख कर हमारा ध्यान उसके समारोह की प्रकृति की ओर भी खिच जाता है, उसी प्रकार प्रतीक-अलंकार आदि के संबंध से सहृदय की वृत्ति भाव पर पहुँच जाती है। ऐसी स्थिति में वृत्ति सीधी भाव का संस्पर्श करती है और सहृदय का मन अपेक्षित तोष की प्राप्ति करता है। सहृदय की वृत्ति को आकृष्ट करने वाले तथा भाव से उसका सहज संस्पर्श कराने वाले एक उद्धरण को कामायनी से प्रस्तुत किया जाता है—

कौन हो तुम वसंत के दूत
विरस पतझड़ में अति सुकुमार !
घन तिमिर में चपला की रेख,
तपन में शीतल मन्द बयार ॥

—कामायनी, श्रद्धा०,

इन पंक्तियों में भाव केवल इतना है—'दुःख में सुख, निराशा में आशा और अशान्ति में शान्ति का संदेश देने वाले तुम कौन हो ?' इस भाव को 'घनतिमिर' के साथ चपला की रेखा और 'तपन' के साथ 'शीतल मन्द बयार' ने जितना द्युतिमय और प्रखर बनाया है उससे कहीं अधिक 'वसन्त के दूत' और 'विरस पतझड़' पद-प्रतीकों ने बना दिया है। वे अलंकार और ये प्रतीक भावों को सहृदय की वृत्ति से संपृक्त कराने में बड़े अमोघ सिद्ध हो रहे हैं।

प्रसाधनों से संपन्न एक दूसरा उदाहरण भी कामायनी से ही प्रस्तुत है—

नील परिधान बीच सुकुमार
खुल रहा मृदुल अधखुला अंग;
खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघ-वन बीच गुलाबी रंग ॥

यहाँ भाव इतना-सा है—'नीलपरिधान में से श्रद्धा का गुलाबी रंग का अधखुला वक्षोपरिभाग बड़ा सुन्दर दिखायी दे रहा था।' इसी को 'बिजली का फूल' और 'मेघ-वन' ने इतना कान्त और उत्कर्षमय बना दिया है। भाव की यह कान्ति उस स्पर्श का परिणाम है जो उसे कला से मिला है। इस स्पर्श से भाव स्फूर्त होता है और उससे मिलने में सहृदयता को निर्बाध सुकरता मिलती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन उदाहरणों से हम यह अनुमान कर सकते हैं कि अलंकार केवल भाषा-वनिता को ही कमनीय नहीं बना देते, प्रत्युत भावों को भी अधिक कान्त बना कर सहृदय की भाववृत्ति से गहनालिंगित करा देते हैं।

अलंकारों की विशेषता का निर्धारण इस बात से किया जा सकता है कि उनसे भाव-व्यवस्था व्याहत न होने पाये। किसी प्रबन्ध-काव्य में भाव-व्यवस्था के लिए जितनी और बातें आवश्यक हैं उतनी ही भाव-परम्परा की रक्षा भी आवश्यक है। प्रबन्ध में एक भाव दूसरे के पीछे उसी प्रकार जुड़ा चला जाता है जिस प्रकार एक वाक्य दूसरे के पीछे, अथवा एक पद दूसरे के पीछे जुड़ा चला जाता है। भाव-परम्परा के विश्रृंखलित होने पर भी काव्य-सौन्दर्य क्षीण हो जाता है। कलाकार इस बात का पूरा ध्यान रखता है। भाव-परम्परा की व्याहति या विश्रृंखलता का प्रभाव सहृदय की वृत्ति पर पड़े ही नहीं यह संभव नहीं है। यह तभी संभव हो सकता है जबकि सहृदय के संस्कार इतने अपर्याप्त अथवा क्षीण हों।

संस्कार-सम्पन्न सहृदय भावों से भी मुग्ध होता है और अलंकारों से भी मुग्ध होता है। इसके विपरीत भाव-वैपरीत्य अथवा भावावरोध सेर स-निष्पत्ति में जो व्यवधान हो सकता है वह भी होता है क्योंकि सहृदय के संस्कार रस-निष्पत्ति में जितने साधक सिद्ध होते हैं उसी प्रकार प्रतिकूल परिस्थिति में अन्यथा सिद्ध होते हैं।

कवि-भाव-परिवेश

कवि-भाव अपने परिवेश में सहृदय का स्पर्श करता है। कवि कलाकार होता है अतएव वह उस परिवेश को सुन्दरतम बनाना चाहता है और जानता है। वह जिस परिवेश का प्रेषण करता है उसका वाहन भाषा है। भाषा में भाव की सुन्दरता प्रदान करने वाले अनेक उपकरण होते हैं। उनमें से अलंकार, प्रतीक और बिम्ब बहुत प्रसिद्ध हैं। बिम्ब तो सामान्य भाषा भी बना सकती है किन्तु बिम्ब-सौन्दर्य के लिए कल्पना और कला दोनों का सहयोग आवश्यक है। जिस प्रकार बिम्ब परिवेश बनाता है उसी प्रकार प्रतीक और अलंकार भी भाव-परिवेश का निर्माण कर सकते हैं। उदाहरण के लिए 'मेरा दम घुट-सा रहा है' इस वाक्य को ले सकते हैं। इसमें 'घुट-सा रहा है' ने जो परिवेश निर्मित किया है और भाव को जितना उज्ज्वल बना दिया है, वह अन्यथा सम्भव नहीं था। एक उदाहरण प्रतीक का लीजिये—

एक त्रिकोण वहाँ बैठा था,
राम, श्याम, घनश्याम।
एक सुप्त था, एक सजग था,
एक दृप्त, अनुकाम॥

इसमें राम, श्याम और घनश्याम के त्रिकोण में जो परिवेश निहित है उससे बैठने वालों की स्थिति का अनुमान साकार हो उठता है।

कवि और परिवेश

विभाव, अनुभाव और संचारी की कल्पना कवि पृथक्-पृथक् नहीं करता। उन सबका एक परिवेश होता है। जिस प्रकार किसी भाव-विशेष की उत्पत्ति के विषय में उसके उत्पादकों को नहीं भुलाया जा सकता, उसी प्रकार कवि-भाव के सम्बन्ध में उसके परिवेश को नहीं भुलाया जा सकता। जिस प्रकार उत्पादकों की स्थिति में भाव-स्थिति होती है, उसी प्रकार परिवेश की स्थिति में कवि-भाव सम्पन्न होता है। परिवेश के सम्बन्ध से हमारे समक्ष कई बातें प्रकट होती हैं जिनका एक चित्र नीचे दिया जाता है :—

क. जीवन	क. साहित्य
ख. भावमय	ख. कवि-भाव-मय
ग. सृष्टि (क्रियेशन)	ग. सृष्टि की सृष्टि (रि-क्रियेशन)
घ. सुख-दुःख-मय	घ. सुख-दुःख-मुक्त

बहुत से विद्वानों ने साहित्य को जीवन कहा है। वास्तव में जीवन और साहित्य में बहुत अन्तर है। भाव-संकुलता जीवन की माप है और कवि-भाव-संकुलता साहित्य की माप है। भाव-विरल जीवन जीवन का नाम मात्र है, जीवन का व्याज है। उसी प्रकार कवि-भाव-विरल साहित्य साहित्य नहीं होता। जब हम साहित्य की बात करते हैं तब स्पष्टतः कवि-भाव और उसके परिवेश की बात करते हैं। विशेष भाव विशेष व्यक्ति से सम्बन्धित होने के नाते प्रत्येक व्यक्ति द्वारा समादरणीय नहीं होता, किन्तु कवि-भाव अपने सामान्य परिवेश के कारण सर्व-सहृदय समादरणीय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होता है। कवि-भाव एक टकसाली रुपये की भाँति सामान्य रूप से सममान्य होता है। जीवन का प्रत्येक भाव सौन्दर्यावेष्टित हो यह आवश्यक नहीं है, किन्तु कवि-भाव निर्विकल्प रूप से सुन्दर होता है। उसमें कवि की ओर से सुन्दरता का हर सम्भव प्रयत्न, कौशल के चरण का समुचित निक्षेप झलकता है।

जीवन ममता-निर्ममता अथवा स्वीयता-परीयता के भावों से ओत-प्रोत होता है, काव्य या साहित्य में साहित्यकार की ओर से ऐसा कोई प्रयत्न नहीं होता। यदि उसकी ओर से कोई निगूढ़ प्रयत्न हो भी, तो वह उसे ऐसा प्रकट नहीं होने देता। कवि का लक्ष्य सहृदय को जीवन के ऐसे तत्त्वों से भेंट कराना होता है जिनमें विशेषता निगूढ़ होते हुए भी सामान्यता की प्रतीति हो, कल्पना का संपुटन होते हुए भी सत्य की झाँकी मिले। सहृदय कवि-कृति की भाव-झाँकी पाते ही मुग्ध हो जाये और सिहरने लगे तब तो कविता नाम सार्थक है, अन्यथा कविता नाम की सार्थकता सिद्ध नहीं होती।

सहृदय और स्थायी-भाव

जिस प्रकार विशेष परिस्थिति-जन्य विशेष व्यक्ति के मन में उद्भूत, विशेष भाव ही सामान्य भाषा में 'भाव' संज्ञा पाता है उसी प्रकार कल्पित परिस्थितियों में कल्पित भाव ही कवि-भाव होता है। उसकी अभिव्यक्ति कवि के जीवन में नहीं, साहित्य में होती है। कवि-प्रेषित कवि-भाव का संस्पर्श सहृदय के मन में जिस समधर्मी भाव को जगाता है वह स्थायी भाव होता है।

भाव भावी (भावुक) को सुख-दुःखप्रद होता है, उसकी अनुभूति सुख-दुःखमयी होती है, कवि-भाव सुख-दुःख से मुक्त होता है। व्यक्ति-भाव चेष्टा या क्रिया को प्रेरित करता है जो तात्कालिक हो सकती है; किन्तु कवि-भाव मुक्त-भाव का उत्पादक और आह्लादन का स्रष्टा होता है। स्थायी भाव सहृदय का वह भाव है जो न तो किसी चेष्टा या कर्म को तत्काल प्रेरित करता है, न किसी आत्मेतर भाव की सृष्टि करता है। वह मात्र आत्मभाव के रूप में प्रतिफलित होता है और उसकी अनुभूति आह्लाद या आनन्दस्वरूप होती है। जो स्थिति तिमिर-मुक्त प्रकाश की होती है वही तमोगुण और रजोगुण से मुक्त, सत्व-सम्पन्न स्थायी भाव से प्रतिफलित रस की होती है। रस कवि-भाव के परिवेश से उद्बुद्ध सहृदय के स्थायी भाव की उसको हुई आनन्दमयी अनुभूति है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूल्याङ्कन

मध्यकाल के संस्कृत काव्य पर कुछ बातचीत

धर्मेन्द्र गोयल

अपने पहले व्याख्यान में आचार्य द्विवेदीजी अपने व्याख्यान की योजना से परिचित कराते हुए अपने पाठक / श्रोता को इन व्याख्यानों में प्रस्तुत अपने चिन्तन की पद्धति का समुचित ध्यान दिला देते हैं, "मेरी दृष्टि में सम्पूर्ण साहित्य-बोध को समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम उन कवियों, ग्रंथकारों और कृतियों की जानकारी प्राप्त करें जो उस काल-विशेष में आदर्श, अनुकरणीय और व्याख्येय—समझे गये थे। फिर हमें उन लोकप्रिय किंवदंतियों का विश्लेषण करना भी आवश्यक हो सकता है जो श्रेष्ठ समझे जाने वाले कवियों और साहित्यकारों में प्रचलित हो गई थीं।...फिर विभिन्न रचनाओं पर लिखी गई टीका-टिप्पणियाँ भी हमें उस काल की विशेष प्रवृत्तियों का परिचय दे जाती हैं। कभी-कभी साहित्य-क्षेत्र के बाहर भी जाने की ज़रूरत पड़ सकती है क्योंकि साहित्य के पीछे अनेक प्रकार की धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक शक्तियाँ काम करती रहती हैं..." (पृ० ११)

वैसे स्वयं 'साहित्य' का तात्पर्य आचार्यजी के अनुसार रचनात्मक साहित्य तथा उसके मूल्यांकन के प्रयास मात्र है, (पृ० २५) किन्तु दर्शन, ज्योतिष, धर्मशास्त्र में भी सन् ईसवी की ८वीं सदी से लेकर जो मनोवृत्ति भारतीय मनीषा में केन्द्र बनी है वह यह है कि जो आदर्श, महिमाशील और श्रेष्ठ था वह व्यतीत हो चुका। इस बोध के अनुरूप साहित्य एवं साहित्येतर चिंतन में केवल संग्रह व्याख्या संकलन करना मात्र बचा है। आचार्यजी के उस वक्तव्य को साधारणतया निर्विवाद माना जाना चाहिए। किन्तु क्योंकि इसी सामान्य धारणा को केन्द्र मानकर आचार्य द्विवेदीजी मध्यकाल का सीमांकन भी करते हैं और जिस मध्यकालीन बोध पर यह व्याख्यान केन्द्रित है वह इसी युग के विशेषतया गुण ठहरते हैं, ऐसा कहना कुछ कठिन मालूम होता है। भारतीय मनीषा में आदि काल से आधुनिक काल तक नवीनता और इतिहास में प्रस्फुटित विकास को स्वीकार न करने की प्रवृत्ति सतत् विद्यमान है। मनुस्मृति हो या श्रौत (कल्प) सूत्र, भगवद्-गीता, उपनिषद् हों या ब्रह्म सूत्र—सभी अपने को सही, अखण्ड एवं सार्वकालिक सत्य का अनगूँज ही बतलाते हैं। स्वयं महाभारत के रचयिता व्यास भी पुराणों के रचयिता माने जाते हैं और यह सब उन्होंने केवल गणेणजी की बुद्धि का लिप्यंतरण मात्र ही किया है। इन मिथकों में कौन-सा इतिहास है और कौन-सी कल्पना कहना या जान पाना आसान नहीं है; तो दूसरी ओर उसी ८वीं सदी के बाद के साहित्य में और परवर्ती मध्यकाल में अर्थात् १५वीं सदी के बाद के युग में भी हिन्दुस्तानी संगीत, चित्रकला, और लोकभाषाओं के नवोन्मेष में विद्यापति, कबीर, मीरा, तुलसी, चैतन्य, नानक, तुकाराम, सूर आदि ने व्यापक धार्मिक चेतना दी है, यह बात दूसरी है कि संस्कृत रूढ़ि, अलंकार, लक्षण ग्रन्थों के कुण्ठाग्रस्त सुविधाभोगी कविराजों ने लम्बे अरसे तक लोकभाषाओं में अभिव्यक्त इस चेतना को स्वीकार न किया हो, प्रतिष्ठा न दी हो, शिष्ट सहृदय की रसज्ञता को आलोड़ित कर सकने लायक न पाया हो। आचार्य जी भक्ति, रीति, संत, कबीर, बाऊल जीवनदर्शन के इतने प्रज्ञाशील आलोचक और चिंतक हैं, मर्मज्ञ हैं जिन्हें उन्होंने अपने हिन्दी (अवधी, बिहारी, ब्रज) साहित्य के बारे में विवेकपूर्ण विस्तृत साहित्य में बैठाया है तो यह अनायास नहीं है, कि पाँचवें व्याख्यान में (पृ० ११३) केवल एक बार तुलसीदास का नाम आता है, या यों ही

'मध्यकालीन बोध का स्वरूप, (पाँच व्याख्यान):—लेखक आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्रकाशक पब्लिकेशन ब्यूरो, पंजाब विश्वविद्यालय चण्डीगढ़, मार्च १९७०, पृ० ११९, मूल्य १० रुपये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चलते-चलते (पृ० ९६) पर रस और रीतिकाल में केशव, देव, मतिराम आदि कवियों की शृंगारिता की महती केन्द्रीयत पर उन्होंने एक संक्षिप्त कथन दिया है। एक समीक्षक के नाते इन पर मुझे उनके व्याख्यानों में प्रतिपादित मध्य-कालीन युग की सीमा एवं विभाजन पर सोचने की ज़रूरत लगती है। ९वीं से १८वीं सदी तक। उनकी सिफ़ारिश पर यदि इन व्याख्यानों में व्याप्त काव्यादर्श, उक्त काव्या-दर्श से संलग्न सामाजिक अनुभूति (सामंतीय शिष्ट, विद्वान्, विनोदी सहृदय, कान्तासम्मित माहौल, और राजाश्रय में पनपी रुग्ण दास भाव (पृ० ६६-६७) देखें माघ, राजशेखर ऐसे महाकवियों द्वारा कवि-कर्म के लिए उपयुक्त ऐश की अनिवार्यता का बोध, पृ० ६८-६९, काव्य-रूढ़ियाँ, अलंकार, उक्तिवैचित्र्य, यश, आदि) की जैसी आलोचना मिलती है तो उससे लगेगा कि सामंतीय शृंगा-रिक रूढ़ियों और विनोद, और अलंकारों में फँसी अतर्क-युक्त, नारी, शरीर को घोर कुण्ठामय व्यंजना मात्र (देखें पिछले व्याख्यान, पृ० ८७ के बाद) ही भारतीय काव्य-प्रतिभा का मूल स्वर है, मध्य काल में ही जहाँ अर्थ-कौशल (रूपकों की अनुप्रास, श्लेष, आदि द्वारा समास द्वारा लम्बे छंदों के प्रयोगों से अभिव्यक्त करके विशेषतया शाब्दिक बाजीगरी काव्य-शिक्षा, ७२-८३) आदि से एक निपुणता, चातुर्य मात्र प्राप्त किया गया है, वही संस्कृत साहित्य के गौरवान्वित युग के वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, भारवि, की तुलना में हल्की रचनाएँ मिलती हैं। साहित्यिक मनीषा के इतने संतुलित एवं सफल मर्मज्ञ ने यह बात न पहचानी हो सोचना भूल होगी। अपने तीसरे व्याख्यान के अन्त में (पृ० ८३) पर आचार्यजी लिखते हैं..."परन्तु अपने देश के श्रेष्ठ साहित्य की तुलना में वे बहुत अच्छा नहीं दे सकते हैं।" ठीक, लेकिन मध्यकालीन भारतीय बोध (९वीं ईसवीं सदी से १८वीं तक के युग) के इतने पैने बिंधे और सहज विचारक आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीजी स्वयं इस व्याख्यानमाला में क्यों जहाँ एक ओर प्राकृत, कथा सरित्सागर, अपभ्रंश के सही और गहरे स्वीकार की इतनी स्वाभाविक वकालत करते हैं (देखें दूसरे व्याख्यान का उत्तरार्ध पृ० ५५-५७) वहीं बारहवीं-तेरहवीं सन् ईसवी के बाद से नई अभिव्यक्ति करने वाली लोक-भाषाओं की कृतियों के द्वारा प्रस्तावित नवीन वृत्तियों को मध्यकालीन बोध के निरूपण के लिए आवश्यक (कम-से-कम इन व्याख्यानों में) नहीं मानते। यही वजह है कि मैं अपनी आलोचना के शीर्षक को "मध्यकालीन संस्कृत काव्य पर एक बातचीत" कहता हूँ, मुझे ऐसा लगा कि आचार्य द्विवेदीजी भक्ति, वैष्णव, संत-परम्परा की इतनी पैनी निष्ठापूर्वक एवं ओजपूर्ण सूझ दे चुके हैं, अपनी लम्बी गद्य सर्जन की यात्रा में पिछले ३० सालों में कर आये हैं कि इधर संस्कृत के चटोर शृंगारिकों से भी अपने भाव-विभोर श्रोता पाठकों का ज़ायक़ा बदलने और थोड़ा आलोड़ित करने की सहज इच्छा को इन व्याख्यानों में पूरा करते हैं। उनके इस प्रयास से भी साहित्य-मर्मज्ञों को रूढ़ि, अलंकार, रस के साहित्य के इतिहास के एक विशेष युग के प्रतिपाद्य की अच्छी जानकारी मिलती है यह सब निर्विवाद है, सहज हमारे लिए स्तुत्य भी। किन्तु मध्य-कालीन संस्कृत काव्य के बाहर उनकी स्थापनाओं को पूरे मध्यकालीन बोध पर लागू करना अनर्थ होगा। अगर मैं उन्हें ठीक समझा हूँ, तो वे ऐसा करने लगते हैं।

१८वीं सदी तक पुराने सहृदय, परिप्रेक्ष्य, भाषा, मुहावरा, रूप, गन्ध परिवेश इतने बदल चुके थे कि पण्डित-राज जगन्नाथ अब केवल सिंहावलोकन ही कर सकते थे, लोकभाषाओं के नवीन साहित्य ने जनचेतना को व्याप्त कर लिया था, नये संगीत, मुसलमान काल के नए स्थापत्य, वेशभूषा के आने से रूढ़िचालित नाटक और अभिव्यक्ति को 'सहृदय' जुटा पाना भी अब मुश्किल हो चुका था। इस पातक पेट के लिए थोड़ा-बहुत संस्कृत की पुरानी लीकचालित कर्मकाण्ड वाली शिक्षा, निपुणता या कलि-काल में उच्चारण और पाठशुचिता मात्र ही संस्कृत दिग्गजों के पास बची थी। राज्याश्रय में पनपी संस्कृत चेतना, परिष्कृत राज-सभा से निकलकर अब पुनः जन-देवता की देवी न बन सकी, न बन सकती थी। कई बार काल से कटे निरर्थक जुगुप्सा पालने वाले संस्कृत प्रेमी जब संस्कृत को अखिल भारतीय स्तर की संवाहक भाषा बनाने का स्वप्न देखते हैं, तो उन्हें आचार्यजी जैसे गहरे मनीषी की इन व्याख्याओं में उलझी विश्लेषण की समस्याओं से सीख लेनी चाहिए कि संस्कृत साहित्य कभी भी जन-साहित्य नहीं रहा है, भगवान् अमिताभ जन-मन को आलोड़ित करने के लिए सदा पाली में बोलते थे, किन्तु

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परवर्ती बौद्ध आचार्यों ने (अश्वघोष, असंग, दिङ्नाग, वसुबंधु, नागार्जुन, धर्मकीर्त्ति) अपने युगीन दार्शनिक चिंतन से सम्पृक्त होने के लिए कुषाण काल से ही पुनः संस्कृत के सारगर्भित माध्यम को अपनाते गये और इस प्रकार प्राकृत पाली से कटकर पुनः बृहत्तर सांस्कृतिक वैदुष्य में घुलकर जन-चिंतन न उभार सके। फारसी के राज्याभिषेक के बाद रजवाड़ी वृत्ति के आश्रयदाताओं का अभाव प्रखर होता गया। उत्तरी भारत में तुलनात्मक रूप से यह प्रभाव अत्यधिक ठहरा। दक्षिण में हिन्दू सामन्तशाही के साथ संस्कृत विद्वानों को राज्याश्रय की गठजोड़ बनाए रखने की भौगोलिक सुविधा बनी रही इसीलिए परवर्ती युग में सांस्कृतिक चेतना, अध्ययन के परम्परागत आकार में दाक्षिणात्य ब्राह्मणों का इतना योग रहा है जिसकी तुलना में संस्कृत केवल कुछ विशेष घरानों में ही उत्तर भारत में सीमित रह गई। (मिथिला, नदिया, काशी, श्रीनगर, आदि) वहाँ भी उसे ज़ोरदार प्रतिद्वंद्वियों का मुकाबला करना पड़ा था, कबीर, तुलसी, विद्यापति, मीरा, चैतन्य, नानक, सूर आदि कवि नई साहित्यिक अनुभूति के व्यापक प्रसार से कटकर संस्कृत वैदुष्य अपने व्याकरधणर्मी बोध में केवल मेहनत 'कौशल' और रूढ़ियों को ढोकर ज़िन्दा रखना चाहता था। आचार्यजी ने इसकी कुण्ठित सीमाओं और उपलब्धियों की अत्यन्त संतुलित एवं स्पष्ट व्याख्या दी है (पृ० १९), किन्तु इस वृत्ति के लोग ८वीं सदी के पहले भी थे, और बाद में भी रहे हैं, शायद आज १९वीं के बाद के भारत—स्वयं ईसवी १९७० में भी हों। किंतु समूचे मध्यकालीन बोध को इनके द्वारा चरितार्थ मानना तर्क से समुचित विश्लेषण नहीं मालूम देता।

मानव की रचना ही कुछ इतनी परिवर्त्तनशील है, हुई है, होती है, कि सभी साधारणीकृत कथन कुछ विशेष पूर्व-मान्यताओं के आधार पर ही सार्थक होते हैं। मुसलमान, सूफ़ी, लोकभाषीय चेतना से अन्तर-क्रिया संस्कृत की बिलकुल न हुई हो, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। स्वयं पण्डितराज जगन्नाथ ने अपने "दिल्लीश्वरो" को "जगदीश्वरो" तक कहा है, किंतु आदर्श, आदर्शमयी छलना ने, छलिया समय के साथ मिलकर परवर्ती संस्कृत काव्य की कैसी छीछालेदर की। कैसे ? देखें, आचार्यजी के ये व्याख्यान। किन्तु इन व्याख्यानों में साहित्य के बाहर तक का दावा करने के बावजूद स्वयं अपनी जानी-मा 'चिन्त्य' सामग्री का संकेत भी न करने का कोई लाजि कारण मुझे नहीं दिखा, यह एक साधारण पाठक के मुझे खटकने वाली बात लगी। वैसे दर्शन के क्षेत्र उपनिषदों से नव्य-न्याय (गंगेश और रघुनाथ) कुमा या गौतम से (अप्पय-दिक्षित, विद्यारण्य, श्रीहर्ष) पूर्व आचार्यों से कहाँ कैसे कम सार्थक हैं, भी मुझे नहीं मालू और, अन्तिम बात जिस अर्थयुक्त-सूक्ति और आनन्द अन्वेषी मध्यकाल का कवि रहा है जिसके उद्देश्य, उपलब्धियों की व्याख्या इन व्याख्यानों का विषय है अर्थयुक्त सूक्तियाँ, आनन्ददायक पद्यमय गद्य लिख स की शक्ति हिन्दी के इस मध्यकाल के मूर्द्धन्य विद्वान् आज भी ठाठ से कल्लोल करती है, और यदि मध्यकाल वृत्ति ने केवल ऐसा शिष्ट और शालीन हिन्दी का गद्य म ही उपलब्ध किया होता तो भी उसी के लिए उस महत्त्वपूर्ण मानना होता। इस गद्य-निधि की लयात्मक की नाप-जोख नहीं करूँगा, पाठक को केवल एक-दो न देने का लोभ संवरण नहीं कर पा रहा हूँ शायद यह यों हो, अनेक अन्य इन व्याख्यानों में फैले पड़े हों फिर सहृदय रस भोगें (पृष्ठ ५३)। बहुत कुछ टूट रहा बहुत कुछ ढह रहा है। मनुष्य सर्वत्र इन समस्याओं समाधान खोजता है। वह विज्ञान से इसका हाल पूछता इतिहास से इसका रास्ता पूछता है और साहित्य से इ समाधान की आशा रखता है। जीवन जटिल हो है.....पुनः (पृ० ६

जो तर्कशास्त्र या व्याकरण पढ़कर अपनी स्वाभा संवेदनशीलता खो चुका है...(स्वस्थ व्यंग)

आखिर में एक ओर मार्मिक वाक्य...पृ० १०७,

'...ऐसा उदात्त व्यक्तित्व-सम्पन्न मनुष्य जो विपत्ति सम्पत्ति में इतरा न उठे, विजयदर्प में क्षमा करना न म्लान न हो, जाय, शक्ति पाने पर विनम्र होने में न और जीवन के उपरले तल की सफलताओं से अभि होकर जीवन के अतल गाम्भीर्य में बहने वाली चरितार्थ की उपेक्ष ान कर बैठे...'

वाग्देवी के इस नम्य, प्रौढ़, सार्थक पुजारी की ताल, स्वर, ध्वनि, अर्थ की सम्यक् श्रमहीन सहज यो नाओं को समझ भी पाऊँ तो 'सहज' बन सकूँ। शत प्रणाम के साथ...यह हिन्दी के गौरव हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समकालीन चेतना-एक परिशीलन*

धर्मेन्द्र गोयल

".....मैं वर्षों से आधुनिक बोध, तथा आधुनिकता और भारतीयता के विषय में हुए परिसंवादों का अनुगमन करता रहा हूँ और अन्त में मैंने यही पाया है कि ये संवाद पंचतन्त्र के अन्धों द्वारा हाथी के आकार की भ्रामक परिकल्पनाएँ बना कर रह गये।" (प्रस्तावना, पृ० १५) — इसी संदर्भ में लेखक समाज परिवर्तन और उक्त परिवर्तन की प्रदत्त अवस्थाओं के लिए "मूलतः अर्थशास्त्र, दर्शन और इतिहास की त्रयी" को स्वीकार करता है (वही, पृ० १७) कुछ ही पहले वह अपने मार्क्सवादी होने की घोषणा भी कर चुका है, अपने पाठक से मार्क्सवादी होने की अनिवार्यतयः अपेक्षा नहीं करता, अपितु असहमति बरकरार रखकर भी प्रखरता से सम्वाद चलाने की अनुमति माँगता है—लेखक का दावा है कि ".....अपने चारों ओर अभिनीत हो रहे सामाजिक नाटक के प्रति 'बुद्धिजीवी' **तटस्थ** नहीं हो सकता" ...(पृ० १६) अस्तु। इस प्रस्तावना के अन्तिम चरण में लेखक अपने पाठकों से मुखातिब है :— "...आधुनिकीकरण तथा आधुनिकता के सवालों से जुड़े हुए एवं आधुनिक भारतीय प्रारब्ध से सम्बन्धित विचारधारात्मक विवाद के सहस्राधुनिकदीप को आलोकित करने की आपसे अनुमति पा सकता हूँ, ताकि उसके आलोक में हमारा पाँचवाँ रिनेसाँ प्रभाभिषेकित हो उठे।" (प्रस्तावना पृ० १९) प्रस्तावना की यह चर्चा डॉ० रमेश कुंतल मेघ की चर्चित पुस्तक के प्रयोजन, वातायन एवं उद्देश्य को उन्हीं की अपनी तरजबयाँ में निखार देती है।

लेखक द्वारा पुस्तक में बहुत ही विस्तृत वातायन जान-बूझ कर चुना गया है। विज्ञान, राजनीति, संस्कृति, कला, साहित्य और समीक्षा के विभिन्न संदर्भों की काफी उलझी गुत्थियों को स्पष्ट करने के सराहनीय लक्ष्य से प्रस्तुतः ग्रंथ अनुचालित है। पाठक को जगह-जगह झकझोर कर यथार्थ, संघर्ष, और नए विज्ञान की सूचनाओं (पृ० ३५४-३६५ : 'आधुनिक बोध' एवं 'सौन्दर्यबोध' की नव्य वैज्ञानिक संयोजनाएँ' अध्याय) से अवगत कराया गया है। लेखक के श्रम, सूचना एवं परिश्रम की जितनी प्रशंसा की जाये थोड़ी है, हिन्दी में इतनी लगन एवं आत्मविश्वास से लिखने वाले कितने कम हैं, यह इसी बात से स्पष्ट है कि इस प्रकार की रचनाओं का प्रायः यह पहला ग्रन्थ है। हिन्दी, चिन्तन एवं चेतना का प्रौढ़ माध्यम बने इसके लिए यह ज़रूरी है कि समकालीन संस्कृति, सर्जन, साहित्य-लोचन एवं बोध की इतनी सार्वभौमिक चर्चाएँ हिन्दी मेंपाठकों को मिलें। अक्षर प्रकाशन इस रचना को हिन्दी पाठकों के पास लाने के लिए हमारी प्रशंसा का पात्र है। पुस्तक के उत्पादन की दृष्टि से छपाई, जिल्द, कागज़ सराहनीय हैं किन्तु खेद है कि समीक्षक यही बात मूल्य और प्रूफ-रीडिंग के बारे में नहीं कह सकता। इनमें कई खटकने वाली खामियाँ रह गई हैं। इतने अधिक मूल्य (तीस रुपये) पर बिकने वाली पुस्तक के निर्माता को प्रूफ-रीडिंग के स्तर को भी उभारना चाहिए।

लेखक और प्रकाशक दोनों से मुझे शिकायत है कि उन्होंने पाठक के लिए न तो पुस्तक-सूची और न कथ्य के लिए कोई संकेत-पटल दिया है। विषय-सूची पर भी कोई क्रमांक नहीं है।

मैं इस ग्रंथ की समीक्षा के लिए तीन गैर-बराबर भागों में अपनी प्रतिक्रियाएँ व्यक्त करूँगा। पहली प्रतिक्रिया लेखक के भाषाई प्रयोगों और शैली को लेकर है, दूसरी प्रतिक्रिया स्वयं इस रचना में उपस्थित तन्त्र की

*'आधुनिकता बोध और आधुनिकीकरण' : लेखक डा० रमेश कुंतल मेघ, पृ० सं० ४४८, १९६९, मूल्य ३० रुपये, अक्षर प्रकाशन, २/३६ अन्सारी रोड, दरियागंज, दिल्ली-६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बुनावट और उसकी असहजता को लेकर है। तीसरी प्रतिक्रिया स्वभावतया पुस्तक के कथ्य में उठाई गई समस्या को केन्द्र बनाकर उपस्थित विचारों के बारे में होगी।

इसके पहले कि मैं पहली प्रतिक्रिया लिखूँ, एक बात और कहना जरूरी समझता हूँ कि लेखक ने अपने भरे-पूरे अध्ययन और बेशुमार पुस्तकों के नाम गिनवाकर अपनी रचना के साथ बड़ी बेरहमी का सलूक किया है, 'रचना' और 'सर्जनात्मक-चिन्तन' का यह विश्लेषण कहीं अधिक अर्थपूर्ण हो सकता था यदि लेखक ने स्थान-स्थान पर तालिकाएँ, सूचियाँ एवं वर्गीकरण न ठूँसे होते। साथ ही कई बार प्रतिपादित दलील और 'प्रतिपाद्य-समस्या' का भी विवेक लेखक भली प्रकार बनाए रख सकने में असफल लगता है। ऐसा कुछ उन भागों में अधिक हुआ है जहाँ लेखक सर्जनात्मक मानसिकता की आलोचना करने में संलग्न होता है, जैसा पुस्तक के आखिरी भाग जो 'स्व सामयिक परिदृश्य में भारतीय बुद्धिजीवियों का आत्म परायापन' से प्रारम्भ होता है, (पृ० २२३ से) और शनैः शनैः 'सहज जीवनबोध' .....मामूली मैं (पृ० ४३८ से आगे) में पराकाष्ठा पर जा पहुँचता है, यहाँ लेखक अपने मनोभावों को स्फूर्त्त व्यक्त करने में अग्रसर होता है और विश्लेषण के आयाम से अछूता रह जाता है। रागात्मक घटाटोप, एवं स्वर-मण्डित कथनों से भी लेखक अपने विश्लेषण-मूलक गद्य को सभी समय बचा नहीं सका है। पुस्तक विश्लेषणात्मक है किन्तु स्थल-स्थल पर लेखक पुनरावृत्तियाँ करता है, पहले भाग मैं भारतीयता 'भारतीयकरण,' 'भारत का राजनीतिक आधुनिकीकरण...', 'आत्म परायेपन की धारणा.....' स्वयं एक ही कथ्य को बार-बार दुहराता गया है, किन्तु इससे भी अधिक आश्चर्य तब होता है जब इसी कथ्य को नया चोला देकर लेखक पुनः 'आधुनिक सृजनात्मकता के बाधक तत्त्व' (३६६—३८३) और लेखकीय संत्रास (पृ०३०४) में पुनः लिखता है। यह विस्तार एवं पुनरावृत्तियाँ भी पुस्तक की गरिमा को कम करती हैं। दूसरी बात विश्लेषण एवं विचारधारा के प्रयोग का घपला है। लेखक बड़े बेबाक तरीके से अपने को मार्क्सवादी लेनिनवादी होने की घोषणा करता है, किन्तु उक्त विचारधारा का कीर्तन और उक्त दृष्टि से भारतीय संस्कृति के समकालीन तथ्यों की प्रासांगिकता अवधारणात्मक संगठन और परस्पर अवगुंठन की स्थितियों का विश्वसनीय परिशीलन न करना दो भिन्न बातें हैं। विस्तृत आँकड़ों, तथ्यों के सूचीकृत विवरणों और सूचनाओं का उबाने वाला अम्बार लगाकर भी लेखक किसी अमार्क्सवादी के लिए कोई अनिवार्य युक्ति देने में पूर्णतया असफल रहा है, जिससे मार्क्सवादी विश्लेषण की सार्थकता को पहचानने में सहायता मिले या फिर बेपहचानी संस्कृति प्रक्रिया की गुत्थियों का मार्क्सवादी हल क्या है, उसे कुछ समझ में आए। मेघजी रागात्मकता, प्रवाहमयता के साथ श्रमिक-प्रतिबद्धता की वकालत एवं नारेबाजी इस पुस्तक में गाहे-बेगाहे करते रहे हैं, किन्तु यदि केवल मेघजी की पुस्तक पर ही मार्क्सवादी परिभाषाएँ आश्रित हों, तो समीक्षक को मार्क्सवाद के लिए उत्साह नहीं होगा।

मैं मेघजी की भाषा में काफी सफ़ाई महसूस करता हूँ, उन्होंने हिन्दी के हिन्दुस्तानी रूप को अपनाकर हम सभी का बड़ा उपकार किया है, उन्होंने कम-से-कम प्रस्तुत रचना में छोटे-छोटे वाक्यों से ज्यादातर अपना काम चलाया है, विश्लेषण की शैली सदा दुरूह वाक्य-रचना वाली नहीं होती यह उन्होंने अपनी इस पुस्तक में बार-बार दिखलाया है। इसके लिए मैं उन्हें बधाई दूँगा। उन्होंने सहजता से अंग्रेजी, उर्दू और पंजाबी के मुहावरों को भी हिन्दी में खपाया रमाया है, यह इस पुस्तक की भाषा की एक और उपलब्धि है। किन्तु उनके कुछ शब्द प्रयोग 'असहज' हो गये हैं, उदाहरणार्थ (केवल कुछ ही दे सकूँगा; 'वैश्वक'; 'सार्वभौम' क्यों नहीं ? 'हाशिये' वर्ग, कोटि, क्यों नहीं ? ; 'प्रत्याहरण और प्रत्यागमन' (पृ०३८३); अलगाव और वापसी क्यों नहीं ?' 'कुज्झटिकाच्छादित' (पृ० २९५) क्या है ? यह क्या 'अगम्य' मात्र नहीं है ?) —इसी प्रकार उनकी कुछ परिभाषाएँ कभी-कभी निरर्थक तक हो जाती हैं जैसे 'भाषा-तात्विक अर्थपरक संकुलता' जो सम्भवतया 'भाषा की अर्थहीनता' को व्यक्त करती है। (पृ० २७४) इसी सम्बन्ध में लम्बी सूचीनुमा पदावली एवं फार्मूलों के प्रयोग भी कभी-कभी असह्य हो उठते हैं। 'आधुनिकीकरण','सामाजिकीकरण','सांस्कृतिककरण','राजनैतिककरण', 'अन्तर्राष्ट्रीयकरण' वाले 'भारतीयकरण'(पृ० १८), मजाक जैसा लगने वाला यह वाक्यांश सीधे उनका मन्थर प्रयोजन व्यक्त करता है, मेघजी के लेखक को इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खतरे से आगाह करना मेरा समीक्षा-धर्म है। इसी प्रकार पृ० ३५७ और ३६१ के बीच जिस प्रकार के विभिन्न फार्मूलों को मेघजी प्रस्तुत करते हैं, उनसे कुछ पल्ले नहीं पड़ता, यदि उन्हें गणित एवं गणितपरक आकलन की चर्चा करनी इस अध्याय में ज़रूरी लगी थी, तो पूरी स्पष्टता से प्रतीकों और अवधारणाओं की चर्चा ज़रूरी थी, आशा है इस पर लेखक विचार करेगा। सुधार आसान है।

अब मुझे प्रस्तुत ग्रन्थ के संगठन एवं रचना-योजना में जो असहजता लगी है उसे कहना चाहूँगा। यह पुस्तक एक व्याख्यात्मक चिन्तन है, चिन्तन और व्याख्या में एक आन्तरिक सहजता ज़रूरी होती है। कम-से-कम मुझे 'लातिन अमरीका' के राजनैतिक और आर्थिक सर्वेक्षण (पृ० १६९—१९१) की संगति पुस्तक के मूल कथ्य के साथ दिखलाई नहीं पड़ती। इसी प्रकार उनके दो अन्य अध्याय (क) सम-सामयिकता तथा बोध का प्रमाणीकरण (पृ० ३३८—३४७) (ख) आधुनिक बोध एवं सौंदर्य-बोध की नव्य वैज्ञानिक संयोजनाएँ (पृ० ३५४—३६५) भी उनके मूल कथ्य जिसकी चर्चा हमने शुरू में ही की थी (या लेखक के कथनों से निश्चित की थी) से प्रायः निस्संग लगते हैं, या अनिवार्यतया अनुगामित नहीं लगते। (क) में लेखक रस-सूत्र, रंगमंच, पुनर्जन्म, त्रिवर्ग-विभाव-अनुभाव, संचारी आदि रंगधर्मी सिद्धांतों की लम्बी चर्चा करता है, यह किस प्रकार उसके मूल संवाद को कोई सार्थक निर्देशन देते हैं कम-से-कम मुझे इन पृष्ठों (३५४—३६५) को पढ़ते समझ नहीं आया। (ख) भी इसी प्रकार समकालीन मनोविज्ञान की नई दिशाओं, साइनैक्टिक्स शास्त्र की उपलब्धियों से पाठक को परिचित तो अवश्य कराता है, किन्तु स्वयं मेघजी के स्वीकृत मंतव्य को आवश्यक संगति अथवा निर्धारण देता है, यह इन पृष्ठों (३५४—३६५) में पढ़ने पर ज़रा भी समझ नहीं आता। यह रचना-योजना इस सीमा तक सहज संगति से सदोष है। स्मरण रहे कि मैं यह नहीं कहना चाहता कि रस-सिद्धांत या अन्य रंग-धर्मी सिद्धांतों या समकालीन सौंदर्यवादी मनोविज्ञान के अध्ययन अनर्गल हैं या कम महत्त्वपूर्ण हैं, वे स्वतन्त्र रूप से विवेचित हों तो कोई आपत्ति मुझे न होगी, किन्तु 'आधुनिकता' और आधुनिकीकरण की भारतीय स्थिति के विश्लेषक से मुझे यह पूछने की सहज जिज्ञासा होती है कि वह इन पचड़ों में पड़कर कौन से मोती ढूंढना चाहता है? पुस्तक की रचना-योजना के बारे में ही मुझे अपनी एक अन्य प्रतिक्रिया भी स्पष्ट करनी है कि लेखक बाह्य-जगत् के कालचक्र (आर्थिक घटनाओं, समकालीन राज-नीति), कृतिकारों की जीवनी और कृति में उपस्थित पात्रों, उनकी स्थितियों, कथनोपकथनों को बार-बार एक सपाट स्तर के तथ्य स्वीकार करता लगता है, जिसके रहते उसके गम्भीर कथन 'आत्म-परायेपन', 'आधुनिकता', 'फान्तासी' के विश्लेषण न लगकर स्वयं इनके उदाहरण दिखने लगते हैं। विश्लेषक यह कई बार करता है, (देखें निर्मल वर्मा की कहानी 'वे दिन', के सहचारी कथन, पृ० ३२१—३२६ 'आधुनिकता' (तथा पुनः वह गोर्की, प्रेमचन्द, अमृता शेरगिल की कला-कृतियों और उनके समय, समाज और तथ्यों को इकसार मानने का सयत्न अनुरोध करता है पृ० ४१०, तथा पृ० ४२६ पर वह कहता है कि 'कृति' का विशिष्ट कथ्य, तत्कालीन परिदृश्य, कृतिकार की निजी संवेदना प्रायः एकस्तरीय यथार्थ हैं। लेखक को कला और साहित्य की आलोचना के लिए इतने अधैर्य्य एवं उतावले-पन से कोटि-भ्रमों में फँसकर अपने विवेचन को पंगु नहीं बनने देना चाहिए था। मैं यह भी नहीं कहता कि कलाकृति, या साहित्यिक रचना, उसके तत्त्व और अवयवों का कृतिकार के चेतन मंतव्य, अचेतन सहचारं गुणों तथा उसकी सामाजिक स्थिति, प्रतीति, और समकालीन सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक घटनाओं का परस्पर कोई सम्बन्ध ढूंढ़ना मात्र ही असंगत है। किन्तु परिपार्श्व, परिदृश्य, वास्तविक जीवन, विचारधारा द्वारा प्रतिपादित निष्ठाओं, और कृति की अन्दरूनी सजीव प्रतिध्वनियों, संवादों में अभिव्यक्त संवेदनाओं को केवल पहले वर्ग की स्थितियों का प्रतिबिम्ब अथवा अनुगूंज मानना सर्जन की नवीनता, सर्जनात्मक स्वायत्तता एवं अर्थवत्ता को ही नकारने के समान है। मुझे आशा है कि लेखक अपने आगे के चिन्तन में सर्जनशीलता द्वारा अन्वेषित सांस्कृतिक अर्थ-वत्ता की समसामयिक वस्तु-स्थिति से नैरन्तर्य की व्याख्या कुछ अधिक धैर्य्य, ज़िम्मेदारी और राजनीतिक प्रचार-धर्मिता से छूट कर करेंगे। वैसे यदि उनकी पुस्तक स्पष्ट रूप से विश्वसनीय राजनीतिक पक्षधरता की वकालत को सिद्ध भी कर पाती, और केवल कोलाहल और पक्षधरता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को ध्वनित मात्र ही न करती होती तो भी वह एक सराहनीय उपलब्धि होती। खेद है कि यहाँ पाठक को यह पक्षधरता विवेचना द्वारा उपलब्ध नहीं कराई जा सकी है। शायद सर्जनात्मक कृतियों की समीक्षा का यह पैंतरा ही अस्वाभाविक है। समकालीन विकल्पों में यौक्तिक वरीयता सिद्ध नहीं हुई।

अभी तक मैंने मेघजी के विराट् सम्वाद के मूल कथन, विचारों, और समस्या की व्याख्या के विभिन्न विश्लेषणों पर सीधे कोई प्रतिक्रिया नहीं दी है। वास्तव में मेघजी अपने कथ्य में बहुत-सी साधारणतया स्वीकृत स्थापनाओं को पुनः स्थापित करते हैं। उदाहरणार्थ भारतीयता, भारतीय राजनीति, पिछड़ाव, आर्थिक ग़रीबी, उपनिवेशवाद, विज्ञान, वर्ग-संघर्ष, मूल्यहीनता, आत्मपरायापन, यौन कुण्ठाएँ, फूहड़पन, नौकरशाही, रुमानी, आत्मरति, संत्रास, नैराश्य, नागरीकरण आदि ऐसी अनेक अवधारणाएँ हैं जिन्हें सम-सामयिक जीवन में कमोवेश सभी सजग बुद्धिजीवी पिछली सदी से विभिन्न प्रकारों और रूपों में अपने आधुनिकता बोध, बोधकता, संवेदना एवं चेतना को निरूपित करने के लिए प्रयुक्त करते रहे हैं। इन अवधारणाओं की सहज व्याख्या नहीं हुई थी, मेघ की पुस्तक इस दिशा में मार्क्सवादी विचारधारा को इन धारणाओं के विश्लेषण के लिए काफी जोश-ख़रोश से प्रयोग करती है। उन्होंने, अफ़सोस, समस्याओं को स्वाभाविक रूप से निखरने नहीं दिया है, वे सावधान मार्क्सवादी के स्वभाव के अनुसार अपने कठघरे को बदलने के स्थान पर तथ्यों की कतर-ब्यौंत करने से भी नहीं हिचकते। इतनी लम्बी-चौड़ी राजनीतिक दलीलों से पाठक को थकाने के बाद भी (देखें भारत का राजनैतिक आधुनिकीकरण, आधुनिकता, आधुनिक-बोध की मानवीयकृत अनुगामिता, समसामयिक परिदृश्य में भारतीय बुद्धिजीवियों का आत्मपरायापन, आधुनिक कलाकार का आत्मसंघर्ष, लेखकीय संत्रास और रचनात्मक 'असामर्थ्य बोध')। मेघजी समकालीन भारतीय जीवन में कई तथ्यों मसलन अंग्रेज़ी की भूमिका, मध्यम चाकरी पेशा वर्ग की क्षेत्रीय क़बीली एवं निम्न बुर्जुआ प्रतिस्पर्धाएँ, भाषीय और धार्मिक कठमुल्लई (हिन्दू-मुसलमान, हिन्दू-सिक्ख, बंगाली-असमिया, नागा-असमिया, तमिल-मलयाली, मरहठी और दाक्षिणात्य श्रमिकों की तना-तनी) को भूल जाते हैं। इंदौर, अहमदाबाद, राँची, और भिवंडी में साम्प्रदायिक दंगों में स्वयं सर्वहारा श्रमिक वर्ग का वर्ग-चेतना एवं वर्ग-शत्रुता के ऐतिहासिक तथ्यों को भूलकर कबीलापरक धर्मान्धता पर व्यवहार करने को उतारू होने पर भी मेघ ज़रा भी ध्यान नहीं देते। प्रतिबद्धता, अन्तर्राष्ट्रीय पूँजीवाद, साम्राज्यवाद और खलनायक इज़ारेदारी की शिकायत कुछ अत्यधिक कर बैठते हैं। क्या यह आकस्मिक नहीं है कि, ब्रेझनेव, लिनपाओ, या कैस्ट्रो में से किसे अन्तर्राष्ट्रीय समाजवाद का प्रामाणिक दावेदार माना जाए? मेघ नहीं कहते। मुझे खुशी है कि रूसी समाजवाद में उपस्थित कठिनाइयों का भी ज़िक्र श्री मेघ बचते-बचते कर गये हैं। दूब्चेक, गोमुल्का गरूदी नाज़ी की भी पूरी चर्चा उन्हें करनी चाहिए थी, युगोस्लाविया और चीन में होने वाले लालरक्षकों के विद्रोह की भी जानकारी मिलनी चाहिए थी। उत्तरी कोरिया, वियतनाम और अल्जीरिया में स्वनामधन्य क्रान्तिकारियों में परस्पर चलने वाली लाग-डाँट और प्रतिस्पर्धा का कोई ज़िक्र नहीं किया गया है। यह तथ्यों की सरासर कतर-ब्यौंत है। चीन पाकिस्तान के साथ मिलकर जिस प्रकार की भारत-द्रोही नीति अपना रहा है उसका मेघ आश्चर्य नहीं कहीं उल्लेख नहीं करते। मेघजी रूसी समाज में मन्थर उपभोग के उत्तरोत्तर विकास की तो चर्चा करते हैं; किन्तु मेघ ऐसे संवेदनशील मार्क्सवादी विद्वान् जब इस बात को स्वीकार करते हैं कि सोवियत रूस में 'डौविक-लाभ' नौकरशाही और सेन्सर हैं, (देखें पृ० ३०६-७) तो उन्हें पास्तरनाक, सॉल्झेनेत्सिन, यूरा डैजियल श्नितियावेस्की, मायाकोव्सकी ऐसे कलाकारों द्वारा अभिव्यक्त पीड़ा और जिलास द्वारा अनावृत पार्टी नौकरशाही और राष्ट्रीय स्वार्थपरता, अहम्मन्यता एवं अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा के तथ्यों को भी समाजवाद की अन्तरराष्ट्रीय महत्त्वाकांक्षाओं के सही संदर्भ निर्धारण के लिए प्रयोग करना चाहिए था। केवल चेगुवारा या गाइप के कीर्तन से अंतर्राष्ट्रीयता और समाजवादी पार्टी लाइन चरितार्थ नहीं हो जाती। मेघजी की भारतीय समसामयिक राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक विकास की लम्बी संचेतना में स्वयं विभिन्न मार्क्सवादियों की परस्पर प्रतिस्पर्धा सतत बदलती पार्टी लाइनों की पैंतरे-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बाजी, सांस्कृतिक-प्रगतिशील मोर्चों की अवसरवादिता और हाल में प्रत्येक भारतीय मार्क्सवादी पार्टी के बुढ़ियाते नेताओं की बाबू-धर्मी पटेबाजी और हविश का कोई संकेत नहीं मिलता ? समकालीन भारतीय परिदृश्य की समूची बूझ के लिए साम्यवादियों का हिन्दी द्वेष, (मुसलमान-उर्दू प्रेम) ईसाई मिशनरियों और पाकिस्तानी सरमायेदारों और कबीली नेताओं की मध्यकालीन धारणाओं वाले उलेमाओं लीगी मुल्लों से साँठ-गाँठ (अकालियों से भी) तथा स्वयं सत्तालोभी भद्रलोकी निम्न मध्यमवर्गीय भारतीय कोढ़ नव-उपनिवेशवादी बुद्धिजीवी-वर्गों के हितों की समान रक्षा के लिए परम सुविधावादी कांग्रेस पार्टी से लुका-छिपी और रूसी सहयोग की इज़ारेदारियों में हाथ सेकने की इच्छा को भी पहचानना चाहिए। नेहरू, मेनन, इन्दिरा, डांगे, मालवीय, किस तरह बाजपेयी, मधोक, मसानी, या कोया, फीजू, अब्दुला, फतहसिंह से कम अहंवादी, दलाल, एवं साम्प्रदायिक नहीं हैं, सिद्ध करना चाहिए था। कम-से-कम यदि मेघजी अपने उन पाठकों से संवाद करना चाहते हैं जिन्हें पार्टी लाइन पर सोचने की आदत नहीं है। जैसा है, ये समूचे प्रश्न मेघ के लम्बे कथानक के बावजूद अविचारित रह गये हैं। इस प्रकार की विशेष कतर-ब्यौंत के बाद प्रायः किसी भी स्थिति से कोई भी धारणा, विचारधारा या आदर्श संगत सिद्ध किया जा सकता है, किन्तु इस प्रकार का लेखन कम-से-कम सचेत रूप से मेघ नहीं करना चाहते थे। यदि उनके द्वारा कुएँ के मेंढक की तरह अपनी स्वरचित "विचारधारा की घोषणा के बाहर कुछ है ही नहीं"— की आश्वस्त अहंम्मन्यता देंगे, तो फिर साधारण पाठक पर संवाद का निवेदन भी क्यों थोपा गया ? मुझे आशा है, ऊपर लिखी बातें छद्म मार्क्सवादी पाठकों को अत्यधिक खिजायेंगी, सम्भवतया लेखक को भी किंतु जिस प्रकार की अपरिवर्त्तित कठमुल्लई विचारधारा का कवच पहन कर इस पुस्तक में यत्र-तत्र-सर्वत्र अपने कथन में लेखक ने उभारी है उसके लिए इससे कम तीव्र प्रतिक्रिया कम-से-कम इस समीक्षक को झूठ के साथ सहयोग लगती।

हो सकता है कि मेरे मार्क्सवादी मित्र द्वंद्वात्मकता, विकासवादी परिप्रेक्ष्य और इतिहास में बहुधा विरोधपरक गतिशीलता, दिशा, नवीनता और परिवर्तन की समझ की आवश्यकता पर बल देना चाहें, ऐसा मेघजी ने भी इतिहास, इतिहास-दर्शन, सांस्कृतिक विकास की एकलीकी धारणाओं को प्रस्तावित करते हुए बार-बार किया है। (देखें आधुनिक बोध की मानवीकृत अनुगामिता, आधुनिकता, पृष्ठ ३१७) किन्तु इस प्रकार की सभी अवधारणाएं तथ्यों को समझने वाली अवधारणात्मक रचनाएं मात्र ही होती हैं। द्वंद्वात्मक भौतिकवाद अनुभूति, संवेदना, और अभिव्यक्ति के केन्द्रीभूत तत्त्व 'व्यक्ति' को केवल मार्क्सवादी गाली-गलौज (मेघ ने भी आत्मरति, अहम्मन्यता, अतिश्रेष्ठता, रुमानी निम्न मध्यमवर्गीय गरीबी के गौरवान्वयन, फान्तासी, आत्महत्या आदि की कहीं लगती कहीं न लगती फबतियों से रूपवाद, अस्तित्ववाद, कलावाद, बिम्बवाद, भाषा विश्लेषणवाद आदि की खबर लेनी चाही है, देखें पृष्ठ ३५०—३५३) से झुठला नहीं सकेगा। चेतना ही इतिहास की जननी है।

मेघजी सार्त्र से काफ़ी विनयपूर्वक समझौता करने के लिए आतुर हैं। जगह-जगह पुराने शिवभक्त की तर्ज पर राम द्वारा शिव की पूजा के रूपक की भाँति सार्त्र द्वारा मार्क्सवादी विश्लेषण की सराहना का प्रयोग किया गया है। किन्तु मेघजी यदि कला और साहित्य के संदर्भ में सर्जन, सम्प्रेषण एवं कलाकृतियों के 'आत्म-परायेपन' एवं आत्म-निर्वासन की संवेदनाओं की ईमानदार पकड़ पाना चाहते हैं, तो उन्हें लोक-चालित मार्क्सीय सामाजिक प्रतिबद्धता, ऐतिहासिक वर्गबोध द्वारा संचालित वर्गचेतना, पूर्वनिर्णीत पार्टी लाइन की अविच्छेद सत्यता आदि पर भी (ज़रूरी नहीं कि हमेशा ऐसा ही हो, किन्तु ऐसा भी हो सकने की सम्भावना है) प्रश्न-चिह्न लगाने के लिए तैयार रहना चाहिए। 'आत्म परायेपन' पर विजय पाने के लिए ज़रूरी नहीं है कि माओ की लाल किताब की संहिता पढ़कर पुस्तकें, लेख, कविता या कहानी लिखी जाएँ, या सुनिश्चित रूप से सभी पार्टी कामरेड भी अपनी चेतना को प्रामाणिकता हासिल कराने के लिए एकसमान एकस्तरीय प्रचारमूलक पार्टी-पोस्टरों के समानधर्मी कलाकृतियों का संकलन करें। पिछली दो पीढ़ियों में सामाजिक यथार्थवादी कुरुचि, भोथर एवं छिछली कृतियों का अम्बार रूसी संस्कृति-प्रतिष्ठानों में जमा होता गया है, क्या ही अच्छा होता कि मेघ समाजवादी कला कमीसारों, लेखक-संघों,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और सेंसर अधिकारियों की भी उतनी ही पैनी खबर लेते जैसी उन्होंने भारतीय प्रतिष्ठान में दानव, दैत्यों, चापलूसों, हुक्कामों और महंतों की ली है। मुझे यहाँ ज़रा भी संदेह नहीं है, संगठन एवं व्यवस्था, गैर-बराबरी आज की सार्वभौम नियति है। उससे आत्मनिर्वासित होना आतंक, संत्रास की फान्तासी की केन्द्रीय धुरी है। लेकिन लौह-पाट के दोनों तरफ काफ़्का के 'गढ़' को चरितार्थ करने वाली स्थितियाँ मौजूद हैं। मार्क्स द्वारा कथित श्रम का आवश्यकता द्वारा आदेशित होना बन्द हो जाना (देखें मेघ : पृ० २९७) अभी तक समाजवादी तन्त्र में भी सम्भव नहीं हुआ है। आत्म-परायेपन, असम्प्रेषण, निर्वैयक्तिता, अबूझ की समस्या उत्पादन के साधनों अथवा उत्पादन के सम्बन्धों के समाजीकरण की समस्या से भिन्न समस्या है। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि इज़ारेदारी, पूँजीवादी उत्पादन व्यवस्था, संस्कृति के लिए अनिवार्य हैं, अथवा अविकसित, निष्क्रिय सामंतवादी सुविधाभोगी निठल्ले पिछड़े समाजों में राजनीतिक पुनर्गठन अथवा क्रान्ति की ज़रूरत नहीं है। मेघजी मेरी समीक्षा से यह सब निष्कर्ष न लगाएँ। मार्क्सवादी क्रान्ति की समूची ठेकेदारी (इज़ारेदारी) उठाना चाहते हैं, जो कि मैं उन्हें यह उठाने देने का बीसवीं सदी के इस चतुर्थ प्रहर में कोई उत्साह वर्धक कारण नहीं पाता। सुविधाभोगी नौकरशाही, (सोवियत रूस में) माँगे पैसे पर पलने वाले बाबू वर्ग के एशियाई कम्युनिस्ट, विराट् अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति-आयोजनों में लूट-खसोट करके चालू बगुला भगत, समय-साधक समकालीन मार्क्सवादियों के कैरिकेचर मात्र नहीं हैं। डा० मेघ ऐसे भावुक किशोरमना सात्विक मार्क्सवादी जब इस निरीह ध्वनि से '**क्रान्ति**' की आरती उतारने जैसा बचपना करते हैं, तो मुझे हँसी न आकर रुलाई आती है। वैसे शायद किसी मशहूर हास्य-लेखक ने कहा था: "मैं सभी पर हँसता हूँ, कहीं ऐसा न हो कि मुझे सभी पर रोना पड़े।" अस्तु।

स्वतंत्रता केवल आवश्यकता की पहचान मात्र नहीं है। मेघ युक्ति के दावेदार नहीं हैं, उनकी रचना में स्वतंत्रता की जो लम्बी परिभाषाएँ दी गई हैं, वे समुचित नहीं हैं। उनसे मेरा केवल इतना अनुरोध है कि वे स्वयं अपनी रचना के बीच ही 'आत्मसंघर्ष', के बारे में लिखी (पृ० ४२३-४२४) "मनुष्य, खुद को मनुष्य बना सकता है"—पर विचार करें। प्रिय, मेघजी देखें, जो बनेगा, वह पहले नहीं था। स्वतंत्रता भाषा, रंग, विज्ञान, स्वर तकनीक के माध्यम से नवीनता का सर्जन करने की है, जो पहले से उपस्थित नहीं हो सकती। जब तक अमानवीयकृत परम्पराएँ, विधान, शोषण, विचारधाराएँ (और पार्टी लाइन भी) इस सहज मानव की काल में खुली सम्भावनाओं के आयाम में सर्जनात्मक व्यक्तित्व के मार्ग में रोड़े बनी रहती हैं, संत्रास, भय, आत्म-परायापन, अकुलाहट आदि बनी रहेंगी। भयहीन समाज दूर है।

मेघजी द्वारा समकालीन साहित्य की आलोचना में आत्मपरायेपन की रुग्ण, त्रासमय यौन-जिघांसामूलक कुण्ठाओं के विज्ञापन सरीखी "फूहड़ता के लिए फूहड़ता," आत्मरति पर जो मुद्दे चढ़े हैं, उनका सभी विवेकशील हिन्दी पाठक स्वागत करेंगे। मेघजी ने स्थान-स्थान पर समकालीन मुखौटों, मठाधीशों, शृगालों, और छद्म मसीहाओं की जैसी मीठी-तीखी और मार्मिक खबर ली है, बखिया उधेड़ी है, वह स्वयं में उनके वैचारिक कथोपकथन से स्वतंत्र बहुमूल्य निधि है। गद्य-साहित्य के एक अदने पाठक के रूप में उनकी इन मार्मिक अभिव्यक्तियों का मैं समूचे विवादी स्वरों के बावजूद पुनः एक बार सहज एवं मुक्त अभिवादन करूँगा।

मेरी समीक्षा से यह न समझा जाये कि पुस्तक महत्त्वपूर्ण नहीं है, मैंने 'आलोचना' से समीक्षा के लिए इस रचना को पाकर बहुत-कुछ सीखा है, इसका संकेत करना भी समीक्षा का एक भाग है।—अस्तु।

साहित्य-सिद्धान्त

राजनाथ

रेनी वेलेक और ऑस्टिन वारेन की बहुचर्चित पुस्तक 'साहित्य-सिद्धान्त' ('थियरी ऑव लिट्रेचर') के पढ़ने के उपरान्त यह निर्णय करना कठिन है कि आखिर इस पुस्तक के लेखन में इसके लेखकों का उद्देश्य क्या है? पुस्तक की

साहित्य सिद्धान्त : मूल लेखक रेनी वेलेक एवं आस्टिन वारेन, अनुवादक पालीवाल, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भूमिका में इसके लेखकों ने स्पष्ट कह दिया है कि यह पुस्तक विशेषज्ञों के लिये नहीं है। (पृ० ८)। बात भी ठीक है। आधुनिक समीक्षा के विशेषज्ञ के लिए इस पुस्तक में कौन-सी नयी बात है ? यदि इस पुस्तक के मूलभूत तथ्य को संक्षेप में कहना हो तो कहा जा सकता है कि साहित्य की समीक्षा साहित्य के रूप में ही होनी चाहिए। इस बात को आधुनिक समीक्षा का एक सामान्य पाठक भी इस पुस्तक के प्रकाशन के बरसों पहले से नये समीक्षकों तथा शिकागो के आलोचकों (और इनसे भी पहले टी० एस० इलियट) से सुनता आ रहा है। साहित्य की समीक्षा साहित्य के रूप में होनी चाहिये यह नयी समीक्षा का मूलभूत सिद्धान्त है। पुस्तक के लेखकों के निर्णय अधिकांशतः नये समीक्षकों के निर्णय हैं और जहाँ कहीं भी उन्होंने नये समीक्षकों के आगे या उनके विरोध में जाने का प्रयास किया है गलत रास्ते पर चले गये हैं। अब रह गयी बात सामान्य पाठक की। पुस्तक-विशेषज्ञों के लिए न हो कर सामान्य पाठक के लिए हो सकती है। लेकिन दुर्भाग्य की बात कि यह सामान्य पाठक के लिए भी नहीं रह जाती। सामान्य पाठक की श्रेणी में छात्र ही आते हैं और पुस्तक की भूमिका में कहा गया है कि "यह ऐसी पाठ्य-पुस्तक नहीं है जिसमें छात्रों को साहित्यिक मूल्यांकन के तत्त्वों से परिचित कराया गया हो।" (पृ० ७) भले ही इस पुस्तक में साहित्यिक सिद्धान्त और आलोचना को पांडित्य और साहित्यिक इतिहास से जोड़ने का प्रयास हो लेकिन स्वयं पुस्तक पांडित्य के बोझ से इतनी लदी हुई है कि एक सामान्य पाठक उस बोझ के नीचे अपने को काफी दबा हुआ पाता है। लेखकों ने, नये आलोचकों की भाँति, इस बात पर अत्यधिक जोर दिया है कि एक समीक्षक को साहित्यिक कृतियों पर दृष्टि रखकर समीक्षा करनी चाहिए न कि अपने काव्येतर सिद्धान्तों पर। यदि ठीक यही काम इन लेखकों ने अपनी पुस्तक में किया होता तो यह वस्तुतः एक सामान्य पाठक के लिये साहित्य-समीक्षा का एक अमूल्य ग्रंथ होता। लेकिन होता यह है कि लेखक साहित्य-सिद्धान्त में इतने अधिक उलझ जाते हैं कि साहित्यिक कृतियों का यदा-कदा उदाहरण देकर भाग निकलते हैं। परिणाम यह होता है कि पुस्तक कहीं-कहीं अत्यधिक अपठनीय हो जाती है। उदाहरण के लिए, देखिए --

"इस तरह कलाकृति एक ऐसा अनोखा प्रमेय प्रतीत होता है जिसका अपना एक विशिष्ट अस्तित्व होता है। यह न तो वास्तविक (किसी मूर्ति की तरह भौतिक) होती है, न ही मानसिक (प्रकाश या वेदना की अनुभूति की तरह मनोवैज्ञानिक) और न ही प्रत्ययात्मक (किसी त्रिभुज की भाँति)। यह प्रत्ययात्मक संकल्पनाओं के उन मानकों की एक प्रणाली है, जो अनेक व्यक्तियों में होते हैं। यही मानना होगा कि ये मानक एक सामूहिक विचारधारा में रहते हैं, इसके साथ बदलते हैं, और इन्हें इसके वाक्यों की ध्वनि संरचना पर आधारित व्यष्टि के मानसिक अनुभवों के माध्यम से ही ग्रहण किया जा सकता है।" (पृ० २०४)

पाठक इन पंक्तियों की अपठनीयता के लिए अनुवाद को दोष न दें क्योंकि मूल ग्रंथ में भी यह इतना ही अपठनीय है। पुस्तक के अध्ययन की दृष्टि से यह अंश कितना महत्त्वपूर्ण है यह पुस्तक का एक सामान्य पाठक भी समझ सकता है। कला-कृति की परिभाषा ('यह प्रत्ययात्मक संकल्पनाओं के उन मानकों की एक प्रणाली है, जो अनेक व्यक्तियों में होते हैं') रेनी वेलेक और आस्टिन वारेन ही समझ सकते हैं, एक सामान्य पाठक तो क्या विशेषज्ञ के भी समझ के बाहर की प्रतीत होती है। यह तो मैंने एक उदाहरण दिया। सम्पूर्ण पुस्तक ऐसे सूक्ष्म विवादों से भरी पड़ी है। अपनी पुस्तक को वाल्ज़ेल और जूलियस पिटर्सन की पुस्तकों से अलग करते हुए लेखक 'आमुख' में लिखते हैं कि "जर्मन लेखकों की पुस्तकों से हमारी पुस्तक का फर्क यह है कि हमने उनकी तरह महज दूसरों के दृष्टिकोणों का रूपान्तर करने से बचना चाहा है।" (पृ० ७—८) लेकिन ये लेखक अपने प्रयास में कितने सफल हो पाये हैं यह इसी से पता चल जाता है कि केवल हेनरी वेल्स के बिंब सम्बन्धी विचारों का रूपान्तर लगभग ६ पृष्ठों में किया गया है। (पृ० २६१—६६)।

सम्पूर्ण पुस्तक पाँच खंडों में विभाजित है। प्रथम खंड में साहित्यिक परिभाषाओं और विभेद की चर्चा है; दूसरे खंड में साक्ष्यों की क्रम-व्यवस्था और स्थापना की चर्चा है, तीसरे खंड में साहित्येतर दृष्टियों से साहित्य का अध्ययन किया गया है; चौथे खंड में साहित्य का अंतरंग अध्ययन है तथा पाँचवें और अन्तिम खंड में कालेजों में साहित्य के अध्ययन की समस्या का संकेत है। पुस्तक का खंड-विभा-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वन काफी वैज्ञानिक है तथा पाँचों खंडों में तीसरे और चौथे खंड सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

प्रथम खंड में पाँच अध्याय हैं—'साहित्य और साहित्यिक अध्ययन' 'साहित्य की प्रकृति', 'साहित्य का प्रयोजन' 'साहित्य-सिद्धान्त','आलोचना तथा इतिहास, और 'सामान्य, तुलनात्मक तथा राष्ट्रीय साहित्य'। प्रथम अध्याय के प्रारंभ में लेखकों ने एक महत्त्वपूर्ण भेद साहित्य और साहित्यिक अध्ययन के बीच किया है। साहित्य सृजनात्मक है जबकि साहित्यिक अध्ययन 'ज्ञान या विद्या का ही एक प्रकार है।' (पृ० १७)। लेखकों ने यह दिखलाया है कि किस तरह वैज्ञानिक पद्धतियों का प्रयोग साहित्यिक कला के विवेचन में किया जा सकता है। कलाकृतियों के सामान्यीकरण के बारे में लेखक के विचारों से असहमति हो सकती है क्योंकि हमलोग जानते हैं कि नये समीक्षकों के सामान्यीकरण का क्या परिणाम हुआ और किस तरह कविता के विविध रूप एक सामान्य सिद्धान्त में आकर सीमित हो गये। दूसरे अध्याय 'साहित्य की प्रकृति' में लेखकों ने ठीक ही कहा है कि साहित्य और सभ्यता के इतिहास को एक रूप में नहीं देखा जा सकता। दोनों दो चीज़ें हैं और उन्हें दो रूपों में ही देखना चाहिए। साहित्य की भाषा और साहित्य तथा विज्ञान की भाषाओं में विभेद का अध्ययन काफी गम्भीर रूप से किया गया है हालाँकि इनमें लेखक नये आलोचकों, खास तौर से क्लियन्थ ब्रुक्स, के काफी ऋणी हैं। तीसरे अध्याय, 'साहित्य का प्रयोजन' में 'उपयोगी' शब्द की एक नयी व्याख्या की गयी है। "कला की उपादेयता नैतिक शिक्षा देने में नहीं है। बल्कि 'उपयोगी' का अर्थ है जिसमें 'समय की बर्बादी न हो', 'काल-मापन का बहाना मात्र न हो,' 'महज एक फर्ज न हो,' 'जो स्वयं अपना प्रतिफल भी हो।' (पृ० ३८) लेकिन 'उपयोगी' शब्द की यह परिभाषा कितने लोगों को स्वीकार होगी? लेखकों का कहना है कि 'हमें कला के प्रयोजन का वर्णन इस रूप में करना होगा जिससे इसके माधुर्य और उपयोगिता दोनों के साथ न्याय हो सके।" (पृ० ३८) लेकिन 'उपयोगिता' की नयी व्याख्या करके तो ज़बरदस्ती न्याय की कोशिश की गयी है। नये आलोचकों, खास तौर से रैन्सम और टेट के 'कविता ज्ञान है' सिद्धान्त को बड़े ही संक्षेप में टाल दिया गया है जबकि इसके विस्तृत विवेचन की आवश्यकता है। यह समझ में नहीं आता कि दुनिया भर के लेखकों का नाम तो रेनी वेलेक और आस्टिन वारेन गिना गये हैं लेकिन नये आलोचकों का नाम लेने में इन्हें इतनी हिचकिचाहट क्यों आती है। एक कारण यह हो सकता है कि नये आलोचकों की नींव पर ही इस पुस्तक का महल खड़ा है। पुस्तक के चौथे अध्याय 'साहित्य-सिद्धान्त, आलोचना तथा इतिहास' में लेखकों ने यह दिखलाने की कोशिश की है कि आलोचना और इतिहास को एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। लेखकों ने बहुत परिश्रम से यह दर्शाया है कि किस तरह इतिहास में आलोचनात्मक तथा आलोचना में ऐतिहासिक तथ्य मौजूद हैं। लेकिन 'आलोचना बनाम इतिहास' की परम्परा से यह पता चलता है कि जो अधिकांश इतिहास लिखे गये उनमें आलोचना का अंश नाम मात्र का ही है। इसका यह मतलब नहीं कि आलोचना और इतिहास एक जगह नहीं हो सकते। लेकिन इसके लिये पुराने इतिहासों में आलोचना और इतिहास का संगम खोजने के स्थान पर एक नये ढंग का इतिहास लिखना होगा जिसमें युग और लेखकों की अपेक्षा व्यक्तिगत कृतियों पर बल दिया जायगा। प्रथम खंड के अन्तिम अध्याय 'सामान्य, तुलनात्मक तथा राष्ट्रीय साहित्य' में लेखकों ने 'सार्वदेशीय साहित्य' के पक्ष में अपने तर्क दिये हैं। लेकिन सार्वदेशीय साहित्य कहाँ तक व्यावहारिक हो सकता है, कहना कठिन है।

पुस्तक के दूसरे खण्ड में केवल एक ही अध्याय है—'साक्ष्यों की क्रम-व्यवस्था और स्थापना।' साक्ष्य दो प्रकार के होते हैं—बाह्य और आन्तरिक। साक्ष्यों के माध्यम से अनुसंधान सम्बन्धी सामग्री का चयन आलोचनात्मक विश्लेषण के लिए एक आवश्यक सहायता है किंतु साहित्य के विद्यार्थी को यह जानना चाहिए कि इस प्रकार की सामग्री स्वयं आलोचना का स्थान नहीं ग्रहण कर सकती। यह सामग्री तो वह बिंदु है जहाँ से वास्तविक आलोचना शुरू होती है न कि समाप्त होती है।

पुस्तक के तीसरे खण्ड में कुल पाँच अध्याय हैं—'साहित्य और जीवनी', 'साहित्य और मनोविज्ञान' 'साहित्य और समाज', 'साहित्य और विचार' तथा 'साहित्य तथा अन्य कलाएँ।' इन पाँचों अध्यायों में जो मूलभूत बात कही गई है वह सामान्य है। इन अध्यायों की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भूमिका में लेखकों ने यह स्पष्ट कर दिया है कि साहित्येतर मूल्यों का अध्ययन साहित्य पर प्रकाश तो डाल सकता है किंतु साहित्यिक विश्लेषण का स्थान नहीं ले सकता। साहित्येतर मूल्यों के प्रकाश में साहित्य पर अन्तिम निर्णय देना साहित्य के साथ अन्याय करना है। मैं भूमिका से एक छोटा-सा उद्धरण नीचे दे रहा हूँ—

"इस बात से कोई इंकार नहीं कर सकता कि साहित्य पर काफी प्रकाश उन परिस्थितियों के समुचित ज्ञान से पड़ा है जिनमें इसकी रचना हुई है; इस तरह के अध्ययन का भाष्यपरक मूल्य असंदिग्ध है। फिर भी इतना तो स्पष्ट ही है कि प्रासंगिक अध्ययन से साहित्यिक कला-कृति जैसी किसी चीज़ के वर्णन, विश्लेषण तथा मूल्यांकन की समस्या को खत्म नहीं किया जा सकता।" (पृ० ९५)

'साहित्य और जीवनी' शीर्षक अध्याय में लेखकों ने कुछ असंगत विचार व्यक्त किए हैं। वस्तुतः वे कहना तो यह चाहते हैं कि जीवनी का कोई सदुपयोग आलोचनात्मक विश्लेषण एवं मूल्यांकन में नहीं हो सकता। फिर अध्याय के प्रारम्भ में यह कहने की क्या तुक है कि जीवनी का उपयोग एक साहित्य के पण्डित के लिए वहीं तक है जहाँ तक कि "जीवनी वास्तविक काव्य-कृति की व्याख्या करती है और उस पर प्रकाश डालती है।" (पृ० ९८)। लेखकों ने काफी स्पष्ट रूप से कह दिया है कि साहित्य और जीवनी का सम्बन्ध साहित्य के लिए कोई खास माने नहीं रखता। "यहाँ तक कि जब कला-कृति और लेखक के जीवन में निकट सम्बन्ध होता है तब भी यह समझने की भूल कदापि नहीं करनी चाहिए कि कला-कृति मात्र जीवन की अनुकृति हुआ करती है।" (पृ० १०३) कभी-कभी किसी लेखक की कृतियों से एक खास तरह का व्यक्तित्व उभर कर सामने आता है किंतु यह व्यक्तित्व कृतियों के आधार पर ही तय किया जा सकता है न कि लेखक का जीवन-परिचय पढ़ने से।

"साहित्य और मनोविज्ञान" शीर्षक निबन्ध में साहित्य और मनोविज्ञान के सम्बन्ध को चार भागों में बाँटा गया है—लेखक का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, एक व्यक्ति या एक टाइप के रूप में; सृजन-प्रक्रिया का अध्ययन; साहित्यिक कृतियों में पाये जाने वाले मनोवैज्ञानिक टाइपों और नियमों का अध्ययन तथा पाठकों के ऊपर पड़ने वाले मनोवैज्ञानिक प्रभाव का अध्ययन। लेखकों के अनुसार "इनमें से तीसरा रूप ही सम्भवतः ऐसा है जिसे शुद्ध साहित्यिक अध्ययन के अन्तर्गत लिया जा सकता है।" (पृ० १०६) लेकिन 'साहित्य और जीवनी' के सम्बन्ध की ही तरह साहित्य और मनोविज्ञान के सम्बन्ध पर भी लेखकों ने कुछ असंगत विचार व्यक्त किए हैं। लेखकों के अन्तिम निर्णय के अनुसार मनोविज्ञान कला के लिये अनावश्यक है और "अपने-आप में सर्जना की पृष्ठभूमि मात्र है; और कलाकृति में मनोवैज्ञानिक सत्य कलागत मूल्य तभी बन सकता है जब कि यह संगति और जटिलता में वृद्धि करे—संक्षेप में कह सकते हैं, यदि यह कला बनकर आये।" (पृ० १२३)

'साहित्य और समाज' शीर्षक अध्याय में लेखकों ने समाजवादी, खास तौर से मार्क्सवादी आलोचना से अपनी असहमति प्रकट की है। उनके अनुसार यह कथन कि 'साहित्य समाज की अभिव्यक्ति है,' गलत है क्योंकि साहित्य में "समकालीन सामाजिक स्थिति की 'यथातथ्य' झलक" तो होती नहीं। साहित्य और समाज के सम्बन्ध को लेखकों ने तीन भागों में बाँटा है—लेखक के सामाजिक मूल्यों का अध्ययन; साहित्यिक कृतियों की सामाजिक वस्तु, फलितार्थों और प्रयोजन का अध्ययन; साहित्य का समाज (श्रोता) पर प्रभाव का अध्ययन। तीनों ही दृष्टियों से साहित्य का अध्ययन गलत है क्योंकि "साहित्य समाज-शास्त्र या राजनीतिशास्त्र का स्थानापन्न नहीं है।" (पृ० १४६)

'साहित्य और विचार' शीर्षक अध्याय में लेखकों ने दार्शनिक विचारों के प्रकाश में साहित्य के अध्ययन के विरोध में अपने विचार प्रकट किए हैं। विचारों के अध्ययन में साहित्य को केवल उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जाता है जो कि साहित्य का सही मूल्यांकन नहीं है। लेखकों के शब्दों में, "किसी कला-कृति को मतवादी उक्तियों के स्तर पर और इससे भी बुरा यह कि प्रसंग से कटे चन्द उद्धरणों के स्तर पर उतार लाना किसी कलाकृति की समग्रता को समझने की दृष्टि से बहुत भयानक है।" (पृ० १४८)

साहित्य तथा अन्य कलाओं के सम्बन्ध के अध्ययन में लेखकों ने यह दिखलाया है कि किस तरह साहित्य और साहित्येतर कलाएं एक-दूसरे का उपयोग करती हैं। लेकिन लेखक साहित्येतर कलाओं के प्रकाश में साहित्य के अध्ययन के विरुद्ध हैं। प्रायः आलोचक साहित्य तथा साहित्येतर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कलाओं के बीच साम्य दिखलाते हैं किंतु "शुद्ध विश्लेषण के लिए इस तरह के साम्य का कोई महत्त्व नहीं होता।" (पृ० १७१)

पुस्तक का चौथा खण्ड आठ अध्यायों में बँटा है—"साहित्यिक कला-कृति का विश्लेषण", "यूफोनी, रिद्म और छंद", "शैली और शैली-शास्त्र", "बिम्ब, रूपक, प्रतीक, मिथ", "आख्यानात्मक कथा का स्वरूप और प्रकार", "साहित्यिक विधाएँ", "मूल्यांकन" और "साहित्य का इतिहास।" ये आठों अध्याय साहित्य के अंतरंग अध्ययन से सम्बन्धित हैं और अंतरंग अध्ययन ही लेखकों के अनुसार एक समीक्षक का प्रमुख उद्देश्य होना चाहिए। इन अध्यायों की भूमिका में (आश्चर्य की बात है कि अनूदित पुस्तक में भूमिका का अंश ही नहीं है जो छोटा होते हुए भी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है) लेखकों ने स्पष्ट कहा है कि साहित्यिक अनुसंधान में कार्य का प्रारम्भ-बिंदु स्वयं साहित्यिक कृति ही होनी चाहिए न कि साहित्येतर मूल्य।

'साहित्यिक कलाकृति का विश्लेषण' शीर्षक निबन्ध में लेखकों ने दबी ज़बान से ही सही एक महत्त्वपूर्ण बात कही है। उनके अनुसार साहित्य के अध्ययन में लेखक के आशय को महत्त्व देना एक भ्रामक तथ्य है क्योंकि "साहित्य के इतिहास में सचेतन आशय और वास्तविक व्यवहार में विरोध-भाव एक आम सी बात है।" (पृ० १९४) यहाँ 'आशय' शब्द से लेखकों का मतलब उस 'आशय' से है जिसे तय करने के लिये किसी कृति के कृतिकार की जीवनी आदि के विवरण में जाना आवश्यक हो जाता है। लेकिन आशय का एक दूसरा भी अर्थ है जिसे स्वीकार करने में लेखकों को कोई आपत्ति नहीं है। यह आशय तय करने के लिए एक आलोचक को जीवनी-सम्बन्धी ब्यौरों में जाने की आवश्यकता नहीं पड़ती। उसे तो सिर्फ यह देखना होता है कि कृति-विशेष के अन्तर्गत लेखक का क्या आशय है, वह क्या कहना चाहता है अर्थात् वह कौन-सा बिंदु है जिस ओर कृति के सभी पहलू इशारा कर रहे हैं। लेखकों के शब्दों में, "यदि 'आशय' के अध्ययन से हम सिर्फ यह मतलब समझते हैं कि यह अपनी पूर्ण अर्थवत्ता की ओर अग्रसर किसी समग्र कला कृति का अध्ययन है तो इससे किसी तरह की आपत्ति नहीं हो सकती। परन्तु 'आशय' शब्द का यह अर्थ बिल्कुल भिन्न और किंचित भ्रामक है।" (पृ० १९५) यह समझ में नहीं आता कि 'आशय' शब्द के इस अर्थ को भ्रामक क्यों कहा गया है। 'आशय' शब्द का यही वह अर्थ है जिस पर शिकागो के समीक्षकों ने अपने साहित्य-सिद्धान्त का निर्माण किया है। 'आशय' शब्द के जिस अर्थ को लेखकों ने अस्वीकार किया है यह वही अर्थ है जिसे विम्साट और वर्ड्सले ने अपने प्रसिद्ध निबंध "इंटेंशनल फैलेसी" में अस्वीकार किया है। "यूफोनी रिद्म और छंद" शीर्षक निबंध में लेखकों के अनुसार साहित्य के अर्थ से अलग ध्वनि का कोई महत्त्व नहीं है। "यूफोनी 'रिद्म' और 'छंद' शब्दों की व्याख्या और विश्लेषण काफी अच्छी तरह किया गया है। अध्याय के अन्त में ध्वनि और छंद के संबंध में ठीक ही कहा गया है कि "ध्वनि और छंद का अध्ययन किसी कलाकृति की समग्रता के तत्त्व के रूप में किया जाना चाहिये न कि अर्थ से बिल्कुल अलग करके।" (पृ० २२५)

'शैली और शैलीशास्त्र' निबंध के प्रारम्भ में लेखकों ने भाषा के सम्बन्ध में काफी सुलझा हुआ विचार प्रस्तुत किया है। उनका यह कथन बिल्कुल ठीक है कि "साहित्यिक कलाकार का उपादान भाषा है।" (पृ० २२६) (अनुवाद ठीक नहीं है। ठीक अनुवाद होगा "भाषा साहित्यिक कलाकार का उपादान है।") लेकिन इस सुलझे हुए विचार के होने पर ही लेखक इस अध्ययन में काव्य भाषा से सम्बन्धित विचारों के व्यक्त करने में अत्यन्त बहक गये हैं। यदि भाषा उपादान मात्र है (यहाँ लेखकों को उपादान और संरचना के बीच किये गये भेद को याद रखना चाहिये) तो भाषा को उतना अधिक महत्त्व नहीं दिया जा सकता जितना कि नये आलोचकों ने दिया है। भाषा कविता का उसी तरह उपादान है जिस तरह काठ टेबुल का, लोहा कुल्हाड़ी का या मिट्टी एक खिलौने का। बिना काठ के टेबुल नहीं बन सकता लेकिन टेबुल पर निर्णय काठ के आधार पर नहीं दिया जा सकता, अपितु इसके लिये टेबुल के सम्पूर्ण ढाँचे का निरीक्षण करना होगा। ठीक इसी तरह कविता पर निर्णय कविता की भाषा के आधार पर नहीं दिया जा सकता जैसा कि नये आलोचकों ने किया बल्कि शिकागो के आलोचकों की तरह भाषा को कविता का मात्र उपादान और एक अंश मानना होगा और कविता पर निर्णय कविता की सम्पूर्ण संरचना के आधार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर देना होगा। लेखकों ने एक ओर तो भाषा को साहित्यिक कलाकार का उपादान माना है और दूसरी ओर बेट्सन के इस विचार से सहमति प्रकट की है कि "कविता का असल इतिहास उन परिवर्तनों का इतिहास है जो उत्तरोत्तर काल की कविता की भाषा में आए।" (पृ० २२६)

'बिम्ब, रूपक, प्रतीक, मिथ' शीर्षक अध्याय में लेखकों ने चारों शब्दों की व्याख्या और विश्लेषण प्रस्तुत किया है। लेकिन उनके इस निर्णय को मानना कठिन है कि काव्य-संरचना का केन्द्र ये चार शब्द हैं। यह निर्णय तो वस्तुतः नये आलोचकों का निर्णय है जिनके अनुसार बिम्ब (जिसमें रूपक, प्रतीक और मिथ भी आ जाते हैं, काव्य-संरचना का केन्द्र होता है। इस निर्णय का जो भयंकर परिणाम नयी समीक्षा में हुआ उससे हम सभी परिचित हैं। जैसा कि आर० एस० क्रेन ने क्लिअन्थ ब्रुक्स पर लिखे हुए अपने निबंध (मॉडर्न फिलालजी, १९४८) में बतलाया है, नये आलोचकों के लिये एक कविता और दूसरी कविता में कोई भेद ही नहीं रह गया और गीत-काव्य, आख्यान तथा महाकाव्य सभी एक ही श्रेणी में डाल दिये गये। यदि कविता की केन्द्रीय संरचना ऊपर के चार शब्दों तक ही सीमित है तो प्रश्न उठता है कि 'पैराडाइज़ लास्ट' या 'दि रेप ऑव दि लाक' की केन्द्रीय संरचना क्या है? निश्चित रूप से यह कोई बिम्ब, रूपक, प्रतीक या मिथ नहीं है। प्रतीक, बिम्ब और रूपक के बीच किया गया भेद काफी महत्त्व का है। लेखकों के शब्दों में, "कोई बिम्ब एक बार रूपक के रूप में प्रकट हो सकता है, परन्तु जब यह बिम्ब बार-बार प्रस्तुत और अप्रस्तुत रूप में दोहराया जायगा तो यह प्रतीक बन जायगा।" (पृ० २४६) बिम्ब के संबंध में दूसरों के विचारों को दोहराने की अपेक्षा यदि कुछ उदाहरणों से उसका विश्लेषण किया जाता तो अधिक अच्छा होता।

'आख्यानात्मक कथा का स्वरूप और प्रकार' शीर्षक निबन्ध के पीछे लेखकों की यह धारणा है कि आख्यानात्मक कथा के लिये एक ऐसी समीक्षा-पद्धति की आवश्यकता होती है जो कविता की समीक्षा-पद्धति से भिन्न होती है। आख्यानात्मक कथा को तीन नियामक तत्त्वों में बाँटा गया है—कथानक, चरित्र-चित्रण और परिवेश। दो मुख्य बातें जिनकी ओर लेखकों का ध्यान नहीं गया है वे हैं—किस तरह कविता आख्यानात्मक कथा से भिन्न है (कविता से तात्पर्य केवल गीत-काव्य से नहीं है। इसमें आख्यानात्मक काव्य भी आता है) और आख्यानात्मक कथा के तीन तत्त्वों का किसी कथा-विशेष में किस तरह सम्मिश्रण होता है। आख्यानात्मक कथा के तत्त्वों से भाषा को निकाल देना कहाँ तक सम्भव है यह एक सोचने की बात है। लेखकों के विचार से तो ऐसा लगता है कि कविता और आख्यानात्मक कथा का किसी भी बिन्दु पर मिलन नहीं होता और यदि कविता की संरचना भाषा में है (भाषा के अन्तर्गत बिम्ब भी आता है) तो आख्यानात्मक कथा की संरचना कथानक, चरित्र-चित्रण और परिवेश में है। लेकिन यह बात तर्क-युक्त नहीं मालूम पड़ती क्योंकि भाषा का महत्त्व कम-अधिक तो हो सकता है किन्तु यह कहना कि कविता में भाषा ही सब कुछ है और आख्यानात्मक कथा में भाषा का कोई महत्त्व नहीं, गलत है।

'साहित्यिक विधाएँ' शीर्षक के अन्तर्गत साहित्य की विभिन्न विधाओं के अध्ययन में दो प्रमुख बातें छोड़ दी गयी हैं—एक तो यह कि साहित्यिक विधाओं का उपयोग साहित्य के विश्लेषण में किया जा सकता है या नहीं, यदि 'हाँ', तो किस तरह से। नये आलोचकों ने विधाओं को कोई खास महत्त्व नहीं दिया है जबकि अरस्तू की परम्परा में आने वाले शिकागों के समीक्षकों ने इन्हें साहित्य के विश्लेषण में काफी महत्त्व दिया है। एक दूसरा प्रश्न जो छोड़ दिया गया है वह यह है कि विधाओं और साहित्यिक मूल्य में किस तरह का सम्बन्ध है। लेखकों के अनुसार विधा-विशेष ही गुण की सूचक है। अतः, एक महाकाव्य या नाटक किसी ओड या गीति-काव्य से निश्चित रूप से अधिक मूल्यवान है। लेकिन विधाओं के साथ साहित्यिक मूल्यों का संबंध स्थापित करने के लिये इन लेखकों के पास कोई तर्क नहीं है। एक गीत या 'ओड' एक महाकाव्य या नाटक से अधिक साहित्यिक मूल्य का हो सकता है। आखिर कीट्स अपने 'ओड्ज़' के लिये ही प्रसिद्ध है और टी० एस० एलियट 'दि वेस्ट लैण्ड' के लिए जो न महाकाव्य है न नाटक। दूसरी ओर स्पेन्सर 'फ़ेयरी क्वीन' लिखकर भी कीट्स या एलियट के स्तर के साहित्यकार न हो सके। अतः लेखकों का यह निर्णय कि "सानेट और ओड जैसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छोटी विधाओं को किसी तरह महाकाव्य और त्रासदी की तुलना में नहीं रखा जा सकता" (पृ० ३०४) बिल्कुल तर्कहीन है।

'मूल्यांकन' शीर्षक अध्याय में लेखकों ने अपनी पहले कही हुई बात दुहरायी है कि साहित्य का मूल्यांकन साहित्य के रूप में ही होना चाहिए और लेखक तथा श्रोता सम्बन्धी बाह्य मूल्यों को इसमें स्थान नहीं मिलना चाहिए। एक आलोचक का कर्तव्य यह देखना होता है कि साहित्य के विभिन्न तत्त्व किस प्रकार मिलकर कृति-विशेष को एक नया रूप देते हैं। लेखकों ने नये आलोचकों के एकांगी सिद्धान्त से असहमति प्रकट की है और बतलाया है कि यह किस तरह बहुत से कवियों के प्रति अन्याय करता है (पृ० ३३०) किन्तु इस असहमति का कोई मतलब नहीं निकलता जब तक यह न दिखलाया जाय कि इस एकांगी सिद्धान्त से बचकर किस ओर जाया जाय।

'साहित्य का इतिहास' शीर्षक निबंध में विभिन्न दृष्टिकोणों से लिखे गये साहित्य के इतिहासों की चर्चा की गयी है और राजनीति-शास्त्र के आधार पर साहित्यिक इतिहास के काल-विभाजन से असहमति प्रकट की गई है। साहित्यिक तथा ऐतिहासिक मूल्यों के सम्बन्ध की बात जोरदार ढंग से उठायी गयी है क्योंकि पहले के बिना इतिहास साहित्यिक न होगा और दूसरे के बिना इतिहास इतिहास नहीं।

पुस्तक के पाँचवें खंड में 'कालेजों में साहित्य का अध्ययन' शीर्षक निबन्ध में अमरीकी तथा यूरोपीय विश्व-विद्यालयों में साहित्य के अध्ययन की वर्तमान स्थिति की चर्चा की गयी है और उसमें सुधार के लिए सुझाव दिये गये हैं। लेखकों के अनुसार साहित्य का अध्ययन मात्र ऐतिहासिक न होकर आलोचनात्मक भी होना चाहिये और अंग्रेज़ी के अध्यापकों को मात्र अंग्रेज़ी के अध्यापक न होकर साहित्य का अध्यापक होना चाहिये।

पुस्तक के आद्योपान्त अध्ययन से पता चलता है कि इसके लेखकों ने न केवल अंग्रेज़ी अपितु सम्पूर्ण यूरोपीय साहित्य का काफी गहन अध्ययन किया। जहाँ तक साहित्य के पांडित्य का सम्बन्ध है, हडसन की 'साहित्य के अध्ययन की भूमिका' से कहीं अधिक पांडित्य साहित्य-सिद्धान्त में दिखलाई पड़ता है। लेकिन दोनों पुस्तकों में एक महत्त्वपूर्ण अन्तर है। हडसन की पुस्तक का लक्ष्य स्पष्ट है और उस लक्ष्य को प्राप्त करने में हडसन सफल हुए। 'साहित्य के अध्ययन की भूमिका' सामान्य पाठक के लिये लिखी गयी पुस्तक है और एक सामान्य पाठक पुस्तक को बड़े चाव के साथ पढ़ता है और बहुत कुछ प्राप्त करता है जबकि रेनी वेलेक और आस्टिन वारेन की पुस्तक, जैसा कि ऊपर कहा गया है, न तो एक सामान्य पाठक के लिए मालूम पड़ती है और न एक विशेषज्ञ के लिए। हडसन ने साहित्य की कृतियों को सामने रखकर साहित्य-सिद्धान्त की बात कही है जबकि रेनी वेलेक और आस्टिन वारेन साहित्य-सिद्धान्त में ही इतने उलझ गये हैं कि कृतियों का नाम देकर चलते बनते हैं। लेखकों के विचार कहीं-कहीं इतने सूक्ष्म हो गये हैं कि उन्हें एक सामान्य पाठक क्या विशेषज्ञ के लिए भी समझना मुश्किल है और पाठक को लीविस के साथ यह कहना पड़ता है कि दार्शनिक उलझनों में मेरी कोई दिलचस्पी नहीं (देखिये 'दि कामन पर्शूट' में 'दर्शन और आलोचना' शीर्षक निबन्ध)। जहाँ तक मौलिकता का सवाल है इसे 'साहित्य के अध्ययन की भूमिका' और 'साहित्य-सिद्धान्त' दोनों में ही खोजना व्यर्थ है।

जैसा ऊपर कहा गया है, 'साहित्य-सिद्धान्त' नये समीक्षकों के सिद्धान्त के आधार पर लिखा गया है। नये समीक्षकों की अपनी कमज़ोरियाँ हैं जिन्हें शिकागो के आलोचकों, विशेष रूप से आर० एस० क्रेन और एल्डर ओल्सन, ने विधिवत् दिखलाया है। इस संबंध में दो निबंध जो खास तौर से उल्लेखनीय हैं, वे हैं आर० एस० क्रेन का क्लिअन्थ ब्रुक्स पर और एल्डर ओल्सन का विलियम एम्पूसन पर (दोनों ही निबन्ध 'क्रिटिक्स एण्ड क्रिटिसिज़्म' के मूल संस्करण में उपलब्ध हैं) रेनी वेलेक और आस्टिन वारेन इस बात के लिये प्रशंसनीय हैं कि उन्होंने नयी समीक्षा की त्रुटियों की ओर से आँख नहीं मोड़ ली है लेकिन उनकी कमज़ोरी यह है कि वे उन त्रुटियों से हटने के लिये कोई दूसरा रास्ता नहीं दिखलाते। नये आलोचकों ने काव्य की शैली पर अत्यधिक बल दिया है और काव्य-समीक्षा में एकांगी सिद्धान्त (क्लिअन्थ ब्रुक्स का 'पैराडाक्स', रैन्सम का 'टेक्चर', एम्पसन की 'एम्बिगुइटी' आदि) को अपनाया है। 'साहित्य सिद्धान्त' के लेखकों ने पाठकों का ध्यान दोनों ही कमज़ोरियों की ओर दिलाया है। लेकिन कमज़ोरियों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की ओर ध्यान दिलाने मात्र से तो लेखकों का कर्तव्य पूरा नहीं हो जाता। यदि इन समीक्षकों का सिद्धान्त एकांगी है तो किसी बहुसूत्री सिद्धान्त की खोज करनी चाहिये और बहुसूत्री सिद्धान्त का प्रतिपादन पुस्तक के प्रकाशन के पहले ही शिकागो के समीक्षक कर चुके थे। (यद्यपि शिकागो के समीक्षकों का पहला ग्रन्थ 'क्रिटिक्स एण्ड क्रिटिसिज़्म" शीर्षक से १९५२ में ही प्रकाशित हुआ लेकिन इस पुस्तक के अधिकांश निबन्ध पुस्तक के प्रकाशन के वर्षों पहले पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके थे) शिकागो के आलोचकों की नये आलोचकों से विशेष रूप से यह शिकायत है कि वे एकांगी हैं। आख्यानात्मक कथा के विश्लेषण के सम्बन्ध में रेनी वेलेक और आस्टिन वारेन के विचारों में काफी बचपना है। लेखकों के इस कथन में भी कोई तर्क नहीं मालूम पड़ता कि कविता और आख्यानात्मक कथा के विश्लेषण के लिये दो विभिन्न सिद्धान्तों की आवश्यकता है। स्वयं लेखकों ने साहित्य के बारे में सामान्यीकरण के पक्ष में अपनी राय दी है जिसका मतलब यह निकलता है कि समस्त साहित्य चाहे वह कविता हो, नाटक हो या आख्यानात्मक कथा मूल रूप में एक ही होता है। फिर एक ऐसा सिद्धान्त निकाला जा सकता है जो मूल रूप में समस्त साहित्य पर लागू हो। इसका मतलब यह नहीं कि यह सिद्धान्त एकांगी होगा। समस्त साहित्य पर लागू होते हुए भी यह बहुसूत्री हो सकता है। शिकागो के आलोचकों का सिद्धान्त जो अरस्तू के काव्यशास्त्र पर आधारित है इसका साक्षी है। 'साहित्य-सिद्धान्त' के लेखक यदि नये समीक्षकों के सिद्धान्तों के साथ-साथ शिकागो के समीक्षकों के सिद्धान्तों का भी प्रयोग करते तो पुस्तक कहीं अधिक अच्छी होती।

जहाँ तक पुस्तक के हिन्दी में अनुवाद का प्रश्न है 'साहित्य-सिद्धान्त' एक ऐसी पुस्तक है जिसका हिन्दी में अनुवाद होना ही चाहिए था। वस्तुतः यह कार्य बहुत पहले हो जाना चाहिये था। पुस्तक का स्वभाव देखते हुए यह कहना पड़ता है कि अनुवाद बहुत कुछ सफल है, किन्तु हिन्दी में अनुवाद का स्तर और ऊँचा होना चाहिये। आधुनिक पाश्चात्य आलोचना कितनी क्लिष्ट हो गयी है यह एक सामान्य पाठक भी जानता है। आधुनिक आलोचना के शब्दों के अनुवाद का कार्य वस्तुतः काफी क्लिष्ट है। मैंने 'शैली और शैलीशास्त्र' शीर्षक से एक उदाहरण ऊपर दिया जिसे मैं यहाँ स्पष्ट करना चाहूँगा। मूल अंग्रेज़ी ग्रंथ में पंक्ति इस प्रकार है—Language is the material of the literary artist' पुस्तक में अनुवाद है-- 'साहित्यिक कलाकार का उपादान भाषा है'। अनुवाद में बल पड़ता है 'साहित्यिक कलाकार' पर न कि 'भाषा' पर जब कि मूल ग्रंथ में बल पड़ रहा है 'भाषा' पर। इसलिए सही अनुवाद होगा "भाषा साहित्यिक कलाकार का उपादान है।"

हिन्दी अनुवाद में एक बड़ी गड़बड़ी उच्चारण के कारण है। व्यक्तिवाचक संज्ञा के प्रायः गलत उच्चारण देखने में आते हैं। एलियट (या एल्यट) हिन्दी में इलियट कैसे हो गया कहना मुश्किल है। इस पुस्तक के अनुवाद में 'लीविस' का उच्चारण 'लेविस' 'टिलाट्सन' का 'टिलटसन', 'स्पर्जन' का 'स्पर्जियन' (पृ० २१३) आदि अनेक गलतियाँ हैं। व्यक्तिवाचक संज्ञा के अलावा भी उच्चारण की अनेक गलतियाँ हैं। 'फ़' की जगह 'फ' 'व़' की जगह 'व', 'ऐण्ड' की जगह 'एण्ड', 'आव' की जगह 'आफ', 'दि' की जगह 'द' आदि अनेक अशुद्धियाँ हैं। लेकिन आलोचनात्मक शब्दों के अनुवाद में श्री पालीवाल को काफी सफलता मिली है। अनुवाद कहीं-कहीं काफी असंतोषजनक है।

उत्तरछायावादी तलछट का अन्त

विष्णु खरे

कुछ वर्षों पहले अमरीका के एक विश्वविद्यालय से हिन्दी की 'आधुनिक' कविता का एक अनूदित संकलन प्रकाशित हुआ था जिसके संपादक एक भाषाविद् तथा संस्कृत के पंडित थे। यह संकलन विदेशों में हिन्दी कविता की ओर ध्यान आकृष्ट करवाने में क्यों असफल रहा इसकी छानबीन दिलचस्प हो सकती है। किन्तु उससे भी ज्यादा दिलचस्प उसकी भूमिका है जो अज्ञेय ने लिखी थी। यह भूमिका, जो उस तमाम 'भारतीय' ताम-झाम से भरी पड़ी है जिसकी ओर एक विशेष प्रकार का मतिमंद अमरीकी हमेशा से आकृष्ट होता है, अपने अकालकवलित "विचित्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किन्तु सत्य" 'मौन-सिद्धान्त' के लिए पढ़ी जा सकती है। 'हवेवामा, हवेक्विश्ना','सी-टार' तथा 'योगा' के देश में यदि यह सिद्धान्त असफल हुआ तो इसका एक ही कारण है कि वह आवश्यकता से अधिक 'भारतीय' था, उसका 'क्रैडिबिलिटी गैप' अमरीकियों के लिए भी बहुत ज़्यादा था। बात साफ़ तभी होगी जबकि इस भूमिका में से कुछ उद्धरण दिए जाएँ—"The genius of English lies in understatement ; all Indian languages, on the contrary tend to elaborate." मोटे तौर से इस वक्तव्य से असहमति नहीं हो सकती, किन्तु उसके बाद कहा गया है—"yet this apparent prolixity in Indian languages is offset by a rigorous discipline on another; plane: the profoundly significant use of silence ." यह उस पाश्चात्य पाठक के गले उतारा जा रहा था जो महाभारत के साथ इलियड, वाल्मीकि-रामायण के साथ ओडेसी, वेदों के साथ न्यू टैस्टामेन्ट और भारतीय साहित्य तथा कलाशास्त्रों के साथ प्लेटो के रिपब्लिक, अरस्तू के पोएटिक्स तथा लांगिनुस के पेरि इप्सुस की तुलना कर स्वयं अपने निष्कर्षों पर पहुँच सकता था। वह उपनिषदों और पुराणों की संख्या भी जानता है और तुलसीकृत रामचरित मानस का कलेवर भी उसे अब ज्ञात हो गया है। रही-सही जो कसर होगी वह स्वयं उस संकलन की कविताओं के 'मौन' ने पूरी कर दी होगी। किन्तु बात अभी पूरी कहाँ हो पाई है—"The contemporary Indian writer—and now I speak more specifically of the Hindi writer of poetry—would still regard silence as an effective means of expression." मौन का एक अर्थ तो बिल्कुल मौन हो जाना, कुछ भी न लिखना, है और इसमें कोई संदेह नहीं कि हमारे अधिकांश कवियों के लिए अभिव्यक्ति का यही माध्यम उपयुक्त है, किन्तु अज्ञेय का यह मन्तव्य तो स्पष्टतः नहीं है। खैर, जब कोई कवि ऐसा वक्तव्य देता है तो वह उसके समय में लिखी जा रही सारी कविता के लिए भले ही न हो, कम-से-कम उसकी अपनी कविता के लिए जायज़ हो सकता है। अज्ञेय आगे चलकर "maximum exploitation of the unsaid" का भी ज़िक्र करते हैं।

स्मरणीय है कि जिस संकलन की भूमिका में यह सब कहा गया है वह १९६५ में प्रकाशित हुआ था और उसके बाद सीधे १९७० में ही अज्ञेय के दो कविता-संग्रह[1] प्रकाशित हुए हैं जिनमें उनकी १९६५ से १९६९ की कविताएँ संकलित हैं, इसलिए उनके द्वारा प्रतिपादित 'मौन सिद्धांत' को कार्य रूप में देखने का अवसर इन कविताओं में मिलेगा, ऐसी उम्मीद बँधी। किन्तु दोनों संग्रहों में कुल मिलाकर १०६ कविताएँ हैं। 'अनकहे से अधिकतम लाभान्वित' होने के लिए यदि इतनी कविताएँ ज़रूरी हैं तो जो कहना है उसके लिए हरबार एक महाकाव्य से कम क्या लेकर आना होगा। यही मौन का गहरा अर्थवान् उपयोग है तो राहत के लिए प्रगल्भता का एक दौर बुरा न होगा। (यहाँ स्मरणीय है कि इस शताब्दी के अभी तक सबसे बड़े कवि एलियट की कुल कविताएँ सौ से ज्यादा नहीं हैं—इसमें बच्चों के लिए लिखी गई 'ओल्ड पॉज़म्स बुक ऑव प्रैक्टिकल कैट्स' की कविताएँ भी सम्मिलित हैं)। वैसे कोई कवि कितनी कविताएँ लिखता है इससे उसकी महत्ता या लघुता नहीं मापी जा सकती किन्तु यदि अज्ञेय के 'मौन सिद्धांत' को ही कसौटी माना जाए तो अब तक प्रकाशित कुल दो कविता-संग्रहों पर टिके हुए शमशेर उनसे ज्यादा सक्षम कवि हैं। दरअसल अज्ञेय का सिद्धांत उनकी अपनी कविता पर तो लागू होता ही नहीं, पूरी तरह से सिर्फ शमशेर पर लागू होता है और कहीं-कहीं निराला पर, और इधर के हिन्दी साहित्य में बस इन्हीं दोनों पर ठीक बैठता है। केदारनाथ सिंह में भी यह संभावना थी, किन्तु वे अपनी पुरानी लीक से हटकर कतिपय अत्यंत सुखद कविताएँ लिख रहे हैं। अज्ञेय की 'सागर-मुद्रा' की कविताएँ पढ़ने के बाद मुझे कहीं भी नहीं लगा कि उन्होंने पाठक पर भरोसा कर कोई बात अनकही छोड़ी हो। उलटे वे समझाने की विवशता के शिकार हैं। इस संग्रह की अधिकांश कविताएँ प्रेम, मृत्यु, आत्मावसाद और नोस्टैल्जिया की कविताएँ हैं और देखकर दुख होता है कि

---

१ (अ) 'सागर-मुद्रा' : अज्ञेयः राजपाल एन्ड सन्स, दिल्ली : सात रुपये (ब) क्योंकि मैं उसे जानता हूँ : अज्ञेय : भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, ५ रुपये। दूसरा संग्रह न केवल प्रकाशन के पहले 'दिनमान' में समीक्षित हुआ बल्कि इस वर्ष का सर्वश्रेष्ठ काव्य-संग्रह भी माना गया। ऐसी मर्मस्पर्शी स्वामि-भक्ति आदमियों तथा चौपायों दोनों में दुर्लभ है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्लर्ब की घोषणाओं के बावजूद अज्ञेय अपने पिछले संग्रहों से किसी भी अर्थ में विकसित नहीं हुए हैं। उनकी कविता अभी भी 'विभोर', 'सँजोयी हुई', 'हिये', 'अमराई', 'बयार', 'चुकता जाता हूँ', 'अगोरता हूँ', 'भीतर-भीतर जलना', 'यक्षिणी', 'मैं अनन्य', 'कन्हाई', 'नैन', 'पिया', 'औचक', 'रे', 'गुरुतर', 'टीस','मीत', 'सिहरन', 'सिसकी', 'दीठ', 'मारग', 'लून लदी भीजी', 'न्यौछावर', 'दिवले', 'मनौती', 'यह नहीं कि' आदि की उत्तरछायावादिता से मुक्त नहीं हो पाई है। प्रेम और मृत्यु कविता के शाश्वत विषय हैं और उन पर कवि अपनी कलम आजमाए यह स्वाभाविक है किन्तु मृत्यु के साथ ईमानदार साक्षात्कार के अभाव में ऐसी कविताएँ जन्म लेती हैं—

काल की गदा
एक दिन
मुझ पर गिरेगी।

इन पंक्तियों से किसी को शिकायत न भी हो किन्तु अगली चार पंक्तियों में कविता की सारी संभावनाओं को नष्ट कर दिया गया है—

गदा
मुझे नहीं भाएगी :
पर उसके गिरने की नीरव छोटी-सी ध्वनि
क्या काल को सुहाएगी ?

'भाएगी' और 'सुहाएगी' सरीखी दुर्भाग्यपूर्ण क्रियाओं के प्रयोग से कविता लोरी में बदल जाती है। एक ओर काल की गदा का गिरना है और दूसरी ओर 'नीरव छोटी-सी ध्वनि' ('नीरव' 'ध्वनि' भी दृष्टव्य है)। लगता है काल की गदा भूल से लिख दिया गया है, दरअसल समय का पुष्प-हार गिर रहा है। मृत्यु पर ही एक कविता इस तरह है—

ज्योति के
भीतर ज्योति के
भीतर ज्योति
प्यार है वह—वह सत्
और तत्
तदसि त्वं—एतत्

इसमें कोई कविता नहीं है, तरकीब है, घिसा-पिटा फार्मूला है और संस्कृत के सहारे शब्दों का हास्यास्पद खेल है। यह कविता के नाम पर दर्शनशास्त्र देना है और वह भी ऐसा दर्शनशास्त्र जिसे भारतीय ताँगेवाला, जागरण प्रेमी गृहिणियाँ, आर्यसमाजी, जनसंघी, रिटायर्ड बूढ़े,' शान्तिवम' वाले हंसजी महाराज, कस्बाई और शहरी कथावाचक दिन रात पीटते रहते हैं। इसी तरह के चिन्धा-चिन्धा दर्शन को लिए हुए यह पंक्तियाँ भी दृष्टव्य हैं—

मरता है ?
जिसका पता नहीं
उससे डरता है ?
—गा !

ऐसे लाउडस्पीकरी उद्बोधन से भरी बारह पंक्तियाँ इस 'कविता' में और हैं। प्रत्येक पंक्ति में कविता की हत्या करने की विलक्षण क्षमता मौजूद है। एक अन्य कविता में 'रामजी' के आने का स्वागत किया गया है। फिर मुँह-लगे भक्त की सिर चढ़ी मुद्रा में यह पंक्तियाँ हैं—

ऐसे ही एक दिन
डोलता हुआ आ धमकूँगा मैं
तुम्हारे दरबार में
औचक क्या ले सकोगे
अपनी करुणा के पसार में ?

कहना न होगा कि यह और ऐसी सारी नारदमुनि-नुमा पंक्तियाँ मृत्यु के रहस्य को अत्यंत फूहड़ बनाती हैं और उसके साथ साक्षात्कार को एक सस्ते स्तर पर—'भक्ति' के कृतकृत्य गीताप्रेस गोरखपुरी स्तर पर—उतारती हैं। मृत्यु ने संसार को कुछ श्रेष्ठतम कविताएँ दी हैं। मैं यह नहीं कहता कि भवानीप्रसाद मिश्र की 'अँधेरी कविताएँ' उस स्तर को छूती हैं, किन्तु यदि हिन्दी में देखना हो कि मृत्यु पर सहज भाव से कैसे लिखा जाता है तो अज्ञेय अभी भी 'अँधेरी कविताएँ' पढ़कर उनसे बहुत-कुछ सीख सकते हैं। इस संग्रह की मृत्यु पर लिखी गई कविताओं में ऐसा कुछ भी नहीं है जिसे भवानीप्रसाद मिश्र 'अँधेरी कविताएँ' में बहुत अच्छा न कह गए हों। विशेषतः अज्ञेय की कविता 'फूल हर बार आते हैं' भवानीप्रसाद मिश्र की कविताओं की बहुत पुरानी संवेदना के फीके कार्बन से उतारी गई दसवीं प्रतिलिपि लगती है।

अज्ञेय की प्रेम कविताएँ भी बासीपन से बोझिल हैं। इनमें एक भी पंक्ति शायद ऐसी नहीं है जो उनकी कवि-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ताओं के अभ्यस्त पाठक को हर्ष-विस्मित कर सके। "अच्छा था / मन का अवसन्न रहना / भीतर-भीतर जलना / किसी से न कहना...कभी उभर भी आती हैं / कसकें पुरानी / यह थोड़े ही कि नैन कभी / पसीजे नहीं ?", "मैं अनन्य / एकाकार / जैसे प्यार", "यह क्या मैं तुमसे, या जीवन से / या अपने से छला गया ?", "कैसे कहूँ कि किसकी याद आई ? चाहे तड़पा गयी ?" तो दिवंगता नयी कविता के अंतिम उच्छ्वासों के रूप में सुपरिचित हैं, किन्तु इस तरह की पंक्तियों को क्या कहा जाय—

तुम क्या जानो
कितनी लम्बी होती है रात
अकेली
सिसकी की !

और

यह जाने का छिन आया
पर कोई उदास गीत
अभी गाना ना।
चाहना जो चाहना
पर उलाहना मन में ओ मीत !
कभी लाना ना।

अज्ञेय यदि ऐसी कविताएँ लिखना चाहते हैं तो उन्हें कौन रोक सकता है किन्तु यह सलाह उन्हें दी जा सकती है कि अभी कुछ दिन सोम ठाकुर, बालस्वरूप राही, वीरेन्द्र मिश्र और नीरज के सान्निध्य में बैठकर कुछ सीख लें, फिर यह सब लिखें। (आशा है कि आप यह सब पढ़ते हुए अज्ञेय के मौन सिद्धांत को हमेशा स्मृति में रखे हुए हैं और स्वयं अपने निष्कर्षों पर पहुँच रहे हैं)। ऐसी कुछ कविताओं में आत्मावसाद (self-pity) भी पैठ गया है जो अज्ञेय की कविता के नये पतन-बिन्दु का द्योतक है। अज्ञेय की कविताओं में उनके विचार, उनकी अदाएँ, उनका दर्शन-शास्त्र, उनका प्रेम, उनका 'देना' और 'लेना', समय को लेकर उनकी सतही विचारणा आदि इतने अधिक परिचित हैं कि अब वे क्लिशे हो गए हैं और उनके काव्य-व्यक्तित्व का 'फॉसिलीकरण' करते हैं। सच कहा जाय तो उनकी कविताओं को बिना हँसे और साथ-साथ बिना दाँत पीसे पढ़ना मुश्किल होता जा रहा है। किसी भी दी हुई स्थिति के प्रति उनकी कुछ 'स्टॉक रिस्पॉन्सेज़' हैं और उन्हीं के परम्यूटेशन-काम्बिनेशन के आसपास वे घूमते हैं। फिर भी 'छातियों के बीच' कविता दिलचस्प है क्योंकि वह उनके कवि-व्यक्तित्व पर अद्भुत प्रकाश डालती है। मैं पूरी कविता उद्धृत नहीं करना चाहता इसलिए सारांश से ही काम चलाऊँगा : 'पहले वह उसकी दोनों छातियों के बीच नाक गड़ाकर कहता था कि यहाँ मेरा घर है। फिर जब नाक उन छातियों के बीच घर बना चुकी तो वह कैदी होकर छटपटाने लगा।' किन्तु विचित्र धर्म-संकट था—

छातियों के बीच
और कुछ नहीं, इसी रहस्य का घर है।
माथा क्यों वहाँ टिका है ?
क्योंकि नहीं तो नाक जाने का डर है !

साफ़ है कि इन पंक्तियों में नाक जाने के भद्र पुरुषोचित भय की वजह से एक पाखंडपूर्ण जीवन जीना श्रेयस्कर समझा गया है। अपने दूसरे रूप में यही प्रवृत्ति सृजन-शक्ति चुक जाने पर भी आदतन सृजन की हरकत दुहराने की वंध्या नियति में प्रस्तुत होती है क्योंकि कविता कविता न रहकर 'नाक का सवाल' बन जाती है।

संग्रह को शीर्षक देने वाली कविता 'सागर-मुद्रा' ग्यारह चरणों में विभक्त है जिसमें कभी सागर का 'सी-बीच' वाला भौतिक स्वरूप है और कभी 'अगाध' 'अपार' आध्यात्मिक स्वरूप। करोड़ों भारतवासियों की तरह मेरा वास्ता भी समंदर से बहुत कम पड़ा है और शायद इसीलिए मुझे सागर का प्रतीक ओढ़ा-हुआ-सा लगता है। फिर इस कविता में सागर सिर्फ एक 'प्रॉप' है, बातें वही दुहराई गई हैं जो सागर-विहीन अन्य कविताओं में हैं। यह सागर भी होमर, शेली, ह्यूगो, ह्विटमैन, मैल्विल, कोनरैड या हैमिन्वे का सागर नहीं है, नितान्त अवास्तविक, पालतू, किनारे-किनारे से देखा गया नखदंतविहीन समंदर है।

'सागर-मुद्रा' के अन्तिम पृष्ठों में किसी अज्ञातकुलशील ग्रीक कवि की कुछ कविताओं के अनुवाद दिये गए हैं। मूल कविताएँ 'अज्ञेय' को कैसे मिलीं इसका किस्सा साहित्यिक 'थ्रिलर्स' की श्रेणी में रखा जा सकता है जिसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पढ़कर श्रद्धालु कंटकित हो सकते हैं। ग्रीक अज्ञेय को नहीं आती, लैटिन आती है (बतर्ज़ शेक्सपियर के लिए कहे गए 'लिटिल लैटिन, लैस ग्रीक' मुहावरे के) और उसी के सहारे यह अनुवाद दिए गए हैं। अनुवाद कैसे हुए हैं यह कहना बेमानी है जब तक मूल कविताओं के स्तर पर बात न हो। यह एक दुखद अचंभा है कि इन कविताओं का स्तर बहुत सामान्य है और समझ में नहीं आता कि कई शानदार आधुनिक ग्रीक कवियों के होते हुए, जिनकी कविताओं को हिन्दी में लाना बहुत आवश्यक है, एक गुमनाम ग्रीक कवि की ऐसी कविताओं के अनुवाद क्यों दिये गए। यह मैं मानता हूँ कि हिन्दी पाठकों को विदेशों की अच्छी कविताओं की आवश्यकता है किन्तु 'देलोस से एक नाव' सरीखी कविताओं का वह मुहताज नहीं। विदेशी भाषाओं में छपा हुआ सभी कुछ हिन्दी में अनुवाद्य नहीं होता, भले ही वह एक रहस्यमय, दोनों ओर से फटी, लैटिन टीका युक्त ग्रीक पोथी से ही क्यों न बरामद हुआ हो। फिर अधिकांश अच्छे कवि जब दूसरे कवियों से अनुवाद करते हैं तो अक्सर देखा गया है कि वे कविताएँ स्वयं उनकी कविताओं से भिन्न होती हैं, उदाहरणार्थ लॉवेल और एलियट द्वारा किये गए अनुवाद लिए जा सकते हैं। अनुवाद पर बहस लम्बी हो सकती है किन्तु अच्छे अनुवादक अनुवाद में यहाँ-वहाँ ऐसा कुछ रहने देते हैं कि बगैर किसी कलात्मक नुकसान के मूल कविता एकदम अन्तर्धान न हो जाय। ग्रीक नामों को छोड़ दिया जाय तो यह अनूदित कविताएँ अज्ञेय की निष्प्राण मौलिक कविताएँ ही लगती हैं।

'क्योंकि मैं उसे जानता हूँ' की पहली सात कविताएँ स्वतंत्र रूप में रखी गई हैं जबकि शेष कविताओं को दो शीर्षकों के अन्तर्गत बाँटा गया है। पहली सात कविताओं में भी प्रेम, मृत्यु, और 'अपने गाने' के उद्देश्य और साफल्य पर विचार किया गया है। कहना न होगा कि यह संग्रह 'सागर-मुद्रा' की कविताओं सरीखी कविताओं का ही दूसरा संग्रह है। इन पंक्तियों में यदि आप कोई गहरा 'तत्त्व' खोज सकें तो खोजिए—'मैं मरा नहीं हूँ, / मैं नहीं मरूँगा,/ इतना मैं जानता हूँ,/पर इस/अकेला कर देने वाले विश्वास को लेकर /मैं क्या करूँगा/यह मैं नहीं जानता।" एक और पहेली बूझिए--"देश-देश में बन्धु होंगे / पर बहुएँ नहीं होंगी / (राम की साखी के बावजूद); किसी देश में बहू मिल जाएगी/जहाँ बन्धु कोई नहीं होगा।" स्पष्ट है कि ऐसी पंक्तियों का कोई कवितार्थ नहीं है, इनमें एक छद्म गूढ़ता भरने की कोशिश की गई है। ऐसी कविताएँ न केवल काव्याभास की कविताएँ हैं बल्कि दर्शनाभास की कविताएँ भी हैं, इसलिए न यह काव्य के स्तर पर सफल हैं और न विचार के स्तर पर। यह उसी तरह की कविताएँ हैं जिस तरह की भारतीय ज्ञानपीठ से शह पाकर कुछ मुनिगण लिख रहे हैं और संग्रहों में प्रकाशित करवा रहे हैं। सामान्य भारतीय मस्तिष्क हमेशा से एक छिछले दर्शन की ओर आकृष्ट होता रहा है और कोई कारण नहीं है कि अज्ञेय की ऐसी कविताओं में विश्वविद्यालयों में बैठे विचार-शत्रु कोई दर्शन न खोज निकालें। किन्तु कविता की अनिवार्य शर्त यह है कि कविता कुछ और होने से पहले एक कविता होनी चाहिए। विचार या दर्शन को लेकर कविता नहीं हो सकती यह कोई नहीं कहता, किन्तु अज्ञेय के पास न तो कोई बहुत गहरी दर्शन-दृष्टि है और न बहुत गहरी काव्य-दृष्टि। वे अनुभवों के ऊपरी आवरणों को कविता समझ बैठते हैं और विचारों के नाम पर जो गड्डमड्ड प्रत्येक भारतीय को घुट्टी में मिलता है उसे दर्शनशास्त्र बना लेते हैं। मृत्यु का वरण, अपना समर्पण आदि भारतीय भाग्यवाद की बड़ी बारीक परिणतियाँ हैं। "मैं नहीं गाता, गीत मुझमें गाया जाता है" कहना 'मैं कुछ नहीं करता, मुझसे कराया जाता है' के बराबर है और इस मुहावरे में हर तरह का बचाव है।

संग्रह के दूसरे खंड 'प्रार्थना का एक प्रकार' में अज्ञेय अपनी इसी मौलिक भूमि पर खड़े हुए हैं किन्तु यह ज़मीन बड़ी फिसलन-भरी है। अज्ञेय की यह कविताएँ समय से पहले ही समर्पण की, अपरिपक्व अभिव्यक्ति की, कच्चा अनार, बच्चा बुलबुल' की कविताएँ हैं—

वहाँ, भीतर, पीठिका पर टिके
प्रसाद से भरे तुम्हारे हाथ
और मैं यहाँ देहरी के बाहर ही
सारा रीत गया।

(देहरी पर)

बार-बार हम मिले, हँसे, हमने बातें कीं
फिर भी यह सच है कि हमने कुछ किया नहीं

(चितवन)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अज्ञेय की कविता का प्रेम इतना अपार्थिव और वायवीय क्यों है इसका संकेत भी इन पंक्तियों में मिलता है :

रात
एकाएक टूटी मेरी नींद
और सामने आयी एक बात
कि तुम्हारे जिस प्यार में मैं खोया रहा हूँ
जिस लम्बी, मीठी नशीली धुन्ध में
मैं सब भूल कर सोया रहा हूँ
उसकी भीत जो है
वह नहीं है रति :
वह मूलतः है पुरुष के प्रति
नारी की करुणा
अगाध, अबाध करुणा
फिर भी—राग नहीं, करुणा ।

(रात : चौंध)

उनकी कविताओं में 'रति' और 'राग' का स्थान 'करुणा' ले लेती है और करुणा से उत्पन्न परपीड़क-आत्मपीड़क (sado-masoch) तत्त्व कविता में चले आते हैं :

वह सपना मीठा होगा
उसमें इन दर्दों की यादें भी
एक अनोखा सुख देंगी
दुख-सुख सब मिलकर रस बन जावेगा ।

(आश्वस्ति)

ठठाती हँसियों के दौर—मैंने जाने हैं
कहकहे—मैंने सहे हैं ।

× × ×

मुंद जाती हैं आँखें, रुँधता है गला
सिहरता है गात
अनुभूति ही मानो भीतर से भीतर को
बही जाती है, बही जाती है, बही जाती है ।

(बही जाती है)

एक आह
टूटी हुई
सर्द
एक सहमा हुआ सन्नाटा
और दर्द
और दर्द
और दर्द ।

(रात में)

यह दर्दवाद परपीड़ा-आत्मपीड़ा के इस चरम स्वरूप को प्राप्त होता है, जो पता नहीं क्यों इलाहाबाद के प्रायः सभी कवियों में भी पाया जाता है :

पहले
मैं तुम्हें बताऊँगा अपनी देह का प्रत्येक मर्मस्थल
फिर
मैं अपने दहन की आग पर तपा कर
तैयार करूँगा एक धार-दार चमकीली कटार
जो मैं तुम्हें दूँगा
फिर मैं
अपने दक्ष हाथों से तुम्हें दिखाऊँगा
करना वह कुशल, निष्कंप, अचूक वार
जो मर्म को वेध जाय

× × ×

नहीं तो और क्या है प्यार
.....
किसी के आगे
चरम रूप से वेध्य हो जाने के ?

(वेध्य)

प्रेम की यह क्षयिष्णु और रुग्ण परिचिति ही अज्ञेय की कविताओं को ऐसे क्षणों में दर्शन बघारने या बिसूरने पर बाध्य करती है जिनमें एक नॉर्मल प्रेमी को कुछ और सार्थक कार्य करने चाहिए । अज्ञेय में प्रेम अपने मांसल रूप में बहुत कम आया है, ज्यादातर वह 'स्पेकुलेटिव' है। वह शारीरिक प्रेम तो है ही नहीं, 'आत्मा' से 'आत्मा' का प्रेम भी कम लगता है । यूँ दिखता है जैसे एक अ-सामान्य मस्तिष्क दूसरे किसी मस्तिष्क से शास्त्रीय शब्दावली में प्रेम की बातें कर रहा है और सुविधानुसार उसे कभी स्त्रीलिंग मान रहा है और कभी पुल्लिग ।

संग्रह के पहले खंड 'गूंजेगी आवाज़' में अज्ञेय की कुछ ऐसी कविताएँ हैं जिन्हें 'राजनैतिक' या 'व्यंग्य' कविताएँ कहा गया है । उत्सुकता होती है कि एक ऐसे कवि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ने जिसने अपना सारा जीवन अलग-अलग या एक साथ 'समर्पित होने' 'दे दिए जाने' 'वेध्य होने' और 'रीत जाने' में बिताया है, किस तरह की व्यंग्य कविताएँ लिखी होंगी। 'आज़ादी के बीस बरस' कविता का प्रारम्भ इस प्रकार है—"चलो, ठीक है कि आज़ादी के बीस बरस से / तुम्हें कुछ नहीं मिला,/पर तुम्हारे बीस बरस से आज़ादी को/(या तुम से बीस बरस की आज़ादी को)/क्या मिला ?" आगे ऐसी पंक्तियाँ हैं—"क्या हर तिकटी को ढोने वाला हर डोम / हर जल्लाद का हर पिट्ठू। सिर्फ ढुलाई के मिस / मसीहा हो जाता है ?" जिसे व्यंग्य की थोड़ी-बहुत भी तमीज़ है वह जानता है कि यह पंक्तियाँ व्यंग्य में नहीं, वक्तव्यबाज़ी में शुमार की जाएँगी। डोम और जल्लाद के पिट्ठू की श्रेणी के लोगों को अज्ञेय किस सवर्ण दृष्टि से देखते हैं यह भी इससे ज़ाहिर होता है।

'दिया हुआ; न पाया हुआ' एक नीरस और उबाऊ कविता है जिसकी अन्तिम पंक्तियाँ मैं सिर्फ इसलिए उद्धृत कर रहा हूँ कि पाठक अज्ञेय की इन 'राजनैतिक' 'व्यंग्य' कविताओं को आज के युवा कवियों की कविताओं के बराबर रखें और देखें कि अज्ञेय कहाँ रह गए हैं—

भाई मेरे, हमदम, मेरे हकीम, या निहायत
हलीम मेरे गधे—
ईश्वर-पुत्र, मानव-पुत्र,
आओ, अगर यह तुम से सधे
तो इस 'दिये हुए' के सिर पर चढ़कर ही
अपना नारा वरेंगे
जो अभी 'पाया हुआ' नहीं है :
कि हम मरेंगे या नहीं
करेंगे और मरेंगे ;
जाते-जाते भी मार खाते-खाते भी
कर गुजरेंगे
करेंगे क्योंकि मरेंगे।

'गधे' और 'सधे' की तुक देखिए—मानव-पुत्र की क्षमता में कितना विश्वास है यह देखिए—"अगर यह तुमसे सधे !" नारे का 'वरण' भी देखिए। फिर अन्तिम आठ पंक्तियों में 'रेंगे' का रेंगना देखिए। गांधीजी का नारा था 'करो या मरो', अज्ञेय का नारा है 'करो और मरो'। बिगुल उन्होंने बजाकर अपना काम कर दिया। सिर्फ़ जनता के आने की बारी है। ऐसी कविताएँ पढ़ने के बाद लैविस केरौल के पात्र 'मॉक टर्टल', और विशेषतः 'वाल्रस' तथा 'बढ़ई' की याद आने लगती है :

"O oysters, come and walk with us!"
the Walrus did beseech .
A pleasant walk, a pleasant talk
Along the briny beach :
We cannot do with more than four
To give a hand to each."

× × ×

"It seems a shame," the Walrus said,
"To play them such a trick.
After we've bought them out so far,
And made them trot so quick !"
The carpenter said nothing but
"The butter's spread too thick !"

एक और 'राजनैतिक' कविता की अन्तिम पंक्तियाँ देखिए जो दिनकर सोनवलकर को भी लज्जित करने को पर्याप्त हैं—

देस रे देस
तेरे सिर पर कोल्हू।
इसका भार तू कैसे ढोयेगा
जिसे पेरेंगे जाट, बाम्हन, बनिया, तेली, खत्री
मौलवी, कायथ, मसीही, जाटव, सरदार, भुमिहार,
अहीर
और वे सारे घेरे के बाहर के बेचारे
जो नहीं पहचानते अपनी तकदीर :
तू किस-किस को रोयेगा ?
कब बनेगा तो राष्ट्र
कब तू अपनी नियति को पकड़ पा-कर
तकिया लगाकर सोयेगा ?

मुलाहिज़ा हो कि अज्ञेय के यहाँ देश का अपनी नियति को प्राप्त करना तकिया लगाकर सोने के बराबर है। सच भी तो है, जिन-जिन व्यक्तियों ने अपने-अपने तकिये पा लिए हैं उन्होंने अपनी नियति भी पा ली है।

'क्योंकि मैं' इस खंड की एक दिलचस्प कविता है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्योंकि 'छातियों के बीच', 'दिया हुआ : न पाया हुआ' तथा 'आज़ादी के बीस बरस' की तरह इसमें भी ऐसी पंक्तियाँ हैं जो अज्ञेय के कवि-मानस पर प्रकाश डालती हैं :

क्योंकि जिसने कोड़ा खाया है
वह मेरा भाई है
क्योंकि यों उसकी मार से मैं भी तिलमिला उठा हूँ,
इसलिए उस कोड़े को छीन कर तोड़ दूँगा।
मैं इनसान हूँ और इनसान वह अपमान नहीं सहता।
क्योंकि जो कोड़ा मारने उठायेगा
वह रोगी है
आत्मघाती है
इसलिए उसे सँभालने, सुधारने,
राह पर लाने,
खुद अपने से बचाने की
जवाबदेही मुझ पर आती है,
मैं उसका पड़ौसी हूँ :
उसके साथ नहीं रहता।

ध्यान से देखें तो मालूम होगा कि बात कोड़ा **मारने वाले** से प्रारम्भ नहीं होती, कोड़ा **खानेवाले** से होती है। यानी ध्वनि कुछ ऐसी है कि यदि कोई कोड़ा खा रहा है तो उसमें कहीं उसका भी कुसूर है। खैर, यह बड़ा सवाल है और इसमें न भी जाएँ तो भी दृष्टव्य है कि अज्ञेय **कोड़े** को छीनकर तोड़ देने की बात करते हैं। कोड़े चलाने वाले हाथ के विषय में कुछ भी नहीं कहते। वह इसलिए कि कोड़ा मारने वाला तो उनकी मनोविज्ञानवादी दृष्टि में 'रोगी' है (उसे कुछ और मानना कई असुविधाओं को जन्म देता !) और उनकी मंशा उसे 'सँभालने, सुधारने, राह पर लाने' की है। किन्तु यदि वह वास्तव में रोगी है तो अन्तिम दो पंक्तियों में छिपी क्षमा-याचना की क्या आवश्यकता है ? यह माना कि आप उसके साथ नहीं रहते, किन्तु पड़ोस तो बदल सकते हैं, कोड़ा खानेवालों के पड़ोस में आकर रह सकते हैं जहाँ से कोड़े को छीनकर तोड़ना शायद ज़्यादा आसान होगा। ज़ाहिर है कि इन पुनीत-पावन पंक्तियों के पीछे आसानीपरस्त भूदानी छिपा हुआ है। यह भयावह सच्चाइयों से भागकर पवित्रतावादी चोगे में मुंह छिपाना है। शायद शेक्सपियर के 'जूलियस सीज़र' में सिना ऐसा ही कवि रहा होगा जिसे क्रुद्ध भीड़ ने कुछ नहीं तो उसकी घटिया कविताओं की ही वजह से परलोक पठा दिया।

सो अपनी व्यंग्य कविताओं में भी अज्ञेय सफल नहीं हो सके हैं। उनके पास न तो वह अनुभूति है, न वह मुहावरा और न वे इरादे जो उन्हें एक सही 'सामाजिक' कवि बना सकें। सामान्य मनुष्य कभी-भी उनकी कविता का विषय नहीं रहा और उसे विषय बनाने की उनकी इधर की ये कोशिशें व्यर्थ सिद्ध होती हैं। उनके इन प्रयत्नों को आज की युवा कविता के दबाव के कारण ओढ़े गए फैशन के रूप में ही देखा जाएगा। उनके पास वह भाषा ही नहीं है जो आज के ज़माने के सत्य को ज़बान दे सके। क्या कोई विश्वास कर सकता है कि यह पंक्तियाँ 'दीन' और 'नंगों' के लिए लिखी गई होंगीं :

अगाध असीम महासागर में
झुके हुए तालों की ओट में
प्रवाल-कीटों का गढ़ा हुआ
एक छेदों-भरा छल्ला
वसुन्धरा की नाभि,
आद्य मातृका की योनि।

ऐसी ही उपेक्षा में तो

बार-बार, बार-बार, बार-बार
अजर अजस्र शृंखला में
जनमेगा पनपेगा
ऐल मनु अजित, अधर्ष,
अविधीत, आत्मतंत्र।
(लौटते हैं जो वे प्रजापति हैं)

इन दोनों संग्रहों की समस्त कविताएँ पढ़ जाने के बाद भी यदि किसी भी कविता की कोई भी पंक्ति आपको प्रभावित नहीं करती तो इसमें आपका कोई दोष नहीं है। मुझे नहीं मालूम कि सन् चालीस के आस-पास कौन से तत्त्व अज्ञेय की कविता को छायावाद से अलग करते थे— मुझे यह अवश्य मालूम है कि आज उनकी और पंत की कविताओं में फर्क करना मेरे लिए कठिन और अनावश्यक हो गया है। अज्ञेय का कथ्य और जिन शब्दों में वे उसे कहना पसन्द करते हैं दोनों इतने नकली, निरर्थक और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अप्रासंगिक हो गए हैं कि उनकी कविता आज के पाठक को एक विचित्र क्रुद्ध लज्जा से भर देती है। मुझ जैसे लोग जिन्होंने अज्ञेय के विषय में बहुत सुन रखा, था पिछले कई वर्षों से उनकी कविता को ऐसे चमत्कार के रूप में देखते रहे हैं जो कभी सच नहीं हुआ। दरअसल अज्ञेय में न कोई बहुत बड़ा विकास हुआ है और न कोई बड़ा पतन। हाल ही में प्रकाशित 'चिन्ता' की रचनाओं में वह सब है जो उनके परवर्ती संग्रहों में अलग-अलग वेश-भूषा में देखा जा सकता है। अज्ञेय की कविता और हिन्दी कविता का विलगाव पहले ही प्रारम्भ हो चुका था और अब दोनों के बीच इतनी बड़ी खाई है कि या तो आज का पाठक इधर की सारी कविता को नकार दे और अज्ञेय की दर्शन, प्रेम, त्याग आदि से आच्छादित दुनिया में चला जाय और बुरी खबरें सुनना बन्द कर दे, या फिर उनकी कविता को नकार दे और अभिव्यक्ति के सारे खतरे उठाने वाली कविता में ही जिए और मरे। यहाँ यह नहीं कहा जा रहा है कि आज एक व्यक्तिगत विश्व की कविता अवांछनीय हो गयी है किन्तु अज्ञेय का संसार मूलतः गढ़ा गया और सतही संसार है जिसे नियमित करने वाले विश्वास एकदम वेध्य हैं। वे प्रारम्भ से ही वैसे थे। उनकी कविता अब अपने ही संसार में कैद हो गई है। उसे यदि कोई प्रश्न व्याकुल करते हैं तो वे 'शाश्वत' किस्म के हैं जिनका उत्तर 'नेति, नेति' में ही प्राप्त होता है। प्रभु ईसा के इस १९७०वें वर्ष में जब हिन्दी कविता एक अभूतपूर्व मोर्चे पर खड़ी हुई है, अज्ञेय की कविता को कविता मानना और उन्हें कवि कहना अपने ज़माने की पेचीदगियों, हक़ीक़तों और तकाज़ों को समझने से आत्मघाती इन्कार करना है।

ज़िन्दगी का बॉस और कविता की कटी पतंग

विष्णु खरे

श्री भारतभूषण अग्रवाल हिन्दी कवियों की उस पीढ़ी से हैं जिसे अपने जीवन में ही ऐतिहासिक हो जाने का सौभाग्य प्राप्त है। उनकी कविता पिछले तीस वर्षों तक फैली हुई है और उसमें 'विकास' देखने की इच्छा का संवरण कर पाना मेरे लिए कठिन होता यदि मेरे पास उनके सारे कविता संग्रह होते। उनके समवयस्कों से भी उनकी 'तुलना' करने की इच्छा हो सकती थी यदि उन सबकी कविताएँ मेरे पास होतीं। बहरहाल, चूँकि भारतजी की कविता में ऐसे प्रमाण मिलते हैं कि उसने 'विकास' किया है, इसलिए उसे 'देखने' की इच्छा का शमन तो आसानी से हो जाता है। रही उनकी कविता को उनके समवयस्कों की कविता के समानान्तर रखने की बात, वह संभव है कि यहाँ अप्रासंगिक हो, किन्तु उनकी कविता के एकाध पहलू पर बात करने के लिए दूसरे कवियों की चर्चा शायद ज़रूरी होगी, इसलिए न केवल उनके समवयस्कों पर वरन् परवर्ती कवियों पर भी कभी-कभी दृष्टिपात कर लेना नागवार नहीं होगा।

यह एक सुखद आश्चर्य है कि जहाँ पुराने और नये कवि औसतन हर दूसरे वर्ष कविता-संग्रह छपवाकर हिन्दी के सार्वजनिक कूड़ेदान में डाल आते हैं, भारतजी छः वर्षों के बाद अपने नये संग्रह[1] में केवल इक्कीस कविताएँ लेकर उपस्थित हुए हैं। लम्बी कविता की इस महामारी में इक्कीस कविताएँ भी कम घातक न होतीं, किन्तु हर्ष का विषय है कि लम्बी कविताओं की संख्या इस संग्रह में सिर्फ दो है। काव्यस्फ़ीति के इस युग में एक वरिष्ठ कवि का यह संयम अप्रत्याशित है और कम-से-कम एक खास किस्म की जागरूकता का परिचायक है। किन्तु यह समझने में शीघ्रता न की जाय कि संग्रह में कविताओं का कम होना उनके अच्छी होने की भी निशानी है। 'स्पीक सो दैट आई मे नो यू' से घबराकर अर्थगर्भ मौन भी साधा जा सकता है। भारतजी की यह कविताएँ संख्या में कम भले ही हों, उनके कवि-व्यक्तित्व को वह करीब-करीब उतनी ही हानि पहुँचा रही हैं जितनी इनसे दुगनी-तिगुनी खराब कविताएँ पहुँचातीं। उनकी कविताओं की 'तुलना' गिरिजाकुमार माथुर की कविताओं के साथ करना भारत जी के साथ किंचित् अन्याय करना है और माथुर के साथ अत्यधिक उपकार, क्योंकि भारतजी की कविताओं को दो-एक चीज़ें मुक्ति देती हैं (जिनका ज़िक्र बाद में होगा) जो

१. एक उठा हुआ हाथ : (कविताएँ) : भारतभूषण अग्रवाल : लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, मूल्य ५ रुपये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

माथुर में दूर-दूर तक नहीं हैं, फिर भी दोनों की कविताओं में आज की हिन्दी कविता का सबसे खतरनाक जरासीम—फेहरिस्तबाज़ी—अपने असाध्य रूप में उपस्थित है : "क्या-क्या नहीं छान डाला / क्या-क्या नहीं खूँदा है / कहाँ-कहाँ नहीं घूमा / किस-किससे नहीं जूझा / कौन-सा है बियाबान जो नहीं रूँधा है ! / भागा हूँ, रपटा हूँ, दौड़ा हूँ, घिसटा हूँ/ पिटा हूँ/ रोया हूँ/ झींका हूँ/ चीखा हूँ"। इसी तरह दो सौ छब्बीस पंक्तियों की कविता 'परिदृश्य १९६७' में कम-से-कम अरसठ स्थल ऐसे हैं जहाँ या तो कुछ 'हो रहा है' ("जनतन्त्र की टंकी फट गई है", "खिसकते शहर" की "बिजली फेल हो गई है") या कुछ पूछा जा रहा है ("क्या फर्क है वेद-पाठी और आर्मी कंट्रेक्टर में ?" "मोहल्ले में किसकी कार आती है ?")। यह समूची कविता एक भयंकर नकली रिटारिक से जनमी कृत्या है जिसमें से यदि चीज़ों की सूची निकाल दी जाय तो बीस पंक्तियों की शुद्ध कविता बचना मुश्किल है। इसकी अंतिम पंक्तियाँ हालीवुड की घटिया 'स्पेक्टेकिल' फिल्मों के सिनेमा हॉल तथा कान के परदे फाड़ने वाले 'ओवरडन' भीड़-दृश्य की याद दिलाती हैं : "भीड़ के मारे तिल धरने को जगह नहीं है / भीड़ / भीड़ के पीछे एक और विराट भीड़ / भीड़ के आगे नज़र को पछाड़ती भीड़ / भीड़ के अगल में भीड़ / भीड़ के बगल में भीड़ / हरेक का मुंह हरेक की तरफ है/ हरेक की आँखें हरेक को घूरती हैं / हरेक की बाँहें हरेक से उलझी हैं / हरेक के पैर हरेक से टकराते हैं। हरेक आदमी हरेक को भेंटता है / हरेक आदमी हरेक पर गिरा पड़ता है / हरेक आदमी रास्ते पर खड़ा है / और हरेक आदमी रास्ता पूछ रहा है / हरेक आदमी से।" हो सकता है कि मैं एकाध पंक्ति छोड़ गया होऊँ किन्तु आप चाहें तो दो सौ पंक्तियाँ इस तरह की और जोड़ दें, कोई फर्क नहीं पड़ेगा क्योंकि कविता की मृत्यु पहले—बहुत-बहुत पहले—ही हो चुकी है। ऐसी ही विस्तारप्रिय कविता "जहाँ मैं हूँ" है जिसकी ९५ पंक्तियों में २९ में पहला शब्द 'और' है, १४ में 'जहाँ' है और ८ में 'जो' है। 'याद' कविता की पहली पंक्ति "अब सब याद आता है" भुक्तभोगी पाठक को 'क्या याद आता है' की फेहरिस्त के लिए तैयार कर देती है। कुल तेरह चीज़ें याद आती हैं।

पूछा जा सकता है कि कवि यह फेहरिस्तबाज़ी क्यों करता है। यह मैं मानता हूँ कि एक छोटी-सी फेहरिस्त—वह परचून की दूकान में हो या कविता में—बहुत उपयोगी होती है। किन्तु सूची बनाने वाला यदि उसे लम्बी करता चला जाता है तो वह उसका उद्देश्य असफल ही करता है। हिन्दी के अधिकांश कवि लेकिन यह सोचते हैं कि उनका 'कैन्वस' जितना 'विराट' होगा, उनकी दृष्टि उतनी ही 'विस्तृत' और 'पैनी' समझी जाएगी। इसीलिए वे फैंटेसी, रूपक, उपमा, प्रतीक का सूचीपत्र तैयार करते चले जाते हैं—कोई-न-कोई पंक्ति तो उद्धरणीय होगी ! वे सोचते हैं कि उनका प्रत्येक अनुभव एक थाती है जिसे उन्हें कविता को सौंपना ही है। वे अनुभव के सामने विनम्र या सशंक होना नहीं चाहते, उसके माध्यम से अपनी नुमाइश करना चाहते हैं। वे अपने अनुभव को 'अद्वितीय' समझते हैं और उसे कविता नहीं 'जुमला' या 'फिकरा' बनाना चाहते हैं।

जुमलेबाज़ी जिस तरह माथुर की चाँदनी से इलायची चबवाती है, भारतजी से वह असम्बद्ध ऊलजलूल पंक्तियाँ इकट्ठा करवाती है। हिन्दी फिल्मों में हास्य के नाम पर कलंकनुमा एक अभिनेता राजेन्द्रनाथ है जो हास्य उपजाने के लिए अन्डरवियर दिखाता रहता है, फिर लेडीज़ टायलेट में घुस जाता है और वहाँ से खदेड़े जाने पर स्त्रियों का स्विमसूट पहने स्विमिंगपूल में गिर पड़ता है। स्पष्ट है कि यह सब आपकी पसलियों में नाखून गड़ाकर हँसाने के लिए किया जाता है। भारतजी की इन पंक्तियों में भी वह फूहड़ असंबद्धता है, यद्यपि उनका उद्देश्य अलग है : "एक बहुत बड़ा ट्रांज़िस्टर / बादलों में बज रहा है / और पौधे चराते बच्चे / उसे लग्गी से गिराने में लगे हैं", "सिनेमा की 'क्यू' में खड़े / हथकटे लोगों के हुजूम पर / ट्यूबवैल हँस रहे हैं", "अहमदाबाद और बम्बई में बजती तालियों की गड़गड़ाहट से कनाट-प्लेस के होटलों में डांस करती मिस बी० यानी भविष्यकुमारी बेहोश हो गई है", "अशोका होटल में झूमती ब्यूटी क्वीन की टाँग / इन्द्रधनुष की तरह / कॉटेज एम्पोरियम तक तन गई है / और उस पर टंगे टैलिविज़न से टपकती बूँदें / बिहार पर बरस रही हैं।" इस तरह की पंक्तियाँ शायद उन मजमों में कारगर हों जहाँ 'लालतिकोन' या 'साली-जीजा' कह देना ही हास्य के लिए पर्याप्त होता है, कविता के गंभीर अध्येता के लिए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तो ये नाटकीय दुःस्वप्न है।

भारतजी के इस संग्रह में एक भूमिका है जिसकी केवल ये पंक्तियाँ ही उनकी कविताओं के लिए प्रासंगिक हैं "……एक ऐसे साहित्य का जन्म होना चाहिए था जो अगति पर व्यंग्य करता और कृत्रिमता से जूझता। पर लगता है कि कलाकार का विद्रोह भी राजनीतिज्ञ की भाँति केवल बाह्य रूप तक ही सीमित है; और वह व्यंग्य इस लिए नहीं करता कि तब आत्म-व्यंग्य से कैसे बचेगा!" स्पष्ट है कि भारतजी ने इस संग्रह की कुछ कविताओं में अगति पर व्यंग्य किया होगा और कृत्रिमता से जूझने की कोशिश की होगी। किन्तु व्यंग्य एक खतरनाक विधा है। वह खाने की टेबिल पर की गई बातचीत नहीं है। ईमानदार व्यक्ति के हाथ में व्यंग्य रंगीन पानी से भरी हुई पिस्तौल नहीं, दूरगामी हथियार होता है। भारतजी का व्यंग्य इसलिए कारगर नहीं है कि वह विसंगतियों से घिरे हुए व्यक्ति की छटपटाहट का व्यंग्य नहीं है। उसमें वह विराट घृणा और विराट प्रेम नहीं है जो रघुवीरसहाय की कविताओं में कहीं-कहीं झलक उठता है। उनके व्यंग्य में धूमिल के व्यंग्य सरीखी मानवीय उपस्थिति का नितान्त अभाव है। उनका व्यंग्य इसलिए कुन्द पड़ता है कि वह स्वयं उन चीजों में शामिल व्यक्ति का व्यंग्य है जिन पर वह अपना हुनर आजमा रहा है।

रूमानी कविताएँ लिखने वाला कवि जब व्यंग्य की ओर मुखातिब होता है तो यदि वह सजग नहीं रहता तो अपनी अतिशयोक्ति भरी मौलिक रूमानी आदत से व्यंग्य को भी क्षति पहुँचाता है। माथुर और कैलाश वाजपेयी इसके उदाहरण हैं। भारत जी मूलरूप से रूमानी हैं यह उनकी कविता 'अ-लगाव' से ही स्पष्ट है जिसमें उन्होंने अपने कवि का 'असफल प्रेमी' 'अविवाहित' 'बेकार' 'रातों को छत पर टहलने वाला' 'दुबला' और 'फीकी हँसी' हँसने वाला के पारम्परीण शरच्चन्द्रियन रूप में चित्रण किया है। इसलिए सामान्यतः आत्म-व्यंग्य की उम्मीद मैं उनसे नहीं करता था। किन्तु 'चीर-फाड़' में ऐसी कुछ पंक्तियाँ दीख पड़ीं जो इस बात की परिचायक हैं कि वे आत्म-निरीक्षण भी कर गुज़र सकते हैं। "क्या फायदा हुआ दर्जा छह में यह पढ़ने से / कि कस्तूरी मृग के कुण्डल में बसती है?/ मैंने पूरी ज़िन्दगी भटकने में बिताई है / और अब सब ओर से विफल होकर / जब मैं अपना कुण्डल चीर-फाड़ रहा हूँ / तो वह इस खोखल में मिलती क्यों नहीं…या।— और इस सम्भावना से ही मैं चरमराने लगता हूँ—/कहीं ऐसा तो नहीं है / कि मैं कस्तूरी मृग ही नहीं हूँ / और मेरी भटकन और चीर-फाड़ / मात्र मेरा दंभ है!" इसी कविता का अन्तिम चरण भी इस तरह और स्वयं के प्रति सशंक, व्यंग्यात्मक दृष्टि के लिए दृष्टव्य है जो हिन्दी में बड़ी दुर्लभ वस्तु है: "क्या मैं इन अनगिनत परतों को छीलकर / कभी अपना सच्चा मन नहीं देख पाऊँगा?/ बहुरूपिया बने रहना ही क्या मेरी नियति है? /कब तक मैं प्यार को फूल, और रोटी को खुशामद / और क्रांति को रेस्तराँ बनाता रहूँगा? कब तक मैं सुविधा की छत पर चढ़ा / कविता के बाँस से / ज़िन्दगी की कटी पतंग फाँसने का यत्न करता रहूँगा…" कहना न होगा कि इन सारे प्रश्नों का उत्तर भारतजी के ही पास है क्योंकि जो दुनिया उनके पास है वह उन्हीं की चुनी हुई है। हाँ, यदि वे चाहें तो येट्स के साथ यह प्रार्थना कर सकते हैं:

Grant me an old man's frenzy,
Myself must I remake
Till I am Timon and Lear
Or that William Blake
Who beat upon the wall
Till Truth obeyed his call;
A mind Michael Angelo knew
That can pierce the clouds,
Or inspired by frenzy
Shake the dead in their shrouds;
Forgotten else by mankind
An old man's eagle mind.

अपने में पैठने की एक और कविता इस संग्रह में है—'चोट'—जो मुझे इस संग्रह की इनी-गिनी अच्छी कविताओं में श्रेष्ठतम लगी। कविता में उद्धरणीयता क्योंकि अब बढ़ती जा रही है इसलिए यह लिखते हुए मुझे हर्ष हो रहा है कि यह हिन्दी की उन बहुत कम कविताओं में से है जिनकी एक भी पंक्ति आप 'उद्धृत' नहीं कर सकते—उसे पूरा पढ़े बिना मुक्ति नहीं है। हो सकता है कि मुझे यह कविता इसलिए भी अच्छी लगी हो कि मैं स्वयं कभी 'मैं' और अन्य वस्तुओं के बीच उस रहस्यमय 'स्पेकुलेटिव' सम्बन्ध को व्यक्त करने की इच्छा रखता हूँ जिसे पकड़ पाने की सफल कोशिश इस कविता में हुई है। प्रत्येक सोचने वाला व्यक्ति कभी-न-कभी इस बात से भयभीत हो उठता है कि अपने से अलग भी वह कोई और दूसरा है (यह वाक्य उस भावना का सरलीकरण समझा जाए)। श्रीकान्त वर्मा ने अपनी एकाध कविता में इसे व्यक्त करने का प्रयत्न किया है किन्तु उसका उतना गहरा और रोमान्चक अन्वेषण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनमें नहीं है जितना भारतजी की इस कविता में है। मानव-अस्तित्व के रहस्यों पर हिन्दी कवियों की दृष्टि कम ही गई है। 'चोट' को इस दृष्टि से हिन्दी की कतिपय विशिष्ट कविताओं में रखा जा सकता है।

हिन्दी कवियों की वरिष्ठ पीढ़ी में भारत जी शायद एक मात्र कवि हैं जिन्होंने कविता के माध्यम से मुक्ति बोध को स्वीकारा है। यह उनकी आत्म-निरीक्षण की प्रवृत्ति का ही द्योतक है कि इस संग्रह का शीर्षक उसी कविता का शीर्षक है जो उन्होंने मुक्तिबोध पर लिखी है। मुक्तिबोध को लेकर जो अपराध-भाव भारत जी की पीढ़ी में है, या होना चाहिए, या नहीं है, यह कविता उसकी मार्मिक अभिव्यक्ति है। 'स्फटिक-पुलिन', 'चन्दन-नौकाएँ', 'तार-स्वर' आदि शब्दों से भारत जी ने सफल व्यंग्य-निर्माण भी किया है। इस एक छोटी-सी कविता में हिन्दी कविता का एक कलंक-पूर्ण और स्वर्णिम अध्याय समाहित है। हाँ, 'तूफ़ान अब थम गया है' सरीखी पंक्ति खटकती है क्योंकि अभी तूफ़ान थमा कहाँ है।

'अब नहीं मिलेगा' भी एक अच्छी कविता हो सकती थी। इसमें कम-से-कम पाँच पंक्तियाँ ऐसी हैं जो भारतजी की सामान्य काव्य-भाषा से नितान्त पृथक् हैं तथा अशोक वाजपेयी सरीखे युवा कवियों की भाषा के समीप हैं इस-लिए सुखकर हैं: "कभी-कभी हम अचानक आशान्वित हो उठेंगे / और एक-दूसरे को प्यार करने लग जाएँगे / और हरेक के पास अन्धेरे की चादर होगी / और हमारी हँसी जुगनुओं की तरह / बेकार जलेगी और अचानक बुझ जाएगी।" किन्तु शेष कविता में स्विमिंग पूल, सैमीनार, फाइलों आदि का ज़िक्र न तो इसे इधर की ही रहने देता है और न उधर की ही। 'हर बार यही होता है' की प्रथम दस पंक्तियाँ भी इसी तरह एक उम्मीद जगाती हैं किन्तु सभी कुछ साफ-साफ कह देने की लापरवाह इच्छा उसे एक सफल मंच-कविता तो बनाती है, कुछ और खोजने वाले पाठक को नाराज़ करती है। मुझे लगता है कि भारतजी की समस्या वही है जो माचवे की है, दोनों अब कविता को जीवन के लिए 'एन्सिलरी' समझने लगे हैं, अनिवार्य नहीं। उनके लिए कविता एक 'बाइ-प्रॉडक्ट' है। इन दोनों के उपकरण ठीक हो सकते हैं किन्तु 'कला' के प्रति इनका रुख अक्सर लापरवाही और कभी-कभी ताच्छल्य-भरा है।

किन्तु वे जो कला को गंभीरता से ग्रहण करते हैं दूसरे किस्म के गड्ढे में जा गिरते हैं। उनकी कविता से हास्य की उम्मीद तो दरकिनार, मुस्कान पाना भी असंभव-सा होता है। भारतजी की कविता जहाँ एक ओर आत्म-निरीक्षण कर सकती है वहाँ दूसरी ओर उसमें एक 'सैन्स ऑव ह्यूमर' भी है। 'रस-सिद्धान्त', 'नियति', 'एक खयाल—शीर्षासन के बहाने', 'ट्रैफिक पोलिसमैन' ऐसी ही कुछ कविताएँ हैं जिनका संयत तथा संपृक्त हास्य अनेक फ़ैशनेबल हाइकूनुमा कविताओं से ज्यादा कारगर है। इनमें से 'ट्रैफिक पोलिसमैन' तो आज के मशीन युग में आदमी की दुहरी-तिहरी निरर्थकता की ऊपर से हल्की-फुलकी किन्तु अन्दर अत्यंत ट्रेजिक कविता है। यह आदमी के 'प्लैन्ड ऑब्सोलेसेन्स की कविता है।

भारतजी सरीखे वरिष्ठ कवि, कविता के लिए दो महत्त्वपूर्ण गुणों—आत्मालोचन तथा हास-क्षमता—के होते हुए भी क्यों असफल होते हैं? क्या वजह है कि तीस वर्षों तक कविता लिखने के बाद भी वे हिन्दी कविता की प्रथम पंक्तियों में नहीं हैं? इन प्रश्नों का उत्तर उनकी अपनी कविताओं में ही मिलता है। किन्तु शायद इन प्रश्नों का पूछा जाना निरर्थक है। पूछा यह जाना चाहिए कि उनकी कोई अपनी तस्वीर क्यों नहीं उभरती? तीस वर्षों की काव्य-साधना यदि अकारथ जाती प्रतीत हो रही है तो इसका समाधान शायद ऐलियट की इन पंक्तियों में मिलेगा, जिनमें 'ट्वन्टी' की जगह 'थर्टी' रख देने से काम चल जाएगा। और यह ध्यान रखने से कि ऐलियट के कथन में जो विनम्रता है वह भारतजी के लिए वास्तविकता है:

"So here I am, in the middle way, having had twenty years—/Twenty years largely wasted, the years of l'entre deux guerres/ Trying to learn to use words, and every attempt/ Is a wholly new start, and a different kind of failure/ Because one has only learnt to get the better of words/ For the thing one no longer has to say, or the way in which/ One is no longer disposed to say it. And so each venture/ Is a new beginning, a raid on the inarticulate/ With shabby equipment always deteriorating/ In the general mess of impression of feeling,/ Undisciplined squads of emotion."

(फ़ोर क्वार्टेट्स, ईस्ट कोकर, ५)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

असंभव-सा
र आत्म-
एक 'सैन्य
ति', 'एक
ऐसी ही
य अनेक
रगार है।
न युग में
ने हल्की-
ह आदमी

लिए दो
मता—के
कि तीस
विता की
र उनकी
इन प्रश्नों
हिए कि
ीस वर्षों
ही है तो
मिलेगा,
काम चल
कथन में
है :

having
y was-
Trying
ipt/ Is
nd of
get the
longer
is no
ven-
inarti-
deteri-
ion of
n."

र, ५)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFERENCE BOOK

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कबीर-विषयक
आलोचना-साहित्य में
मील का पत्थर !

हजारीप्रसाद द्विवेदी

कबीर

लगभग दस वर्ष तक अप्राप्य रहने के बाद अब राजकमल से संशोधित-संवर्धित रूप में नई साज-सज्जा के साथ उपलब्ध !

मूल्य : सजिल्द १६.००
पेपरबैक १०.००

राजकमल प्रकाशन
दिल्ली-६ पटना-६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्ष १९७० के
साहित्य अकादमी पुरस्कार
द्वारा सम्मानित
महान ऐतिहासिक कृति

हिन्दी के जीवनी-साहित्य
में अद्वितीय

"निराला-जैसा साहित्यकार
सदियों में कभी एक होता है"
—महादेवी क

और
'निराला की साहित्य-साधना' भी
हजारों में एक सिद्ध हुई है !

निराला की साहित्य-साधना

डॉ० रामविलास शर्मा

निराला की जीवन-साधना और साहित्य-साधना
गहनतम स्तरों के भीतर से उनके विराट व्यक्तित्व
उद्घाटन करने वाली बेजोड़ कृति !

नए संशोधित-संवर्द्धित संस्करण में नई साज-सज्जा
साथ उपलब्ध

डिमाई आकार
५५० के लगभग पृष्ठ
रैक्सिन की मजबूत जिल्द

मूल्य ३०.००

राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड
दिल्ली-६ पटना-६

राजकमल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

श्रीमती शीला सन्घ, मैनेजिंग डायरेक्टर, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, ८ फैज बाजार, दिल्ली, के लिए

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वैमासिक पहल

सम्पादक : नामवर सिंह

PR
२४
सि 36आ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
पुस्तकालय

विषय संख्या
पुस्तक संख्या
आगत पंजिका संख्या

पुस्तक पर किसी प्रकार का निशान लगाना वर्जित है। कृपया १५ दिन से अधिक समय तक पुस्तक अपने पास न रखें।

त्रैमासिक

प्रबन्ध सम्पादिका : शीला सन्धू

अंक में

अफ्रीकी कथा-साहित्य की आधुनिक प्रवृत्तियाँ — आनन्दस्वरूप वर्मा
क्रांतिकारी स्वच्छंदतावाद — विली थामसन
मतदान से पहले (कविता) — विनेत्र जोशी
साहित्य और सहृदय — सरनामसिंह शर्मा 'अरुण'

मूल्यांकन

मध्यकाल के संस्कृत काव्य पर कुछ बातचीत — धर्मेन्द्र गोयल
समकालीन चेतना : एक परिशीलन — धर्मेन्द्र गोयल
साहित्य सिद्धान्त — राजनाथ गुरु
उत्तर छायावादी तलछट का अन्त — विष्णु खरे
जिन्दगी का बाँस और कविता की कटी पतंग — विष्णु खरे

वापसी (कविता) — कुमार विकल ४३
बेकेट के साथ एक शाम — कैलाश वाजपेयी ४४
बर्तोल्त ब्रेख्त की दो कविताएँ — अनु० रणजीत ४८
हिन्दी पत्रकारिता की पृष्ठभूमि — बटरोही ५१
दो कविताएँ — श्रीराम वर्मा ६४

वर्ष : १८ : नवांक १५, (पूर्णांक ५२) अक्तूबर-दिसम्बर १९७०, मूल्य ४.००
वार्षिक—साधारण डाक द्वारा १६.००—रजिस्टर्ड डाक द्वारा १९.८०
विदेशों में—२०.००
कार्यालय : राजकमल प्रकाशन प्रा० लि०, फैज बाजार, दिल्ली-६
सम्पादक के लिए : डा० नामवर सिंह, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष,
हिन्दी विभाग, जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर

पंजीयन पत्र संख्या डी० ई० वी०/८/एस० ई० लायब्रेरी/मैग०/१९६७-६८
समाज शिक्षा, राजस्थान के पत्रांक पु० प्र० /१/एफ/११-६८/
के पुस्तकालयों और वाचनालयों के लिए स्वीकृत

पुस्तकालय, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED
REFERENCE BOOK
CHECKED

मार्क्स और एंगेल्स के सौन्दर्यशास्त्रीय विचार

स्तेफ़ान मोराव्स्की

कार्ल मार्क्स (१८१८-१८८३) के सौन्दर्य विषयक विचार से सम्बन्धित यथेष्ट साहित्य विकसित हुआ है। फ्रेडरिक एंगेल्स (१८२०-१८९५) के विचार के विवेचन पर कम ध्यान गया है। उचित रूप से ऐसे साहित्य का आरम्भ उनके निजी लेखों, मन्तव्यों और साहित्य एवम् कला पर की गई टिप्पणियों से होता है। ऐसी सामग्री का पहला संग्रह रूसी-भाषा में १९३३ में प्रकाशित हुआ, जिसके सम्पादक ए. लुनाचार्स्की, एम. लिफशित्ज़ और एफ. पी. शीलर (मास्को) थे। इसका संवर्धित रूसी संस्करण १९३८ में प्रकाशित हुआ। जर्मन भाषा में इसका पुनर्परिवर्द्धित संस्करण १९४८ में (कला और साहित्य) प्रकाशित हुआ जिसके सम्पादक एम० लिफशित्ज़ थे। इसका विशिष्ट परिवर्द्धित संस्करण दो खण्डों में लिफशित्ज़ द्वारा सम्पादित होकर १९५७ में मास्को से प्रकाशित हुआ। इसके अतिरिक्त दो खण्डों का संस्करण ६७-६८ में एम० क्लायम द्वारा सम्पादित होकर बर्लिन से प्रकाशित हुआ। १९४८ में लिफशित्ज़ द्वारा संपादित संस्करण की सामग्री के अलावा इसमें कतिपय नयी सामग्री भी मिलती है।

मार्क्स और एंगेल्स के १८३०-'४० के उत्तरार्द्ध और १८४०-'५० के पूर्वार्द्ध की युवा कविताएं, वर्णनात्मक रचनाएं और सौन्दर्य विषयक विचारों का संकलन तथाकथित MEGA में मिलता है। ए० कोर्नू ने इस अवधि की सामग्री की पूर्ण व्याख्या की है। कोर्नू ने एफ० मेहरिंग द्वारा लिखी गई मार्क्स की जीवनी और जी० मायर द्वारा लिखी गई एंगेल्स की जीवनी को अपनी कृति का आधार बनाया है। मार्क्स के १८४० के पूर्व का सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन का पता केवल उनके पत्रों से मिलता है। इससे पहले की उनकी शोध-पुस्तिकाएं खो चुकी हैं लेकिन उसके बाद के नोट प्राप्त हैं और १८५६ तक की सामग्री का सर्वेक्षण एम. रूबेल के द्वारा हो चुका है। लिफशित्ज़-संपादित संस्करणों में अन्य वृहद संकलनों के प्रारम्भिक स्रोत का पता मिलता है जिनमें ज्यां फरविल संपादित संस्करण (पेरिस से १९३७ में प्रकाशित, परिवर्द्धित संस्करण १९५४ में से प्रकाशित) वी० गेराटाना (मिलान से १९५४ में प्रकाशित), न्यूयार्क से अंग्रेज़ी में (१९४७ में प्रकाशित) और हवाना से स्पेनिश भाषा में (१९६५ में प्रकाशित) अनाम संपादित संकलन शामिल हैं।[1]

२. अनेक पश्चिमी विद्वानों की तरह पिटर दमेज ने एंगेल्स के सौन्दर्य विषयक विचार का मार्क्स के सौन्दर्य विषयक विचार से पैना सीमांकन प्रस्तुत किया है। मार्क्स में युरोपीय रुचि दिखलायी गयी है और एंगेल्स में जर्मन और प्रादेशिक रुचि। मार्क्स को यथार्थवाद की धारणा से दूर कहा गया है जबकि एंगेल्स को उसका पक्षधर। वास्तव में, जिस प्रकार उनके मूल निवास-पृष्ठभूमि भिन्न थे उसी प्रकार उनके युवावस्था की भावनायें भी भिन्न थीं। युवा जर्मनी आंदोलन के विचारों के प्रति आकृष्ट होने वाले एंगेल्स साहित्यिक आलोचना को व्यवहार में लाते थे। मार्क्स ने, जिनका आरम्भ में ही श्रेण्य साहित्यिक विरासत से परिचय हुआ, चाव से उसे आत्मसात् किया और दर्शन एवं सौन्दर्यशास्त्र का अध्ययन किया। (बॉन युनिवर्सिटी में वह ए० डब्ल्यू० श्लेगेल के छात्र थे।) फिर भी उनकी आरंभिक रचनाएँ उनके बौद्धिक विकास में एक मिलन-बिन्दु की ओर अभिमुख प्रवृत्ति का संकेत देती हैं। उनके आजीवन सन्निकट सहयोग की शुरुआत (सितम्बर, १८४४)

[स्तेफ़ान मोराव्स्की पोलैंड के वारसा विश्वविद्यालय में सौन्दर्यशास्त्र के प्राध्यापक हैं। वह १९६६ के ग्रीष्म में कैलीफोर्निया और बर्कले युनिवर्सिटी में अध्यापन कार्य कर चुके हैं। पोलिस और अंग्रेज़ी भाषा में उनकी कई कृतियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं।]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के पश्चात उनके सौन्दर्य विषयक विचार एक-दूसरे में घुल-मिल गये। विश्वस्त होकर यह कहा जा सकता है कि उनके सौन्दर्य विषयक विचार में संलयन था, दृष्टि में एक-रूपता थी। इसके साथ ही यह भी उल्लेख्य है कि उनके मिज़ाज समान नहीं थे और प्रत्येक की रुचि विशिष्ट थी। इसी दृष्टि से विषयों और समस्याओं पर उनके व्यक्तिगत जोर की व्याख्या की जा सकती है। मार्क्स अमूर्त चिंतन के प्रति अधिक उत्साह रखते थे और उस सम्बन्ध में अधिक क्रमबद्ध थे। एंगेल्स अति संवेदनशील और सहज थे। मार्क्स को युनिवर्सिटी की शिक्षा मिली थी। और विलक्षण प्रतिभाशाली एंगेल्स अधिकांशतः स्वतः शिक्षित थे। मार्क्स का आदर्श, जैसा कि कोर्नू ने चित्रण किया है, प्रमिथियस था और एंगेल्स का निबेलुंगेनलाइड का सीगफ्रीड। उनकी दृष्टि में समानता स्पष्ट है, खासकर इसे उनकी दो प्रमुख समीक्षाओं में देखा जा सकता है—**ई० सू** की रचना **'पेरिस का रहस्य'** (द होली फैमिली, १८४५) और एफ० लासाल का नाटक **फ्रान्ज़ वॉन शिकिंगन** (लेखक के साथ १८५९ में किये गये पत्राचार को देखें)। यहाँ उनके विचार एक-दूसरे से मिलते हैं हालाँकि वे अपना विश्लेषण एक दूसरे से प्रत्यक्ष मशविरा कर नहीं लिख रहे थे। मार्क्स ने सौन्दर्यशास्त्र पर क्रमबद्ध रूप से लिखने की दो बार योजना बनाई। १८४१-४२ के शरद में उन्होंने कला और धर्म से सम्बन्धित हेगेल के विचार की समीक्षा पर ब्रूनो बायर के साथ काम किया। और प्रमाण है कि **न्यू अमेरिकन साइक्लोपीडिया** (प्रकाशन) द्वारा सौन्दर्यशास्त्र पर माँगे गये लेख को पूरा करने की उन्होंने १८५७ में चेष्टा भी की थी। (इस सिलसिले में स्पष्ट है कि उन्होंने एफ० टी० फिशेर की रचनाओं ई०, मूलर का प्राचीन ग्रीक सौन्दर्यशास्त्र का इतिहास तथा अन्य कृतियों का अध्ययन किया)। उनमें से कोई रचना वह पूरी नहीं कर सके। प्रश्न सामने यह है कि सौन्दर्यशास्त्र सम्बन्धी उनकी मूल रचनाओं को किस प्रकार क्रमबद्ध किया जाय। और सिर्फ क्रमबद्ध व्यवस्था अपने आप में विशेष जानकारी नहीं दे सकेगी। मैं सर्वप्रथम इन समस्याओं पर विचार करूँगा :

(क) क्या पूर्व-मार्क्सवादी और मार्क्सवादी अवधि की झलक कला और साहित्य सम्बन्धी उनकी रचनाओं में मिलती है,

(ख) उनके बिखरे विचारों और टिप्पणियों में संरचना और विषय संगति के पैटर्न क्या हैं ?

विश्व-दृष्टि का सामान्य विकास और मार्क्सवादी दर्शन के समझे बिना निश्चय ही पहली समस्या को नहीं निपटाया जा सकता है। 'फ़ॉर मार्क्स' नामक पुस्तक में (१९६६ में पेरिस में प्रकाशित, अंग्रेज़ी संस्करण १९६९ में प्रकाशित) लुई अल्तूसेर ने इस विवाद को पुनः प्रस्तुत किया। १८४५ की इस कृति में अल्तूसेर ने यह निर्धारित किया है कि एक वैज्ञानिक विचार यानी मार्क्सवादी दृष्टि के पक्ष में मानववाद सम्बन्धी अस्पष्ट विचार का परित्याग कर दिया गया है। इस प्रकार के 'कटे हुए विचार' की धारणा की पुष्टि करना असंभव लगता है। मार्क्सवादी विश्व-दृष्टि की क्षमता इसके शुद्ध वैज्ञानिक होने में निहित नहीं है क्योंकि यह समाज-विज्ञान है और एक भिन्न प्रकार के ज्ञान का विवेचन करता है और इसके समाज-विज्ञान होने के प्रत्यक्ष तत्त्व **१८४४ की पांडुलिपियों** में मौजूद हैं। इस प्रकार मार्क्स और एंगेल्स के विकासशील सौन्दर्य विषयक विचार में ऐसी कोई सीमा-रेखा खींचना समान रूप से कृत्रिम होगा क्योंकि अपनी आरम्भिक रचनाओं में वे अपनी कई प्रकार की समस्या प्रकट करते हैं। मसलन, कलात्मक स्वतन्त्रता बनाम अलगाव (सेंसर-व्यवस्था पर १८४२ की मार्क्स की टिप्पणी देखें), श्रम-प्रक्रियाओं में कला का स्रोत (देखें **१८४४ की पांडुलिपियाँ**), सोद्देश्यता (देखें **युवा जर्मनी** पर एंगेल्स के विचार) आदि और इनसे सम्बन्धित उनकी चिंता उनकी अत्यंत परिपक्व अवधि में पुनः प्रकट होती है। यहाँ हम उनके पूर्ण सौन्दर्य विषयक विचार पर विचार करेंगे और इसकी शुरुआत १८४२ की अवधि से करेंगे जब हेगेल और फ़ायरबाख के विचार के अवशेषों के बावजूद मार्क्सवाद के दो श्रेण्य विचारकों ने अपनी विशिष्ट विश्व-दृष्टि को रूप देने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लिया।

यह हमारे सामने दूसरी समस्या ला खड़ा करता है: कला और साहित्य सम्बन्धी उनकी बिखरी मूल रचनाओं को क्रमबद्ध किस प्रकार किया जाय। आरम्भ में हमें उनकी मूल रचनाओं में विभाजन कर लेना चाहिए यानी उन रचनाओं को, जो स्पष्ट और सुसंगत रूप से किसी विषय को प्रतिपादित करती हैं, टिप्पणीनुमा छोटी रचनाओं से, जिनमें प्रबन्ध के तत्त्व तो हैं परन्तु उसे अंशतः ही विकसित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया गया है और फलस्वरूप वह अस्पष्ट रह गया है, अलग कर लेना चाहिए। और उन रचनाओं को भी अलग कर लेना चाहिए जो जल्दबाजी में लिखी गयी टिप्पणियों अथवा दुरूह टिप्पणियों के रूप में हैं और किसी प्रकार के प्रबन्ध के लिए समर्थ आधार नहीं देती हैं। सम्पूर्ण रचनाओं को तीन श्रेणियों के अन्तर्गत रखा जा सकता है जिनमें प्रथम श्रेणी को मैं **प्रमुख विषय** कहूँगा, दूसरी को व्युत्प्रेक्षा और तीसरी श्रेणी को **टिप्पणी**। प्रथम श्रेणी के अन्तर्गत वे रचनाएँ आती हैं जिनका सम्बन्ध सौन्दर्य-विषयक बोध का स्रोत, कलाकार का अलगाव, यथार्थवाद, सोद्देश्यता, कला के वर्ग-पर्याय आदि से सम्बन्धित विचार-विमर्श से है। दूसरी श्रेणी के अन्तर्गत आनेवाले विषयों में सौन्दर्य-विषयक गुणों और अनुभवों की प्रकृति, कलाकृतियों में सार्वजनीन मानवीय पर्याय और कामद और त्रासद कला के स्थायी मूल्य, रूप और शैली आदि हैं। तीसरी श्रेणी में विज्ञान और कला का प्रभेद, कलात्मक रचना से दर्शन का सम्बन्ध, कलात्मक मूल्यों की क्रमबद्धता आदि विषयों पर चलताऊ चिंतन समाविष्ट हैं। सिकिंगेन और सू के उपन्यास से सम्बन्धित विचार-विमर्श, मार्क्स और एंगेल्स की सौन्दर्यपरक विषयों से सम्बन्धित अत्यंत गंभीर रचनाओं में गिना जाता है; वे उन प्रमुख विषयों के आदि उद्गम हैं जिनके गिर्द दोनों की प्राविधिक धारणाएँ एवं मान्यताएँ निर्मित हुई हैं। दूसरी ओर इस सौन्दर्यपरक विचार-पुंज से व्युत्प्रेक्षाओं और टिप्पणियों को जिनके लेखक अधिकांशतः मार्क्स ही हैं, अलग कर देने का परिणाम होगा सौन्दर्य-विषयक मार्क्सवादी प्रबन्ध के विस्तार और संश्लिष्टता को अनुचित ढंग से क्षीण कर देना।

३. मार्क्सवादी सौन्दर्य-विषयक विचार से सम्बन्धित कई समस्याओं पर आज भी बहस जारी है। किंतु कुछ स्थापनाओं की प्रकृति के सम्बन्ध में अधिकांश लगभग सहमत हैं—खासकर इस मूल प्राविधिक अभिधारणा पर कि सौन्दर्य तत्त्व को मानव जाति का ऐसा सांस्कृतिक कार्यकलाप समझा जाना चाहिए जिसे वह सामाजिक-ऐतिहासिक प्रक्रियाओं के अंतर्गत आत्मोपलब्धि की दिशा में मंद प्रगति के रूप में संपन्न करता है। कला की यह अविच्छिन्न सत्ता, जो संस्कृति की सामाजिक, राजनीतिक, नैतिक, धार्मिक, वैज्ञानिक आदि विविध अभिव्यक्तियों पर अनेकशः निर्भर हैं, इन विभिन्न कार्य-क्षेत्रों को पुनः प्रभावित करती हैं। इसके अतिरिक्त परस्पर निर्भरता और जटिल अन्तःसम्बन्धों की पद्धति हर हालत में दोतरफा होती है। एक ओर यह समकालिक होती है, जो एक निश्चित काल के अन्तर्गत समाज की संरचना के आरपार घटित होती है, और दूसरी ओर ऐतिहासिक है जो अतीत से प्रभावित ऐतिहासिक प्रक्रिया के एक अंग के रूप में भी घटित होती है और जो संस्कृति की भावी प्रकृति पर संभव प्रभाव डालती है। सौन्दर्य-शास्त्र और कलाओं की सतत गत्यात्मकता और परिवर्तनशीलता का मुख्य उद्गम है सर्वथा जटिल सैद्धान्तिक दृष्टिकोण जो अन्ततः वर्ग समाज के विकास और अन्तर्विरोधों से अनुकूलित होता है। किन्तु गत्यात्मकता निश्चित सैद्धान्तिक दृष्टिकोणों और आकस्मिक मनोवृत्तियों से भी आती है जिसमें सही अर्थ में विशिष्ट क्षण की संवेदनात्मक और क्रियात्मक शक्ति होती है जिसे हम "मनःसामाजिक" और "पौराणिक" कह सकते हैं। इस पर और भी ज़ोर दिया जाना चाहिए कि सौन्दर्य तत्त्व विकास के दो विशिष्ट सांस्कृतिक क्षेत्रों में संचरण करता है, जो यद्यपि परस्पर अन्तरव्याप्त होते हैं पर कुछ हद तक सामान्य रूप में अपनी असंगतियों को सौन्दर्य-तत्त्व तक प्रेषित करते हैं। विकास के ये परस्पर संबद्ध किंतु प्रायः भिन्न क्षेत्र idiogenetic होते हैं और allogenetic होते हैं अर्थात् एक ओर इनमें वर्तमान सौन्दर्यशास्त्रीय परिकल्पनाओं के ऊपर अतीत की सौन्दर्यशास्त्रीय उपलब्धियों का उत्प्रेरण होता है और दूसरी ओर प्रदत्त सौन्दर्यशास्त्रीय क्षेत्र में सौन्दर्य-बाह्य-तत्त्व का उत्प्रेरण होता है। मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य के उपर्युक्त तत्त्व, जो अत्यन्त संक्षिप्त रूप में यहाँ प्रस्तुत किये गए हैं, 'ऐतिहासिकता' में समाविष्ट हो सकते हैं।

मार्क्स और एंगेल्स ने कला के स्रोत और कार्य से सम्बन्धित प्रश्नों को (या अधिक व्यापक रूप में सौन्दर्य-चेतना के प्रश्नों को) इतिहास के संदर्भ में निरूपित किया था। कला के विकास का प्रच्छन्न अर्थ मानव-सभ्यता के विकास, वर्ग विरोधों के सुदूर परिणाम, अत्याचार, अन्याय और भूख से मुक्ति सम्बन्धी इन्सान की अदम्य इच्छा के संदर्भ में प्रकट हुआ। उनकी इस ऐतिहासिक दृष्टि की अनिवार्यता थी कि उन्होंने अलगाव और सामंजस्य पर भी जोर दिया, और निर्माणकर्त्ता मानव का विश्लेषण इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकार प्रस्तुत किया कि वह निकट भविष्य में अपने थका देने वाले श्रम और उत्पीड़क अज्ञान का विनिमय सामाजिक जीवन के ऐसे प्रकार के साथ कर सके जो क्रीड़ा से मिलता-जुलता हो; अर्थात् वह सौन्दर्यबोध संपन्न प्राणी की हैसियत से मुक्त रूप में रचनात्मक स्तर पर प्रच्छन्न क्षमता की समग्रता प्राप्त कर सकता है। इस ऐतिहासिक दृष्टि में इस तथ्य की पहचान मिलती है कि सौन्दर्यपरक विचार और कलात्मक अभिव्यक्ति अपनी क्रियात्मक परम्पराओं के अन्तर्गत अपेक्षाकृत स्वायत्तता के साथ विकसित होते हैं। इसके साथ ही यह (ऐतिहासिकता) एक प्रणाली भी है जो कला के तत्त्व के रूप में यथार्थवाद और सोद्देश्यता के महत्त्व को उजागर करने में नहीं चूकती है क्योंकि यह कलाकृति को ऐतिहासिक प्रक्रिया और उसके प्रमुख वैचारिक रूपों से जोड़ती एवम् युग्मित करती है। इसके अतिरिक्त यह प्रणाली ऐतिहासिकता की तीन महान् धारणाओं को अपरिहार्य बना देती है जिसके बिना सौन्दर्यशास्त्र सम्बन्धी मार्क्सवादी दृष्टि अपूर्ण और अबोधगम्य रह जाएगी। ये धारणाएँ हैं मानव श्रम पर बल, जो सभी संस्कृतियों की आधारशिला है; फिर सभी प्राणियों की प्रगति के आवश्यक अंग के रूप में सामाजिक क्रांति के युग का आग्रह। और अन्त में इसमें यह विचार कि साम्यवाद (इन्सान) के लिए एक साथ ही वह आदर्श है जो उसने अपने सामने रखा है और वह यथार्थ है जो उसकी प्रगति की ऐतिहासिक गति है। इन विचारों की रोशनी में ही श्रम-प्रक्रियाओं को सौन्दर्य विषयक क्रिया का केन्द्र समझने के साथ ही एक निश्चित यथार्थ भी समझा जाता है जिससे सौन्दर्य-संस्कृति कभी भी पूर्णतः अलग नहीं हो सकती। इन्हीं विचारों की रोशनी में कला को मूलगामी सामाजिक परिवर्तनों के प्रति अपनाये जाने वाले रुख का संचालक समझा जाता है; और अन्ततः कला को आज मानव प्राणी के मुक्तिदाता और विधायक के रूप में देखा जाता है जिसके कारण वह (कला) साम्यवादी आदर्श और आंदोलन से सीधे सम्बद्ध हो जाती है।

अब हम इन व्याख्यात्मक टिप्पणियों को मार्क्स और एंगेल्स के आधारभूत प्राविधिक परिप्रेक्ष्य से जोड़ दें। कला को सामाजिक चेतना का विशिष्ट रूप समझकर विचार करें तो इससे हमारा तात्पर्य यह होगा : (क) इच्छाएँ, कभी-कभी विरोधी आस्थाएँ, पूर्ण बुद्धिसंगत राय की अपेक्षा विशेष भूमिका अदा करती हैं; (ख) कलाकार की अन्तर्दृष्टि की वैयक्तिकता का महत्त्व सर्वोपरि है, चाहे उसका विकास और अनुकूलन सामाजिक वातावरण द्वारा हुआ हो; (ग) प्रकृति की वास्तविकता के साथ कलाकार के व्यवहार में—दोनों के बीच, जैसा कि अनिवार्य रूप से होना चाहिए संस्कृति का चाहे जितना दखल हो—अकृत्रिमता और अद्वितीय ताज़गी की गहरी छाप होती है। कलाकार नये सिरे से संस्कृति का संस्कार करने की कोशिश करता है और उसका यह कार्य यथार्थ को समग्रता में प्रस्तुत करने की प्रक्रिया में होता है।

मार्क्स और एंगेल्स द्वारा उठायी गयी सौन्दर्य-विषयक मुख्य समस्याओं को गहरी दृष्टि से देखें तो हम यह ज़ोर देकर कह सकते हैं कि हमारा निरूपण उनके सौन्दर्य विषयक बिखरे विचार-तन्तुओं को पुनर्निर्मित करने की चेष्टा भर है। यहाँ हम उनकी उन्हीं मूल रचनाओं पर प्रकाश डालेंगे जो आमतौर पर अद्यतन यूरोपीय सौन्दर्य-शास्त्रीय चिंतन से सम्बन्धित मुख्य प्रश्नों और समाधानों के लिए प्रासंगिक हैं। हमने यह निष्कर्ष निकाला है कि सामान्य रूप में मार्क्स और एंगेल्स का सौन्दर्य-विषयक विचार उनकी व्यापक विश्व-दृष्टि का अंग है। फिर भी इस निष्कर्ष से समय-समय पर दो भिन्न और परस्पर असंगत निष्कर्ष निकाले गये हैं जिन्हें निरस्त करना ज़रूरी है। इनमें से प्रथम निष्कर्ष के अनुसार—जो बदनामी की हद तक फैल गया है—मार्क्सवादी दृष्टि कला से सम्बन्धित हरेक प्रश्न के लिए बाहरी है यानी यह केवल सामान्य दार्शनिक अथवा सामाजिक-राजनीतिक दृष्टि है। दूसरा निष्कर्ष (देखें राबर्ट सी. टकर की पुस्तक 'काल मार्क्स में **दर्शन और मिथ**', लंदन, १९६१) सम्पूर्ण कम्यूनिस्ट सिद्धान्त को "बुनियादी तौर पर प्रकृत्या सौन्दर्यपरक" बतलाता है; दूसरे शब्दों में क्रीड़ारत मानव के आदर्श से युक्त अर्ध-शिलरवादी मानव-विज्ञान।

४. सौन्दर्यबोध की उत्पत्ति के सम्बन्ध में मार्क्स के विचार, उस युग में, अनुभव-सिद्ध तथ्यों पर निर्मित नहीं हो सकते थे। अतः दूसरों की तरह उन्होंने शुद्ध दार्शनिक युक्ति गढ़ी और उसे इस समस्या के ईश्वरवादी और प्रकृतिवादी समाधानों के विरुद्ध खड़ा किया। १७वीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शताब्दी के दर्शन je ne sais quoi अथवा प्रकृति प्रदत्त विशिष्ट अन्तर्वृत्ति, अथवा विशिष्ट दैवी प्रवृत्ति जैसे विचारों का आश्रय न लेकर मार्क्स ने सौन्दर्यबोध के विकास की व्याख्या मानव-श्रम की ऐतिहासिक प्रक्रिया के अन्तर्गत की। इस प्रकार मार्क्स के लिए यह एक विशिष्ट मानवीय शक्ति है जो पशु-जगत् के प्रवेगों से भिन्न है। मानव जाति अपनी कर्मगत दक्षता को विकसित करने और आचार एवम् विचार में भौतिक दुनिया पर अपना प्रभुत्व कायम करने की प्रक्रिया के दरम्यान अपने सौन्दर्य-बोध को विकसित और परिष्कृत करती है। अतः सक्रिय कलात्मक क्षमता आरम्भ में ही इस रूप में हासिल की जाती है: भौतिक दुनिया मानव की माप अथवा अनुकूल उपयोग के अनुरूप ढाली जाती है और साथ ही मानवीय क्रीड़ा-क्षमता की अभिव्यक्ति के मार्ग का आविष्कार भी किया जाता है। इस प्रकार 'होमो फेबर' 'होमो लूडेन्स' होने की प्रक्रिया में होता है। सौन्दर्यबोध अपने शुद्ध अनु-चिंतनात्मक रूप में परवर्ती उपज है जिसे मार्क्स ने 'मिनेरालॉजिकल' बोध कहा है। यह अपेक्षया अव्याव-हारिक असम्पृक्ति पर निर्भर रहता है। इस प्रकार आदिम मानव द्वारा अपनी आवश्यकताओं के अनुसार यथार्थ के अपनाव या विनियोग के मार्क्स द्वारा प्रस्तुत किये गये वस्तुगत और मनोगत विवरण को इस प्रकार प्रतिपादित किया जा सकता है कि मनुष्य सामाजिक क्रिया के माध्यम से, जिसमें उसका सौन्दर्य-बोध (या यही अर्थ में कलात्मक बोध (प्रस्फुटित होता है, अपने-आपको) अपने "मानवीय तत्त्व" को) स्थापित करता है। इस प्रमुख विषय से सम्बन्धित कुछ रचनाएँ समस्या खड़ी करती हैं। 'ए कंट्री-ब्युशन टु द क्रिटीक ऑफ़ पोलिटिकल इकोनामी' नामक पुस्तक में मूल्यवान धातु पर विचार करते हुए मार्क्स घोषणा करते हैं कि उनके रंगों में 'सौन्दर्य के गुण" समा-विष्ट हैं जो "सौन्दर्यबोध के सबसे लोकप्रिय रूपों" को जाग्रत करते हैं। मार्क्स ने इसे ऐतिहासिक दृष्टि से प्रारंभिक क्रिया की अपेक्षा व्यापक प्रचलित क्रिया ठीक ही कहा है। फिर भी इसके प्रारम्भिक और ऐंद्रिय भौतिक गुणों पर जोर देते हुए भी लगता है कि वह कम-से-कम इसके संरचनात्मक कलात्मक गुणों (मात्रा) की धारणा को मानव द्वारा श्रम की प्रक्रिया में ऐतिहासिक विकास के उस परिणाम द्वारा विशेषित करना चाहते थे जो सौन्दर्य-बोध का आधार है। यहाँ सौंदर्यपरक गुणों के दो प्रकार हो सकते हैं और दोनों में कोई एक-दूसरे को बहिष्कृत नहीं करता। प्रथम, वर्णबोध जो सहजात होता है; दूसरा, प्राकृतिक क्षमता जिसका प्रयोग श्रम पर आधारित मानव अपने अवकाश में करता है। किन्तु यह समझौतापूर्ण अनु-मान **'१८४४ की पांडुलिपि'** और **पूंजी** द्वारा निरस्त हो जाता है। इन पुस्तकों से हासिल ज्ञान के बाद एक ही विकल्प बच रहता है कि मार्क्स की सौन्दर्यबोध के विकास-शील स्तरों से सम्बन्धित धारणा का पुनर्निर्माण किया जाय। अब मार्क्स के विचार को प्रामाणिक रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है:

(अ) मूलतः मानव अपनी वस्तुओं का निर्माण कला-त्मक ढंग से करता है जिससे वह भौतिक दुनिया पर मानवीय ढंग से प्रभुता कायम करने की शक्ति का परिचय देता है।

(ब) बहुत हद तक उसकी वस्तु संरचना, जिसमें मानदंड और अनुपात निहित होता है, कलात्मक प्रक्रिया के मूलभूत उद्देश्य में परिणत हो सकती है। इस स्तर से, जहाँ प्रमुख क्रियात्मकता की प्रधानता मौजूद नहीं रहती, अव्यावहारिक सौन्दर्यपरक चिंतन का विकास जुड़ जाता है।

(स) विशिष्ट गुणों—मसलन रंग, ध्वनि और रूप आदि के प्रति रागबोध तब प्रकट होता है जब सौन्दर्यबोध अत्यधिक संचेतन, सुनिश्चित और अपेक्षया स्वायत्त हो जाता है। प्रारम्भिक प्रक्रियाओं की यह अन्तिम अवस्था है जिसमें कला और उसके मनोगत संघटकों का विकास मानव जाति के श्रम से होता है। मार्क्स की विश्व-दृष्टि के अनु-सार यह प्रक्रिया पुरापाषाण युग से लेकर नव-पाषाण युग के बीच लाखों वर्षों तक चलती है। यहाँ हमने उन सम्बन्धों को परिभाषित करने के लिए एक ऐसी रूपरेखा मात्र प्रस्तुत की है जिसमें सौन्दर्य गुण मानव के लिए महत्त्व के विविध रूप प्राप्त करते हैं। मार्क्सवादी ऐतिहासिक अवधारणा के विषय में हमारे इस पुनर्निर्माण को मार्क्स की वे टिप्पणियाँ भी पुष्ट करती हैं जिनमें कला की प्रकृति और सौन्दर्यअनुभूति की सामान्य चर्चा है। **१८४४ की पांडु-लिपियाँ** नामक पुस्तक में माप (मात्रा) को सौन्दर्य का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वस्तुगत आधार माना गया है। 'अर्थशास्त्र की आलोचना की रूपरेखा' में प्राचीन ग्रीक कला की सुगठित संरचना पर बल दिया गया है और उसे ही ग्रीक कला की उपलब्धि बतलाया गया है। मार्क्स की सम्पूर्ण विश्व-दृष्टि के अन्तर्गत माप (मात्रा) की धारणा के विभिन्न अर्थ लगाये गये हैं। वर्तमान संदर्भ में यह धारणा भौतिक यथार्थ की संरचनाओं का हू-ब-हू प्रस्तुतीकरण एवं संतुलन, नियमितता, अनुपात और सामंजस्य जैसे निश्चित गुणों का संकेत देता है जिसमें ऐसी सुसंगत सम्पूर्णता होती है जो यथार्थ से टक्कर ले सके। माप हर हालत में कलाकृति की आन्तरिक सघन संरचना की द्योतक है—वहाँ भी जहाँ यथार्थ वस्तुओं के हू-ब-हू प्रस्तुतीकरण पर जोर है। यह जोर, जो आदिम कला का अनिवार्य सौन्दर्य गुण है, पुनः-पुनः—खासकर प्रायोगिक कलाओं में—संस्कृति के सम्पूर्ण इतिहास के पूरे विस्तार में प्रकट होता है। फिर भी लूकाच ने 'सौन्दर्य-शास्त्र' नामक पुस्तक (१९६४) में जो इस विषय का सर्वोत्तम एवं समग्र मार्क्सवादी विवेचन है, मार्क्स की 'माप' सम्बन्धी अवधारणा पर विचार करते हुए उसके 'अनुकरणात्मक' पहलू पर ही अधिक बल दिया है। लूकाच यह दिखलाने की चेष्टा करते हैं कि मार्क्सवादी विचारधारा के अनुसार सभी कला अनुकरणात्मक हैं। लेकिन यह दिखला पाने में वह असफल रहते हैं। उसी प्रकार मार्क्स के सौन्दर्यानुभूति की विलक्षणता से सम्बन्धित विचार भी लूकाच द्वारा प्रस्तुत किये गये विचार का अंशतः खंडन करते हैं। **१८४४ की पांडुलिपियाँ** में मार्क्स ने उल्लेख किया है कि एक व्यापारी को व्यापारी की हैसियत से खनिजों में कोई सौन्दर्य नहीं दीखता और **अर्थशास्त्र की समीक्षा** नामक पुस्तक में वह टिप्पणी करते हैं कि हीरा एक पण्य वस्तु की अपेक्षा किसी लड़की के वक्ष पर ही सौन्दर्यानंद देता है। बाद के परिच्छेद में वह सौन्दर्यपरक आनन्द देने वाली वस्तु में उपयोगिता से उत्पन्न मूल्य बतलाते हैं जो वस्तुओं के विनिमय मूल्य के प्रतिकूल होता है। यह स्पष्ट है कि मार्क्स के अनुसार सौन्दर्य की वस्तु के उपयोगी-मूल्य का उसके प्रायोगिक अथवा व्यावहारिक कार्य से मेल नहीं खाता है। सौन्दर्यानुभूति की इस अव्यावहारिक प्रकृति को मार्क्स ने 'पूँजी' में रेखांकित किया है जहाँ उन्होंने गैर-पूँजीवादी स्थितियों में श्रम का वर्णन किया है और फिर 'अर्थशास्त्र की समीक्षा' में भी मध्ययुगीन दस्तकारी का वर्णन करते हुए : "यह कृति अभी अर्ध-कलात्मक है क्योंकि उसका लक्ष्य उपयोग है।"

इस संदर्भ में यह महत्वपूर्ण है कि मार्क्स सौन्दर्यानुभूति की प्रकृति को संश्लिष्ट समझते हैं : उनके अनुसार इसमें बौद्धिक, रागात्मक और ऐन्द्रिय तत्त्वों का मिश्रण होता है, तथा यह अ-सैद्धान्तिक होता है। इस प्रकार मार्क्स द्वारा लिखित **अर्थशास्त्र की समीक्षा की भूमिका** में यथार्थ के बौद्धिक और धार्मिक विनियोगों को स्पष्टरूप से कलात्मकता से अलग दिखलाया गया है। एक पत्र में ए० रूज द्वारा की गई शेक्सपियर की आलोचना का संकेत देते हुए मार्क्स ने इस सुझाव की निंदा की है कि शेक्सपियर की समालोचना इस आधार होनी चाहिए कि उनके पास कोई दार्शनिक पद्धति थी अथवा नहीं। उनके अनुसार कलात्मक विश्व-दृष्टि को ज्ञान की अन्य पद्धतियों से उलझाना नहीं चाहिए। ई० सू० के उपन्यास की छिछली पावनतावादी नैतिकता पर आक्षेप के अतिरिक्त मार्क्स और एंगेल्स ने नैतिक और सौन्दर्यपरक मूल्यों के सम्बन्ध का विवेचन स्पष्ट रूप से कभी नहीं किया। दूसरी ओर मार्क्स के मानवशास्त्रीय आदर्श—जिनके अनुसार सामंजस्यपूर्ण वैयक्तिकता में ही सम्पूर्ण मानव शक्तियाँ निहित होती हैं—की प्राप्ति सौन्दर्य विषयक और नैतिक सिद्धान्तों के आवयविक एकीकरण से होती है। फिर भी यह विचार किसी प्रकार हमारे उस निष्कर्ष को क्षति नहीं पहुँचाता जिस पर हम कला की प्रकृति और सौन्दर्यानुभूति से सम्बन्धित मार्क्स की टिप्पणियों की जाँच करके पहुँचते हैं। अर्थात् वह विषयी और विषय दोनों को सौन्दर्य-विषयक क्षेत्र का संघटक समझते हैं जो एक पूर्ण और सुसंगत संरचना है। और कलात्मक मूल्यों के अनुभव के क्षणों में अन्य मानवीय कार्यकलापों के विषय में तथा वृहद संदर्भ में इनमें से प्रत्येक अपेक्षया स्वायत्त होता है। परिणामतः विषयी और विषय दोनों मिलकर अस्थायी तौर पर, हम जिस दुनिया में रहते हैं उसके प्रतिरूप "प्रतिद्वन्द्वी दुनिया" खड़ी करते हैं। फिर भी यह स्वायत्तता अपने में ज्ञानात्मक और वैचारिक कार्यों को समाहित करती है—कला का विशिष्ट संघटन और कला की अनुभूति, जो मानव मनोविज्ञान को समृद्ध करती है, विश्व से अपना सम्बन्ध प्रकट करते हैं जिसे कभी काटा नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जा सकता है। मार्क्स और एंगेल्स की रूपविधान संबंधी टिप्पणियाँ हमारी इस व्याख्या का समर्थन करती हैं। उनके मुताबिक रूपविधान कलात्मक तंत्र की समष्टि है, अथवा समग्र सौन्दर्यपरक संरचना के अन्तर्गत विभिन्न तत्त्वों का सामंजस्यपूर्ण संगठन है। रूप-विधान की समस्या पर उन्होंने बहुत थोड़ा लिखा है जिसका कारण १८९३ में एंगेल्स द्वारा मेहरिंग को लिखे गये पत्र से आंशिक रूप में समझा जा सकता है। इस पत्र में उन्होंने कहा था कि वह सर्वप्रथम विषय-वस्तु पर मुख्य जोर देने के लिए 'बाध्य' थे। वास्तव में सिंकिगेन से सम्बन्धित मार्क्स और एंगेल्स के विचार-विमर्श प्रकट करते हैं कि वे "विषय वस्तु के सौन्दर्यशास्त्र" की प्राथमिकता के प्रति प्रतिबद्ध थे। और हम पुनः जोर देकर कहते हैं कि उनका यह रुख उनके इस विचार को, कि सिद्ध कलाकृति एक स्वायत्त संरचना है, खंडित नहीं करता है। उनके लिए शैली किसी कलाकृति का वैयक्तिक गुण है। उन्होंने कला की प्रकृति से सम्बन्धित आम विचार-विमर्श के दरम्यान अपनी इस टीका को विस्तार नहीं दिया। हम यहाँ उसकी पूर्ति करने का प्रयास नहीं करेंगे क्योंकि प्रस्तुत साक्ष्य अनुमान-भर के लिए ही लाभदायक हैं।

उपर्युक्त समस्याओं पर विचार-विमर्श हमें कला और कलाकार के अलगाव (एलिएनेशन) जैसे प्रमुख विषय के विवेचन की ओर ले जाता है। मार्क्स ने अपना अनुसंधान पूँजीवादी युग तक ही केन्द्रित रखा। फिर भी पूर्व-पूँजीवादी समाज में कलाकार की स्थिति पर उनकी टिप्पणियां हमें यह विश्वास करने का कारण देती हैं कि अन्य क्षेत्रों की तरह इस क्षेत्र में भी उन्होंने अलगाव को सभ्यता के सम्पूर्ण संक्षिप्त इतिहास में मानवीय कार्यकलाप का सहवर्ती बतलाया है। शुद्ध पशु अस्तित्व के जमाने से मानव के उदय काल के दरम्यान—मानवजाति के समाजीकरण की क्रमिक प्रगति की वह प्रक्रिया रही है जो घोर विपत्तिजनक सामाजिक उत्पीड़न, शोषण और संघर्ष के दौर में घटित हुई है—कलात्मक अलगाव धार्मिक विचारधारा चर्च संस्थान, सत्ता के विभिन्न राजनीतिक रूप आदि के सहायक कारण के साथ ही प्रमुख परिणाम के रूप में प्रकट हुआ है। फिर भी सघन अलगाव की स्थिति पूँजीवादी बाजार के आने से ही गुणात्मक रूप में गहरी हुई है। जब कला बिल्कुल अज्ञात क्रय करने वाले के लिए माल के रूप में रची जाने लगी तो मूल्य निर्धारण प्रतियोगिता का नियम बन गया है जिस के कारण प्रायः शिल्पकला के प्रयत्न और स्तर का अव-मूल्यन अनिवार्य है। इसके अतिरिक्त मूल्य, हित, रुचि और ज्ञान की जातीयता, जो कलाकार और जनता को आपस में बाँधे रखती है, बढ़ती हुई सुविज्ञता और निर्वैय-क्तिक हिसाब-किताब वाले समाज में ध्वस्त हो जाती है। कला के मूल्य की सीमा से बहिष्कृत लोगों में नवीन शहरी मजदूर वर्ग आता है जिसके पास कला तक पहुँचने के लिए न तो मजदूरी का धन होता है और न अवकाश। इसके साथ ही छिट-पुट रूप में वैयक्तिक स्तर पर नयी संभाव-नाएँ और 'स्वतंत्रता' उपलब्ध हो जाती है क्योंकि सामु-दायिक स्तर पर रुपए-पैसे के सम्बन्ध के अतिरिक्त सभी सम्बन्ध टूट गये रहते हैं। कतिपय उच्चकोटि की कला-कृतियाँ पैदा होती हैं पर उन पर भी युग की छाप होती है। इसके अतिरिक्त वह कला विशिष्ट वर्ग के विशेषा-धिकार की वस्तु होती है जबकि सामान्य जनों के लिए मामूली, भद्दा कूड़ा-कचरा और तमाशा जैसी चीज सामने होती है। आश्चर्य नहीं कि मार्क्स और एंगेल्स ने ग्रीक पुरा-काल को अतुलनीय सौन्दर्यपरक अभिव्यक्ति के युग के रूप में अनुराग से देखा है। सौन्दर्य विषय अभिव्यक्ति का जहां तक सम्बन्ध है उनके मुताबिक पुनरुत्थान-काल और मध्ययुग के सामने भी वर्तमान युग बौना है। इसके बाद के युग में उत्पादन के पूँजीवादी संगठन की क्रमिक विजय होती गई है जिसका प्रभाव मानवीय कार्यकलाप के सभी क्षेत्रों और फलतः चेतना के सभी स्तरों पर भी पड़ा है। इस "अलगाव" के परिणामस्वरूप केवल शोषित ही नहीं बल्कि जिन्हें शोषण का फायदा होता है वे भी सौन्दर्यपरक अनुभूति से वंचित रहते हैं।

यह अलगाव तीन प्रकार का है :

(क) श्रमिक मनुष्य अपने उत्पादन से पृथक हो जाता है; पूँजी का मालिक उत्पादन के उपयोग अथवा विनिमय निर्धारित करता है।

(ख) मुनाफा के लिए मालिकों की प्रतियोगिता उत्पा-दन की प्रक्रिया निर्धारित करती है : यानी एकरूपता, आवृत्ति, रफ्तार आदि तय करती हैं जो काम को रुटीन बना देता है जिसके गुलाम मालिक और मजदूर दोनों होते हैं। ऐसी पद्धति के लिए यंत्रवत् प्राणी की आवश्यकता होती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है और रचनात्मक कार्य अव्यावहारिक और पराई वस्तु हो जाती है—

(ग) अनुभव के प्रत्येक क्षेत्र में पूँजीवादी मुनाफा की आवश्यकता की पूर्ति के लिए मानव की क्षमता के माध्यम बनाये जाने का परिणाम होता है मानव का अपने "मानवीय स्वभाव" से अलगाव।

ऐसी सामाजिक पद्धति में किसी फैक्ट्री मजदूर की तरह कलाकार अपनी आय उत्पादन करने वाली सेवाएं अपनी इच्छानुसार देने के लिए 'स्वतंत्र' हो गया। परन्तु इस पद्धति द्वारा उसके जीवित रहने और उसकी उपलब्धियों पर जो बृहत्तर आवश्यकताएँ लाद दी गईं उन्हें वह टाल न सका। उसकी क्षमता का शोषण खुल कर किया गया क्योंकि उसकी कला को उस बाजार में किसी प्रकार पहुँचाया जाना था जिसने अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उसका इस्तेमाल किया जो अन्ततः पूंजीवादी उत्पादन से पैदा हुई थी। अगर कलाकार ने निर्वाहपरक आय की उपेक्षा की और अपनी कला पर पद्धति द्वारा थोपे गये यांत्रिक प्रारूप को विफल करने की योजना की तो ऐसी हालत में वह जीवित तो रह लेगा पर उसका उत्पादन अन्य न्यून सांसारिक कारणों से विरक्ति अथवा अलगाव का शिकार होगा। वह युग समाप्त हो गया जब मिल्टन उसी प्रकार कविता करते थे जिस प्रकार मकड़ा जाला बुनता है। वास्तव में, कला एवम् कविता की अनेक विधाएँ या तो मुरझा गईं या लुप्त हो गईं क्योंकि उनकी पूर्व-स्थितियाँ बिगाड़ दी गई थीं। आज न तो बुर्जुवा और न सर्वहारा की वह उपयुक्त जमात थी जो समसामयिक कला में सर्वश्रेष्ठ का स्वागत करती और उनकी पहचान रखती अथवा श्रेण्य विरासत का स्वागत करती। फिर भी इस विषण्ण युग में मानवीय क्षमता के अलगाव से परे मार्क्स एक अलगावरहित युग की यानी साम्यवादी युग की प्रत्याशा करते हैं।

विश्व और समाज पर अतुलनीय प्रभुत्व कायम कर लेने के पश्चात् और घोर आर्थिक अभाव से बाहर आजाने के बाद आदिम युग की तरह जीवन पुनः सौन्दर्य-विषयक सार पा लेगा। यथेष्ट उत्पादक क्षमता लेकर और सुविज्ञ हो कर आदमी 'क्रीड़ाशील प्राणी' के रूप में अपने को पा लेगा। मार्क्स ने भविष्य की परिकल्पना के विस्तृत रूप प्रस्तुत करने का दंभ नहीं किया पर उन्होंने उसके तीन तत्त्वों का उल्लेख अवश्य किया। उनके अनुसार (कम्युनिज्म की स्थापना के बाद) (१) वैयक्तिक क्षमताओं का पूर्ण विकास हो सकेगा : अगर किसी में राफेल होने की संभावना है तो वह राफेल हो सकेगा। (२) कर्म सौन्दर्यपरक प्रकृति धारण कर लेगा जिसमें खुल खेलने की छूट होगी अर्थात शारीरिक और मनोवैज्ञानिक क्षमताओं को मुक्त क्रीड़ा का अवसर मिलेगा। (३) मानव की संभावनाएँ और बहुमुखी प्रतिभाएँ विश्वजनीन हो जाएँगी। कोई पेशेवर चित्रकार नहीं होगा वरन् प्रत्येक व्यक्ति के संभव असीमित कार्यों के बीच चित्रकला के लिए भी एक स्थान होगा।

इन तीन तत्वों में से किसी को भी अलग करने का अर्थ होगा उलझाव में पड़ना। कोस्ताए अक्सेलोस ने अपनी पुस्तक 'Marx penseur de la technique' (पेरिस से १९६१ में प्रकाशित) में 'मुक्त क्रीड़ा के रूप में कर्म' की धारणा का एकपक्षीय रूप लिया है और यह निष्कर्ष निकाला है कि मार्क्स यह विश्वास करते थे कि पारम्परिक अर्थ में कला समाप्त हो जायगी। यहाँ यह सुझाव दिया जा सकता है कि मार्क्स ने सचमुच उन तीन महान परिणामों की प्रत्याशा की थी जो मानव की निर्णायक मुक्ति और साथ-साथ मूल्यों के पुनर्मूल्यांकन का फल होगा। हम यह देखें कि उनकी यह आशा किस सीमा तक काल्पनिक थी ? इसका संतोषजनक उत्तर भावी ऐतिहासिक विकास ही दे सकेगा। पर मार्क्स और एंगेल्स ने अपने तईं १८४४ से ले कर जीवन-पर्यन्त सतत अपने ध्यान को पूंजीवाद की प्रकृति पर केन्द्रित रखा। वे सर्वथा इस कथन पर अटल रहे कि 'मूर्ख-अशिक्षित विशाल जन समूह' और 'एकान्त प्रतिभा' जैसे ऐतिहासिक दाय और उत्पीड़क विभाजन के समाप्त होने पर ही मानव जाति की मुक्ति निश्चित है। सर्वहारा क्रांति ही इस प्रगति को हासिल कर सकती है, और अ-पृथक मनुष्य सौंदर्यबोध युक्त प्राणी के रूप में विकास कर सकता है।

मार्क्स और एंगेल्स के शेष प्रमुख विषयों का अलगाव की समस्या पर उसी हद तक प्रभाव है जिस हद तक कलाकृतियाँ अपना सैद्धान्तिक आधार-बिन्दु प्रकट करती हैं। कलाकार का वर्ग-संघर्ष में सम्मिलित होने का, वह उसके प्रति सचेत हो अथवा नहीं, चाहे वह सामाजिक प्रतिरोधों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का चित्रण करता हो या सोद्देश्य होकर अपना विचार प्रस्तुत करता हो—विभाजित महत्त्व है। एक तरफ तो यह अलगाव के विरुद्ध होता है और दूसरी तरफ अलगाव से ग्रस्त होता है। मार्क्स और एंगेल्स ने कहीं भी इस प्रकार परिभाषित कलात्मक अलगाव की मौजूदगी को ढूंढ़ने के लिहाज से विशिष्ट कलाकृतियों पर चिंतन नहीं किया है। (हालांकि कलाकारों के अलगाव पर अनुभवों के संदर्भ में विचार-विमर्श किया गया है जिसका प्रभाव समान रूप से विद्वानों और पत्रकारों पर पड़ता है)। अवान्तर कथन के रूप में हम कह सकते हैं कि क्रांतिकारी कला पर उनकी टिप्पणियाँ यह संकेत देती हैं कि जिस कलाकृति में वैचारिक प्रतिबद्धता पर जोर दिया जाता है उसमें उसकी संरचनात्मक स्वायत्तता की अंशतः उपेक्षा हो जाती है। दूसरी ओर, निस्संदेह, वे कलाकार की उस वैचारिक प्रतिबद्धता को मुखर रूप में अलगाव समझते हैं, जिसके द्वारा प्रतिक्रियावादी वर्ग शक्तियों के हितों की रक्षा कर रहा होता है। परन्तु, जब वह प्रगतिशील वर्ग के पक्ष की रक्षा कर रहा होता है तब उसकी स्थिति प्रतिकूल होती है। उन्होंने 'वर्ग-समतुल्य' (क्लास इक्विवेलेंस) पद का प्रयोग नहीं किया है। (इसका सर्वप्रथम प्रयोग प्लेखानोव ने किया था) फिर भी उनकी रचनाओं में अतीत और वर्तमान के कलाकारों की ओर उनका संकेत यह प्रकट करता है कि उन्होंने दिखाये-जाने योग्य वैचारिक वर्ग-मूल्यों को ध्यान में रखकर कलाकार के दृष्टिकोण का जायजा अवश्य लिया। हम यह जोर देकर कह सकते हैं कि उन्होंने ऐसे मूल्यों का स्थान-निर्धारण कलाकार के जन्मजात वर्ग में नहीं बल्कि उसकी कलाकृतियों में व्यक्त आँकड़ों में किया। 'वैचारिक समतुल्यों' की परिभाषा उन्होंने इस प्रकार की है: उनका प्रायः विस्तृत सामाजिक अर्थ था और उनके कारण कलाकार (मसलन दांते, शताब्रिएं) सम्पूर्ण ऐतिहासिक वर्ग की सचेत युग-चेतना से सम्बद्ध था। कभी-कभी विशेष राजनीतिक दृष्टि के कारण इस 'समतुल्य' की संकीर्ण परिभाषा की गई (मसलन, शेली, हाइने, 'युवा जर्मनी' के संबंध में)। मार्क्स और एंगेल्स ने प्रायः अपने सम-सामयिकों पर लिखते हुए यही रास्ता अपनाया। उनका ऐसा करना स्वाभाविक था। क्योंकि मुख्य विरोधी पक्षों को निरूपित करने के लिए बुर्जुवा और सर्वहारा के विभाजन का यथेष्ट इस्तेमाल उन्हें करना था। पर चूंकि अन्य अप्रमुख वर्गों का भी समान रूप से कलात्मक चित्रण हो सकता है इसलिए उन्होंने इस सूत्रीकरण तक ही अपने को सीमित नहीं रखा। यही कारण है कि मार्क्स की पुस्तक '१८वीं ब्रूमेर' में दुकानदारों के साहित्यिक प्रतिनिधित्व का ज़िक्र मिलता है अथवा गेटे की वैचारिक उलझन का ज़िक्र जिसकी शल्य-क्रिया एंगेल्स ने सतर्कता से की है। उनका वर्ग-विश्लेषण का प्रयोग स्पष्टतः संवेदनशील, लचीला और कलाकृति पर आधारित है। परन्तु यह उनके लिए सर्वोपरि महत्त्व का विषय नहीं रहा है। और न तो एकांगी रूप से इस विषय को लिया ही जा सकता है। अतः जब वे अपरिपक्व क्रांति (देखें सिकिंगेन से सम्बन्धित पत्राचार) और जीवित रहने के उद्देश्य से 'प्राचीन शासन' (ancient regime) के निकटदर्शी (myopic) संघर्ष (देखें मार्क्स द्वारा हेगेल के विधि-दर्शन की समीक्षा) दोनों के निरूपण पर विचार करते हैं तो वे मुख्यतः त्रासदीय रचना पर ही विचार करते हैं। प्रसंगवश उनकी त्रासदीय रचनाओं से सम्बन्धित टिप्पणियों से यह अर्थ नहीं निकाला जा सकता कि वे उनके सिद्धान्त को पूर्णता प्रदान कर रही थीं।

वर्ग-समतुल्यों के विश्लेषण का आधार और कसौटी उनकी यथार्थवाद की धारणा में निहित है। इस पद का इस्तेमाल मार्क्स की रचनाओं में नहीं हुआ है। फिर भी सू के उपन्यास, लासाल के नाटक और १९वीं शताब्दी के इंगलैंड के उपन्यासकारों पर उनकी टिप्पणियों में वही धारणा व्यक्त हुई है जो मीना काट्स्की और मारग्रेट हार्कनेस को लिखे गए अपने पत्रों में एंगेल्स ने प्रतिपादित किया था। यथार्थवाद कलाकृति का कलात्मक-संज्ञानात्मक मूल्य है। बालज़ाक पर उनकी टिप्पणियाँ यह प्रकट करती हैं कि संज्ञानात्मक समतुल्य की परिभाषा वैचारिक समतुल्य से (जिसे हम वर्ग-स्थित रूप में देख चुके हैं) विस्तृत है।

यद्यपि कलाकार की यथार्थवादी प्रवृत्ति समसामयिक वर्ग-संघर्ष के प्रति उसके रुख में प्रकट होगी, पर अनिवार्य रूप से कलात्मक संज्ञानात्मक मूल्यों और कलाकार के सामाजिक-राजनीतिक अथवा दार्शनिक विचारों के परस्पर सम्बन्ध की स्थिति नहीं प्राप्त होती। बालज़ाक घोषित रूप में और वास्तव में राजभक्त (रायलिस्ट) थे फिर भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनके उपन्यास-चक्र में राजभक्तिवादी सिद्धान्तों के विरुद्ध अभियोग सन्निहित हैं। मार्क्स और एंगेल्स ने कलाकृति के संज्ञानात्मक समतुल्य की जाँच उसके ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य की सीमा और विस्तार में की है। इस संदर्भ में उन्होंने न सिर्फ नियमनिष्ठ एक निश्चित वर्ग-दृष्टि की अभिव्यक्ति की छान-बीन की बल्कि एक निश्चित अवधि में सामाजिक रूप में परस्पर विरोधी यथार्थ की लाक्षणिक और प्रमुख विशेषताओं की अभिव्यक्ति की समता की भी जाँच की। जिस प्रकार ऐतिहासिक विशिष्टता (टिपिकैलिटी) चरित्र और घटना की नवीनता को अपरिहार्य मानती है उसी प्रकार यथार्थवाद की धारणा वैयक्तिकता और विशिष्टता की माँग करती है (देखें शेक्सपियर पर उनकी टिप्पणियाँ)। फिर भी एंगेल्स द्वारा विवरण के प्रति निष्ठा पर दिये गये जोर को उनके दृष्टिकोण का सार नहीं समझा जाना चाहिए। यहाँ 'भिन्न विविधताएँ और श्रेणियाँ' जिसमें विशिष्टता (टिपिकैलिटी) समाहित है, से सम्बन्धित मार्क्स की टिप्पणी (देखें 'पूँजी' खंड ३) प्रासंगिक है। यहाँ प्रमुख विषय के रूप में सुस्पष्ट रूप से यथार्थवाद को विकसित किया गया है। खेद है कि प्रायः इसे मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र के आधारभूत और एकमात्र सिद्धान्त के रूप में लिया गया है। किन्तु इसमें कमी स्पष्ट है। मसलन, मार्क्स और एंगेल्स ने ऐसा नहीं कहा है कि अनिवार्यतः विशिष्ट चरित्रों को सर्वथा विशिष्ट परिस्थितियों में ही रखा जाना चाहिए अथवा ऐसी परिस्थितियाँ सर्वथा विशिष्ट चरित्र को अपरिहार्य बना देती हैं। और न मार्क्स और एंगेल्स ने इस बात की ही पुष्टि की है कि हर हालत में यथार्थ के विशिष्ट ढाँचे को अपनी सामाजिक गत्यात्मकता के अंतर्गत, उदीयमान सामाजिक तत्त्वों के चित्रण को समाहित करना चाहिए अथवा यह कि ह्रास की स्थिति में भी उन तत्त्वों का चित्रण उचित हो सकता है। सामाजिक गत्यात्मकता के सकारात्मक चित्रण के विषय में यह दुविधा यथार्थवाद का प्रश्न है। प्रस्तुत रूप में यह अन्य प्रमुख विषय **सोद्देश्यता** से भिन्न है जिसके सम्बन्ध में मार्क्स और एंगेल्स स्पष्ट हैं। जैसाकि मीना काट्स्की को लिखे अपने पत्र में एंगेल्स ने घोषणा की थी, यथार्थवाद का अर्थ है सामाजिक यथार्थ में अन्तर्निहित द्वन्द्वात्मकता और इतिहास की स्वतःस्फूर्त प्रवृत्ति का चित्रण। मार्क्स और एंगेल्स ने निरन्तर प्रवृत्ति के अन्तर्भूत और अप्रकट संज्ञानों को प्रतिबद्ध कला की स्पष्ट और उपदेशात्मक सोद्देश्यमूलक विशेषता से अलग रखा। जर्मन कवि फ्राइलीग्राथ के साथ अपने विवाद में जहाँ मार्क्स ने यह स्पष्ट कहा कि क्रांतिकारी पार्टी के प्रति उत्तरदायी कलाकार होने का अर्थ इससे भिन्न कुछ नहीं कि वह उसऐ तिहासिक ज्वार को अभिव्यक्त करता है जो उत्पीड़ित सर्वहारा के लिए उदीयमान महत्त्व का है, वहीं मार्क्स ने सभी प्रामाणिक और सच्ची रचनाओं के लिए अन्तर्निहित सोद्देश्यता पर जोर दिया है। फिर भी गोर्गवीयर्थ की कविता पर अपने लेख में एंगेल्स ने उस प्रकट सोद्देश्यता की प्रशंसा की है जिसके द्वारा कलाकार मिश्नरी की तरह वर्तमान के गर्भ से भविष्य को निकालकर पाठकों की दृष्टि के आगे कर देता है। सोद्देश्यता का पहला कार्य, जैसा कि हम देखते हैं, कलात्मक-संज्ञानात्मक मूल्यों से सम्बन्धित है और दूसरा कार्य वैचारिक प्रतिबद्धता से।

कलात्मक मूल्यों के तारतम्य पर दोनों व्यक्तियों की टिप्पणियों के साथ-साथ कला के स्थायी मूल्यों पर मार्क्स की व्युत्प्रेक्षाओं से एक अन्य प्रमुख संकेत मिलता है जिसे अत्यन्त उपयुक्त शब्दावली में कला का सार्वभौम मानवीय समतुल्य कहा गया है। सू के उपन्यास की नायिका 'फ्लावर द मेरी' के विश्लेषण के दरम्यान ही मार्क्स ने इस समस्या का प्रत्यक्ष उल्लेख किया है। नायिका की तेजस्विता उसके बुर्जुवा वातावरण की सीमा पार कर जाती है। मानव मूल्यों के नैतिकतावादी विद्रूप और भद्देपन के बावजूद लेखक नायिका की जीवंतता को स्वीकारने के लिए विवश है। फिर भी सम्पूर्ण मार्क्सवादी चिंतन में सार्वभौम मानवीय समतुल्य अन्तर्निहित हैं: मसलन, अलगाव की स्थिति के समाप्त होने की सम्भावना में, सम्पन्न वैयक्तिकता को प्रदान किये गये मूल्यों में, विजयी संकल्प, सहज उत्साह और बौद्धिक भावावेश आदि में क्योंकि ये सारे गुण, उदाहरण के लिए, शेक्सपियर और एस्किलस द्वारा अनुप्राणित और अभिव्यक्त हुए हैं। यहाँ मार्क्स का ग्रीक कला की महिमा से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण किन्तु अज्ञात कथन प्रासंगिक होगा। मुख्यतः इससे ये अर्थ लिए जा सकते हैं: (क) पुराकाल की कला में उपलब्ध रूपात्मक एवं सामंजस्यमूलक गुणों का आख्यान (तुलनीय, मैक्स राफेल)। इस व्याख्या के कारण हमें अपना ध्यान उस परिच्छेद में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रस्तुत कला के स्थायित्व की दो अन्य निर्णायक कसौटियों से नहीं हटाना चाहिए। वे इस प्रकार हैं : (ख) सम्पूर्ण समाज को कलात्मक रूप से अभिव्यक्त करने की क्षमता। (इसमें मिथकशास्त्र माध्यम होता है जिसकी जड़ें विशिष्ट स्तर और आर्थिक परिपक्वता में निहित होती हैं); और (ग) इसके द्वारा सर्वोच्च मानव मूल्यों, मानव की पूर्ण अभिपुष्टि की अभिव्यक्ति (यहाँ युवा और सरल जाति को ध्यान में रखा गया है जिसके लिए ऐसी अभिव्यक्ति का पूर्ण साधन कला ही प्रस्तुत करती है) 'ख' के अन्तर्गत दी गई कसौटी कला के संज्ञानात्मक समतुल्य का संकेत देती हैं जबकि 'ग' में दी गई कसौटी सार्वभौम मानवीय समतुल्य का संज्ञानात्मक और सार्वभौम मानव मूल्य का परस्पर मेल होता है और दोनों संयुक्त रूप में इस कसौटी की अपेक्षा रखते हैं कि समाविष्ट मूल्यों के अनुसार रूप-विधान का भी औचित्य होना चाहिए। और अन्ततः कसौटी यह है कि (घ) प्रगतिशील अभिमुखता होनी चाहिए (यानी सही माने में वैचारिक समतुल्य)। मार्क्स और एंगेल्स के अनुसार यह मूल्य अकेले व्यक्त नहीं हो सकता क्योंकि कलात्मक मूल्य के रूप में इसकी समुचित अभिव्यंजना होनी चाहिए; इसके अतिरिक्त यह सार्वभौम मानव मूल्यों की (प्रच्छन्न) अभिव्यक्ति है। यहाँ वर्णित मूल्यों की तरतमता अथवा प्राथमिकता का स्पष्टरूप से सूत्रीकरण इन दोनों व्यक्तियों में से किसी ने भी कभी नहीं किया। फिर भी हम उनके सौन्दर्यपरक विचारों में 'विषयवस्तु के सौन्दर्यशास्त्र' का विचार देख चुके हैं। और जहाँ तक विषय-वस्तु से सम्बन्धित मूल्य का सवाल है—अगर हम ग्रीक आदर्श के प्रति मार्क्स के लगाव अथवा अनुराग को समझें और अलगाव-रहित मानव जाति, जिसका स्वरूप आदिम समुदायों और मुक्त मानवता के साम्यवादी भविष्य के आदर्श में समझें—तो शायद प्राथमिकता कला के सार्वभौम मानव-मूल्यों को दी जाएगी। इसके अतिरिक्त कोई और सुझाव देने का साहस हम नहीं कर सकते। यहाँ हम यह स्मरण करें कि पूर्वोक्त चार प्रकार के मूल्यों और उनके समानान्तर प्रमुख विषयों के साथ दोनों व्यक्तियों ने कलात्मक शैली को काफी ऊँचा स्थान दिया था। इस मूल्य का सम्बन्ध अन्य मूल्यों से किस प्रकार का है और सम्पूर्ण सौन्दर्य-प्रपंच पर इसका प्रभाव किस प्रकार पड़ता है? इस सम्बन्ध में क्षेपक का सहारा लिये बिना कुछ नहीं कहा जा सकता। मार्क्स और एंगेल्स के सौन्दर्य-विषयक विचारों के पुनर्निर्माण से सम्बन्धित हमारी चेष्टा सिर्फ इस कमी का संकेत भर दे सकती है।

५. मार्क्स और एंगेल्स के सौन्दर्य-विषयक विचार के स्रोत और प्रेरणा का पूर्ण अध्ययन अभी तक नहीं हो सका है। पूर्वकल्पित विचारों पर विद्वानों के निर्भर रहने के कारण विद्वानों ने तीन प्रकार की गलत व्याख्यायें की हैं। एक दृष्टि वह है,(मसलन, लिफ़शित्स) जो पूर्ण रूपेण विचारमूलक स्रोत के प्रभावों यानी सौन्दर्य विषयगत प्रभावों की उपेक्षा करती है। दूसरी दृष्टि वह है (मसलन, येजुइतोव) जो दोनों व्यक्तियों के कला-सम्बन्धी विकासशील विचारों में जर्मन और यूरोपीय सौन्दर्य-शास्त्र, उत्तरवर्ती प्रबोधन काल और हेगेल के बीच की अवधि का सारसंक्षेप देखता है। इसके अतिरिक्त फिडलेंडर की दृष्टि है जो लेनिन के इस कथन को यांत्रिक रूप में ग्रहण करती है कि जर्मन क्लासिकी दर्शन, ब्रिटिश अर्थ-शास्त्र और फ्रांसीसी काल्पनिक समाजवाद मार्क्सवाद के मुख्त स्रोत हैं। इनमें कोई भी दृष्टि संतोषप्रद नहीं है। विचारमूलक स्रोत की प्रेरणा का उच्च और केन्द्रीय महत्त्व असंदिग्ध है। प्रबोधनकाल से शिलर तक की अवधि पर मेरे छात्र स्तानिस्लाव पासुरा ने अपने शोध-प्रबन्ध (वारसा, १९६७) में पूर्ण अनुसंधान के पश्चात् अनुभव सिद्ध रूप में इसकी पुष्टि की है। उक्त अवधि के जर्मन सौन्दर्य-शास्त्रियों और मार्क्स की अवधारणों के बीच समानान्तरता उल्लेख्य है। मार्क्स द्वारा अपने पिता को लिखे गए १८३७ के पत्रों और १८४२ तक के उनके अध्ययन के नोटों (देखें MEGA, पृ० ११५-१८) में सौन्दर्य-विषयक साहित्य के प्रबल अध्ययन एवम् उस जमाने के दर्शन के विद्यार्थी से अपेक्षित ज्ञान की सीमा से बहुत आगे के ज्ञान का प्रमाण मिलता है। एंगेल्स की आरम्भिक रचनाएँ निस्संदेह रूप में हमें यह बतलाती हैं कि वह 'युवा जर्मनी' आंदोलन से सम्बन्धित सौन्दर्य-शास्त्र को घोंट गये थे और उसी सिल-सिले में उन्होंने लेसिंग, शिलर और गेटे की रचनाओं का गम्भीर अध्ययन किया। प्राप्त प्रमाण यह साबित करते हैं कि मार्क्स १८५१-५२, १८५७ और १८७४ में सौन्दर्य विषयक विरासत के अध्ययन की ओर पुनः उन्मुख हुए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थे। अवश्य ही और भी ऐसे समय उनके जीवन में आये होंगे। हम यहाँ उन रचनाओं का विषयानुक्रम प्रस्तुत न करेंगे जिन्हें मार्क्स और एंगेल्स ने प्राप्त जानकारी के अनुसार निश्चय ही पढ़ा था, बल्कि हम यहाँ उनके युग के प्रमुख सौन्दर्य-विषयक विचार से सामान्यरूप में उनमें उद्भूत जीवन्त प्रेरणा के सम्बन्ध में विचार करना चाहते हैं। इस संदर्भ में सर्वप्रथम जर्मन सौन्दर्यशास्त्रियों की चर्चा अपरिहार्य है जिसकी "चोटी" केवल हेगेल ही नहीं हैं, जैसाकि कुछ व्यक्तियों ने कहा है; बल्कि इसमें उनके पूर्व के दार्शनिकों की अनेकविध प्रेरणायें भी आती हैं। ग्रीक संस्कृति के प्रति मार्क्स और एंगेल्स के आकर्षण के स्रोत **विंकेलमान** हैं, और जर्मन दर्शन की पूरी परम्परा अलगाव की समस्या खड़ी करने की दिशा में ले जाती है। विंकेलमान, कांट, शिलर तथा अन्य कम महत्त्व के लेखकों ने भी (मसलन हाइडेनराइख, एम० हर्ज), सम्पन्न और सुसंगत व्यक्तित्व को समसामयिक जीवन के विखंडन के विरुद्ध प्रस्तुत किया था। उस जमाने का यह व्यापक विचार था कि समाजी दुनिया के प्रति व्यक्ति के आंतरिक अन्तर्गथन और सम्पूर्ण तालमेल की उपलब्धि में कला की अग्रिम भूमिका होनी चाहिए। युगान्त-विज्ञान प्रभाव से युक्त यह सौन्दर्यपरक मानवशास्त्र उस युग की अत्यंत सामान्य चिंतनशील रचनाओं में भी मौजूद है : उदाहरण के लिए, फ़िख्टे के १७९४ के पत्र, अथवा 'ड्रास आल्टेस्ट सिस्टम प्रोग्राम डेस डयूटंशेन आइडियज़मस', शीर्षक अनाम लेख जिसे कोई होल्डरलिन का लिखा बतलाता है कोई एफ० श्लेगेल का और कोई शेलिंग का तथा कोई यहाँ तक कि हेगेल का लिखा भी बतलाता है।

कलात्मक अलगाव की प्रगति से सम्बन्धित फ़िख्टे, ए० डब्ल्यू० श्लेगेल, हेगेल आदि की अनेक टिप्पणियाँ भी हैं। इस चिंतन प्रवृत्ति के चलते जिसे रूसोवादी कहा जा सकता है,—मार्क्स के समसामयिक एफ० टी० फिशर यह कहते पाये जाते हैं कि पूँजीवादी समाज का जड़, सत्तावादी और नौकरशाही यंत्र सौन्दर्य को विनष्ट कर देता है और विशेषरूप में श्रमशील जनता की सौन्दर्यपरक आवश्यकताओं को नीचे गिरा देता है (देखें सौंदर्यशास्त्र, १८४६-५७; २/९—३६४, ३७५-७६)। सौंदर्यबोध और कला के उद्गम के श्रम-प्रक्रिया से सम्बन्ध की चर्चा ए० डब्ल्यू० श्लेगेल की पुस्तक में ही है! उन्होंने लय की प्रमुख और आदिम भूमिका बतलाई है और दुनिया के साथ व्यक्ति के प्राकृतिक और सामाजिक सम्बन्धों में उसकी खोज की है। उन्होंने यह विचार सामने रखा है कि आदिम समाज में लोग कलाकार-विशेषज्ञ नामक व्यक्तित्व से अनभिज्ञ थे। कला का स्वायत्तीकरण बाद के युग में हुआ। संभवतः मार्क्स ने इस विषय में शिलर के विचार से भी लाभ उठाया। शिलर ने पशु-ज्ञानेन्द्रियों और मानव-ज्ञानेन्द्रियों में विभेद दिखलाया था और साथ ही यह भी कि मानव-ज्ञानेन्द्रियों ने, यथार्थ से काफी दूर होने के कारण, विचारों के मुक्त-क्रम और क्रीड़ावृत्ति के आविर्भाव को संभव किया जिससे व्यक्ति के कार्यों और उसके उत्पादनों को विशिष्ट रूप-विधान प्राप्त हुआ और उसकी अन्तिम परिणति सौंदर्य-बोध में हुई। जहाँ तक सौन्दर्य की प्रकृति का सम्बन्ध है मार्क्स के विचार कांट के 'आत्मा की मुक्त क्रीड़ा' सम्बन्धी विचार का संकेत देते हैं। इस समस्या के विषयिगत पक्ष का समाधान—अर्थात् कलावस्तु और सौन्दर्यानुभूति की स्वायत्तता के बीच सामंजस्यपूर्ण सम्बन्ध की कल्पना—मार्क्स को हाइडेनराइख, हर्ज और शिलर में बनी-बनाई मिल गई। यह स्पष्ट है ही कि विचार की यह प्रवृत्ति उस अवधि में व्यापक रूप से प्रचलित थी। [देखें : के० सी० एफ० क्राउज़े की पुस्तक 'सौन्दर्यशास्त्र की रूपरेखा' (१८३७)]। इसमें सन्देह नहीं कि '१८४४ की पांडुलिपियों' में ऐसी धारणाएँ और यहाँ तक कि ऐसे मुहावरों का इस्तेमाल किया गया है जो फ़ायरबाख़ की पुस्तक 'ईसाई धर्म का सार' (१८४१) में इस्तेमाल किये गये मुहावरों के समान हैं। 'विषय' के कलात्मक मूल्य पर मार्क्स और एंगेल्स का आग्रह 'विषयवस्तु के सौन्दर्यशास्त्र' की परम्परा का संकेत देते हैं जो शिलर से आरम्भ होकर हेगेल के माध्यम से युवा फिशर तक और फिर युवा जर्मनी तक भी मौजूद था। बाद की मण्डली के प्रतिनिधियों की तरह उन्होंने हेगेल की इस प्रतीति को अस्वीकृत कर दिया था कि कला स्थायी तौर पर ह्रास की स्थिति में है; और इस मंडली से उन्होंने कलाकृति में सोद्देश्यता को स्थान देना सीखा। वे फिशर के विचार से सहमत थे (देखें 'सौन्दर्य-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शास्त्र' २।२—४८४) कि सौन्दर्य में स्वयं एक प्रवृत्ति होती है जो स्वयं कलाकृति में सन्निविष्ट होती है। हेगेलवादी सौन्दर्यशास्त्र की प्रेरणा वहाँ स्पष्ट है जहाँ मार्क्स विशेषरूप से कामद और त्रासद रचनाओं की ओर संकेत करते हैं, या फिर ग्रीक कला के स्थायी गौरव का ज़िक्र करते हैं और अन्त में निस्सन्देह 'टिपिकल' की अवधारणा, जो दोनों व्यक्तियों के यथार्थवाद सम्बन्धी विचार का केन्द्र है। इस प्रकार जर्मन क्लासिकी सौन्दर्यशास्त्र के प्रभाव को प्रधान समझना चाहिए। यहाँ हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि अलगाव और अलगावशून्यता की समस्याओं का पता रूसो और कल्पनावादी समाजवादियों की रचनाओं में भी मिल सकता है। उसी प्रकार दिदरो ने भी श्रम-प्रक्रिया में कला का उद्गम देखा था। यथार्थवाद से सम्बन्धित विवाद (जिसने गम्भीर रूप में 'सामान्य में विशेष' की जर्मन धारणा का परिष्कार किया) के स्रोत हैं लेसिंग और दिदरो के विशिष्ट सामाजिक स्थिति का प्रतिनिधित्व करने वाले नायकों से सम्बन्धित विचार; बालज़ाक के उपन्यासों की भूमिकाएँ और १८४०'५० और १८५०'६० की अवधि के साहित्य और चित्रकला के आंदोलनों के प्रभाव (देखें डिकेंस और थैकरे की श्रेणी के अंग्रेज़ उपन्यासकार जार्ज सैंड, कोर्बे, शैम्पलूरी के उपन्यास)। बाद की अवधि में ज़ोला और प्रकृतिवादी उपन्यासों से सम्बन्धित विवाद एंगेल्स के यथार्थवाद से सम्बन्धित पत्रों की पृष्ठभूमि प्रदान करते हैं। और एंगेल्स की यथार्थवादी 'विवरण की वास्तविकता' सम्बन्धी स्वीकृति को चरित्र और स्थिति की विशिष्टता (टिपिकैलिटी) सम्बन्धी उनकी सशक्त चिंता से अलग नहीं किया जा सकता जिसका निर्देश उन्होंने प्रकृतिवादी धारा के विरुद्ध किया था। इस प्रकार १३ दिसम्बर १८८३ को लौरा-लफार्गे को लिखा गया उनका पत्र यह बतलाता है कि पेशेवर इतिहासकारों की अपेक्षा १८१५-१८ की अवधि के फ्रांस के बारे में बालज़ाक की 'क्रांतिकारी द्वन्द्वात्मक पद्धति' ने उन्हें अधिक ज्ञान दिया। अस्थायी और अपूर्ण ढंग से ही सही किंतु कला की प्रथम श्रेणी की व्याख्या हमें मादाम दि स्तील और अन्य फ्रांसीसी सिद्धान्तशास्त्रियों (मसलन गिज़ो, बालांश, दि बारां) की व्याख्याओं में मिलती है। इन आधार-सामग्रियों के विवरण में हमें अन्ततः यह जोड़ देना चाहिए कि गम्भीर बहुश्रुत विद्वान् मार्क्स ऐतिहासिक रूप में वर्तमान सौन्दर्यशास्त्रीय सिद्धान्तों से भी पीछे गए, यद्यपि उन्होंने वस्तुतः इन लेखकों और विचारकों से काफी कुछ सीखा था। प्लेटो, अरस्तू और ड्यूरर की अवधारणाएँ उनकी बौद्धिक विरासत के अंग थे।

मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र के विकास की यह वैचारिक उद्गम सम्बन्धी पृष्ठभूमि है। फिर भी हम यह प्रदर्शित कर चुके हैं कि मार्क्स और एंगेल्स के सौन्दर्य-विषयक विचार को उनकी सामान्य विश्व-दृष्टि से अलग नहीं किया जा सकता। उनका गैर सौन्दर्यशास्त्रीय संदर्भ प्राथमिक महत्त्व का है। और इस क्षेत्र में हेगेलवादी सौंदर्यशास्त्र ने मार्क्सवादी विचार को एकमात्र अथवा प्रमुख रूप में प्रभावित नहीं किया। परन्तु हेगेलवादी दर्शन ने अप्रत्यक्ष रूप से निश्चय ही उनके प्रमुख विषयों, व्युत्प्रेक्षाओं और टिप्पणियों को, जिन पर हम विचार कर रहे थे, आकार दिया है। हम उनके सौंदर्यशास्त्र पर उस सम्पूर्ण महान् दार्शनिक आंदोलन के, जो ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को प्रत्यक्ष रूप दे रहा था, गंभीर प्रभाव की उपेक्षा भी नहीं कर सकते। इस ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को हम अठारहवीं शताब्दी के आरंभ में देखते हैं और उसका विकास मांतेस्क्यू, रूसो, विंकेलमान, हर्डर, फ्रांसीसी 'सिद्धान्तशास्त्रियों', हेगेल के इतिहासदर्शन से लेकर अंगरेज अर्थशास्त्रियों और फ्रांसीसी इतिहासकारों में दिखाई पड़ता है। प्रगति सम्बन्धी आधुनिक विचार, जो काल्पनिक रूप ले रहा था, गैर-सौन्दर्यशास्त्रीय प्रभाव से सम्बन्धित है और महत्त्वपूर्ण है। १७७०-'८० के क्रांतिकारी दौर के दरम्यान यूरोपीय विचार पद्धति में प्रकट रूप लेने के पश्चात् सामाजिक और राजनीतिक सिद्धान्त की इस प्रवृत्ति ने न्याय और सामूहिक जीवन के विवेक को या तो सुदूर अतीत में ठेल दिया या सुदूर भविष्य में—और जितनी ही ऐसी चेष्टा की गई उतना ही उसके प्रतिनिधियों के लिए पूँजीवादी व्यवस्था असह्य हो गई। '१८४४ की पांडुलिपियों' में 'भद्र जंगली' से सम्बन्धित आह आदिम और अलगावशून्य व्यक्ति के चित्रण में प्रतिध्वनित हुई हैं। प्राचीन ग्रीस में व्यक्ति और समाज के बीच सामंजस्य का स्वप्न इसी प्रवृत्ति का समभाग है। यहाँ मार्क्स ने विंकेलमान, होल्डरलिन, हेगेल आदि का अनुसरण किया है। फिर भी मार्क्स के बेहतर मानवीय अवस्थिति से सम्बन्धित विचार मुख्यतः भविष्योन्मुख थे और यहीं मार्क्स और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एंगेल्स ने उनका साथ दिया जिन्होंने असंदिग्ध मानव-प्रगति को पहचाना था। उदाहरण के लिए कोंडरसेट, और फ़िख्टे; मोरेली अथवा दोन देशांप की तरह के अठारहवीं शताब्दी के कल्पनावादी; और सेंत साइमन और ओवेन की तरह के औद्योगिक युगीन कल्पनावादी।

और अन्त में स्वच्छन्दतावाद। यद्यपि रोमांटिक स्कूल, शेलिंग और सील्गर के विरुद्ध उनके (मार्क्स और एंगेल्स के) सतत् दार्शनिक, सैद्धान्तिक और सौंदर्य-विषयक संघर्ष को भुलाना असंभव है और अपने युग के संदर्भ में मार्क्स और एंगेल्स रोमांटिकता विरोधी थे फिर भी सौंदर्य-विषयक विवादों का प्रचलित प्रपंच और विलोम पुस्तकों को गढ़ने की पद्धतियाँ इस क्षेत्र में भी उनकी टिप्पणियों के लिए पालने का काम कर रही थीं। जिस प्रकार वे निम्न विषयों से सम्बन्धित प्रश्न गढ़ते हैं उससे पड़ने वाले प्रभाव प्रकट होते हैं: यानी(क) कलाकार की स्वतन्त्रता बनाम राष्ट्र, समाज, और मानवता के प्रति उसका उत्तरदायित्व; (ख) कलाकार का सौंदर्य का एकान्त प्रेमी वाला रूप; अथवा शाश्वत सत्य का पुरोहित वाला रूप बनाम उसकी क्रांतिकारी प्रतिबद्धता; (ग) कला का विशिष्ट सौंदर्य-शास्त्रीय कार्य बनाम ज्ञानात्मक एवं नैतिक कार्य; (घ) अनियंत्रित व्यक्तिवादी कल्पना बनाम प्रकृति के निश्चित नियमों के प्रति कलात्मक अनुगामिता।

यह स्पष्ट है कि मार्क्स और एंगेल्स ने ऐसे विरोधों की अनदेखी नहीं की। परन्तु उस युग पर उनके व्यापक प्रभावों से पूर्ण रूप में पीछा छुड़ाना दीगर बात थी।

यहाँ तक हम यह देख चुके हैं कि मार्क्स और एंगेल्स ने अपनी बौद्धिक भूमिका की संरचना में क्या स्वीकृत किया और आलोचनात्मक रूप से क्या आत्मसात् किया। अब यह विचार करना शेष रह जाता है कि उन्होंने क्या अस्वीकार किया। उनकी नापसंद भी समान रूप में शिक्षा-प्रद और लाक्षणिक हैं। प्रत्यक्ष एवम् अप्रत्यक्ष रूप में उन्होंने क्राउस, वाइस और हेगेल के वस्तुगत आदर्शवाद पर आक्रमण किया और कांट, फ़िख्टे और रोमांटिक स्कूल के मनोगत आदर्शवाद पर प्रहार किया। कला कला के लिए सिद्धान्त को अस्वीकार करते हुए उन्होंने वस्तुतः उसी संकल्प के साथ घिसे-पिटे उपदेशवाद का भी विरोध किया। उन्होंने रूप-विधान का मूल्य स्वीकार किया किन्तु रूपवाद का विरोध किया। यद्यपि उन्होंने सौंदर्यानुभूति के मूल में प्राकृतिक प्रवृत्ति के अस्तित्व को कभी अस्वीकार नहीं किया; परन्तु मानव एवम् अन्य पशुओं में उभयनिष्ठ विशेष सौन्दर्य-वृत्ति की प्राकृतिक धारणा को वे स्वीकार न कर सके।

६. उनकी प्रच्छन्न एवम् प्रकट मूल सामग्रियों के विस्मयकारी विस्तार को ध्यान में रखते हुए शायद ऐसा सोचा जा सकता है कि मार्क्स और एंगेल्स ने सौन्दर्यशास्त्रीय चिंतन के इतिहास में कोई योग नहीं दिया। वास्तव में इस विषय के पश्चिम के अनेक विद्वानों ने उनकी मान्यताओं को हेगेल और १८५०-'६० के फ्रांसीसी यथार्थवादी सिद्धान्त के साथ गड्डमड्ड करके एकदम मिटा देने की चेष्टा की है। दूसरी ओर कुछ रूसी विद्वानों ने मार्क्सवादी विचार को बेलिंस्की अथवा चेर्नीशेवस्की के विचारों के साथ तदाकार दिखलाने की कोशिश की है। प्रत्येक स्थिति में प्रयासों का आधार है तथ्यों का चुना हुआ उपयोग, जिसकी अनुमति नहीं दी जा सकती। यहाँ बिना किसी प्रकार के बहिर्वेशन के मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र के पुनर्निर्माण के क्रम में बाध्यता-वश एक रूपरेखा भर प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई है। और इस क्रम में हमने यह नहीं पाया कि इसकी पूरी आकृति को इसकी वर्तमान मूल सामग्रियों के बराबर बतलाया जा सकता है और न तो इसके हिस्से अन्य समसामयिक तर्कों से समानता रखते हैं। मार्क्स ने अपने अभिनव इतिहासदर्शन के कारण अलगाव और अलगावशून्यता की समस्याओं को सर्वथा नवीन रूप में लिया। उन्होंने उस प्राचीन द्विविधा की पुनर्विवक्षा की, जिसके अनुसार एक ओर कला क्षीण और मृत हो रही थी, और दूसरी ओर पीड़ित मानवता की आशा और सान्त्वना भी थी। मार्क्स ने निष्कर्ष निकाला कि सौन्दर्यबोध संपन्न प्राणी के रूप में मानव का पूर्वानुमान किया जा सकता है पर उसके आगमन को पूरी मानव जाति के मूलगामी सामाजिक-राजनीतिक रूपान्तरण की अपेक्षा है। अतः कलाकार को एक चुनाव करना है: क्या वह एकान्त में अपने को छलता रहेगा अथवा क्रांतिकारी प्रगति की अंतिम हद तक के अन्तराल के चढ़ाव-उतार को अपना कर उसमें हिस्सा लेगा। मार्क्स और एंगेल्स के लिए सोद्देश्यता में एक नया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थ था जो उनके पूर्ववर्तियों को उपलब्ध नहीं था। मार्क्सवादी विश्व-दृष्टि की रोशनी में सोद्देश्यता पर पुनर्विचार किया गया है और ऐतिहासिक यथार्थ को 'सोद्देश्य' कहा गया है। यहाँ यथार्थ के प्रश्न को परिष्कृत किया गया है। हेगेलवादी टाइप निश्चित परिस्थितियों में चित्रित होता था; किन्तु उनकी (मार्क्स-एंगेल्स की) यथार्थवाद संबंधी अवधारणा ने एक नये तत्त्व का समावेश किया—ऐतिहासिक रूप से गतिशील तत्त्वों की संचेतना। इस संदर्भ में विचारधारा कलात्मक वरण और विवेक का अभिन्न अंग हो जाती है और गम्भीर एवम् वास्तविक सोद्देश्यता की प्रकृति ऐसी हो जाती है कि वह कलात्मक कृति के अंतर्गत एकीकृत होकर कलात्मक-ज्ञानात्मक मूल्यों की वृद्धि करता है। इसके अतिरिक्त, द्वन्द्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद के परिप्रेक्ष्य में सौन्दर्य चेतना के उद्गम को भी नया अर्थ दिया गया है। 'होमो फ़ेबर' का 'होमो लुडेंस' में रूपान्तरण और नये सैद्धान्तिक कम्पासों और रसायनों का प्रयोग सशक्त रूप से यह संकेत देता है कि कला एक उत्कृष्ट सामाजिक तत्त्व है और स्वायत्तता की प्रक्रिया को भी ऐतिहासिक रूप में समझा जाना चाहिए। और अन्ततः कला का वर्ग-समतुल्य ठेठ मार्क्सवादी विषय है और इस विषय के विद्यार्थियों ने इसे इसी रूप में स्वीकार भी किया है। यद्यपि मार्क्स और एंगेल्स के पूर्व भी वर्ग-समतुल्य की बात कही गई है पर मार्क्स और एंगेल्स ने उसे सिद्धान्त का रूप दिया और उसकी जटिलताओं का अन्वेषण किया। यहाँ यह निष्कर्ष निकालना उचित है कि कम-से-कम **मार्क्स और एंगेल्स के प्रमुख विषयों ने १९वीं शताब्दी के सौन्दर्यशास्त्र में नए प्रश्न उठाए।**

यहाँ यह संकेत अतिकथन होगा कि उनके सौन्दर्यशास्त्रीय विचार पूर्ण-विकसित सिद्धान्त का रूप ले चुके थे। पर उन विचारों को आकस्मिक और प्रसंगोपात्त अटकलबाजियाँ बतलाकर अथवा महज रुचि और पसंद की उक्तियाँ कहकर खारिज कर देना कम अनुत्तरदायी नहीं होगा। क्योंकि हमारा यह विश्वास है कि हमारा पुनर्निर्माण यह प्रदर्शित करता है कि इन सौन्दर्यशास्त्रीय विचारों में एक आंतरिक संगति है जो किसी गम्भीर असंगति से बाधित नहीं होती। ये विचार सुसंगत हैं और अनेक प्रमुख विषयों से सम्बन्धित सुविकसित दर्शन से पोषित हैं। ये विचार उन समस्याओं को उठाते हैं जिन्हें सभी परम्परिक सौन्दर्यशास्त्रीय प्रबन्धों एवम् आज भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण और बुनियादी समझा जाता है। इस सम्बन्ध में हमें दृढ़ होना चाहिए। निश्चय ही यह सच है कि मार्क्स और एंगेल्स ने कुछ समस्याओं पर कुछ भी नहीं लिखा। उनका सौन्दर्यशास्त्रीय विचार पुंज सर्वसमावेशी नहीं है। उन्होंने कोई पूर्ण शास्त्र या सिद्धांत भी प्रदान नहीं किया। इस कसौटी पर किसी भी सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि का योगदान अपरिभाषेय है। अतः उचित मानदंड तो यही होगा कि उनके अपने युग में उनका योगदान कितना मौलिक था और भविष्य के सिद्धान्त, आलोचना और कला सर्जन को उसने कितना प्रभावित किया। इस कसौटी पर मार्क्स और एंगेल्स के सौन्दर्यशास्त्रीय विचारों का ऐतिसासिक और सैद्धान्तिक महत्त्व है।

अनुवाद : प्रेमेन्द्र

[दि जर्नल ऑव् इस्थेटिक एण्ड आर्ट क्रिटिसिज़्म, के वसंत १९७० के अंक से साभार]

पाद-टिप्पणी

१. इन संकलनों में दिये गये परिचयात्मक लेखों के अलावा मार्क्स और एंगेल्स के सौन्दर्य विषयक विचारों की मुख्य व्याख्याओं की सूची इस प्रकार है :

१) पिटर दमेज : मार्क्स, एंगेल्स और कवि, शिकागो, १९६७ जर्मन संस्करण, स्टटगार्ट, १९५९। इसकी समीक्षा के लिए पार्टीजन रिव्यू का १९६८ का शारदीय अंक, पृ० १५२-५६ देखें।

२) ज्यार्गिज एम० फ्रिदलेंदर : कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंगेल्स और वापरोसी साहित्य, मास्को, १९६२।

३) आन्द्रेई एन जेज्युतो : Woprosi rjealizma W estjetika Marxa i Engelsa, मास्को १९६३.

४) जार्ज लुकाच : कार्ल मार्क्स और एफ. एंगेल्स A Historian of Literature, बर्लिन १९४८ और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Beitrage Zur Geschichte der Asthetik, (सौन्दर्यशास्त्र के इतिहास में योगदान) बर्लिन, १९५४, पृ० १९१-२८५।

५) पावेल एस. त्रोफिमोव : Otsherki istorii marksistskoj estetiki, मास्को, १९६३, पृ० ५—१०८।

६) हांस काश : मार्क्सवाद और सौन्दर्यशास्त्र Marxismus und Asthetik, बर्लिन, १९६२।

७) Henri Lefebvre ; Contribution a l' esthetique, पेरिस १९५३।

८) Adolfo Sanchez Vazquez : Las i deas esteticas de Marx, मेक्सिको सिटी १९६५।

९) मिखाइल लिफशित्ज : कार्ल मार्क्स का कला का दर्शन न्यूयार्क, १९३८, रूसी संस्करण, १९३३।

१०) मैक्स राफ़ेल ; प्रूधो, मार्क्स, पिकासो, पेरिस, १९३३, पृ० १२३-८५।

११) W. C. Hoffenschefer : Iz istorii marksistskoj kritiki, मास्को, १९६७, अध्याय पाँच और छह।

१२) Vera Machackova : युवा एंगेल्स और साहित्य Der junge Engels und die Literatur, बर्लिन १९६१।

१३) फ्रांज पी० शिलर : Engels kak literaturnij kritik मास्को १९३३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

घर सँभालते हुए

लीलाधर जगूड़ी

(यदा । कदा । रण से । पराक्रम से
तप कर वापस । पक कर । तर
एक कतर आदमी
अधिकतर सामूहिक घटता है इस उदाहरण में
कल की सही थी ध्वस्त दृष्टि या कि नहीं थी
हरण में । उदा । उदा)—

मगर आज तुम कैसे रास्ता भूल गये
कि सही जगह चले आये
टिक कर बैठो
जमीन किसी को नहीं गिराती

खानों में बाँटकर मिट्टी पत्थर की समूची संस्कृति को
पिता ने कहा था । यह घर है

चीजों के दैनिक सहवास में मैं खटता रहा
इतने दिन
नागरिक स्वास्थ्य की शुभ कामना के लिए
कहीं नहीं जा सका
—किसी भी अन्याय की तह तक

—मैंने डूबने से पहले ही पी लिया था
वह चुल्लू भर पानी
(जो अब मेरे चेहरे पर भी नहीं है)

घर की ओर आतंकित गुनाह की नजर में
बहुत दिनों बाद तुमसे मुलाकात हो रही है
मुझे खुशी है तुम्हारी आँखों के रंग की
अन्धी पैतृकता में कोई चमक नहीं आ रही है

बहुत दिनों बाद अब तुम इस जगह को
किस संदर्भ में देख रहे हो
क्या वह तुम्हारे छोड़े हुए पेशे का हाल हो सकता है ?

पुराने मुहावरे की गुजर से बाहर
ख़बरों के सहारे एक दीवार खड़ी करके
अपने अनुभव में मैं विशेष दुखी हूँ
मेरी औरत कई वर्षों से मेरे कपड़े धो रही है

हमारे पीछे एक और आकाश है
मैं उसे नहीं बता पा रहा हूँ
जिसमें हर पेड़ को जड़ तक तपा देने की साजिश हो
रही है

इस घर में । जहाँ मेरा बिस्तर तय है
समय मेरे साथ रुका हुआ है
तुम मुझे बिफरे हुए
पुराने दरिद्र आशय में पाओगे
यहाँ समूचे परिवार का चूतड़
जमीन पर टिका हुआ है

छड़ की तरह खड़ा होना
घर भर के सनसनाते दुख
पकड़ने के लिए
यह अपने-अपने अभ्यास की बात है
पड़ोस के रेडियो से ज्यादा सच बोलना
एक खेत से दूसरे खेत में चढ़ते हुए
बैलों का उद्वेग
झेलने के लिए बायें हाथ से नथुने खींचना
दायें से हल लिखना
हमेशा
मैंने
पशुओं को पलोसने में मानवता बरती है

सभ्यता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संस्कृति
पता नहीं इनको किस तरह समझा जाता है
मेरी तबियत हर दम मिट्टी पलटने को करती है
—कागज पर दाने नहीं उग सकते—
हम रात-दिन बोते हैं
और जनसंघ की चिंता से बाहर उठी हुई
गाय की पूँछ देखकर
जुते हुए बैल;
अपनी आँखों में
केवल जुए को आत्मा समझ कर;
पिघलता हुआ लालच भीतर ही भीतर ढोते हैं

आज तुम से मिलकर। मुझे
पहली बार महसूस हो रहा है
कि घर और आँगन के बीच एक दहलीज है
दरअसल मकान के भीतर खटखटाया हुआ
सुरक्षित चरित्र गोली मारने की चीज है
अब तुम आये हो तो देखो यह मेरा घर है
ठिगने कद के पत्थरों की जमानत पर। छूटा हुआ

शब्दों के मुल्क से बाहर
पेड़ों के प्रकरण से बचकर
मैदान के बंजर कान खड़े हैं
समय पर कुत्ते भौंक रहे हैं
सोये हुए भीतर के। लोग चौंक रहे हैं
कि घर के आस-पास कहीं बाघ आ गया है
और अब लड़ाई होगी

जहाँ रात को मची। तुम देखोगे
वहाँ झाड़ी तक नहीं बची
टूटने से
कुत्तों के कान...
क्यों-प्यों से पहाड़ छिल गया
एक डर पर्यटक की तरह
गाँव से निकल कर जंगल में चला गया

सुबह इससे ज्यादा और क्या दे सकती है
देहात को गोबर
हक की तरह शक ही अपना है
जैसे ज्ञान होता है
फावड़े, गैंती और दंदाले के पास अखरोट की
छाया में
सपनों से मरी हुई
बिना गीतों के एक मीठी नींद का
सम्मान होता है
मगर तुम देखोगे खेती
बाड़ी में घुसकर बूढ़ी हो गयी
मंगू उसे बोरे में भरकर
इस साल भी शहर ले गया है
और हाँ,
वह जंगल
जिसके एक-एक पौधे ने मुँह से दरवाजा खोला था
अब बेहद उलझा हुआ और षडयंत्रपूर्ण
बनिये की लिखावट की तरह
बेतरतीब
घना
और सांकेतिक हो गया है
भद्दे भच-भचे को गुड़गुड़ाने के बाद
तजुर्बे से
काठ के कोठे में बन्द थुन्नी पकड़कर
उथल-पुथल करते हुए
अलबत्ता एक मर्दानगी जरूर है
मुलायम सिंह में
मगर नयी आबादी को जीतने में उसके दाँत
खट्टे पड़ गये हैं
और उसके मनुष्य मुख में
इतनी वाहियात पीड़ा होती है
कि दाँत झड़ गये हैं और मसूड़े सड़ गये हैं
उसने अपनी जिन्दगी में कई दफा
'उबाणी जगह पर सिराणी रखकर'
सिर बचा लिया
गीली जमीन पर लेटकर
घर धूप में तन तचा लिया
जो उसी मार्के को अब भी कसा करता है
कि लौंडे लपाड़े फूंक रहे हैं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमारी बनायी हुई दुनिया
—बुढ़िया मरने का दगा दे गयी

मगर कोरी बातों की काणी फायर में
तोड़ते-तोड़ते ज्यों ही एक चेहरा बनता है
स्कूली छोकरों का,
होश आते ही भाग जाते हैं कि गाँव न हो

मुझे खुशी है बहरहाल
तुम कहीं से भी आकर दिखने लग गये हो
इतने दिनों बाद तुमसे मिलकर
मेरा खयाल है छुट्टी की कोई नैतिकता नहीं होती

बहुत पहले जो मेरे साथ था
रोशनी का बड़ा विचार
निर्दलीय हो गया
और क्रांतिकारी जलूस संसद में घुसकर
प्रांतीयता के छोटे उजाले में
कुर्सियों पर सो गया

मैं लगातार कई वर्षों से
घर संभाल रहा हूँ
देखो कितनी दरारें पड़ गयी हैं

किवाड़ के बाहर-भीतर
परिवार की किस्मत में
चित्त भी और पट्ट भी अन्धी कौड़ी है
यहाँ रहने के बाद तुम पाओगे
मकान की हुलिया भीतर की सही तस्वीर नहीं है

तसल्ली के अन्धेरे से एक आँख आगे
नशे का एक पूरा पेड़ है
जिसकी किसी को मुझ से अधिक आशा नहीं थी
मगर चीजें अपनी-अपनी सुस्त जगहों पर चुभी हुई हैं
लो अखबार पढ़ो। तुम ही जान जाओगे
मुख्य प्रस्ताव में कोई बारूद नहीं है
मंत्रिमण्डल है
और खास तौर पर वित्त मंत्री है
जनतंत्र के नेपथ्य में
यह खबर गड़बड़ प्रतिष्ठा की है—

तुम न कुछ बोल रहे हो न हँस रहे हो
क्या तुम्हें कोई गम नहीं है
इतने पेड़ मत बनो
अपनी खाल खींचते-खींचते
किसी भी विधायक की उम्र तीस से कम नहीं है

घर के सामने यह प्रौढ़ पेड़
मैंने जंगल की संभावना में झेला है
अब मेरा कोई क़द नहीं
अखबार से बाहर समय बहुत अकेला है

तुम्हें बताने को बहुत सी बातें रह गयी हैं
—मेरी पत्नी मुझे शरीर से जानती है
उसकी आँखें भरपूर घृणा के नाम पर
अनुपस्थित हो गयी हैं
वह अपने धर्म पर है
मेरा नाम उसकी जुबान पर अड़ जाता है
तुमने तो क्या महसूस किया होगा
मगर मान लो
बित्ते-भर लंगोटी में कुलबुलाती दुनिया का प्यार
रजाई के अन्दर छोटा पड़ जाता है

पिछले पच्चीस वर्षों के सिर से
मैं टोपी की तरह उतर गया हूं
आदमी के बालों की गंध लेकर

तुम ठीक कह रहे हो
अंधेर के ताले पर गजब की चाबी फिट है
फिर भी मालूम करो
समाजवाद कहीं न कहीं
चौथी योजना के किसी पूर्व-निश्चित आँकड़े में है

सबकी सहानुभूति से मिली-जुली
दुर्बलता में
कैसे पनपती है
हर साल पिछले साल से ज्यादा खराबी

इस तरह मत भागो
कहीं कोई नौकरी पकड़ो
विनाश की बहुत बड़ी पहुँच है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तुम इन्तजार करोगे तो एक दिन
आदमी जैसी शक्ल के लिए तरसोगे
वही निश्चय है जो नजर में आया है
जैसे यह घड़ा है। यह तिपाया है
नहीं तो उल्टी गिनती गिनकर मैं यही कहूँगा
तुमने अपने बहाने मुझ से
एक सही आदमी छिपाया है—

समय को इधर-उधर से बचाकर
मैं इस घर में आकर। काटता हूँ
कहीं से भी क्रूर न रहकर

कल मैंने अपने एक-एक खयाल की मरम्मत की
शरीर का बँटवारा किया
एक हिस्से को दूसरे हिस्से का उदाहरण दिया

सुख कोई चीज नहीं
अगर खाना हो
और समाज के हर आदमी को साफ पखाना हो

आज मैं पहली बार महसूस कर रहा हूँ
इस साल मृत्यु से छूट गया
और यहाँ-वहाँ पेड़ों में फूट गया
यकीनन इतने वर्ष मैंने एक युद्ध लड़ा है
फिर भी दिन दलाल की दाढ़ी में अटका हुआ
मेरी किसी जगह को दबाकर
दरवाजा घर से बाहर खड़ा है

लौट कर पाता हूँ
वह फिर कह रहा है
तुम चलो मैं आता हूँ

हक किस जिले की हवा है ?

बहुत कुछ बरामदे से अच्छा है वह मैदान
मगर वह अच्छी नहीं है
मैदान मारकर बरामद होगी जो धूल

समाजवाद की सातवीं ऋतु में
मेरी बीवी
बच्चों का मामला है

दुश्मन बिस्तर से आ रहे हैं
देश का बिस्तर से मुकाबला है

निरोध। संतति निरोध
नये आदमी के आने का इतना बड़ा विरोध

हर दफा घर के देशी अभ्यास में
औरत एक सीढ़ी है
जिस पर मर्द चढ़ता है
और बच्चा उतरता है

देखो ! यह पोस्टर कल ही एक अधिकारी दे गया है
दरअसल
जनतंत्र की नस का पता चल गया है

अब बिल्ली तो मैं बनाऊँगा
लकड़ी की
लेकिन 'म्याऊँ' कौन करेगा
जो रोजमर्रा की छोटी-छोटी चीजों में होती है

अब मेरे लंगड़ाने की जगह
राष्ट्रीय कार्यक्रम की बगल में
मेरी पत्नी आयी है
वे या तो मेरी बन्दूक ठीक करेंगे
या लूप से पाटेंगे
उसके शरीर में जो खाई है

वह मनुष्ययोनि को खून से धोने के लिए स्वचालित है
बाद में सारी घृणाओं का चेहरा प्यार से पुत जाता है
हर बार उसे
किसी मानवीय अनुभव से भरने के लिए
एक वेग मेरे शरीर से जुत जाता है

लेकिन मानव वंश को बरकत दें
इतनी बड़ी गलती से
इस उत्तेजना का सम्बन्ध नहीं बनता है
उनके पेट उठते हैं
और देश धँसने लगता है

सूखा। बाढ़ और जाड़ा
इन सबसे ज्यादा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बीवियों ने
इस देश का समाजवाद बिगाड़ा

बीवी और बिस्तर । नस और समाजवाद के लिए
नागरिक फायदे या हानी से । कुछ बने या न बने
मगर मैं बुरी तरह डावाँडोल हूँ
भीतर उपजते हुए पानी से

दोपहर से पहले की चुस्ती
और बाद की अर्थहीनता
मुझे कड़वा करके चख लेती है
और खेत से हट चुकने के बाद औजार की तरह
उठाकर
देश रंजन के लिए
औरत के करीब रख देती है

घर में झंड होने के बाद कुछ भी दुबारा नहीं
दरअसल यह हमें तोड़ रहा है
जमाने के पक्ष में एक फासला कायम करने के लिए
चारों खाने चित्त करके
निर्णय एक ऊँचा उचक्का है
जो कर्तव्य को बहाने की तरह जोड़ रहा है

—मुझे इसका खेद है
कि विधायक के चरित्र से मेरा चरित्र अच्छा है

तुम कहाँ से पहनकर आये हो
ऐतिहासिक चिंता का यह दहला हुआ लोक
इससे मुझे कम वक्त रहा है
मेरे पैंतरे खेत की बुताई में झड़े हैं
मगर मैं देख रहा हूँ । तुम्हारी शहरी नजर में
मेरी फजीहत के समकालीन बाल खड़े हैं

तुम अपने जूते उतारो
उठे हुए स्तूपों वाला नगर
तुम्हारा पीछा कर रहा है

—कितना घुसना उस अपनी ही कतार में
छिपी हुई दुनिया के भीतर
डरावने चेहरे पर देखना सौ आँखें
कमरे के बल टूटते हुए नगर की सौ आँखें

ताला खोलने के लिए यह चिड़िया की चोंच
तुम संभालकर लाये हो
मगर तुम कहाँ से ढूंढ लाये हो
ये अनुशासन के पर्चे
और खास किस्म के
अनुवादित सवालों की शिकारी आदतें

समूची दुनिया के सम्पर्क से बनी है
मेरे घर की यह दरिद्र दुनिया
चिल्लाने न चिल्लाने का यह सबसे बड़ा कारण है

हरहराते हुए
मानव योनि के अन्धेरे पक्ष में
शरीर की कोतवाली से निकलकर
सार्वजनिक इच्छाओं का श्मशान
आखिरी उदाहरण है

योनि से पैदा हुए उद्देश्य के लिए
मैं तुम्हें कल वहाँ ले चलूंगा
जहाँ पर नदी पहाड़ को काट रही है
और अपने घुटनों से
घाटी के काँच को दरारों में बाँट रही है

मैं तुम्हें इस पहाड़ की
सबसे ऊँची चोटी पर ले चलूंगा
जले हुए पेड़ों की नागरिकता में
पत्थरों के समाज पर पंजे रखकर
वहाँ भी आकाश हमसे ऊँचा है

पहाड़ के पीछे दोनों हाथ धोकर पड़ा है
एक ढाल
माथापच्ची से मरा हुआ
बंजर दोस्ती में धाक जमाकर
सूनापन उजला होकर खड़ा है

हरे साँपों का डर
और चीजों की स्थगित चीख लेकर
गौर से देखने पर जो बेहद घना है
मेरे माथे की लकीरों का नक्शा
इस देश की जलवायु से बना है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चोटें और पेड़
मुझे उस पार के आसमान से
गुणा कर देते हैं
मेरी आँखें

खेतों की धूल सें मैली हुई हैं
वरना तुमसे मिलकर
आज पहली बार लग रहा है
कि जीवन-भर उत्तेजित रखने के लिए
नसें बारूद की बत्तियों की तरह
सारे शरीर में फैली हुई हैं

—लेकिन इन दृश्यों पर सें हवा गुजरेगी
और हम यों ही लाँघ लिये जायेंगे—

तुम अगर हटते चलने को कहते हो
तो यह केंचुवे की बंदूक
मेरे शव पर रख देना
ताकि लोग समझ सकें
—मुझे शांति नहीं थी
और मैं शहर के स्पर्श से बचना चाहता था

जनवरी के मेले में नये अन्न की शराब पीकर
मैंने अपने पशुओं के लिए प्रार्थना की थी

—कंगाल इस वर्ष भी तुम्हें कंधा देते हैं
इस वर्ष भी
खेत-खेत दौड़कर काफी उत्साह से
चाह लेते हैं। यह ठंड
काफी उत्साह सें थाम लेते हैं यह कँप-कँपी
इस वर्ष भी तुम्हें
उधार के कपड़ों सें अलंकृत करते हैं
एक और फसल के लिए भरोसा दे

कंगाल इस वर्ष भी तुम्हें नदी ले जाते हैं
तू वर्षा दे। बरफ दे। काल दे अकाल मत दे
धीरज दे। धक्का मत दे
कहर और शहर के भेष में

ओ, पहाड़ी देवता
जंगल में उगे हुए जहर को चर दे
अपने उपजाऊ फेन को छिटकाकर
खेतों के पुश्ते घास सें भर दे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाषा की काव्यमुक्ति : निराला से धूमिल तक

रमेशचन्द्र शाह

भाषा का सम्बन्ध आदमी के व्यक्तित्व से ही नहीं, उसके अस्तित्व से भी है। व्यक्तित्व की अनुभूति रोजमर्रा की अनुभूति है क्योंकि व्यक्तित्व की चेतना अहंचेतना ही है जिसके बिना आदमी जीवन में सफल नहीं हो सकता, समाज में अपने को जमा नहीं सकता। अस्तित्व की चेतना हममें मुश्किल से ही कभी जगती है क्योंकि वह हमारी प्रयोजन-पूर्त्ति में सहायक नहीं होती उल्टे बाधक ही होती है। व्यक्तित्व की चेतना आदमी को आत्मविश्वासपूर्ण और आत्मतुष्ट बनाती है, जबकि अस्तित्व की चेतना का आरम्भ ही इस आत्मतुष्टि के विघटन से होता है। व्यक्तित्व की अपर्याप्तता या नगण्यता का विचलित करने वाला बोध ही हमें इस व्यक्तित्व की प्रामाणिकता के प्रति शंकालु बनाता है—उसके आधारों की जाँच-पड़ताल करने को विवश करता है : दूसरे शब्दों में, हमें व्यक्तित्व की नागरिक व्यवस्थाओं से खींचकर अस्तित्व के अराजक बीहड़ों में पटक देता है। "हाय पर मेरे कलपते प्राण, तुमको मिला कैसी चेतना का विषम जीवन-मान..." हम देख सकते हैं कि सभ्यता के अस्थिर युगों में यह प्रक्रिया, यह प्रश्नाकुलता अधिक तीव्र होती है।

कारण, जिन युगों में मनुष्य की संस्कृति और सभ्यता के बीच कोई पार्थक्य नहीं होता—संस्कृति के मूल्य ही सभ्यता के मूल्यों के रूप में स्वीकृत और सक्रिय होते हैं : व्यक्ति और समाज की आकांक्षाओं और प्रेरणाओं के बीच असामंजस्य कम-से-कम होता है—सर्वमान्य आस्थाएँ और विश्वास ही व्यक्तित्व की सन्दर्भ-पीठिका के रूप में सहज कारगर होते चलते हैं, उन युगों में मनुष्य की संस्कृति ही मनुष्य की सर्जनात्मकता के निर्बाध संचरण के लिए पर्याप्त होती है। अनुभूति का अन्तःप्रमाण सहज होता है और भाषा भी उसे प्रतिरोध नहीं देती : भाषा के तत्त्वों, इकाइयों के बीच भी वही संगठन, वही स्पष्ट नियमपूर्ण संकेत-व्यवस्था कायम रहती है, जैसी कि समाज के अवयवों के बीच। संस्कृति का सिद्ध गुरुत्वाकर्षण व्यक्ति की गति को कुण्ठित नहीं करता, बल्कि उसे एक धुरी प्रदान करता है और उसके साथ-साथ पूरी स्वतन्त्रता में चरितार्थ होने का विश्वास (या भ्रम) भी। इसके विपरीत जिन युगों में यह सन्दर्भ-पीठिका गड़बड़ा जाती है, संस्कृति के मूल्य सभ्यता को प्रेरित-संघटित करने की सामर्थ्य खो देते हैं, उन युगों में मूल्यों के विघटन के साथ-साथ मानवीय-सम्बन्धों का, स्वयं मानव-व्यक्ति का भी विघटन शुरू हो जाता है। लिहाज़ा शब्द भी अपनी धुरी छोड़ने लगते हैं—उनकी संयोजकता बदल जाती है। उनमें भी अनुभव की वही अराजकता संक्रमित होने लगती है।

इस अराजकता के सार्थक प्रतिकार के लिए, अर्थ के निश्चित अनुभव को फिर से प्राप्त करने के लिए 'अस्तित्व' के प्रति एक अतिरिक्त चिन्ता और चेतना विकसित की जाती है और इस प्रक्रिया में भाषा का अनुभव भी अधिकाधिक आन्तरिक होता जाता है। बासी और अर्थक्षीण शब्दों को उनकी अभ्यास-जड़ लीकों से हटाने के लिए कवि एक नई लय-ताल में ढालता है : एक जटिल छन्द और वाक्य-विन्यास में नियोजित करता है उन्हें; ताकि इस नई लय-गति में, इस नए माहौल में उनकी सहजता वापस आ सके और उन पर लगी हुई काई भी कट सके। मसलन, क्या कारण है कि निराला की 'मरण-दृश्य' जैसी कविता हमारी संवेदना को एक नया और अप्रत्याशित आघात देती है? क्यों हमें एक अजब-सी स्वतन्त्रता का अनुभव होता है जैसे एकाएक हमारी अनुभव क्षमता बढ़ गई हो—कवि ने भाषा के एक ऐसे मर्मस्थल को उद्घाटित कर दिया हो, एक ऐसा अवकाश शब्दों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के भीतर खोल दिया हो जिसके लिए उस भाषा का हमारा सामान्य बोध और अनुभव हमें तैयार नहीं कर पाता मानों काव्यरूढ़ भाषा पर कवि ने छापा मार दिया हो और उसकी मूर्च्छा भंग कर दी हो। पूरी कविता एक लम्बी सधी हुई साँस सी लगती है—एक गहन 'अर्थ' का पीछा करती हुई, तमाम कोनों-अँतरों में से उसे ढूँढ़कर बाहर खुली हुई हवा में निकालकर ही दम लेती हुई। यहाँ तक, कि पिटे-पिटाए शब्द भी जीवित मौलिक हरकतों का स्वाद देने लगते हैं। शब्द और लय की यह मौलिक टकराहट और घनिष्ठता कोई महज छायावादी भावोद्गार नहीं हैं। गीत की रूढ़ि का संहार करके ही यह गीति-लाघव ऊपर उठता है।

"कहा जो न, कहो !
नित्य-नूतन, प्राण, अपने
गान रच-रच दो !

विश्व सीमाहीन
बाँधती जातीं मुझे कर-कर
व्यथा से दीन !

कह रही हो "दुःख की निधि
यह तुम्हें ला दी नयी विधि
विहग के वे पंख बदले—
किया जल का मीन;
मुक्त अम्बर गया, अब हो
जलधि-जीवन को.....

शब्द और शब्द की, पंक्ति और पंक्ति की, शब्द और लय की इस मौलिक टकराहट में से वह अर्थमुक्ति सम्भव होती है जो कवि के व्यक्तित्व को अस्तित्व के सन्दर्भ में नए सिरे से परिभाषित करती है। यह कसावट ऐसी है कि आप किन्हीं पंक्तियों को अलग से उद्धृत नहीं कर कर सकते क्योंकि अगली ही पंक्ति उनका प्रत्याख्यान करके एक नए अर्थ-सन्दर्भ में ले जा सकती है। छन्द का, वाक्य का विन्यास इतना जटिल है कि किसी भी मोड़ पर दृश्य बदल सकता है और जाना-पहचाना शब्द भी नया-नया लगने लगता है। तुकें तक, अपनी अप्रत्याशितता और अमुखरता के कारण लय के वक्र-संचार की ही तरह, भाषा को उसकी गतानुगतिकता से उबारती लगती हैं। सभी कुछ साभिप्राय है। किन्तु यह अभिप्राय पहले से प्राप्त या आरोपित नहीं है; वह क्रमशः कविता की अनिवार्य लय-गति में संयोजित होता चलता है :—

सकल साभिप्राय;
समझ पाया था नहीं मैं
थी तभी यह हाय !
दिए थे जो स्नेह-चुम्बन
आज प्याले गरल के घन;
कह रही हो हँस—पियो प्रिय
पियो प्रिय निरुपाय।
मुक्ति हूँ मैं, मृत्यु में
आयी हुई, न डरो।"

समूची कविता का अनुभव और स्वाद ही मानो इस 'मुक्ति' का अनुभव और स्वाद है। अस्तित्व की विकटता में से व्यक्तित्व (और कवि-व्यक्तित्व) के उत्तीर्ण हो आ सकने की अनुभूति हमें यह कविता कराती है जैसे। इस प्रकार इस कविता का स्वाद व्यक्तित्व और अस्तित्व की घनिष्ठता का स्वाद है। काव्य में जब-जब यह घनिष्ठता टूटती है, तब-तब भाषा की अर्थवत्ता क्षीण पड़ती है और कवि को शब्दों के नए संयोजन ढूँढ़ने पड़ते हैं, छन्द की नई-नई, जटिलतर प्रणालियाँ आविष्कृत करनी पड़ती हैं, एक ही कविता के अन्दर दो लय-गतियों की टकराहट पैदा करनी पड़ती है (जैसे मसलन, निराला की 'सुमन भर न लिए' शीर्षक कविता में या अज्ञेय की 'अकेली न जैयो राधे' शीर्षक कविता में)—इसलिए कि भाषा की स्वाभाविकता, निर्दोषिता वापस आ सके। इसलिए कि उसे विकृत और कुण्ठित करने वाली ताकतों का सर्जनात्मक प्रतिकार किया जा सके। इसलिए कि भाषा लोचदार और काव्य-सम्भव बन सके। कभी-कभी (और अधिक विघटन और भ्रंश के युग में) ऐसा भी हो जा सकता है कि वाक्य के विस्तार में—अन्य शब्दों की संगति में—अपनी अर्थवत्ता का आश्वासन न पाकर शब्द अपनी ही गहराइयों में अपना उत्खनन करने लगे। या अपने विघटन से घबराकर पुनः संगठन माँगे। तब और अधिक क्रान्तिकारी संयोजन की जरूरत होगी। वाक्य और शब्द के सम्बन्धों की आधारशिला नए सिरे से रखनी पड़ेगी। इस प्रकार की चेतना को हम अज्ञेय, कुँवरनारायण जैसे कवियों में देख सकते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुँवर नारायण के 'माध्यम' की 'असन्तुष्ट चेतना' का संकेत इस सन्दर्भ में विशेष रूप से स्मरण आ रहा है:—

एक असन्तुष्ट चेतना है जो आवेश में पागलों की तरह
भाषा को वस्तु मान, तोड़-फोड़ कर
अपने एकांत में बिखरा लेती है
और फिर किसी सिसकते बालक की तरह कातर हो
भाषा के उन्हीं टुकड़ों को पुनः
अपने स्खलित मन में समेटती है, सँजोती है
और जीवन को किसी नए अर्थ में प्रतिष्ठित करती है

आगे इसी कविता में कवि कहता है:—

शब्दों से घनिष्ठता बढ़ने दो
कि उनकी एक अस्फुट लहक तुम्हारे सौम्य को छू ले
और तुम्हारी विशालता मेरे अदेय को समझे :
स्वयं सिद्ध आनन्द के प्रौढ़ आलिंगन में
समा जाए ऋचाओं की गूँज-सा आर्यलोक
.....

यह 'अस्फुट लहक शब्दों की' क्या है ? हमने ऊपर जो कहा कि कवि भाषा को मात्र अपने व्यक्तिपरक प्रयोजनों से नहीं, बल्कि अस्तित्वपरक स्मृति से पहचानता है। भाषा उसकी स्मृति है—अस्तित्वपरक स्मृति, जो कि उसकी व्यक्तिगत स्मृति से बड़ी है : उसकी संपूरक और सन्दर्भ-पीठिका है। करने को संस्कृति भी यह काम करती है। किन्तु जैसा कि कहा गया, प्रत्येक युग संस्कृति का युग नहीं होता। संस्कृति का उत्कर्ष भी होता है और अपकर्ष भी। अपकर्ष और ह्रास के समय संस्कृति का गुरुत्वाकर्षण खत्म या अतिमन्द हो जाता है। किन्तु वह एकदम नष्ट नहीं हो जाती। एक जीवन्त प्रभाव और नियामक शक्ति के रूप में वह तिरोहित हो जाती है अवश्य; किन्तु भाषा उसे जज़्ब कर लेती है। भाषा में वह अन्तःसलिल हो जाती है। तब उसके तत्त्वों तक पहुँचना अत्यधिक दुष्कर हो उठता है। ऐसे समयों में कवि का कार्य अपेक्षाकृत अधिक जटिल हो जाता है। संस्कृति की सन्दर्भ-पीठिका की क्षतिपूर्ति मानो उसे भाषा से करनी पड़ती है : एक सूक्ष्म भाषिक संवेदना विकसित करनी पड़ती है। उसी अस्तित्ववादी अनिवार्यता और पर्युत्सुकता के साथ भाषा से—भाषा की जड़ों से—उसके अन्तःसलिल स्रोतों से जूझना पड़ता है, जिस तरह कि व्यक्तित्व और समाज के विघटन की चुनौतियों से। कवि की हैसियत से यह उसके अस्तित्व की ही खोज की बुनियादी समस्या है : व्यक्तित्व की खोज से भी ज़्यादा।

हमारी कविता में जब व्यक्तित्व की खोज की आवाज़ बुलन्द की गई थी, तब वह सार्थक और अपने समय की सचाइयों में अनिवार्यतः सन्दर्भित थी। संस्कार और संवेदना की कशमकश को वह सही ढंग से रेखांकित करती थी। यह कशमकश तब रचना की एक सार्थक और प्रमुख प्रेरणा थी। रचनात्मक जिजीविषा, तब, ऐसा लगा था कि इतनी धारदार और पैनी भारतीय लेखक में पहली बार पैदा हो रही है। तब जैसे एकाएक यह अहसास बड़ी तीव्रता के साथ उभरा था कि हमारी अपनी संस्कार-प्राप्त भाषा ने (और जीवन-प्रणालियों ने) कभी हमें अपने व्यक्ति-मन की ऐसी आत्मीय पहचान नहीं कराई। हमें,—हमारे कवियों और कथाकारों को—लगा था कि कदाचित् हमारी परम्परा में व्यक्ति की उस विलक्षणता का वैसा आदर नहीं हो पाया जैसा कि होना चाहिए था। याकि हमारे संस्कारगत मन और अस्तित्व में ही कुछ ऐसा जड़ीभूत है जो कि कलात्मक स्वभाव को, सर्जनात्मक व्यक्तित्व को कुण्ठित करता है—उसे वास्तव में स्वतंत्र और स्वचेतन होने देने से पहले ही अपने भीतर खपा लेता है। स्वाभाविक ही, हमारी कविता की लड़ाई इस खपा लिए जाने से थी। यही उसके विद्रोह और सार्थक विद्रोह की दिशा थी। ऐसा नहीं कि पूर्ववर्त्ती कवियों में यह कशमकश बिलकुल ही न रही हो : निराला का विद्रोही व्यक्तित्व तब हमारे कवियों के लिए प्रेरणा-स्रोत था। उनके कृतित्व का भी वही अंश हमारे लिए सार्थक और प्रेरणाप्रद था जो इस हमारी 'विद्रोही व्यक्तित्व' वाली माँग को पुष्ट और पूर्त्त करता था (बल्कि जो इसमें नहीं अँटता था, उसे भी हम इससे अनुकूलित करके ही देखते थे; और जो बहुत ज़्यादा आड़ा पड़ा, उसे उनकी मानसिक रुग्णता का प्रतिबिम्ब कहकर हल कर देते थे)। रहे बाबू जयशंकर प्रसाद, सो अपने तमाम 'ऐतिहासिक बोध' के बावजूद—जिसकी दाद हमें मजबूरन देनी ही पड़ती थी—वे और उनका कृतित्व हमें भारतीय पुनर्जागरण की करामात से उत्पन्न आत्मतुष्टियों का एक ऐसा विशाल ढूह प्रतीत होते थे, जिनसे टकराने की कोशिश करने का मतलब था उस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धार को ही कुन्द कर लेना, जिसके बल पर हम तत्कालीन रचना की लड़ाई लड़ रहे थे। हमारी संवेदना तब संस्कारों की सदियों पुरानी जकड़ से छूटने के लिए प्रयत्नशील थी और प्रसाद का प्रयत्न हमें इसके ठीक विपरीत लगता था। मैथ्यू आर्नाल्ड की मृत्यु पर किसी ने कहा था कि "देयर गोज़ अवर लास्ट ग्रीक..." ज़्यादा से ज़्यादा हम भी उस वक्त यही कह सकते थे कि "देयर गोज़ अवर लास्ट इण्डियन..."और छुट्टी पा सकते थे। अपने संस्कारगत अस्तित्व की जड़ों में पूरी तरह स्थापित और मगन वह बरगद हमें उस वक्त दे ही क्या सकता था...!

एक और बात भी थी जिसको सही-सही और साफ-साफ पकड़ना ज़रूरी लगता है। चाहे हमारे औज़ार जितने मोटे और भद्दे लगें। वह बात है पूर्व और पश्चिम के द्वन्द्व की...उसकी क्रमशः गहराती चेतना की, जो कि आज हमारी सर्जनात्मकता में संस्कार रूप से बद्धमूल है (इतनी, कि अब हमारी संवेदना उससे भी मुक्त होने को छटपटा रही है); किन्तु उस वक्त, यानी छायावाद के ज़माने में वह नई चीज़ थी – बल्कि सर्जनात्मक होने की शर्त्त जैसी बन गई थी। क्यों बन गई थी ? क्या वह ऐतिहासिक अनिवार्यता थी ? क्या वह सिर्फ एक ज़्यादा प्रतिभाशाली—किन्तु कम भारतीय, अधिक पश्चिमी ढंग में ढले हुए व्यक्ति के साहित्यिक (और, हाँ, राजनीतिक) नेतृत्व के शुद्ध संयोग का परिणाम था ? क्या कारण है कि हममें से कई लोग (जिसमें उस दौर के लेखक भी शामिल हैं) इस पूरे विकास-क्रम का, इस पूरे दौर का प्रायश्चित्त पढ़ने की मुद्रा में आ गए हैं ? क्या यह मोहभंग सही और सार्थक है और क्या यह समकालीन रचनात्मकता को सही दिशा में ले जाने का उपक्रम है ?

एक औसत हिन्दुस्तानी की तरह हम भी ज़रा इन प्रश्नों से पलायन करके कुछ बुनियादी दर्शन बघार लें। सर्जनात्मकता क्या है यह जब हम सोचते हैं तो क्या हम भारतीय या हिन्दू दृष्टि से सोचते हैं ? क्या हमारी इसकी अवधारणा पश्चिमी ढंग की नहीं होती ? आलोचना सर्जनात्मकता का चिन्तन है और उसके साथ-साथ चिन्तन की सर्जनात्मकता भी। और देशों के इतिहास हमें यही सबक देते हैं कि कोई भी जाति तभी तक जीवित रह सकती है, कोई भी संस्कृति तभी तक सक्रिय रह सकती है जब तक वह गतिशील रहे : यह गतिशील होना सर्जनात्मक और आलोचनात्मक दोनों प्रकार की सक्रियताओं से संभव हो सकता है। हमारे देश का इतिहास क्या कहता है ? क्या वे दोनों प्रकार की सक्रियताएँ हमारे यहाँ मौजूद रहीं ? हम देखते हैं कि इस धार्मिक संस्कृति में जब तक आलोचना का खुलापन मौजूद रहा, तब तक सर्जनात्मकता भी काफी सक्रिय रही। उसके अवरुद्ध हो जाने के साथ-साथ वह भी अवरुद्ध हो गई। एक पूरी-की-पूरी सभ्यता गरुड़ से कच्छप की योनि में चली गई। तब आए संत कवि, जिन्होंने धार्मिक दृष्टि का पुनर्मूल्यांकन किया और उसमें सामाजिक विवेक-चेतना को भी जोड़ा। इस मौलिक और स्वाभाविक आलोचना ने भारतीय जनता के भीतर की काफी-कुछ अवरुद्ध कविता को बाहर निकाला और इस प्रकार उसकी अवरुद्ध सर्जनात्मकता का एक ज़ोरदार विस्फोट संभव बनाया। क्योंकि संत कवियों का दर्शन कविता-संभव दर्शन था। होने को उनसे पहले शंकराचार्य के रूप में हिन्दू बौद्धिकता का एक ज़बर्दस्त विस्फोट हो चुका था किन्तु उसमें उतनी ही बलवान कविता को प्रेरित करने की ताकत क्यों नहीं थी, जबकि शंकराचार्य स्वयं कवि थे ?

संतों ने रुढ़ियों को तोड़ा नहीं, उन्हें थोड़ा लचीला अवश्य बना दिया। रूढ़ियाँ तो आत्म-संरक्षण का अनिवार्य तर्क बनी हुई थीं; उन्हें वे कैसे तोड़ते ? उन्होंने केवल ब्राह्मण-संस्कृति की प्रकाण्ड बौद्धिक उपलब्धियों का भावना-कल्प करके सर्वहारा-संस्कृति की चीज़ बना दिया और 'सनातन धर्म का ऐसा मार्ग निकाला कि जिसमें बौद्ध और सूफीमत के योगदान का भी सहज समावेश हो गया। इस सारे आन्दोलन ने जनजीवन के भीतर से उस व्यापक भावनात्मक विस्फोट को जन्म दिया जिसकी अनिवार्य अभिव्यक्ति कविता में हुई। संतों की आलोचना ने जिन जगहों को नहीं छुआ वे सर्जनात्मकता से शून्य रहीं; और बाद में सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियों की बढ़ती हुई जकड़न के साथ उन रूढ़ियों की गिरफ्त भी बढ़ती गई और सदियों तक कोई भी मौलिक विचारक नहीं हुआ। फलतः सर्जनात्मकता फिर अवरुद्ध हो गई। इस प्रकार भारतवर्ष के जीवन में सर्जनात्मकता और आलोचना का नैरन्तर्य नहीं रहा। फिर भी जाति की जीवनी-शक्ति कायम रही, कुण्ठित नहीं हुई और इतिहास की एक जीवित शक्ति और जीवित भाषा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से टकराते ही फिर से पुनर्जागरण की लहर देश के एक कोने से दूसरे कोने तक दौड़ गई। वह क्या था जिसने हमें जीवित रक्खा—संस्कृति के स्तर पर भी और सभ्यता के स्तर पर भी? यह अतीतोन्मुख या पुनरुत्थानवादी प्रवृत्ति से नितान्त भिन्न प्रवृत्ति का लक्षण है कि आदमी विरोधी प्रवाह तक को पचाकर, उसे आत्मसात् करके आगे बढ़ जाय। यह परिणाम होता है कहीं भीतर बहुत गहरे केन्द्र में एक ज़बर्दस्त खुलेपन और नमनीयता का।...रूढ़ियाँ भी सारी जैसे इस बेहद नाज़ुक (वल्नरेबल) और खतरनाक खुलेपन की रक्षा के लिए ही कवच की तरह जुटती गई हों। आज हम सर्जनात्मकता को 'संघर्ष' की ही शब्दावली में समझते और अनुभव करते हैं और यह सर्वथा स्वाभाविक और अनिवार्य भी है। किन्तु इस दृष्टि से देखा जाय तो इस पश्चिमी अर्थ में भारतीयता सर्जनात्मक है ही नहीं। क्योंकि वह चाहे और जो कुछ हो, संघर्षमूलक तो निश्चय ही नहीं है। संघर्ष होता है व्यक्तित्व में; जन्मान्तरवाद में नहीं। संघर्ष होता है इतिहास में; महाकाल में संघर्ष कैसा? भारतीय प्रतिभा का वैशिष्ट्य और विजय इस बात में है कि उसने काल के आयाम को अतिक्रान्त करने का मार्ग ढूंढ़ निकाला, इतिहास के प्रति भी एक अनैतिहासिक और कालातीत दृष्टि अख्तियार की और न केवल अख्तियार की, बल्कि यह दृष्टि सचमुच इतिहास पर हावी हो गई। मुझे जाने क्यों ऐसा लगता है कि सर्वमान्य आस्थाओं में ढलने और सूत्रबद्ध होने के पूर्व इस सब के पीछे एक लम्बी परम्परा 'अस्तित्व' और शुद्ध अस्तित्व के चिन्तन की रही होगी। उसके परिणाम ही हमारे सामने बच रहे हैं; प्रक्रिया सामने नहीं है। आज, जब हम इतनी दूर निकल आए हैं और उस अत्यन्त लचीले और सूक्ष्म वेदनतंत्र को खो चुके हैं, क्या कभी हमारे सामूहिक अवचेतन के भीतर से उस मौलिक प्रक्रिया का पुनर्जन्म संभव होगा? इतिहास की एक लम्बी जड़ता में हमने व्यक्तित्व की सर्जनात्मकता खो दी थी। इसलिए यह अनिवार्य था कि हम पश्चिम से जुड़ते और संघर्षित होते जिसमें कि सभ्यता का आधार ही उस प्रकार की सर्जनात्मकता थी। हमें गत्वर करने के लिए वह नितान्त आवश्यक थी और एक ज़बर्दस्त चुनौती की तरह हमने उसका अंगीकार भी किया था। बिना उससे टकराए हम अपनी सर्जनात्मकता का अनुभव नहीं कर सकते थे। न अपने वाङ्मय में उसकी खोज के लिए प्रेरित हो सकते थे। इसलिए व्यक्तित्व की खोज का नारा उस शुद्ध अस्तित्व की खोज वाली, संघर्ष को शमित करने वाली, विसर्जनशील सर्जनात्मकता से (जिसे हमने भारतीय सर्जनात्मकता कहा) वास्तव में जुड़ने के लिए, उसे महसूस और सक्रिय कर पाने के लिए अनिवार्य था। हम केवल उसे स्वीकार करते आए थे, उसमें खप जाते रहे थे बिना उसे अर्जित किए; और इस प्रकार हमने सदियों से अपनी सर्जनात्मकता ही स्थगित कर रखी थी। व्यक्तित्व और अस्तित्व के, आत्म और अनात्म के, किस गहरे मन्थन में से, शुद्ध अस्तित्व के स्तर पर, मानवीय जीवन के अर्थान्वेषण की वह प्रक्रिया चलती रही होगी जिसकी परिणति इस दृष्टि और दर्शन में हुई, इसका जीवन्त अहसास तो हमारा कभी का कुन्द हो गया था। हमने उसे दर्शन के रूप में स्वीकार लिया किन्तु सर्जनात्मक शक्ति के रूप में खो दिया। इसलिए वह हमारे जीवन्त लौकिक—व्यक्तिगत और सामाजिक अस्तित्व के—संघर्ष की सन्दर्भ-पीठिका न बनकर सारे संघर्षों का पर्यवसान करने वाली और संघर्ष को—अस्तित्व के अनुभव को ही—जड़ से खत्म कर देने वाली चीज़ बन गया। दूसरे शब्दों में जिस प्रश्नाकुलता में से वह चीज़ निकली थी और जिस प्रश्नाकुलता के बल पर ही वह जीवित और सर्जनात्मक बनी रहकर हमारी जीवनी-शक्ति का उपयोग कला और साहित्य और चिन्तन के लिए करती रह सकती थी, वह प्रश्नाकुलता ही हमारी समाप्त हो गई। समाप्त कर दी उसी ने। यह विरोधाभास क्या हमारी—हमारे सामूहिक अस्तित्व की—एक बड़ी विडम्बना नहीं?

रवीन्द्रनाथ ठाकुर के भक्त, बंगाल के एक अंग्रेज़ी के प्रोफेसर सुना महाकवि येट्स से मिलने गए और पूछा कि भारत के लिए आपका क्या संदेश है? सुनते हैं येट्स ने अजीब अधीरता से झल्लाकर कहा 'कॉनफ्लिक्ट! मोर कॉनफ्लिक्ट'...और इतना ही कहकर चुप हो गए। येट्स की यह प्रतिक्रिया स्वयं उन्हीं की कविता के विकास-क्रम में सटीक थी। इसलिए उसकी प्रासंगिकता को समझा जा सकता है। उनकी सबसे परिपक्व कविता—मोटे तौर पर कहा जाय तो—उन्हीं दो प्रकार की सर्जनात्मकताओं के संघर्ष की कविता है जिनका जिक्र हमने ऊपर किया। वे इस (भारतीय) तत्त्वचिन्तापरक सर्जनात्मकता के प्रति भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उतनी ही उदग्रता से उन्मुख थे, जितने कि उस संघर्षमूलक, व्यक्तित्वप्रेरित सर्जनात्मकता के प्रति, जो कि उनके यहाँ की परम्परा थी। और उन्होंने अपने अनुभव से पहचाना था कि बिना इस दूसरी चीज़ के पहली चीज़ सार्थक नहीं हो सकती, उस कविता को जन्म नहीं दे सकती जो आदमी की समूची जीवनी-शक्ति को चरितार्थ कर सके।

हमारे एक समकालीन कवि ने अपनी एक कविता में लिखा है—"इस वक्त जबकि कविता माँगती है / समूचा आदमी अपनी खुराक के लिए।" यदि आज के कवि का यह कथन सचमुच अपने परिवेश और इतिहास के साक्ष्य में से, संस्कार और संवेदना की कशमकश की पिछली सारी रचनात्मक परम्परा के निजी बोध और टटोल का परिणाम है तो वह निश्चय ही आत्म-साक्षात्कार की ईमानदारी है। और इस नाते सार्थक है। वर्ना यह तो, जैसा कि इन सारी बातों से स्पष्ट है, भारतीय कवि की हमेशा की समस्या रही है कोई इस वक्त या उस वक्त की नहीं। किसी ने, शायद एलियट ने ही, येट्स के कृतित्व की मीमांसा करते हुए लिखा था कि "मेच्योरिंग एज़ ए पोएट मीन्स मेच्योरिंग एज़ ए होल मैन।" अर्थात् कवि की हैसियत से परिपक्व होने का मतलब है समूचे आदमी की हैसियत से परिपक्व होना। आज के हिन्दी कवि की भाषा में इसका अनुवाद करें तो यही न कहेंगे कि कविता अपनी खुराक के लिए एक समूचा आदमी माँगती है?

अगर यह सब महज़ लफ्फाज़ी नहीं है—जैसाकि डर भारतीयतामात्र की किसी भी प्रकार की चिन्ता और चर्चा के साथ बना ही रहता है—तो इस संक्षिप्त से विश्लेषण में से निकलकर अब हम उन प्रश्नों का सही उत्तर ढूंढने की स्थिति में हैं। बल्कि इस विश्लेषण में उनके उत्तर निहित हैं। पूर्व और पश्चिम के द्वन्द्व का जो गहरा आन्तरिकीकरण छायावाद के बाद की सर्जनात्मकता की शर्त्त बन गया था, वह ऐतिहासिक अनिवार्यता ही थी। ठीक उसी तरह, जिस तरह कि, गाँधीजी के रूप में मध्ययुगीन संतों की—भावना के स्तर पर कार्यशील, किन्तु विराट् जन-समुदाय के भीतर से हल चलाने वाली—महान् क्रान्तिकारी भूमिका का पुनः विस्फोट एक ऐतिहासिक अनिवार्यता थी। दोनों का साथ-साथ चलना आवश्यक था। तभी एक साथ नीचे से और ऊपर से वह क्रान्ति सम्भव होती जो हमें मौलिक रूप से आधुनिक बनाती और हमारे खास अपने सर्जनात्मक स्वभाव में हमें पूरे आत्मविश्वास के साथ स्थापित करती। तब हम गांधी और अरविंद दोनों की सर्जनात्मक संभावनाओं का साक्षात्कार कर सकते थे। क्योंकि तब हम उन्हें अपने व्यक्तित्व की अस्थिर माँगों और ज़रूरतों के संदर्भ में ही नहीं, बल्कि अपने जातीय अस्तित्व की ही एक आधारभूत परिभाषा के रूप में देखते। दूसरे शब्दों में उन्हें अपनी सर्जनात्मक आवश्यकताओं से जोड़कर देखते। येट्स के स्मरण से एक बात मन में कौंधी थी कि आखिर क्या बात है कि हिन्दी (और शायद हर भारतीय) कवि उम्र में ज्यों-ज्यों सयाना होता है, उसकी कविता उतनी ही निस्तेज होती जाती है? पंतजी क्या अरविंद का सर्जनात्मक उपयोग कर सके? कैसे करते? उन्होंने भी उसका वही उपयोग किया जो नया-पुराना हर भारतीय लेखक भारतीय दर्शन का करता आया है। बिना संघर्ष के समाधान, बिना रचना के मुक्ति। यह आरोप हम निरालाजी पर नहीं लगा सकते। उनकी कविता का वेदांत कमाया गया वेदान्त है। वह विवेकानन्द के विचारों का अनुवाद नहीं, बल्कि भावावेगात्मक समतुल्य है। उनकी कविता, उस चिंतन की सर्जनात्मकता के समानान्तर और **समकक्ष** कविता है। विवेकानन्द काफी प्रचण्ड आवेशों के आदमी थे। एक ही रौ में वे जहाँ पूरे हिन्दुस्तान के ब्राह्मणीकरण का स्वप्न देखते थे (अर्थात् भारतीय तत्त्वचिंतन के उस बौद्धिक-भावनात्मक आभिजात्य के देश की समूची प्रजा के हर स्तर में भिद-जाने, रच जाने की; विशिष्ट सर्जनात्मक उत्साह के रूप में सक्रिय हो जाने की बात करते थे), वहीं मार्क्स के विज़न का भारतीयकरण करते हुए यह उद्गार भी व्यक्त करते थे कि इतिहास की सारी ताकत शूद्रों के पक्ष में है। बहुत जल्दी सारे संसार में शूद्रों का प्रभुत्व होगा, शूद्र सभ्यता ही आगे की सभ्यता होगी। विवेकानन्द काफी हद तक परम्परावादी भी थे और अपने तरीके से उसकी व्याख्या और आलोचना करते हुए भी वे उसका वैसा प्रखर पुनर्मूल्यांकन नहीं कर पाए थे जैसा कि अभीष्ट था। किन्तु जितना उन्होंने किया, वह कम नहीं था सही दिशा की खोज के लिए। आलोचना और पुनर्मूल्यांकन एक हज़ार वर्ष से नहीं हुआ था तो एकाएक वह चमत्कार अब कैसे घटित हो जाता?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बाद वालों के लिए भी तो कुछ बचना था करने को। आखिर उन्होंने क्या किया ?

निराला के काव्य में हमें इस दुहरी सर्जनात्मकता के संकेत मिलते हैं। भाषा में भाषिक संवेदना में भी उनके यहाँ यह दोहरा रचाव है। एक ओर उनमें संस्कृत के आभिजात्य के प्रति ज़बर्दस्त आकर्षण दिखाई देता है और दूसरी ओर उनकी भाषा में वह तत्त्व भी चरितार्थ हुआ है जिसे नामवरजी हिन्दी की सात्विक कठोरता या विद्रोही परम्परा कहते हैं। ये दोनों तत्त्व उनकी कविता में एक अत्यन्त सार्थक सर्जनात्मक रिश्ते में जुड़े हुए हैं। फिर चाहे आप उसे तनाव के रूप में देखें, चाहे सहयोग के रूप में।

प्रसाद उस तरह विद्रोही चेतना के कवि नहीं हैं। उनके यहाँ ऐसा लगता है जैसे संघर्ष का अर्थ चित्तवृत्तियों का संघर्ष है। दूसरी ओर उनमें प्रचण्ड बौद्धिकता, व्यंग-क्षमता और वो चीज़ है जिसे हम केवल 'विज़डम' कह सकते हैं। उनकी कविता का सौन्दर्य पश्चिमी काव्यशास्त्र को ललकारता प्रतीत होता है। हमें लगता है कि हमारे संस्कारगत अस्तित्व की जड़ों के भीतर इतनी गहरी पहुँच और किसी कवि की नहीं है। यही उनके प्रति हमारे आकर्षण का रहस्य मुझे जान पड़ता है और शायद यही हमें उनसे बिदकाता भी है। कामायनी वह पहाड़ है जिस पर चढ़कर हम उस दृश्य का कुछ आभास पा सकते हैं जिसे हम भारतीय सर्जनात्मकता कह रहे हैं और उसके साथ अपने अस्तित्वगत रिश्ते का कुछ अनुमान कर सकते हैं। तभी उनकी प्रासंगिकता या अप्रासंगिकता समझ में आ सकती है। हो सकता है कल की आने वाली पीढ़ियाँ उनकी भी वही दुर्दशा करें जो उन्होंने कालिदास की की थी स्कन्दगुप्त में। क्या वह कालिदास का पुनर्मूल्यांकन है ? यह तो तय है कि प्रसादजी जान-बूझकर शरारतन मातृगुप्त को नाटक में घसीट लाए हैं। तो क्या स्कन्दगुप्त के हाहाकार ने उनकी संवेदना को इस तरह विक्षिप्त कर दिया था कि उसका बदला उन्होंने उस काल की सभ्यता के सबसे प्रतिनिधि कवि से ले मारा ? जो काम प्रसादजी अपने युग में कर रहे थे, क्या वही काम कालिदास भी अपने युग में नहीं कर रहे थे ? जिस तरह कालिदास ने पुराण के रघुवंश को समसामयिक इतिहास के बीचोबीच सिरजा था क्या उसी प्रकार प्रसादजी ने भी मनु के पौराणिक सत्य से मनुष्य के समकालीन इतिहास को आलोकित करने की कोशिश नहीं की थी ? याकि फिर प्रसादजी का व्यंग मात्र उस कालिदास पर है जिसने अभी रघुवंश की प्रौढ़ता अर्जित नहीं की थी ?

बहरहाल, हम निराला की बात कर रहे थे। निराला एक तरफ संस्कृत की गरिमा से, उसके 'दैवी-वाक्'-पन से अभिभूत थे : राम की शक्ति-पूजा और तुलसीदास में हिन्दी ने अपनी एक सर्वथा नई क्षमता के दर्शन किए थे; निराला से ज्यादा किस हिन्दी कवि ने संस्कृत के वाक्-तत्त्व को, संस्कृत के संगीत को हिन्दी की सात्विक कठोरता में इस कदर घुलाया और पचाया है ?...और वहीं दूसरी ओर यह भी निराला ही थे जो—धूमिल की कविता का उद्धरण देते हुए कहूँ—"अपना चमरौंधा कविता में उतार गए"। भाषा की काव्यमुक्ति क्यों होती है और कैसे होती है यह हम निराला से सीख सकते हैं। इस प्रक्रिया को समझने के लिए ही लेख के प्रारम्भ में व्यक्तित्व और अस्तित्व के संघर्ष की बात उठाई गई थी। हमने यह भी कहा था कि सांस्कृतिक संकट और अस्थिरता के युगों में संस्कृति की सन्दर्भ-पीठिका की क्षतिपूर्ति कवि को भाषा से करनी पड़ती है : उसी अस्तित्व-प्रेरित अनिवार्यता के साथ भाषा की जड़ों से जूझना पड़ता है जिस तरह कि व्यक्तित्व और समाज के विघटन की चुनौतियों से। शायद ऊपर की बातों से हमारा आशय कुछ और स्पष्ट हो सका हो। निराला भाषा की इस काव्यमुक्ति की समस्या के प्रति कितने सचेत थे, इसका भी कुछ संकेत उभारने की कोशिश यहाँ की गई है। प्रसाद के योगदान का स्वरूप क्या है, इसका भी कुछ अनुमान हो गया होगा। हालाँकि वह अलग विश्लेषण माँगता है। अज्ञेय भी अपने प्रौढ़ काव्य में प्रसाद की तरह भाषा को सांस्कृतिक संजीवनी से पुष्ट करके उसमें अपना उन्मोचन ढूँढ़ते हैं। उनकी पहली समस्या यही थी कि व्यक्तित्व को प्रतिरोध देने वाली भाषा की आत्मीयता कैसे सिद्ध की जाय। उनकी चेतना आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की जटिलताओं से टकराकर अधिक गहन हो गई थी। अतः उसकी काव्य-मुक्ति भी प्रसाद या निराला और उनके युग के कवि की तुलना में अधिक कठिन थी। जो रास्ते निराला और प्रसाद ने निकाले थे, उन पर चलकर वे अधिक दूर जा भी नहीं सकते थे क्योंकि दूसरी चुनौतियाँ भी सामने थीं। ऐसी अवस्था में यह स्वाभाविक था कि वे अपने साहित्य और भाषा के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अतिरिक्त एक ऐसी भाषा और साहित्य की ओर मुड़ते, जिसकी परम्परा अधिक संघर्षमूलक, अधिक आधुनिक हो। अंग्रेज़ी और उसके माध्यम से यूरोपीय साहित्य ने उन्हें यह आवश्यक टकराव दिया। चेतना के इस अत्यावश्यक संस्कार ने उन्हें धीरे-धीरे अपनी सांस्कृतिक जड़ों के भी निकटतर साक्षात्कार की ओर प्रेरित किया। इतना ज़रूर लक्ष्य किया जा सकता है कि अज्ञेय की काव्यभाषा में निराला की तुलना में लोच और स्वतंत्रता का गुण कम है। हिन्दी की व्यंजना शक्ति का, वैविध्य का जैसा अहसास निराला की कविता के साथ होता है वैसा अज्ञेय के साथ नहीं होता। किन्तु इसका मतलब यह नहीं कि अज्ञेय हिन्दी कविता को गलत दिशा में ले गए। दिशा वह सही थी। 'कामायनी' में एक समूची युग-चेतना के क्रिस्टलाइज़ हो चुकने पर हिन्दी कविता के लिए नए प्रस्थान की, सार्थक विद्रोह की, दिशा वही हो सकती थी। सवाल असल में यह है कि क्या वह सार्थक विद्रोह की दिशा पूरी तरह चुक चुकी है? क्या फिर से नए प्रस्थान, नए विद्रोह की भूमिका बन चुकी है? इस प्रश्न का उत्तर इतना आसान नहीं है, जितना लगता है। एक तरफ हमें यह लगता है कि सार्थक अस्तित्व की तलाश में नयी कविता को जितनी दूर जा सकना चाहिए था, उतनी दूर तक वह नहीं गई: अज्ञेय और कुँवरनारायण के प्रारंभिक कृतित्व में व्यक्तित्व और अस्तित्व के संघर्ष की भारतीय सन्दर्भ में जो तगड़ी पहचान उभरी थी, वह धीरे-धीरे धुँधली होती गई है। 'आँगन के पार द्वार' और 'आत्मजयी' में ही जैसे इस संघर्ष का क्षेत्र संकुचित होते हुए हम देखते हैं। और हमें सन्देह होता है कि ये कवि परम्परा और परिवेश की छानबीन से, पूरी टकराहट की चुनौतियों से, आंशिक पलायन करके, व्यापक अस्तित्व के बजाय अपने 'व्यक्तित्व' का मोक्ष ढूँढ़ने लगे हैं। हमें लगा कि यह कुछ-कुछ उसी प्रकार की परिणति है जैसी कि छायावादियों की थी: विद्रोह और समूची संदर्भ-पीठिका की तलाश की प्रतिज्ञाएं शिथिल पड़ रही हैं और जिस परम्परा में खप जाने के विरुद्ध इनकी लड़ाई थी, ये अन्ततः उसी में आग्रहपूर्वक खपे जा रहे हैं। इस प्रकार हमें लगा कि इस पूरे अभियान में कुछ 'ब्लाइन्ड स्पॉट्स' रहे होंगे। शीघ्र ही नयी कविता के भीतर से ही इसकी प्रतिक्रिया होने लगी। मोटे तौर पर यों भी कह सकते हैं कि उस काव्य-द्रोही अध्यात्म के विरुद्ध कार्रवाई होने लगी जो हमारे कवियों के आत्मसंघर्ष को विसर्जित करके अपने भीतर खपा लेता है। लक्ष्मीकांत वर्मा और रघुवीरसहाय जैसे कवि इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय हैं।

क्या कारण है कि हमारी पीढ़ी को इनकी भाषा भी भरोसे की नहीं लगी और राजकमल चौधरी की लगी? क्या राजकमल चौधरी की कविता का विद्रोह अधिक सर्जनात्मक है? क्या उनकी कविता में भारतीय समाज और भारतीय व्यक्ति की तसवीर अधिक प्रामाणिक है बनिस्बत इन कवियों के? क्या नयी कविता के कवि 'आमाशय' और 'यौनाशय' का केवल बौद्धिक बखान करके रह गए? अपने व्यक्तिगत और सामाजिक अस्तित्व में उनकी सच्चाइयों से जूझे बिना उन्होंने अपना व्यक्तिगत मोक्ष पा लिया? या कि वे उनसे थोड़ा-बहुत जूझे भी तो जल्द ही अस्तित्व की इस बीहड़ अराजकता से घबराकर उन्होंने अध्यात्म का कवच पहन लिया और उस अत्यावश्यक और काव्य-संभव संघर्ष से पलायन कर गए जिसका वादा उन्होंने शुरू में किया था? तो क्या यह काव्य-संभव संघर्ष नई पीढ़ी को राजकमल चौधरी की कविता में उजागर होता दीखा? इतना तो तय है कि अज्ञेय, कुँवरनारायण जैसे कवियों की परिणति आध्यात्मिक संघर्ष की कविता में होनी ही थी। हम यह शिकायत करने की मूर्खता तो कर नहीं सकते कि परिणति स्वाभाविक क्यों हुई? तब क्या इसका मतलब यही है कि—नहीं, इन कवियों का प्रौढ़ काव्य आध्यात्मिक संघर्ष का काव्य नहीं है। बल्कि उसी प्रकार का विसर्जन या आध्यात्मिक पलायन है जिसके खिलाफ वे खुद कभी खड्गहस्त हुए थे। ऐसी हालत में उनकी भाषा भरोसे की भाषा कैसे हो सकती है? तो क्या राजकमल चौधरी की कविता में हमें वह आध्यात्मिक संघर्ष की भाषा मिलती है जो अपने कवि व्यक्तित्व को व्यापक अस्तित्व की अराजकता में निष्कवच भोंकने के बाद ही प्राप्त होती है?

हमारी पीढ़ी की कविताओं के साक्ष्य से तो ऐसा ही लगता है। "उसका मरना कविता के बाहर नहीं है" (धूमिल)। स्पष्ट ही इसका आशय यह हुआ कि राजकमल चौधरी का 'मुक्ति-प्रसंग' भारतीय व्यक्ति और भारतीय समाज के सभी स्तरों का मुक्ति-प्रसंग है। जैसा कि अज्ञेय का नहीं है। जैसा कि लक्ष्मीकान्त वर्मा का भी नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जैसा कि शायद निराला का भी नहीं था।...क्योंकि

"सुविधा की तहज़ीब से बाहर
जहाँ चौधरी अपना चमरौधा
उतार गए हैं कविता में
वहीं कहीं नफ़रत का एक डरा हुआ बिन्दु है
.....
लेकिन एक ज़रूरतमन्द चेहरे के अलावा
वह धूमिल नहीं
एक डरा हुआ हिन्दू है..."

गोकि शायद यह निराला का नहीं, भारतीय समाज का और हिन्दी कवि का मूल्यांकन है। "वहीं कहीं नफ़रत का एक डरा हुआ बिन्दु है".....कवि का आरोप यह है कि हिन्दी कवि सामाजिक सच्चाइयों के जरिए, उनके सन्दर्भ में अपने असली चरित्र को परिभाषित करने से कतराता रहा है और यह काम अब वह खुद करना चाहता है।

रघुवीरसहाय की कविता में अस्तित्व के दोनों स्तरों की अलग-अलग और मिली-जुली छुटपटाहट दीखती है। दोनों के असाध्य संतुलन को साधने की कोशिश है। लक्ष्मीकांत वर्मा और विपिन अग्रवाल में वस्तुस्थिति के ठंडे तटस्थ अंकन द्वारा विद्रूप-व्यंग्य को उभारने का आग्रह है। श्रीकांत वर्मा की भी कोशिश इसी के समानान्तर गहरे आत्म-व्यंग और विद्रूप की है। धूमिल शायद इन सब को सही नहीं मानते। उनका स्वर आलोचनात्मक है। ये सारी आत्माभिव्यक्तियाँ उन्हें कविता के बाहर एकदम नहीं, तो अपर्याप्त और निर्बल तो लगती ही हैं। वे कुछ और चाहते हैं। वह क्या है? उनकी कविता का चरितनायक 'डरा हुआ हिन्दू' है। उससे कवि ने तादात्म्य भी स्थापित किया है। अर्थात् स्वयं को किसी प्रकार विशिष्ट नहीं माना है बल्कि ठेठ अपने परिवेश और संस्कार में अपने को स्थापित किया है। यह एक ताज़गी का अनुभव हमें देता है कि हम जिसे अपनी भाषा की—और अन्ततः अपने सामूहिक मन की काव्यमुक्ति के नाम से पुकार रहे हैं और खोज रहे हैं उसका एक पहलू यह भी है जो धूमिल की कविता का ध्येय है। कवि मानों यह कह रहा है कि सिर्फ चमरौंधा उतार देने से हमारे सामूहिक मन की और हमारी भाषा की काव्य-मुक्ति नहीं होगी। हमें अपने असली चरित्र को पकड़ना होगा। धूमिल की कविता का कहना है कि हम इसे पकड़ कर भी नहीं पकड़ पाते क्योंकि शायद हममें और हमारी काव्य-सम्बन्धी धारणा में कुछ ऐसा ग़लत है और रहा है जो उसके प्रति अन्धा रहा है। न केवल अन्धा रहा है बल्कि उस अन्धेपन को जाने-अनजाने ढकता रहा है। धूमिल हमारी सामूहिक चेतना के उन अन्धे धब्बों को उजागर करने की कोशिश करते हैं और उन्हें लगता है कि "नंगापन अन्धापन होने के खिलाफ़ एक सख्त कार्रवाई है।" इसका मतलब यह हुआ कि उपरोक्त कवियों में उन्हें आत्म-सुरक्षा की चालाकियाँ दीखी हैं (जोकि राजकमल चौधरी में उन्हें नहीं दिखाई देतीं)। इस मानसिकता को उन्होंने 'डरा हुआ हिन्दू' 'नफ़रत का डरा हुआ बिन्दु' और 'कायर दिमाग़' करके परिभाषित किया है। हम भले ही अपने इस मूल्यांकन को मानें, न मानें, उनका कहना है कि ऐसी मानसिकता की जो अभिव्यक्ति होगी, वह एक राहत भर होगी वास्तविक आत्माभिव्यक्ति नहीं। मुक्तिबोध ने हमारी कविता में निहित और सक्रिय 'जड़ीभूत-सौन्दर्याभिरुचि' पर प्रहार किया था। धूमिल ने भी कुछ कवियों की चालाक आक्रामकता पर व्यंग करते हुए लिखा है: "तितली के पंखों में पटाखा बाँधकर भाषा के हलके में कौन-सा गुल खिला दूँ?"

हमें रघुवीरसहाय और श्रीकांत वर्मा के काव्य-संसार की याद बरबस हो आती है जब हम धूमिल की कविता में इन पंक्तियों पर आते हैं:—"अपने बचाव के लिए / खुद के खिलाफ़ हो जाने के सिवा / दूसरा रास्ता क्या है?..." हमें लगता है कि उन कवियों पर ही कवि ने अपने व्यंग की धार तेज़ की है। धूमिल की कविता की केन्द्रीय समस्या है—'सही शब्द चुनने का डर'। यह सही शब्द क्या है जिसे यह चरितनायक नहीं चुनता? जोकि उसे और उसके परिवेश को काव्य-संभव बना देगा? क्या उसकी चिंता वास्तव में इस सही शब्द के द्वारा अपने 'खुद' को और अपने परिवेश को काव्य-संभव बनाने की है? इस प्रश्न का उत्तर देने से पहले हम देखें कि वह क्या चुनता है?

"मैं एक डर चुनता हूँ
सबसे हल्का, सबसे बारीक, सबसे मुलायम
कम अज़कम जिससे मैं खुद को बाँध सकूँ
जुआ तोड़कर भागते हुए शब्दों को
कविता में बाँध सकूँ"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह बिम्ब हमें क्या देता है ? यों तो एक अतिव्याप्त अर्थ में हर कवि कविता में यही काम करता है और हर अभिव्यक्ति शब्दों के अनुशासन के जरिए ही संभव होती है। पर इस सपाट अर्थ में निश्चय ही यह बिम्ब यहाँ नियोजित नहीं है। पशु अपने-आप में सभ्यता की व्यवस्थाओं से स्वतन्त्र, प्रकृति के साथ एकतान होता है। किन्तु आदमी के द्वारा पालतू बनाया जाकर वह यांत्रिक और निरीह आचरण करता है। निश्चय ही पशु कृषिकर्म में नियोजित है और उसे बाँधकर ही धरती की उर्वरा शक्ति को उकसाया जाता है : उस तरह यह एक अनिवार्य अनुशासन है और पशु मानो अपनी स्वतन्त्र अस्मिता को भूलकर स्वेच्छा से सभ्य मानव के इस —सभ्यता को जीवित रखने वाले उत्पादन-कर्म में योग देता है। यानी उसे आदमी की खातिर पालतू और उपयोगी बनने में कोई ऐतराज़ नहीं है। किन्तु कभी-कभी पशु भी जुआ तोड़कर भागना चाहता है। उसकी पाशविक स्वतंत्रता इस पालतू सभ्यता पर हावी हो जाती है। मानो पशु याद दिला देना चाहता हो कि तुम्हें हो न हो, मुझे तो अपनी मूल प्रकृति की स्मृति अभी बनी हुई है। मैं सृष्टि के बड़े छन्द से भी बँधा हूँ। मात्र तुम्हारी सभ्यता के छोटे से छन्द से नहीं।

आखिर शब्दों को जुआ तोड़कर भागने की ज़रूरत कब और क्यों होती है। कृषि-कर्म के समानान्तर जो कवि कर्म में लगा हुआ है, उसे एकाएक लगता है कि ये शब्द एक निरीह यांत्रिक ढंग से चल रहे हैं और जिसे वह अपना 'अर्थ', अपनी अभिव्यक्ति समझ रहा है, वह दरअसल दूसरों की ही पिटी-पिटाई लीक है। वाक्शक्ति से मौलिक काम लेने के लिए उसे उसके इस पालतूपन से हटाना ज़रूरी है : उसकी लोच और स्वतन्त्रता को वापस लाने के लिए। यह स्वतंत्रता और लोच विवेकहीन यांत्रिक उपयोग से कुण्ठित होती है और यह कवि का ही काम है कि वह "भाषा की इस संकुचित होती हुई सार्थकता की केंचुल फाड़कर उसमें नया अर्थ भरे।" फिर से उसे सारगर्भित करे। वैसे यह जुए वाला रूपक बहुत मौज़ूं नहीं है क्योंकि कवि भाषा का स्वामी नहीं, बल्कि सेवक है और इस रूपक में सेवकाई की कम, स्वामित्व की गंध ज़्यादा है। तो भी इसी के हिसाब से अपनी बात आगे बढ़ाएँ, तो कहना होगा कि समस्या यह नहीं है कि कवि उन जुआ तोड़कर भागते हुए शब्दों को कविता में कैसे बाँधे। ज़रूरत इस बात की है कि वह कैसे उनका अनुसरण करे और उन्हें जंगल की स्वतन्त्रता में से ताज़ा होकर आने दे।

मगर इस कविता के चरितनायक की समस्या इन भागते हुए शब्दों को कविता में बाँधने की ही नहीं, बल्कि खुद को बाँधने की भी है और उसकी आत्मग्लानि यह है कि वह उस खुद को एक डर से बाँध रहा है। यह 'खुद' क्या है ? 'नफ़रत का डरा हुआ बिंदु'। नफ़रत और डर दोनों नकारात्मक आत्मस्थितियाँ हैं और नकार में आदमी जी नहीं सकता। इसलिए वह किसी चीज़ से बँधना चाहता है। मगर वह उस चीज़ ('सही शब्द') से भी डरता है। उसकी बजाय वह एक सबसे बारीक, सबसे मुलायम डर को चुनकर ही अपनी ईमानदारी और साहसिकता को प्रमाणित करना चाहता है। कविता का व्यंग यही हो सकता है कि यह आत्मरति है, आत्मछल है और पाठक के साथ भी छल है; वास्तविक साहस और ईमान नहीं। पर तब पहला प्रश्न यही दिमाग में उठता है कि यह सही शब्द क्या है ? जिसका न चुना जाना इस कविता की केन्द्रीय झुँझलाहट है। तब ये समापक पंक्तियाँ हमारा ध्यान टिकाती हैं :—"फिर भी मैं अंत तक आप को सहूँगा / वादों की लालच में / आप जो कहोगे / वह सब करूँगा / लेकिन जब हारूँगा / आपके खिलाफ़ खुद अपने को तोड़ूँगा / भाषा को थूकते हुए सारी घृणा के साथ / अन्त में कहूँगा, सिर्फ इतना कहूँगा / हाँ हाँ मैं कवि हूँ / कवि याने भाषा में भदेस हूँ / इतना कायर हूँ कि / उत्तर प्रदेश हूँ।....." ये पंक्तियाँ क्या कहती है ? 'इस क़दर कायर हूँ कि उत्तर-प्रदेश हूँ।" यह पंक्ति क्या उस कायरता का अर्थ निर्धारित नहीं कर देती जिस पर चोट करना इस कविता का अभीष्ट जान पड़ता है ? उत्तर-प्रदेश की कायरता एक खास संदर्भ की ही कायरता होनी चाहिए वरना वह अमूर्तन हो जाएगा। स्वाभाविक रूप से हमें यही लगता है कि वह राजनीतिक कायरता ही हो सकती है वर्तमान अस्थिरता के सन्दर्भ में। क्योंकि यों तो वह कायरता का नहीं, बल्कि एक लड़ाकू भाषा का गढ़ रहा है। धार्मिक, राजनीतिक आन्दोलनों का गढ़ भी रहा है। तो उत्तर प्रदेश की आखिर वह कौन-सी कायरता है जो बंगाल की नहीं है, बिहार की नहीं है, मध्यप्रदेश की नहीं है, केरल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की नहीं है ?.....और "कवि याने भाषा में भदेस हूँ" का क्या तात्पर्य है ? निश्चय ही यह उत्तरप्रदेश का तुक नहीं है। क्या कवि का आशय यह है कि ये सारे कवि जो व्यवस्था को तोड़ने की बजाय खुद को तोड़ रहे हैं और परम पाखण्ड के साथ शहीदाना कविताएँ लिखते हैं और भाषा को रचते नहीं, थूकते हैं, ये लोग सिर्फ भाषा में भदेस—अर्थात् कुत्सित-वल्गर—हैं, वास्तव में भदेस—अर्थात् स्वदेशी, खरे देसी नहीं हैं ? पता नहीं कवि का आशय क्या है।

रघुवीरसहाय की पंक्तियाँ स्मरण आना स्वाभाविक है। "न टूटे, न टूटे तिलिस्म सत्ता का / मेरे अन्दर एक कायर टूटेगा टूट / मेरे मन टूट एक बार सही तरह / अच्छी तरह टूट। मत झूठमूठ ऊब मत रूठ मत ऊब सिर्फ टूट /....." अपने को तोड़ने की बात यहाँ भी है। 'कायर' शब्द भी मौजूद है। तो क्या धूमिल का आक्रोश इसी पर है ? मगर रघुवीरसहाय की लड़ाई भी तो 'आत्महत्या के विरुद्ध' है। क्या खुद के खिलाफ हो जाना हमेशा अपने कायरतापूर्ण बचाव के लिए ही होता है ? जैसा कि धूमिल की कविता कहती है। क्या बॉदलेर का आत्मपीड़त उसकी सर्जनात्मकता का अनिवार्य अंग नहीं है ? फिर वह विद्रोही कवि क्यों कहलाता है ? क्या संत कवि भी उस तरह खुद के खिलाफ नहीं होते ? हो सकता है कि अपनी उक्ति का इतना अर्थ-विस्तार कवि को अभीष्ट न हो। तब वह ऐसे अतिव्याप्त सामान्यीकरण अपनी कविता पर क्यों लादता है ? शायद यह प्रश्न निरर्थक है। क्योंकि कवि जो कहना चाहता है, वही कह रहा है। और उसकी समस्या उस 'आत्म' को, 'खुद' को परिभाषित करने की न होकर उसे एक स्पष्ट और निश्चित राजनीतिक कर्म में नियोजित करने की है। यह भी साफ है कि वह सामाजिक विवेक-चेतना से सम्बद्ध कर्म, और व्यक्तित्व तथा अस्तित्व के संघर्ष से जुड़ी हुई सर्जनात्मकता के बीच कोई अलगाव नहीं देखता और जिन कवियों में यह दुहरी चेतना सक्रिय है, मसलन रघुवीरसहाय में, उन्हें वह अप्रासंगिक ही नहीं, कहीं-न-कहीं एक बुनियादी ईमानदारी से स्खलित भी समझता है।

यह विश्लेषण पर्याप्त नहीं है बल्कि कहना चाहिए यह चर्चा और अधिक निकट विश्लेषण माँगती है। किन्तु इस लोभ को संवरण करना ही उचित होगा क्योंकि लेख सुरसा के मुँह की तरह अन्धाधुंध फैलता ही जा रहा है और हम भूल गए हैं कि हमने कहाँ से छलाँग लगाई थी और कहाँ पहुँच रहे हैं। हमने शुरुआत यहाँ से की थी कि भाषा का सम्बन्ध आदमी के व्यक्तित्व से ही नहीं, उसके अस्तित्व से भी है। और अस्तित्व की चेतना का आरम्भ आत्मतुष्टि के विघटन से होता है। आज की कविता में हमें इस आत्मतुष्टि के विघटन का दृश्य तो दिखाई देता है और ऐसा भी लगता है कि हमारी भाषा में—शब्दों में—अनुभव की वही अराजकता संक्रमित होती जा रही है, जो संस्कृति का गुरुत्वाकर्षण खत्म हो जाने पर पैदा होती है। हम यह भी देख सकते हैं कि हमारे कवियों में व्यक्तित्व की अपर्याप्तता या नगण्यता का विचलित करने वाला बोध भी सक्रिय है। किन्तु क्या वह सचमुच हमें उसके आधारों की जाँच-पड़ताल करने को विवश करता है ? क्या वह इस अराजकता के सार्थक प्रतिकार के लिए अपने व्यक्तिगत और सामूहिक अस्तित्व की उस सर्जनात्मकता की तलाश कर रहा है जिसकी बात हमने लेख के बीच में उठाई थी ? कहीं ऐसा तो नहीं कि आज का कवि भी कविता की बजाय कवि-व्यक्तित्व की ही चिन्ता में ज्यादा मशगूल है ? और कविता से वे सारी उम्मीदें करने लगा है जो उन कवियों ने भी नहीं की थीं, जिनके विरुद्ध उनका विद्रोह इतना मुखर है !

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कविता : सही भाषा की तलाश

विजेन्द्र

मेरे विचार से सवाल ही गलत गलत जमीन से उठाया गया है। आखिर यह सवाल किससे है ? समीक्षक से या कृतिकार से ? क्योंकि दोनों को ही इससे अलग-अलग जूझना पड़ेगा। यानी समीक्षक से यह सवाल है तो इसका मतलब होगा कि हम कृति तक पहुँचने के लिए एक रास्ता तलाश कर रहे हैं। शायद कृति की जटिल प्रक्रिया, उसकी आंतरिक संरचना और उसके पीछे कृतिकार के सृजन-श्रम को आँकने के लिए इससे ज्यादा सुगम, सार्थक और तर्क-संगत अन्य रास्ता न हो। बहरहाल। अगर यह सवाल कृतिकार से है तो उसकी कोई तात्कालिक अहमियत इस रूप में नहीं। आखिर क्यों ? क्योंकि कृतिकार का सीधा-सीधा सामना भाषा से नहीं होता। मैं कहूँ सामना ही नहीं होता। यह भाषा का 'मोहक छल' है जिसे हम 'वास्तव' मान बैठे हैं। वरना 'वास्तव' तो है वस्तुस्थिति : आदमी की ज़िन्दगी और उसका समूचा सक्रिय परिवेश जिससे हम किसी-न-किसी स्तर पर जूझते हैं। और उसमें से हम नए अन्तर्विरोध, नई अनुगूँजें तलाश करते हैं। जब मैं जूझता हूँ तब भाषा वहाँ नहीं होती वहाँ समूचा शरीरतंत्र (आर्गेनिज़्म) उलझा हुआ होता है। असंख्य कोशाणु, शिरायें, उपशिराएँ, दिमाग़ और कल्पना। और स्वभावतः मैं उस स्थिति से उभरने की कोशिश में भी होता हूँ। कृतिकार का यही सृजन-व्यवहार उसे किसी खास तरह से सोचने को मोड़ता है और भाषा उसका अनुधावन करती है। वह इस समूचे सृजन-व्यवहार के दौरान हमारे दायें-बायें अस्त्र की तरह प्रस्तुत रहती है। मैं जिस तरह चाहूँ उसका इस्तेमाल करूँ : उसको सिरजूँ। यानी वह भी इस सारे सृजन-व्यवहार का एक अंग है, उससे अलग नहीं। लेकिन मुझसे उसका सीधा सामना न होकर सामना होना है 'बात' से : ऐसा सामना जहाँ वे एक होते हैं और उनका अलग होना सिर्फ एक 'छल' लगता है। भाषा का मोहक छल। यही वजह है कभी-कभी हम कविता में "छलांग" का रिश्ता छलांग से नहीं छोड़ पाते। "दीवार पर उगी घास" कविता में भिन्नार्थक होती है। यहाँ तक कि एक भाषा में एक ही शब्द अलग-अलग अर्थ देता है और अनेक शब्द एक ही चीज़ को व्यक्त करते हैं। यही भाषा का मोहक छल है जो हमें जाने अनजाने भ्रमाता है। इसी मोहक छल को गलत ढंग से आगे बढ़ाने की गरज़ से कुछ लोगों ने यह कहना शुरू किया कि भाषा विचार से और विचार यथार्थ से अलग है। शब्द अन्धाधुन्ध गढ़े जा सकते हैं। उनका सचाई से कोई सम्बन्ध नहीं। वे सिर्फ ध्वनियों का संयोजन हैं। मुमकिन है इसी भ्रम ने युवा-लेखकों को भी परेशान किया हो, जबकि शब्द किसी भी जानकारी के दौर में कुछ खास चीज़ों और घटनाओं से जुड़े रहते हैं। वे संकेतों के संकेत हैं : ज्ञानेन्द्रियों के श्रम का संघटित मूर्तरूप। यही वजह है वे हमें सक्रिय करते हैं।

जहाँ तक मुझे ध्यान है, हस्ताक्षर (१९७०) द्वारा आयोजित युवा लेखक समारोह में भी भाषा का सवाल उठाया गया था जिसका नतीजा कुछ नहीं निकला। क्योंकि ज्यादातर लोगों ने भाषा को अलग से कोई चीज़ मानकर सारी बातें कहीं और सवाल को अन्धेरे गर्त में डाल दिया जब कि उम्मीद थी कि पूरे युवा लेखन को एक दिशा मिलेगी। अगर हम भाषा की खोज से कोई सवाल शुरू करते हैं तो यही खतरा उठाना होगा। विशेषतः कृतिकार से यह प्रश्न करने में कोई दूरगामी परिणाम नहीं निकलेगा। इसलिए कविता के सन्दर्भ में सही भाषा की खोज वाले सवाल को प्रस्थान बिन्दु न मानकर उस सवाल से जुड़े अनेक बुनियादी सवालों पर जाना होगा। सबसे पहले यह तय करें कि यह सवाल कृतिकार से है या समीक्षक से ? और दोनों के अलग-अलग जवाब सुनने को हम

पटना युवा लेखक सम्मेलन, दिसम्बर १९७० में पठित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तैयार रहें। कोई भी कृतिकार इस सवाल का जवाब शायद सीधे-सीधे न दे। मुमकिन भी नहीं। क्योंकि वह उसकी तात्कालिक अनिवार्यता न होकर सम्पूर्ण सृजन-व्यवहार का एक अविच्छिन्न अंग है।

कृति के मूर्त्त रूप में (लिपिबद्ध) आने से पूर्व कृति कहाँ है? उसके सृजन स्रोत? कच्चा माल कहाँ बिखरा है? उन खनिज भण्डारों का हमने पता लगाया या नहीं? उस कच्चे माल का उपयोग मुझे कैसे करना है? कृति की समूची संरचना, जिसमें भाषा भी शामिल है, यहीं से संचालित होती है।

मैं क्या करना चाहता हूँ? मेरे सृजनशील होने की भूमिका यही है। अगर मुझे एक कृति देनी है जो मेरे युग के जीवित आदमी और उसके परिवेश को व्यक्त करे तो मुझे समाज के अन्दर तक जा-जाकर उन्हें समझना होगा। वहाँ की नंगी सचाई को देखना-परखना होगा। उन लोगों की जुबान सीखनी होगी। वे सारे ज़िन्दा लोग कौन हैं? क्या करना चाहते हैं? उनकी इच्छाएं और कुण्ठाएँ क्या हैं? वे किसके खिलाफ़ संगठित हैं? उनकी सौन्दर्य-चेतना क्या है? मेरी कृति के स्रोत यहीं हैं और सही भाषा की खोज का सवाल भी यहीं से उठेगा।

युवा लेखन ने भाषा को एक नया तेवर दिया। यह सहसा घटित नहीं हुआ। दरअसल यह एक नये आदमी की लड़ाई में शरीक होने के इरादे का अंजाम था जिस आदमी को "सप्तकों" की परम्परा ने सिर्फ छूकर रेशमी कपड़े से ढक देना चाहा और भाषा को सिर्फ जड़ाऊ बनाने की गरज से उसे चमकाते रहे। साफ है कि हम किसी इन्सानी उथल-पुथल में शामिल न होकर महज़ किनारे-किनारे थे। युवा लेखक ने उसकी लड़ाई में शरीक होने को ही अपना कवि-कर्म माना। यह तीव्रता से महसूस किया गया कि जब तक हम अपना व्यवहार और इरादे नहीं बदलेंगे तब तक हम कविता में जो बात जिस सफाई और साहस से कहना चाहते हैं, नहीं कह पायेंगे। यह नया आदमी कौन है, जिसने हमारे अहसास को बिल्कुल उलट दिया? उसका जन्म नया नहीं है वह पूरे इतिहास के गर्भ में आग की तरह सक्रिय रहा है। दूसरी बात है हमने उसकी ओर नहीं देखा। बहुत पहले निराला ने इस नए आदमी की लड़ाई में शरीक होकर हथोड़े से बार-बार प्रहार किया था। यह कविता से ज्यादा इस बात की ओर इशारा था कि एक नया आदमी पैदा ही नहीं हुआ बल्कि वह उस "अड़गड़े" को तोड़ने के लिए क्रियाशील है। यहाँ यह बताना प्रासंगिक है कि वही निराला वेदान्त की समस्याओं में भटक कर अड़गड़े को तोड़ने वाली भाषा से दूर होते रहे हैं। साफ है निराला को किसी नई भाषा की खोज की चिन्ता नहीं थी। चिन्ता थी उस अड़गड़े को तोड़ने की: उस गढ़े हुए आदमी की भास्वर कोशिश में हाथ बटाने की। निराला नये जीवन की खोज में एक ऐसी भाषा रच रहे थे जो आगे चलकर युवा लेखन का भी औज़ार बना। यह बात "कुकुरमुत्ता" से और ज्यादा साफ होती है। यहाँ उस नए आदमी का ऐतिहासिक-द्वंद्व और ज्यादा मुखर है। उसके विदोहन की पीड़ा और जीने की ललक और ज्यादा तीव्र है। हमें लगेगा यह संसार तो दूसरा है। इसे हम पसन्द नहीं करते। उस तक हम आना भी नहीं चाहते। वह हमारे पेट में डूबक मारता है। हमारे गोड़ रंगसता है। कंधे छीलता है। जो एक खुरदुरी, बदसूरत और बदमज़ा दुनिया है। हम जहाँ खौफ से चीखने लगते हैं। जहाँ अजनबी हैं। हम अपनी कायरता को छुपाते हैं। और उस भयानक यथार्थ से आँख न मिला सकने के कारण भाषा या अभिव्यक्ति का संकट महसूस करते हैं। दरअसल संकट तो उस जलते यथार्थ से मुँह-दर-मुँह होने का है। कृतिकार को सृजन-स्तर पर यह सबसे बड़ी चुनौती है। हम उसे स्वीकारें या स्वाँग रचकर टाल दें। निराला ने इस चुनौती को सबसे पहले स्वीकारा और जिसे आज के कतिपय युवा लेखक "जहन्नुम", "नरक", "पशु-लोक", कहते हैं उसमें उन्होंने धँसान बनाई:

बाग के बाहर पड़े थे झोपड़ें
दूर से जो दिख रहे थे अधगड़े।
जगह गन्दी, रुका, सड़ता हुआ पानी
मोरियों में, ज़िन्दगी की लन्तरानी
बिलबिलाते कीड़े, बिखरी हड्डियाँ
सेलरों की, परों की थी गड्डियाँ
कहीं मुर्गी, कहीं अण्डे,
धूप खाते हुए अण्डे।
हवा बदबू से मिली
हर तरह की बासीली पड़ गई।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रहते थे नव्वाब के खादिम
अफरिका के आदमी आदिम—
खानसामा, बावर्ची और चोबदार.
सिपाही, साईस, भिश्ती, घुड़सवार,

नाई, धोबी, तेली, तम्बोली, कुम्हार,
पीलवान, ऊँटवान, गाड़ीवान,
एक खासा हिन्दू-मुस्लिम खानदान ।
एक ही रस्सी से किस्मत की बयाँ

काटता था जिन्दगी गिरता-सधा ।
बच्चे, बूढ़े, औरतें और नौजवान
रहते थे उस बस्ती में, कुछ बागवान
पेट के मारे वहाँ पर आ बसे
साथ उनके रहे, रोये और हँसे ।

("कुकुरमुत्ता" : नया संस्करण,
पृ० ४९-५०

यहाँ लगेगा भाषा एकदम गचका ले गई । लेकिन क्यों ? निराला ने उस नई ज़िन्दगी को उघाड़ा जिसे आज तक हम जानते न थे। यहाँ यह भी लगेगा कि जिस ज़िन्दगी को तथाकथित प्रगतिशील कवि चीख-चीखकर कह रहे थे, निराला उसी ज़िन्दगी को खोद-खोदकर, झाड़-पोंछकर और फूंक-फूंककर रच रहे थे। उन्हें ध्यान था कि गीली मिट्टी से जड़-समेत उखाड़े पौधे की तरह उनका एक-एक रेशा मिट्टी में सना दिखे, वह ज्यों-का-त्यों हो : जीवन्त और सक्रिय। हाँ, कूर छाया से दब जाने के कारण फिल-हाल निष्प्रेम, लेकिन फीकी नम ज़मीन में लगा देने पर वह फिर चिहा उठेगा। अपनी पूरी ताकत से बोलेगा। जिस भाषा से निराला ने १९२२ में, निहायत नाजुक और लजीला काम लिया उसी भाषा में अब खूँखार पंजे उग रहे थे। जो आदमी अब तक "नाव का तला नीचे और ऊपर पाल" या "हाँडी से लगा पल्ला" था उसको उकसाकर निराला एक पैना हथियार उसके हाथों सम्भला रहे थे जिससे कि वह "कलजुगी ढाल" बनकर कह सके :

अबे, सुनबे,—
भूल मत—
खून चूसा खाद का तूने अशिष्ट
... ... (पृ०-३४-४०)

तू है नकली—
तू है बकरा—
तू रंगा—
तूने दुनिया को बिगाड़ा
तूने रोटी छीन ली जनखा बनाकर——

("कुकुरमुत्ता", पृ०-४१)

इससे यह भी ज़ाहिर है कि निराला (१९३७ में) जो "हिन्दी के सुमनों के प्रति पत्र" में कह गये थे आज सच हो रहा है :

"मैं हूँ केवल पद तल आसन,
तुम सहज बिराजे महाराज,
ईर्ष्या कुछ नहीं मुझे, यद्यपि
मैं ही इस वसन्त का अग्रदूत"—

यानी आज जिस भाषा और सपाटबयानी के लिए इतनी व्याकुलता से हम आन्दोलित हैं उसकी धँसान निराला बहुत पहले बना चुके थे। मैं मानता हूँ हमने उसे विस्तार और व्यापकता दी। निराला ने बहुत बड़ा जोखिम उठाकर उस भाषा और अन्दाज़ को कविता में स्वीकृत कराया। परम्परित भाषा के विरुद्ध खड़े होने पर उन्हें कहना पड़ा, "अर्थ-समस्या में निरर्थकता को समूल नष्ट करना साहित्य और राजनीति का कार्य है। बाहरी लदाव हटाना ही चाहिये...इस पद्य में अप्रचलित शब्द नहीं।" (आवेदन, "कुकुरमुत्ता")। यहाँ भाषा एकदम गलियारे में कैसे आ गई ? क्या निराला यहाँ नितान्त दूसरे सवालों से नहीं जूझ रहे थे ? एक ओर वे अप्रतिहत जूझ रहे थे दूसरी ओर हमें भाषा की नई आँख मिल रही थी। "खून की होली खेल कर" एक नया आदमी ऊपर उठ रहा था। वह आदमी था महगू, लकुआ, बदलू, 'गोड़इत, लछमिन, रघुवर, मन्नी कुम्हार, कुल्ली तेली, भकुआ चमार, आदि जो पहली बार कविता में खूँद की तरह उठ रहा था। और निराला उनके बीच उन्हीं के पक्ष के लिए लड़ रहे थे। उन्हीं की भाषा बोलते थे। उन्हीं की तरह थे अपमानित, उपेक्षित और प्रताड़ित। अपनी अस्मिता को खोकर ही वे उन्हें तलाश रहे थे और अपनी अस्मिता अलग से बना रहे थे। देखने की बात है कि तारसप्तक, (१९४३) (जिसे हम नई, शुरुआत मानते हैं), से पूर्व ही एक सही भाषा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खोज ली गई थी : धारदार, सपाट और किसानू। लेकिन आगे चलकर इसी भाषा को कविता में ज़मीन दी त्रिलोचन, केदारनाथ अग्रवाल, नागार्जुन और मुक्तिबोध ने। त्रिलोचन अकेले कवि हैं जिन्होंने यह साबित किया कि कविता उन असंख्य अपराजितों की भाषा है :

"···जिनकी
साँसों को आराम नहीं था, और जिन्होंने
सारा जीवन लगा दिया कलमष को धोने
में समाज के, नहीं काम करने में धिन की
कभी किसी दिन।—

(दिगन्त : पृष्ठ ६४)

निराला में जो महगू कहता है कि "हमारे अपने यहाँ बहुत लोग छिपे हैं," वे सारे "अपने लोग" त्रिलोचन में "मुक्ति-कामना लेकर लड़ने वाली जनता" बन गए हैं। यही वजह है त्रिलोचन की "भेड़ियाधसान" तोड़ने वाली भाषा गचका नहीं देती। वह अब "इनकलाब के नारे की" भाषा है। "दीवारों को कँपाने वाली" और "भूखे-दूखे" के मुँह से गरजने-तरजने वाली। वह उन्हीं के मुँह से कड़कती है जो :—

"जीवन के लिये लगाकर अपनी बाजी
जूझ रहे हैं, जो फेंके टुकड़ों पर राजी,
कभी नहीं हो सकते हैं···"

जिनमें आदमी का भविष्य प्रतिबिम्बित है। जिनके बीच क्रांति उग रही है। जो एक व्यक्ति नहीं "समूचा लड़ता हुआ समाज" है। त्रिलोचन उनके बीच "नये चित्र के साथ" नई भाषा दे रहे हैं—कविता और उसकी सही भाषा।

भाषा का जन्म एक अस्त्र के रूप में हुआ। सबसे पहले आदमी ने उस अस्त्र से निबिड़ मौन को तोड़ा। उसी समय से उसने हमें अधिक क्रियाशील और प्रभावी बनाया। लिहाज़ा मौन सिर्फ उस स्थिति का सूचक है जब भाषा न थी। क्योंकि भाषा के जन्म के बाद से मौन द्वारा क्रिया का प्रतिस्थापन आज तक नहीं हो पाया। लगता है मौन, (अगर कोई स्थिति है तो), से पहले क्रिया तो थी। उसी सतत् क्रिया ने विरोधी क्रियाओं को जन्म दिया। ध्वनि, शब्द, भाषा, लय, ताल, अनुगूँज आदि सभी उसी क्रिया और प्रतिक्रिया का ही प्रतिफल हैं। फिर यह कविता की भाषा के संदर्भ में मौन कैसा ? सैम्युल बैकेट का एक उपन्यास है "द अन्नेमेब्लि" जिसे फ्रांसीसी लोगों ने कहा है "अनरीडेबिल",—उसका एक वाक्य है, "मौन ही श्रेयस है : हालाँकि हमें जानना होगा कौन-सा मौन।" बैकेट भाषा को इस कृति में निस्तेज बना रहे हैं। यह भाषा का सृजन नहीं अवमूल्यन है : आदमी का भी। लगता है यहाँ हमारी सभी सम्भावनाएँ चुक गई हैं। इस निस्तेज भाषा का स्रोत है बैकेट का यह नकारवादी दर्शन, "नकार ही चरम यथार्थ है।" देखने की बात है कि मौन को सार्थक बनाने के लिये भी उन्हें बोलना पड़ा। इसी तरह निराला ने "राम की शक्ति-पूजा" में मौन को क्रिया से जोड़ ओजस्वी बनाया : उससे भाषा को व्यंजना दी। भाषा का मौन इसी रूप में मान्य हो, तो हो :

"मौन में रहा यों स्पन्दित वातावरण विषम"

इससे साफ है कि मौन अपने-आप में कोई स्थिति नहीं फिर इसके द्वारा दार्शनिक ज़हर क्यों ? यहाँ अज्ञेय का कथ्य चिंत्य है। उनके इसी "महामौन" का प्रतिफल है "असाध्य वीणा" : एक ह्रासोन्मुखी कला की प्रतीक कथाकृति। चूँकि डा० नामवर सिंह ("कविता के नये प्रतिमान") उसके बारे में पर्याप्त कह चुके हैं, पर इतना ज़रूर है कि यहाँ जिस भाषा से एक खतरनाक समय में अज्ञेय आदमी को सुलाने के लिए संचेष्टित हैं :

"मैं तो डूब गया था स्वयं शून्य में
महा शून्य
वह महामौन
अविभाज्य, अनाप्त, अद्रवित, अप्रमेय
जो शब्दहीन"

वहीं दूसरी ओर मुक्तिबोध की इन पंक्तियों को पढ़कर रोंगटे खड़े होते हैं। पसीना आता है। भाषा और आदमी की ताकत का अंदाज़ लगता है :

"कोशिश करो
कोशिश करो
कोशिश करो
जीने की—ज़मीन में गड़कर भी..."

मैं यह नहीं कहता कि इन दोनों कवियों के कथन मात्र से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हम अपनी कोई राय कायम करें क्योंकि कविता मुक्तिबोध की इन पंक्तियों में भी लचर है। लेकिन समूची कविता के संदर्भ में एक नाटकीय प्रभाव से परिपूर्ण। कोई कवि क्या कहता है इससे ज्यादा ज़रूरी है कि वह अपने कहने का असर क्या छोड़ता है। समूची "असाध्य वीणा" का असर है : "एक निष्प्राण चेतना"। जबकि मुक्तिबोध की कविता पढ़ते समय जीवन क्रियाओं के विषम-से-विषम चित्रों की शृंखला हमें आन्दोलित करती चलती है। पाँव जलते हैं। सिर फटता है। आदमी कुचले जाते हैं। लेकिन अंत में अहसास होता है : आदमी ज़िन्दा है। अपने बल से पराजित-अपराजित है। वहाँ न महा-मौन है और न महा-शून्य। लगता है "मौन" कहकर एक गलत शब्द से सचाई की आँख फोड़ी गई है। खतरे की बात यह है कि इसी "महामौन" की छूत, विडम्बना की आड़ में, युवा लेखकों तक आ पहुँची है—

मैं रहूँगा मौन और निष्पंद—
—एक शून्य में जीता हुआ
कर रहा हूँ महा नाश की प्रतीक्षा—
—निठल्ला और उदास
(जगदीश चतुर्वेदी : "सिर्फ"—३)

भाषा से हम सार्थक काम तभी ले सकते हैं जब अपने पूरे शरीरतन्त्र के साथ स्थिति से जूझ रहे हों। जहाँ जैसी क्रियाशीलता होगी भाषा तदनुरूप असर देगी। कई बार हम आम आदमी का मुहावरा देने का स्वाँग धरते हैं लेकिन क्रियाशील होते हैं कहीं और। भाषा यहाँ दूसरा छल करती है। कविता का अर्थ पकड़ने में यह छल आड़े आता है। मसलन "असाध्य वीणा" में अज्ञेय ने "ओले की कर्री चपत", "लोहे पर सधे हथौड़े की सम चोटें" या "चमरौधे की रुँधी चाप" आदि वाक्य-खंड में संघर्षशील आदमी की ज़िन्दगी से जो मुहावरा उठाया गया है वह आदमी वहाँ नहीं। वह हो ही नहीं सकता, जब तक हम अपनी पूरी अस्मिता खोकर उसके साथ-साथ न हों। निराला जिस आदमी की भाषा इस्तेमाल करते हैं वह आदमी कविता में उतना ही ज़िन्दा है जितना जीवन में। एक जीवित, एक नई खौफनाक भाषा की पहचान हम निराला की "महगू महँगा रहा", "डिप्टी साहब आये", "कुत्ता भौंकने लगा" और "कुकुरमुत्ता" से कर सकते हैं। एक संवाद इस प्रकार है :

"गोड़इत कह रहा है,
"अहिर के मूँसर, ये दई के दूसर हैं"
उनके साथ और अफसरान हैं
जैसे दारोगाजी,
बीस सेर दूध दोनों घड़ों में जल्द भर।"
"अरे भाई, सुन तो लो", बदलू कह रहा है
"हम भी देख रहे हैं, लछमिन का बाग है,
× × ×
तुम भी कुछ कहोगे ?"
"जानता नहीं है वे"
गुड़इत ने पैर रोपा,
"जमींदार के हैं हम,
मालिक का भला जहाँ, वहाँ हमारा भला।"
जमकर बदलू ने बदमाश को देखा, फिर—
उठा क्रोध से भर कर
और एक घूँसा तानकर नाक पर दिया—

तब तक बदलू के कुल तरफदार आ गए—
मन्नी कुम्हार, कुल्ली तेली, मकुआ चमार,
सनूच्छी नाई, बली कहार, कुल टूट पड़े—

यहाँ जगदीश चतुर्वेदी, सौमित्र मोहन, मौना गुलाठी, श्रीकान्त वर्मा. रघुवीरसहाय तथा कैलाश वाजपेयी जैसी मसूनई क्रान्ति नहीं है। न यहाँ नकार है, न मुद्रा। यहाँ वही आदमी बोलता है जिसके बारे में कविता है : निराला नहीं। वह इस तरह ज़िन्दा है कि एक दूसरे का लोहू पीने वाली दो व्यवस्थायें भी सजीव हो उठी हैं। इतिहास झन-झना उठा है। क्रूर व्यवस्था के जबड़े को तोड़ भविष्य बोलता है। यही वे लोग हैं जिनके बारे में महगू ने कहा था कि "हमारे अपने हैं यहाँ बहुत छिपे लोग/" "अभी अखबार उनके नाम नहीं छापते" / "ऐसा ही पहरा है।" यही लोग मुक्तिबोध में बार-बार घायल होकर मलबे के नीचे से उठ रहे हैं। त्रिलोचन में वे समूचा लड़ता हुआ समाज है। केदारनाथ अग्रवाल में वे हट्टे-कट्टे हाड़ों वाले", "चौड़ी चकली काठी काले"—"बुन्देलखण्ड के आदमी हैं।" यानी ये कवि उनकी दशा पर वक्तव्य नहीं देते बल्कि उनकी ज़िन्दगी में शरीक हैं। तभी उनकी भाषा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बोलते हैं : नये आदमी की कविता रचते हैं। लेकिन जिन कवियों ने ऐसा नहीं किया उनका मुहावरा महज़ एक मुद्रा है। मैं "आत्महत्या के विरुद्ध" के प्रसंग में सवाल उठाना चाहूँगा। यहाँ रामलाल मैकू, "खीस काढ़े खड़ा राम गुलाम", "लूले", "काने", "बहरे" सब निराला की निष्प्राण गुंजार लगते हैं। खुशी होती अगर यह गुंजार अधिक खौफनाक और तेजस्वी दिखती। लेकिन लगता है यहाँ न उनका कोई तरफदार है न हम-सफर ! कवि सिर्फ मुहावरा बोलकर एक सुनहरा जाल बुन रहा है। यह स्थिति वही है जैसे अमरीका से आने वाले हिप्पी हिंदुस्तान में डाढ़ी रखा, टाट-पट्टी पहन, विदूषक बने घूमते हैं। ऐसा मुहावरा "विदूषक मुहावरा" है। क्योंकि इससे आप कड़ी-से-कड़ी बात कहकर भी कोई खतरा पैदा नहीं करते। मुहावरा वह है जो कविता होकर दुश्मन को खतरा बने। बहुत पहले शूद्रक ने तत्कालीन समाज-व्यवस्था पर चोट कर अपने मुहावरे से खतरा पैदा किया था। निराला का "कुकुरमुत्ता" जब बोलता है, गुलाब की जड़ें हिलने लगती हैं और चेहरा बे-आब ! विदूषक मुहावरा खतरा नहीं बनता। हर सुनने वाला जानता-बूझता है कि जिस राजा की यह नकल बना रहा है उसकी झाड़ पर दाँत-निपोरने लगेगा। वह महज लुभा सकता है। गुद-गुदा सकता है। या कभी-कभी नखोट सकता है। रघुवीरसहाय का मुहावरा यही करता है। जिस जनतन्त्र की विसंगतियों को लेकर उन्होंने अपनी कृति का ताना-बाना पूरा है उन सभी विसंगतियों से तो सत्ताधारी वर्ग भी भली-भाँति परिचित है। और मंच से अपनी ही आलोचना करता है। ये व्याख्यान बयानी है जिसे कहकर आप एक जाल बुन सकते हैं और आसानी से अलग रह सकते हैं। नतीजा होता है कि हम "रामलाल" और "मैकू" को भीड़ में खोजने का ढोंग करते हैं। जो आपके लिये 'भीड़' हैं उन्हें क्या खोजना ? जबकि निराला के बाद वे पूरे हिंदुस्तान में उजागर हो चुके हैं। उन्हें पहचाने बिना हम उनके बारे में आश्वस्त होना चाहते हैं। इसीलिये रचनाओं में "वे" नहीं, "हम" बोलते हैं। हमारे पढ़े-लिखे दो-चार साथी : उनकी दी हुई टूटन : यह सब हमारा खुद का बेगानापन है :

"कितना अकेला हूँ मैं इस समाज में"

(रघुवीर सहाय)

"एक तमंचा लिये हुये रात-रात में भटका
खड़ाऊँ की तलाश में"

(कैलाश वाजपेयी)

"छोड़—दिया गया है—मुझे अनन्त काल तक—
भटकने के लिए इस प्रलाप में"

(श्रीकान्त वर्मा)

यह इसलिए होता है कि हम यथार्थ से आँख मिलाने का महज ढोंग करते हैं। राजनीतिक प्रतिबद्धता मानकर भी नहीं मानते। या फिर हम रूमानी राजनीति के शिकार बन ऐसे खतरनाक वक्तव्य देने को मजबूर होते हैं : "...इसके माने यह नहीं कि मैं 'भीड़' का कायल हूँ। मैं बदमाशों, गधों, आधे पागलों और मक्कारों के लिए एक ज़िम्मेदारी महसूस करता हूँ।" (आत्महत्या के विरुद्ध) यह भीड़ क्या है ? रूस की राज्य-क्रांति के समय पूंजीवादी देशों ने उसे "नृशंस भीड़ की बगावत कहा था।" साफ है जिसे हम भीड़ कहते हैं वह हम से अलग है। हम अगर उसी भीड़ की आँखों से अपने को देखें तो क्या लगेंगे ? दूसरे, ये "बदमाश", "गधे", "आधे पागल" और "मक्कार" कौन हैं। और हम उनके प्रति किस रूप में कोई ज़िम्मेदारी महसूस करते हैं ? मसलन :

मारो मारो मारो शोर था मारो
एक ओर साहब था
सेठ था सिपाही था
एक ओर मैं था
मेरा पुत्र और भाई था
मेरे पास आकर खड़ा हुआ राही था—

(आत्महत्या के विरुद्ध)

इतनी भर स्थिति से ज़ाहिर नहीं होता कि आप किसी भी ओर हैं। इसी से पाठक का संदेह होता है। यह वस्तु-स्थिति है। अपने पक्ष का संकेत नहीं। हम कहते हैं पक्ष बताना हमारा काम नहीं ? तो फिर राजनीति की चर्चा क्यों ? वह राजनीतिक कविता क्या है ? एक ओर हम कहते हैं, "सरकार, जो राज्य की प्रतिनिधि है, जो समाज का प्रतिनिधि है जैसी भी वह हो सकती है—अधूरी, टूटी, नकली, मिलावटी, मूर्ख—अकेला कारगर साधन भीड़

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के हाथ में हैं।" (आत्महत्या के विरुद्ध) (याद रहे ये शब्द लोहिया दोहराते थे लेकिन उन्होंने "भीड़" को हमेशा "जन" कहा या "ताकतवर जनता")। जिस जनतंत्र में हमारी इतनी आस्था है उसकी ताकत को हम 'भीड़' कह उसे ढाह रहे हैं। क्या ज़रूरी है इस व्यवस्था के तुरन्त बाद एक बेहतर व्यवस्था आये ? वर्त्तमान परिस्थितियों में वह एक फासिस्ट व्यवस्था भी हो सकती है। हम दूसरे दिन उसकी हिमायत कर सकते हैं। क्योंकि आज के अनेक वामपक्षी दल उन्हीं साम्प्रदायिक और फासिस्ट दलों के साथ बैठे हैं। हम उनके बारे में क्या कहें। जब तक रचनाओं में यह ज़ाहिर नहीं कि हम कदम-ब-कदम आम आदमी की लड़ाई में शरीक हैं तब तक हम एक छल के शिकार बने रहेंगे। निराला, त्रिलोचन, केदारनाथ अग्रवाल, मुक्तिबोध तथा नागार्जुन की रचनाओं में यह छल नहीं। इसलिए उनका ये मुहावरा संशय खड़ा नहीं करता। विदूषक मुहावरे का एक खतरा और है। यह मुहावरा विडम्बना के ऊपर टिका है। विडम्बना जीवन की कुछेक विसंगतियों का भंडा-फोड़ करने के लिए तो ठीक है लेकिन जब वह सृजनशीलता का पर्याय बनने लगता है तो इसका प्रभाव नष्ट हो जाता है। यथार्थ से आमने-सामने लड़ने की ताकत नहीं रहती। रघुवीरसहाय, श्रीकान्त वर्मा, कैलाश वाजपेयी और कतिपय युवा लेखक इसी विडम्बना के शिकार हैं। हम कब तक नकल उतारते रहेंगे ? कब तक चिढ़ाते और चिढ़ते रहेंगे ? जब तक यह कोरी निन्दा ! कोरी निराशा ! कोरा छल ! उपहास ! अब स्थिति यह है कि हमारी रचनायें हमारे झूठ पर हँसती हैं। विडम्बना जीने का लहज़ा बनी जाती है। इधर की लम्बी कविताओं का लहज़ा यही विडम्बना है। उनमें युवा पीढ़ी का विद्रोही स्वर व्यक्त होकर भी उस आदमी की तस्वीर और ताकत का अहसास नहीं होता जो हमें इस समूची विसंगत और विडम्बनापूर्ण व्यवस्था के खिलाफ़ लड़ने को प्रेरित कर रहा है। हम भंडा-फोड़ तो कर रहे हैं। लेकिन उस टूटने से जो बराबर सिरज रहा है उसका मुँह अब भी काला है। वह अब भी अँधेरे में है। हम केवल व्यवस्थावादी लफ्फाजी के प्रतीक बनते जा रहे हैं। यह महज नकार है: हर चीज़ का नकार। यह मेरी निजी टूटन हो सकती है मेरे विद्रोही युग का यथार्थ नहीं। दूसरे, प्रत्येक चीज़ का नकार हमें कहीं ले नहीं जा सकता। यथास्थिति को बनाये रखने का यह रूमानी विद्रोह है :

"मिट्टी को जूते मारते हुए मैं आत्महत्या कर सकता हूँ
अपने-आप को तोड़ने के अलावा मेरे पास कोई नारा नहीं
सारी सभ्यता का उजाला चाटकर मुझे कैंसर हो गया है
मैं न समाज हूँ न व्यक्ति न नाम..."

(लीलाधर जगूड़ी : "आलोचना", अप्रैल-जून)

या फिर

अब मैं इन्तजार से बाहर था और खिलखिलाते हुए
धीरे-धीरे जलता दृश्य देख रहा था वह खिड़की पर अंडे
सेती कबूतरी का। कुत्ते के जमीन रौंदने का। और मासिक
धर्म का कपड़ा बदलती हुई पत्नी का।

(सौमित्र मोहन : "सिर्फ" २)

ये हम किससे कह रहे हैं ? यह हमारे बीच हमारी घुटन है। लिहाजा भाषा निष्प्राण हो रही है। बात का कोई असर नहीं होता। युवा लेखक के सामने इससे ज्यादा दर्दनाक स्थिति और क्या होगी कि जिस हथियार से उसने वार किया उसका वह खुद शिकार हुआ जाता है। मैं यह नहीं कहता कि पूरा युवा लेखन इसी नियति से जुड़ा है। उसके विद्रोही तेवर, ज़िन्दा मुहावरा और सृजन-शीलता को पूरी आस्था से स्वीकारते हुए यह महज़ खतरों की ओर इशारा है। जिस युवा लेखन ने निराला और त्रिलोचन की भाषा को लोकव्यापी ज़मीन दी वह अपनी तेजस्विता को न खोये ! यह तभी सम्भव है जब हम उस उठे आ रहे आदमी का हाथ कसकर पकड़ लें। उसके खून की गर्माहट का अहसास हो। जिन युवतर रचनाओं को उसका अहसास हुआ है उनकी भाषा अपने-आप बोलती है। हमारा श्रेयस वही है। कविता विद्रोही आवाज़ बोले, ज़रूरी नहीं। पर वह आज की सारी जटिलताओं के बीच ज़िन्दा आदमी की पहचान करा सके, यह ज़रूरी है :

उसके आते कदमों की आहट
अब साफ-साफ सुन पड़ने लगी है
भारी स्थिर पदचाप-गुँजीली—
लगातार नज़दीक आती :

× × ×

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अब मैं जम्हाई भी संभाल कर लेता हूँ :
वह कहीं पास है

× × ×

अंधेरे में पसरी आकृतियों पर
उसने थोड़ी धूल थूक दी है
बस
और लगातार बढ़ रहा है
मेरे आमाशय से ऊपर
उठ चुका है उसका सर

× × ×

वह कहीं करीब है
अपनी पतली गाँठिल अंगुलियों से मेरी
झुकी रीढ़ ठकठकाता
अब वह कहीं करीब है करीब है
मैं उसे अब निगल नहीं सकता

× × ×

और अब क्या हो सकता हे मेरे किये
मेरे भिंचे दाँतों को अलग कर
कसे होठों को खोलकर
किसी उठती शाख की तरह
वह उभर आ सकता है
और कभी भी कभी भी
हो सकता है प्रकट

(ज्ञानेन्द्र पति : "सिर्फ" २)

उस नये आदमी की ओर ज्यादा करीब आने का अहसास, जहाँ-तहाँ फूट-फूट कर समूह-बद्ध हो जाने की पहचान, और खूनी दुश्मन द्वारा परास्त न होने का यकीन हमें नई भाषा देगा।

इसी संदर्भ में सपाट बयानी को लेकर भी एक सवाल है। सपाट कविता का अर्थ है : हाड़-मांस से सम्बन्धित कविता। सपाट बयानी का विरोध न तो बिम्ब से है न भाषा की वक्रता से। यह गड़बड़ी बिम्ब-वादी आन्दोलन को प्राथमिकता देने की वजह से हुई। सार्थक कविता न तो बिम्बों का आग्रह करती है न त्याग। सपाट-से-सपाट भाषा में बिम्बात्मकता हो सकती है। दरअसल शब्द हमें शब्दार्थ से कितना आगे और ले जाता है यही उसकी बिम्ब-शक्ति है। कविता में शब्द जो अर्थ देते हैं वे सब बिम्बात्मक हों, जरूरी नहीं। मुमकिन है वहाँ कोई इन्द्रियजन्य चित्रात्मक बिम्ब न हो। यह भ्रम हमें इसीलिए हुआ क्योंकि हमने शब्द की स्वाभाविक अर्थवत्ता को बिम्ब-वादी आन्दोलन से जोड़ दिया। भाषा में रूपक तत्त्व अन्तर्निहित है। उसी को अपनी सृजन-क्षमता से पकड़ पाना भाषा का पुनः सृजन है। यह बात तब साफ होगी जब हम ठेठ देहातियों, कुली, ठेले वालों, रिक्शे-ताँगे वालों की भाषा से निःसृत ऊर्जा पर ध्यान दें। कविता में जहाँ क्रिया की ऊष्मा होगी वहाँ बिम्ब भी होगा और भाषा खुद-ब-खुद प्रतीकात्मक हो उठेगी। युवा लेखन ने अपने को बिम्बवादी आन्दोलन से अलग कर नया बिम्ब-विधान दिया यह उनकी उपलब्धि है। लेकिन जहाँ वे जान-बूझकर भाषा को 'तांत' बना रहे हैं वहाँ कविता गायब हो रही है। इसीलिए मैंने कहा सपाट कविता का मतलब है हाड़-मांस से सम्बलित कविता। कविता में "आदमी" कहने का मतलब है, हमें उसकी अन्तड़ियाँ, मांस-पेशियाँ, मज्जा, रक्त-प्रवाह, क्रियाशीलता और स्वभाव भी संलक्षित हों। वरना उस शब्द का कोई अर्थ नहीं। अगर ऐसा न होता तो फिर कवि को एक आदमी के लिये इतना सारा न कहना पड़ता :

यह मैं खड़ा हूँ
भरा-पूरा एक आदमी
आठ-दस सफेद बाल
आठ-दस अधूरे स्वप्न
मक्कार बूढ़ों की परिषद में
एक खतरनाक बात
कहकर बैठ जाऊँगा

इन पंक्तियों से कवि की ये पंक्तियाँ निरस्त हो जाती हैं :

प्रिय पाठक
ये मेरे बच्चे हैं
कोई प्रतीक नहीं
और इस कविता में
मैं हूँ मैं
कोई रूपक नहीं

ऊपर की पंक्तियों को पढ़ने के बाद नीचे की पंक्तियाँ नई वाग्विदग्धता (विट) लगती है। युवा लेखन में यह बात बराबर आ रही है। सपाट बयानी की तलखी समझने को यहाँ निराला की कविता द्रष्टव्य है :

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानव जहाँ बैल-घोड़ा है
कैसा तन-मन का जोड़ा है
किस साधन का स्वाँग रचा यह
किस बाधा की बनी त्वचा यह
देख रहा है विज्ञ आधुनिक
वन्यभाव का यह कोड़ा है।
× ×
पक पक कर ऐसा फूटा है
जैसा सावन का फोड़ा है

(गीत गूँज : पृष्ठ ५१)

यह सपाटबयानी है : हाड़-मांस से सम्बलित कविता भी। जीवन अपने पूर्ण अन्तर्विरोध, तनाव और गतिशीलता में व्यंजित हो नया मुहावरा दे गया। कहीं कविता आहत नहीं। पूरा युग बोलता है। भयानक यथार्थ से साक्षात करने की यही ऊर्जस्विता त्रिलोचन के पास है :

विन्ध्यपाद में देखा एक लाश को सड़ते।
था अनुकूल पवन, जा पहुँचा, सम्मुख देखा
दहल गया, जीवन का ऐसा भी क्या लेखा ?
अब अन्दौर उठ रहा था। धीरज को अड़ते
नहीं पा रहा था। झोंके सड़ाँद के गड़ते
थे घ्राणेन्द्रिय में। कीड़ों की गति की रेखा
सूर्य-प्रभा से भासमान थी।----

("दिगन्त" : पृष्ठ, ४५)

मैं नहीं समझ पाता सपाटबयानी को युवा लेखन पर गलत ढंग से क्यों थोपा जा रहा है। किसी सी तनाव और अन्तर्विरोध को व्यक्त करते समय सृजन-शील भाषा झेंपती नहीं। विचार को साधने के लिए जहाँ जो दिखता है, चुनती है। कृतिकार ज़िन्दगी को व्यक्त करते-करते दुनिया का एक ढाँचा भी देता चलता है। यह ढाँचा ही उसके द्वारा देखी गई दुनिया है। इस ढाँचे को बुनने के लिए उसकी भाषा का योग रहता है। जिस दुनिया से वह साक्षात कर रहा है—वहीं की वस्तुओं, वहाँ का स्वभाव, वहाँ के क्रियाकलाप, वहाँ का निसर्ग : यानी समूचा जीवित परिवेश उसकी कृति में एक ढाँचा खड़ा करेगा। हालाँकि यह उतना उजागर नहीं होता। उसी ढाँचे को व्यक्त करने के लिए कविता के पास बिम्ब की अद्भुत शक्ति है। दरअसल सपाट कविता का विरोध भाषा में निहित उसकी ध्वन्यात्मकता से नहीं उसके अलंकरण से है। धूमिल की "पट-कथा" बिम्ब से शुरू होती है। "जो देखो वह लिखो" कहने वाले त्रिलोचन ने अद्भुत बिम्ब दिये हैं। यही ढाँचा बतायेगा कि हमने दुनिया किन आँखों देखी। उसकी चुनौतियों ने हमें कितना फँफेड़ा। यहाँ यह भी साफ होना चाहिए कि परिवेश से हमारा क्या सम्बन्ध है। इधर की लम्बी कविताओं में परिवेश का आग्रह है लेकिन यह आग्रह नहीं दरसाता कि हम जीवन की चुनौतियों और तनावों का मुकाबला करने को खड़े हों। न यह कि हम उससे ज़िन्दा दब गये हैं और बाहर आने को हाथ-पाँव पीट रहे हैं। इन दोनों ही स्थितियों में हमारी कृति क्रिया-प्रेरित होगी। ये तभी सम्भव है जब युवा लेखक महसूस करें कि आदमी का स्वभाव अपने परिवेश को बदलकर स्वानुकूल बनाना भी है। प्रत्येक सृजन-व्यवहार का यही केन्द्र है : सतत् क्रियाशीलता : उसकी पकड़ जो भाषा को गति देती है :

भाषा की लहरों में जीवन की हलचल है
ध्वनि में क्रिया भरी है और क्रिया में बल है

(त्रिलोचन : 'दिगन्त', पृष्ठ ६३)

दरअसल खतरा स्वाभाविक बिम्ब से नहीं। खतरा है "विदूषक भाषा" से। बिडम्बना को समूचे जीवन का अन्दाज बनाने से। युवा लेखन को इस खतरे से बचना है। निराला, त्रिलोचन, मुक्तिबोध, केदारनाथ अग्रवाल तथा नागार्जुन ने भाषा की जो जमीन दी है उसी जमीन को और उर्वर बनाना है। मुझे लगा एक अवधी-कवि ने भाषा की खोज के सवाल को ठीक-ठीक समझ हमें झकझोरा है। हम इधर भी सोचें। ये पूरी युवा पीढ़ी को चुनौती है, आँख भी :

"जब हम ई लखि पाए
अवरउ जियतार बा
जवने कँ राखे से
तन मन फरहर होए
तब भाखा धई लिहे।"

(त्रिलोचन)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वापसी

कुमार विकल

मैं अपने मुहल्ले को वापस जाऊँगा
राजपथ की चकाचौंध से दूर—
ऊँघती बस्ती में।
पुराने घर के बन्द कमरों में
नयी डिबरी जलाऊँगा
पुरानी किताबों को झाड़कर सजाऊँगा
दीवार पर नया कैलेंडर लगाऊँगा
और धीरे-धीरे
धनिया धोबिन
लच्छू लोहार
कानू किरानी
और चतुरी चमार की दुनिया में डूब जाऊँगा।

राजपथ की वनतंत्री व्यवस्था में
मैं अकेला और अरक्षित हूँ
मेरी स्नायुतंत्र पर भय और आतंक की कँटीली
झाड़ियाँ उग आयी हैं
जिन्हें काटने के लिए सख्त हाथों के साथ-साथ
खुरदरे शब्दों की जरूरत है।

इन झाड़ियों को काटने के लिए
ठीक हाथों और ठीक शब्दों की तलाश में
मैं होरी किसान और मोचीराम के पास जाऊँगा।
मैं अपने मुहल्ले को वापस जाऊँगा।

राजपथ की तिलिस्मी दुनिया में
मैं अकेला और अरक्षित हूँ
मेरे राजपंथी दोस्त जो हाथों में सम्बन्धों की मशालें
लिए फिरते थे
अपने-अपने वर्गों के अंधेरे में खो गये हैं
और सुरक्षित हो गए हैं
हर आदमी का वर्ग उसकी सुरक्षा का घेरा है
मैं भी अपने घेरे में लौट जाऊँगा।

और अब—
जब कभी राजपथ पर आऊँगा
अकेला नहीं
पूरे मुहल्ले के साथ आऊँगा।

० ० ०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बेकेट के साथ एक शाम

कैलाश वाजपेयी

सन् १९५३ की एक शाम जब कुछ लोग "तेआथ्र द बाबीलोन" से 'वेटिंग फ़ार गोदो' देखकर निकले तो किसी ने नहीं सोचा था कि सोलह वर्ष बाद स्टॉकहोम की रॉयल स्वीडिश अकादमी इस नाटक को नोबेल पुरस्कार के लिए चुनेगी। बेकेट पुरस्कार लेने नहीं गया, नहीं उसने अखबारनवीसों को अपने पास फटकने दिया। हाँ और ना के बीच वह सिर्फ चुप रहा जैसा कि वह है। पेरिस में अब जिस तरह सार्त्र और कामू का स्थान मारकूज़ और अलथ्यूसे ने ले लिया है। एबसर्ड थिएटर भी अब करीब-करीब व्यतीत का विषय हो चला है। उसकी जगह आज वहाँ 'पेनिक और लिविंग थिएटर' की चर्चा होने लगी है ! लेखकों का एक नया दल खड़ा हो गया है जिसे कोरी वैचारिकता से चिढ़ है। नववामपक्षीय ये लेखक अपनी समस्त बौद्धिक प्रपत्ति के ही साथ अब कर्म पर भी बल देने लगे हैं। विचार से कर्म की ओर उन्मुख होने की यह प्रवृत्ति पॉल वेलरी की टिप्पणी "सिसिफस की निरर्थक पीड़ा और श्रम का एक लाभ यह अवश्य हुआ होगा कि उसकी मांसपेशियाँ और पुष्ट हो गई होंगी" को चरितार्थ करती जान पड़ती है। मगर बेकेट पर इस सबका कोई असर नहीं। १९३७ में अपने कविता-संग्रह 'ह्वोरोस्कोप' के प्रकाशन के बाद से आज तक लगातार वह ऐसे पात्रों की सृष्टि कर रहा है जो मनुष्य के प्रगतिशील विघटन की ओर ही इशारा करते हैं। असफल कवि 'क्रेप' के एकान्त प्रलाप को रूपायित करने के बाद पिछले दिनों इटली के कार्लो मिनोती की माँग पर बेकेट ने उसे जो नाटक दिया उसमें सिर्फ दीर्घ और गहरे उच्छ्वास थे। बेकेट हालाँकि अब सफलता के अंतिम पायदान को पीछे छोड़ चुका है। उसकी कृतियाँ भी बाईस से अधिक भाषाओं में अनूदित हो चुकी हैं मगर उसकी इस मान्यता में कि "आदमी अगर कहीं स्वतंत्र है तो मन के भीतर" अब तक कोई अन्तर नहीं आया। पेरिस पहुँचकर जब फ्रांस के सांस्कृतिक मंत्रालय की सचिव से मैंने बेकेट से मिलने की बात कही तो ज्ञात हुआ कि उनके लिए बेकेट को पाना असम्भव है फिर भी मेरे लिए एक पत्र लिखा गया है। उत्तर में बेकेट ने अपने पेरिस आवास का पता देते हुए आमंत्रण पत्र भेज दिया।

तीन अप्रैल की शाम अड़तीस बूल्वा सेन्ट जेकब पहुँच कर जब मैंने सातवीं मंजिल पर पहुँचने के लिए एलीवेटर का बटन दबाया तब मेरे मन में एक साथ कई बातें थीं। यह कि बेकेट चुप्पा है। यह कि वह पेरिस सिर्फ मुलाकात के लिए आया है। यह कि वह आदर्श कलारूप ऐसी अभिव्यक्ति को मानता है : "जिसमें अभिव्यक्त करने के लिए कुछ न हो। न अभिव्यक्ति का निमित्त हो न उपादान। अभिव्यक्ति की सामर्थ्य भी न हो न ही अभिव्यक्ति की आकांक्षा। फिर भी अभिव्यक्ति अपरिहार्य हो !"

कमरे में जहाँ जड़ सन्नाटा था, निपट एकान्त जिसे बेकेट ने विदेशी भाषा में अपने लिखने के दिन के ही साथ चुन लिया था, वहाँ वह दुबला और लम्बा, गोल और नीली आँखों वाला द्वार पर खड़ा था। पहुँचते ही तपाक से उसने हाथ मिलाया। इसी बीच शान्तल द्वारा परिचय दोहराया गया। बुदबुदाती-सी आवाज़ में उसने पूछा, क्या मैं अंग्रेजी बोलता हूँ ? मेरी स्वीकृति का संकेत पाते ही उसने फ्रांस की मेरी यात्रा और आगे के कार्यक्रम आदि के बारे में पूछने के ही साथ जानना चाहा कि मैंने उसे कितना पढ़ा है।

हर वह व्यक्ति जो यंत्रविद्युदाणु युग की कशमकश से अवगत है। जिसे यह ज्ञात है कि जानते हुए जीना कितना तकलीफ़देह है, आज के सन्दर्भ में बेकेट की प्रांसगिकता को भी समझता है। जिसने बेकेट को पढ़ा है उसे पता है कि उसे पढ़ते हुए भीतर क्या घटित होता है। बेकेट को पढ़ना शीशे के सामने खड़े होकर अपने कंकाल से साक्षात्कार करना है। उसके सारे पात्र कढ़ीलकर आदमी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को वहाँ ले जाते हैं जहाँ ज़िन्दा रहने की हर वजह वाहियात लगती है। इतनी निर्ममता से ना को प्रश्रय देने वाले आज कम लेखक हैं।

सन्नाटा काटते हुए मैंने पूछा—अगर मैं भूलता नहीं तो तुमने अपनी साहित्यिक ज़िन्दगी कविता से शुरू की थी। ऐसा क्या हुआ कि तुम जल्दी ही इतना सशक्त माध्यम छोड़ने के लिए विवश हुए ? बेकेट मुश्किल से सुनाई पड़ने वाली आवाज़ में बोला—असल में मेरी पहली किताब प्रूस्त पर आई थी। कविता शुरू में मैं लिखता ज़रूर था—संकलन भी छपवाया था मगर शुरू में जो कुछ लिखा प्रकाशकों की उदासीनता की वजह से प्रकाशित न हो सका। मजबूरन माध्यम बदलना पड़ा।

मैंने पूछा, 'वेटिंग फॉर गोदा' का स्त्रागाँ, तुम्हारे पिछले दो पात्रों मर्फी और विशेषरूप से 'वाट्' की याद दिलाता है। स्त्रागाँ को रचते हुए क्या तुम्हारे मन में इन दो पात्रों के चरित्र भी चिपके रह गए थे ?

यह जानते हुए भी कि कोई रचनाकार सचेत होकर यह सब नहीं करता—मैंने यह प्रश्न सिर्फ़ इसीलिए किया था कि स्त्रागाँ का उत्स पकड़ सकूँ। बेकेट ने थोड़ा सम्भलकर "हो सकता है" कहने के साथ ही बताना शुरू किया : क्योंकि 'मोलोए और मालोन डाइज़' के तत्काल बाद मैंने 'वेटिंग फ़ॉर गोदो' लिखा तब 'अननेमेब्ल' लिखकर अपने त्रिसूत्री उपन्यास की पूर्ति की।

युद्ध के बाद मैं बराबर लिखता रहा—हालाँकि किसी ने मेरी पाण्डुलिपियाँ स्वीकार नहीं कीं। उदाहरण के लिए 'वेटिंग फॉर गोदो' कई प्रकाशकों द्वारा अस्वीकृत हुआ। क्योंकि 'गोदो' की शुरुआत 'वाट्' की समाप्ति के तत्काल बाद हुई इसलिए हो सकता है 'स्त्रागाँ' 'वाट्' की याद दिलाता हो।

कैलाश : बेकेट, तुम्हारे अधिकांश पात्र विकलांग हैं, उनमें विकृतियाँ हैं और उनके सोचने का ढंग भी असामान्य। क्या इस तरह के पात्रों की सृष्टि कर तुम आज के आदमी की असहायता स्पष्ट करना चाहते हो।

बेकेट : नहीं—बल्कि यह कि जितना आज का आदमी समाज में व्यस्त होने का प्रयत्न करता है उतना ही वह अपने-आपको उखड़ा हुआ पाता है। मेरे पात्र आज के आदमी की इसी अक्षमता को व्यक्त करते हैं। विसंगति को उजागर करने के लिए बल मैंने ऋणात्मकता पर अधिक दिया है क्योंकि ऋणात्मकता यथार्थ को ज्यादा अच्छी तरह स्पष्ट करती है।

कैलाश : तुम्हारे पात्र एकान्तप्रिय भी हैं (मैं जानबूझकर उन्हें समाज से घृणा करने वाले नहीं कहता) वे हरी अन्धी घाटियों में भटकते हैं या अन्धेरे कमरों में पड़े-पड़े धीरे-धीरे दम तोड़ते हैं—क्यों ? क्या तुम्हें आदमियत पर कोई आस्था नहीं ?

बेकेट : (चुप्पी...) नहीं—मुझे किसी चीज़ पर कोई आस्था नहीं।

मैं थोड़े शरारती अन्दाज़ में फिर पूछता हूँ : क्या अनास्था पर इतनी बेटूट आस्था एक नयी तरह की निष्ठा की ओर नहीं इशारा करती जो तुममें है ?

बेकेट : (थोड़ा झल्लाकर) मैं कोई तत्त्वज्ञानी नहीं। मैं केवल शरीर को जानता हूँ, उसकी उत्तेजना को—बस

मगर शरीर अपना धर्म खुद निबाहता है उसके लिए कोई प्रयत्न थोड़े ही करना होता है—मैं फिर प्रश्न करता हूँ !

बेकेट : हाँ और यही धर्म उसका अंत भी है।

चर्चा को मोड़ना ज़रूरी समझकर मैं फिर बेकेट के पात्रों की ओर आता हूँ।

कैलाश : बेकेट ! 'अननेमेब्ल का नायक लिंगहीन है। वह कहता है मैं बोलने वाली गेंद हूँ और यह भी कि अननेमेब्ल के अन्तिम वाक्य में तेरह सौ शब्द हैं। इसे स्पष्ट करोगे ?

बेकेट : स्पष्टीकरण के नाम पर सिर्फ इतना कि सब वाहियात है, ज़िन्दगी भर हम सिर्फ़ बोलते हैं, बोलते ही बोलते रहते हैं सिर्फ इसलिए एक दिन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमें चुप हो जाना है। चुप हम हो भी जाते हैं इसीलिए 'अननेमेब्ल' में नायक मरने से पहले इतना बोलता है—इतना कि चुप हो जाता है।

कैलाश : तुमने एक विदेशी माध्यम क्यों चुना रचना के लिए, जबकि कहा यह जाता है कि रचना के लिए केवल मातृ-भाषा उपयुक्त है। (प्रश्न पूछने के बाद मुझे कैसिरर (Cassirer) की याद आती है। पता नहीं उससे भी किसी ने पूछा रहा होगा यह प्रश्न या नहीं)

बेकेट : लिखा तो था। पैंतालीस तक अंग्रेज़ी ही में लिखता था; मगर मातृ-भाषा पर काबू पाना काफी कठिन काम है। विदेशी भाषा को सीखकर उसका उपयोग ज्यादा भली प्रकार किया जा सकता है बनिस्बत् मातृ-भाषा के, फिर मातृ-भाषा ग़ैरज़िम्मेदार भी बनाती है।

(बेकेट के स्पष्टीकरण में इस बात पर विशेष बल था कि मातृ-भाषा में लिखने वाले बकवास ज्यादा करते हैं)

मैंने इसीलिए अंग्रेज़ी छोड़कर फ्रांसीसी में लिखना शुरू किया। और अब कुछ ऐसा है कि कभी मैं फ्रांसीसी में लिखकर उसका अंग्रेज़ी अनुवाद कर डालता हूँ या फिर अगर अंग्रेज़ी में शुरू किया तो उसे फ्रांसीसी में ढाल देता हूँ।

बेकेट के मातृ-भाषा सम्बन्धी विचारों ने मुझे योरप में प्रचलित राष्ट्रीयता की परिभाषा की भी याद दिला दी जिसके अनुसार : राष्ट्र एक ऐसे व्यक्तियों के समूह का नाम है जो इस ग़लत-फ़हमी से जुड़े हैं कि उनके पूर्वज एक थे और जहाँ सारे के सारे लोग पड़ोसी देशों से नफरत करते हैं...।

मैंने फिर पूछा : बेकेट, आज कल क्या लिख रहे हो ?

बेकेट : नया कुछ नहीं, हाँ प्रूफ़ ज़रूर पढ़ रहा हूँ।

कैलाश : प्रूफ़ का मतलब तो यह हुआ कि जल्दी ही कुछ प्रकाशित होने जा रहा है।

बेकेट : हाँ...शुरू में लिखी एक लम्बी कहानी।

कैलाश : क्या नाम है ?

बेकेट : (थोड़ा झिझकते हुए) फर्स्ट लव.....असल में वह तमाम कूड़ा जो पहले कोई रद्दी के भाव भी लेने को तैयार न था, अब पुरस्कार के बाद सभी छापने को तैयार हैं—(बेकेट एक सनकी हँसी हँसता है)

कैलाश : मैंने सुना है तुम पेरिस से सत्तर मील दूर कहीं रहते हो।

बेकेट : यहाँ शोर बहुत है पेरिस में, इसलिए दूर जंगल के बीच एक घर बनाया है।

कैलाश : नाम क्या है—कहकर मैं उससे आग्रह करता हूँ वह लिख दे। बेकेट अपना चश्मा साफ करता है, फिर धीरे-धीरे लिखता है USSY SUR MARNE SEINEET MARNE. साथ ही बताता है यह जगह पहले जब उसने चुनी थी तब वहाँ सिर्फ जंगल था। अब जंगल की जगह ट्रैक्टरों ने ले ली है मगर पेरिस के धुएँ से वह जगह अब भी बेहतर है। वह मुझ से पूछता है भारत के बारे में खासतौर पर भारतीय दर्शन के बारे में। उसके मन में जिज्ञासा भी है उदासीनता भी। भारत के बारे में उसने येट्स बन्धुओं से बहुत कुछ सुना है। क्योंकि बेकेट का देश भी आयरलैण्ड है इसलिए मैं जानना चाहता हूँ वह येट्स परिवार को कितने निकट से जानता है या जानता रहा है। वह इशारा करता है दीवार पर लगे एक चित्र की ओर जिसे विलियम बटलर येट्स के छोटे भाई ने उसे भेंट-स्वरूप दिया है। वह बताता है उसने भारत के सिर्फ़ रवीन्द्र-नाथ को पढ़ा है। आगे का इतिहास मैं बताता हूँ कहकर मैं संक्षेप में उसे आज तक के इतिहास (साहित्यिक) और आन्दोलनों की रूपरेखा बताने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की कोशिश करता हूँ । वह बीच में थोड़ी देर मुझे सुनकर—बात को मोड़ देते हुए मुझसे कविता सुनाने की माँग करता है । मेरे पास कुछ अनुवाद थे मगर मैं उन्हें साथ नहीं ले गया था । इसलिए याददाश्त के सहारे एक रचना पढ़ता हूँ—अपनी छः-सात कृतियाँ निकालकर वह उन पर कुछ लिखता है फिर इस उम्मीद के साथ कि मैं पत्रव्यवहार बनाए रखूँगा अपनी वे सारी कृतियाँ भेंट करता है ।

कहने को अभी भी बहुत-कुछ है मगर मुझे यहाँ आए देर हो चुकी है इसलिए उठ बैठता हूँ । नीली गोल आँखों वाला वह बूढ़ा दरवाज़े तक छोड़ने आता है—

गोदो के इन्तज़ार का लेखक ।

० ० ०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बर्तोल्त ब्रॅख्त की दो कविताएँ

१. बिचारे ब्रॅख्त के बारे में

मैं, बर्तोल्त ब्रॅख्त,
अन्धेरे जंगलों में से आया
मेरी माँ ने मुझे शहरों में से गुज़ारा,
जब मैं उसके पेट में था
जंगलों की ठण्डक आमरण मेरे भीतर रहेगी।

इस डामर-नगर में मैं आराम से हूँ
शुरू से ही मुझे यहीं से अपना हर मल्हम मिला
और हर संस्कार
तम्बाकू और ब्रांडी और अखबार।
और अन्त में अविश्वास आलस्य और संतुष्टि।

मैं लोगों के प्रति विनम्र और मैत्रीपूर्ण हूँ
मैं मोटा हैट पहनता हूँ, क्योंकि वे भी ऐसा ही
करते हैं
मैं कहता हूँ कि वे एक विशिष्ट गन्ध वाले जानवर हैं
और सोचता हूँ : कि क्या इससे कुछ फर्क पड़ता है ?
क्योंकि भी मैं वही हूँ।

कभी-कभी सुबह मैं अपनी घूमनेवाली कुर्सियों पर
दो-एक स्त्रियों के साथ बैठता हूँ
और सरलता से उनकी ओर देखता हूँ, लगातार
और उनसे कहता हूँ
यहाँ रहा वह आदमी, जिसपर विश्वास नहीं किया
जा सकता !

शाम के समय मेरे आसपास मर्द होते हैं
हम एक-दूसरे को श्रीमान् कह कर पुकारते हैं
वे मेरी टेबिल पर पांव फैलाकर बैठते हैं
और कहते हैं कि सब ठीक हो जायेगा
कब ?—मैं उनसे नहीं पूछता।

पौ फटने से पहले के भूरे प्रकाश में
जब चीड़ों पर चिड़ियाँ शोर करती हैं
मैं अपना गिलास आखिरी बूँद तक पी जाता हूँ
अपने सिगार के आखिरी टुकड़े को खिड़की से बाहर
फेंक देता हूँ
और चिन्तित होते हुए सोने के लिए चला जाता हूँ।

हमने एक शान्त और सरल पीढ़ी को
ऐसे घरों में बसा दिया है, जो अटूट समझे जाते हैं
(इसी तरह हमने बनाई हैं वे ऊँची पेटियाँ मेनहैटन
के द्वीपों पर
और वे पतले रेडियो प्रसारण-स्तम्भ
जो अटलांटिक के ज्वार का मनोरंजन करते हैं)

ये शहर बने रहेंगे : इनमें से हवा गुज़रती रहेगी
मकान किरायेदारों को प्रसन्न करते हैं : वे उन्हें
साफ रखते हैं
हम जानते हैं कि हम सिर्फ़ किरायेदार हैं
और वह भी अस्थायी
और हमारे बाद आयेंगे ऐसे लोग
जिनके बारे में बात करना बेकार है।

आने वाले भूचालों में मुझे उम्मीद है
मैं अपनी वर्जीनिया को सुलगती हुई रक्खूंगा
चाहे मैं कटु हो उठूं या नहीं
मैं, बर्तोल्त ब्रॅख्त, जो कि डामर-नगर तक लाया गया
अपनी माँ के गर्भ के अंधेरे जंगलों से, बहुत दिन
पहले।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२. आने वाली पीढ़ी के नाम

सचमुच मैं अंधेरे युग में रहता हूँ !
निष्कपटता जहाँ मूर्खता है
शान्त मस्तिष्क उसी का हो सकता है, जिसका दिल
पत्थर का हो
जिसके चेहरे पर हँसी है
वह अभी खौफनाक खबरों से अनजान है।

आह कैसा अजीब युग है !
जब पेड़-पौधों तक की बात करना लगभग अपराध है
क्योंकि इसमें निहित है बहुत से अन्यायों के प्रति एक
चुप्पी।
शान्ति से सड़क पार वही कर सकता है
जो अपने मुसीबतज़दा दोस्तों की पहुँच से बाहर है।
यह सच है कि मैं अपनी रोज़ी कमाता हूँ
पर विश्वास करो, यह सिर्फ किस्मत की ही बात है
मैं जो कुछ करता हूँ, उसमें ऐसा कुछ भी नहीं है
जिसके लिये मुझे भरपेट खाना दिया जाय
यह संयोग ही है कि मैं ज़िन्दा हूँ।

लोग कहते हैं; खाओ पीओ और मौज करो
पर मैं कैसे खाऊँ-पिऊँ ?
जबकि मेरा हर कौर किसी भूखे के हाथों से छिन कर
आता है
और मेरा हर गिलास किसी प्यासे को पानी से वंचित
कर देता है !
फिर भी मैं खाता हूँ। पीता हूँ।

मैं भी बुद्धिमान बनना चाहता हूँ
शास्त्रों में बताया गया है कि बुद्धिमानी क्या है ?
सांसारिक झंझटों से बचना
और बिना किसी से डरे अपना वक्त गुज़ारना
हिंसा से बचना
बुराई का जवाब भलाई से देना
और इच्छाओं का दमन करना।

लेकिन मैं यह सब कुछ नहीं कर सकता
सचमुच मैं अंधेरे युग में रहता हूँ।

(२)

मैं शहरों में आया अराजकता के दिनों में
जब सर्वव्यापी थी भूख
मैं लोगों से मिला विप्लव के युग में
और मैंने उनके साथ विद्रोह किया
और इस तरह बीत गये वे दिन
जो मुझे धरती पर मिले थे।

मैंने कत्लेआम के बीच अपनी रोटियाँ तोड़ीं
हत्यारों के साये में मैं सोया
और मैंने प्यार किया, बिना उस पर ध्यान दिये
प्रकृति को मैंने जब कभी देखा
एक उड़ती हुई नज़र से देखा
—बिना शान्ति और धैर्य के—
और इस तरह बीत गये वे दिन
जो मुझे धरती पर मिले थे।

मेरे युग में सड़कें दलदलों की ओर ले जाती हैं
और शब्द बधिकों के दरवाज़े पर ला खड़ा करते हैं
इसलिये मैं क्या कर सकता था ?
पर हाँ, शायद मेरे बिना सिंहासन कुछ और जमे
रहते
और यही मेरे जीने की एकमात्र उम्मीद थी
और इस तरह बीतते गये वे दिन
जो मुझे धरती पर मिले थे।

(३)

तुम, जो इस जलप्रलय से उबरोगे
जिसमें हम डूब रहे हैं
जब हमारी कमज़ोरियों पर सोचो
तो इस गहन अन्धकारपूर्ण युग पर भी ध्यान देना,
जिससे तुम बच गये हो।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्योंकि जितने हम जूते बदलते हैं
उनसे भी ज़्यादा देश बदलते हुए हम
वर्ग-युद्धों के बीच से गुज़रे हैं, निराशा के साथ
उस समय
जब केवल अन्याय था और कोई प्रतिरोध नहीं।

ध्यान रखना
कि कूड़े कर्कट के प्रति घृणा भी
चेहरे को विकृत कर देती है
अन्याय के प्रति क्रोध भी
वाणी को कर्कश बना देता है !
आह ! हम जो करुणा और कोमलता की नींव रखना
चाहते थे,
खुद करुण और कोमल नहीं हो सके !

लेकिन तुम, जब आखिरकार वह दिन आये
जब आदमी आदमी की मदद के लिये उठ खड़ा हो
हम पर कठोर फैसले मत देना।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दी पत्रकारिता की पृष्ठभूमि

बटरोही

हिन्दी की साहित्यिक पत्रकारिता का विकास हमें काशी से प्रकाशित होने वाली पत्र-पत्रिकाओं में मिलता है। यों तो काशी के अतिरिक्त अन्य स्थानों से प्रकाशित होने वाले पत्रों का भी अपना विशिष्ट महत्त्व है, लेकिन, जैसे बीसवीं शताब्दी के तीसरे-चौथे दशक से हिन्दी साहित्य का प्रमुख गढ़ इलाहाबाद बन गया है, उससे पूर्व हिन्दी साहित्यकारों का प्रमुख गढ़ काशी ही था। काशी ने ही भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जैसा पत्रकार हिन्दी को दिया जिसने न सिर्फ हिंदी में साहित्यिक पत्रकारिता की नींव डाली, वरन् 'कविवचन सुधा' और 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' के माध्यम से हिंदी पत्रकारिता को श्रेष्ठ साहित्यिक पत्रिकाएँ भी प्रदान कीं। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में ये पत्रिकाएँ प्रकाश में आई थीं। भारतेन्दु की रुचि किसी एक विधा तक सीमित न थी। उनकी पत्रिकाओं में किसी एक विधा को प्रमुख स्थान न था। एक प्रकार से हिन्दी पत्रकारिता के लिए उन्होंने अपना जीवन ही समर्पित कर दिया था क्योंकि सम्पादक, व्यवस्थापक, लेखक, प्रचारक, प्रेषक और लिपिक के लगभग सारे कार्य उन्हें ही करने पड़ते थे।

भारतेन्दु द्वारा प्रकाशित पत्रिकाओं के बाद प्रायः बीस-पच्चीस वर्ष तक हिंदी पत्रकारिता में एक प्रकार का ठहराव-सा मिलता है। भारतेन्दु मंडल के जितने भी साहित्यकार थे, सभी या तो उक्त दो पत्रों में लिखते थे या पत्रकारिता का अनुभव प्राप्त कर रहे थे। कालाकांकर में राजा रामपाल सिंह भी पर्याप्त सक्रिय थे। इंग्लैण्ड और कालाकांकर से प्रकाशित होने वाले दैनिक पत्र 'हिन्दोस्थान' के माध्यम से एक छोटी-सी लेखक मंडली वहाँ पर भी रहती थी, मगर साहित्यिक विवादों और चर्चाओं की दृष्टि से इस पत्र का अधिक महत्त्व नहीं है।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दो दशकों में हिन्दी पत्रकारिता ने अभूतपूर्व उन्नति की। पत्रिकाएँ तो बहुत बड़ी संख्या में निकलीं ही, उनमें मजेदार और जीवंत चर्चाएँ भी आयोजित की गयीं। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक भारतीय व्यक्ति की मानसिकता भी अपना एक निश्चित रूप निर्मित कर चुकी थी। ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज, थियोसोफिकल सोसाइटी का व्यापक प्रभाव भारतीय जन-चेतना पर, विशेष रूप से उत्तरी भारत पर, पड़ चुका था। व्यक्तिगत रूप से देवेन्द्रनाथ ठाकुर, केशवचन्द्र सेन, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, स्वामी दयानन्द के व्यक्तित्व का प्रभाव भी लोगों पर पड़ चुका था, जिससे लोगों के मस्तिष्क में अपनी संस्कृति और भारतीयता के श्रेष्ठ पक्षों के प्रति एक मोह जागृत हो चुका था। कई विदेशियों के द्वारा हिन्दू धर्म के माहात्म्य के समझाये जाने पर लोगों की सुप्त चेतना जागृत हुई, फलस्वरूप विदेशियों—विशेष रूप से अंग्रेज़ों—के प्रति भारतीय बुद्धिजीवियों के मन में कुछ पूर्वाग्रह बन गये। बंगाल में ब्रह्म समाज का, पंजाब व उत्तरप्रदेश में आर्यसमाज का तथा समस्त भारत में विवेकानन्द व रामकृष्ण परमहंस के व्यक्तित्व का व्यापक प्रभाव फैल चुका था। अंग्रेज़ों ने भारतीयों की प्राचीन रूढ़ियों को तोड़ने के लिए और कुछ नई उपलब्धियों को भारतीय समाज में जोड़ने के लिए जो भी प्रयास किये, उनको भारतीय व्यक्ति ने सहजता से स्वीकार नहीं किया। उस समय की पत्रिकाओं में प्रकाशित लेखों तथा टिप्पणियों को देखने से मालूम होता है कि उन्हें भारतीय समाज में न जोड़े जाने के लिए उन्होंने कितना संघर्ष किया? आज जिन समस्याओं को हम समस्याएँ ही मानने के लिए तैयार नहीं हैं और जो हमें व्यर्थ की समस्यायें लगती हैं—उनको लेकर तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं ने बड़े-बड़े सम्पादकीय लेख लिखे और चर्चाएँ आयोजित कीं। अंग्रेज़ों के विचित्र शौक, उनकी विचित्र पोशाक, उनकी नारी-विषयक धारणाएँ, उनकी भाषा और उनके संस्कार सभी कुछ भारतीयों के लिए विचित्र स्थितियाँ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थीं। भारतीय व्यक्ति के मस्तिष्क में उनका रूप एक औसत व्यक्ति का-सा न होकर विचित्र षड्यंत्रकारी का जैसा था जो 'सात समुन्दर पार' से उनकी संस्कृति और सभ्यता को समाप्त करने के लिए यहाँ आया हुआ है। भारतीय इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि अंग्रेज़ों की नीति भारत में आये अन्य धार्मिक सम्प्रदायों की अपेक्षा भिन्न थी। यही कारण था कि उनकी उदारता को भारतीयों ने एक षड्यंत्र के रूप में देखा। मुसलमानों को जब भी धर्म-प्रचार की आवश्यकता हुई उन्होंने तलवार के बल पर ऐसा कर लिया लेकिन अंग्रेज़ों ने उदारवादी नीति का सहारा लिया जिससे तात्कालिक स्तर पर उन्हें बड़ी असुविधाएँ तो झेलनी पड़ीं लेकिन भविष्य में उन्हें उससे लाभ ही हुआ।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में एक साथ कई हिंदी पत्रिकाएँ प्रकाश में आयीं और सभी अपने आकार, सज्जा और सामग्री में अपना विशिष्ट महत्त्व रखती थीं। काशी से 'सुदर्शन', जयपुर से 'समालोचक', बम्बई से 'श्री वेंकटेश्वर समाचार', मिर्जापुर से 'आनन्द कादम्बिनी', प्रयाग से 'हिन्दी प्रदीप', अजमेर से 'छत्तीसगढ़ मित्र' आदि ऐसी ही पत्रिकाएँ थीं। इन पत्रिकाओं की विशेषता यह थी कि जब तक ये निकलती रहीं, भीषण संकटों के आने पर भी इन्होंने अपनी नीतियों में हेर-फेर नहीं किया। प्रत्येक पत्र की अपनी कुछ नीतियाँ थीं और अधिकांश पत्रों का मुख्य उद्देश्य पश्चिम के प्रभाव को किसी भी प्रकार भारतीय समाज में आने से रोकना था। यह प्रवृत्ति न सिर्फ पत्रिकाओं में वरन् इस युग के समस्त कथा-साहित्य में भी मिलती है। 'भारतीयता' को किसी भी प्रकार अपने परम्परागत रूप में बनाये रखना और पश्चिमीकरण की सभी उपलब्धियों को नकारना—यही इस युग की मुख्य प्रवृत्ति कही जा सकती है।

युगों की दासता और अपने धर्म का कोई निश्चित रूप न मिल पाने के कारण भारतीय व्यक्ति एक ओर अत्यन्त उलझा हुआ था दूसरी ओर वह भारतीयता का कोई निश्चित रूप निर्धारित करना चाहता है। बालकृष्ण भट्ट द्वारा सम्पादित 'हिन्दी-प्रदीप' (अक्टूबर १८८० ई०) के अंक में 'नई रोशनी की पहचान' शीर्षक से एक टिप्पणी प्रकाशित हुई थी—

"सिर पर लाल लाल या काला काला सरपोश उस पर दुम मुँह में एक जलता हुआ फलीता हाथ में कुबड़ी साथ में कुत्ता बदन में जाकट पैरों में तोबड़ा कालों से नफरत गोरों से उलफत मुँह में सुअर गड्डाम पाँचों सवारी में नाम गुडमार्निंग बजाय सलाम अपने मतलब से काम नई रोशनी की पहचान इस सब का अन्जाम।"

हिन्दी की प्रारम्भिक साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं को देखने से न केवल विदेशियों के प्रति विरक्ति ही देखने को मिलती है, वरन् उनके प्रत्येक रूप के प्रति एक प्रकार का घृणा का भाव भी मिलता है। सामाजिक समस्याओं में भारतीय व्यक्ति ने अंग्रेज़ों की नीति को कभी महत्त्व नहीं दिया। 'विधवा विवाह' का जब अंग्रेज़ों ने समर्थन किया तो यह जानते हुए कि यह समाज की कुरीति है और इसे समाप्त किया जाना चाहिए, भारतीय व्यक्ति ने इस नीति को भी अंग्रेज़ियत के प्रचार के रूप में ही देखने की कोशिश की।

'हिन्दी प्रदीप' में ही अक्टूबर १८८० ई० के अंक में 'निज सम्मति' शीर्षक के अंतर्गत एक सम्पादकीय टिप्पणी के कुछ अंश दृष्टव्य हैं जिसमें विधवा विवाह के समर्थन को भी अंग्रेज़ियत के प्रचार के रूप में देखा गया है—"हमारे पास कलकत्ते के किसी महाशय ने एक लेख भेजा है जिसमें लेखक महाशय ने अपना नाम नहीं दिया। वह लेख शैतान की आँख-सा लम्बा-चौड़ा और अत्यन्त निरस है, इस कारण उसे हम नहीं छाप सके किन्तु उस लेख का तात्पर्य यह है कि वहाँ एक ऐसी सभा स्थापित की गई है जिसका यही तात्पर्य है कि जैसे हो सके विधवा विवाह प्रचलित हो...

"...इन दिनों सभ्य मण्डली विधवा विवाह, स्त्री-स्वतंत्रता, स्त्री शिक्षा और बाल्य विवाह इन चार बातों में पहली दो बातों को दिलोजान चाहती है क्योंकि उनके किसी तरह प्रचलित हो जाने से अंग्रेज़ों की पूरी नकल हो सक्त है। फायदा तो जो इससे है वह केवल राम का नाम है पर दो पिछली बातें जो सर्वसम्मत और देश काल शास्त्र सर्वथा विपरीत नहीं हैं पर इस्में अंग्रेज़ीपन कम झलकता है इस्से इस्की ओर कोई ध्यान नहीं देता फिर बाल विधवा कभी दस बीस घरों में कोई दो एक ही हो जाती हैं बाल्य विवाह वाली बाला महादुर्भगा विधवा की भी चर्ची तो घर-घर बैठी गाज रही है अच्छे अच्छे कुलीनों के घर में भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जौन जौन दुर्गति इन बालाओं के बाल्य विवाह के कारण प्रतिदिन देखने में आ रही है उसका वर्णन अश्लील हो जाने के डर से हम बरकाया चाहते हैं सो हमारी सम्मति यदि कोई ले तो हम यही कहेंगे कि इस प्रतिदिन की विधवाओं का यत्न पहले से हो जाय तो वे आकस्मिक विधवाएँ कभी हुआ ही न करें।"

वाराणसी से प्रकाशित 'इन्दु' पत्रिका में 'मस्तराम का मंतव्य' शीर्षक से एक स्तम्भ के अन्तर्गत 'बिहारबन्धु' की प्रतिक्रियाओं का उपहास करते हुए 'मस्तराम' ने लिखा—

"बूढ़ा बिहारबन्धु विविध विचार प्रकट करता हुआ लिखता है कि '.....हाँ बिहार की स्त्रियाँ भी उन्नति करती हैं। जहाँ इनके माता पिता के नाक कान में एक २ छेद रहता था वहाँ अब इन.....में चार २ पाँच २ छिद्र रहने लगे हैं।' भाई बिहारबंधु, सत्य कहना तुम्हारी स्त्री बिहार की है या अन्य देश की, कहीं वह भी बिहार की ही निकली और इस छिद्र बाहुल्य में यदि उसने भी उन्नति की होगी तो इस वृद्धावस्था में तो तुम्हें बड़ा ही कष्ट होगा।" (जनवरी १९१३, पृष्ठ ८३)

विधवा विवाह के प्रश्न पर ही मस्तराम की अन्य टिप्पणियाँ भी मनोरंजक हैं—

"साहित्याचार्य पं० रामावतार शर्मा सोशल कांग्रेस के सभापति थे। आपने उसमें कहा है—'तुम्हारी शत शत विधवाएं छिपकर या खुले तौर से अपना अपवित्र जीवन व्यतीत करती हैं।' ठीक है। परन्तु जिस पुरुष की दो स्त्रियाँ हों और वह एक अपनी छोटी स्त्री में ही रत रहता हो तो कृपया फर्मावें कि वह बड़ी सधवा स्त्री अपना जीवन कैसे व्यतीत करे ? उनके लिए भी क्या कोई उपाय है ? .....शर्माजी को छिपकर अपवित्र जीवन व्यतीत करने वाली विधवाओं की खबर कैसे लगी ? क्या वैसी किसी विधवा ने आपको निराश तो नहीं किया था।"

('इन्दु', पृष्ठ ८४, उक्त)

स्त्रियों की समस्याओं के अतिरिक्त प्रायः सभी समस्याओं को परखने का दृष्टिकोण बुद्धिजीवियों का भारतीयता के परम्परागत रूप से ही सम्बन्धित था। तत्कालीन रचनात्मक साहित्य में भी इन स्त्रियों का संकेतात्मक प्रभाव दिखाई देता है। इस संदर्भ में उस काल से सर्वाधिक चर्चित और महत्त्वपूर्ण रचनाकार बाबू देवकीनन्दन खत्री हैं, जो वाराणसी से प्रकाशित मासिक पत्र 'सुदर्शन' के प्रकाशक थे। पं० माधवप्रसाद मिश्र इस पत्र के सम्पादक थे। हिन्दी की प्रायः सभी पत्र-पत्रिकाओं ने खत्रीजी के उपन्यासों का एक स्वर में विरोध किया था। विशेष रूप से बम्बई से, मेहता पं० लज्जाराम शर्मा द्वारा सम्पादित साप्ताहिक पत्र 'श्रीवेंकटेश्वर समाचार' तथा जयपुर से प्रकाशित होने वाले मासिक पत्र 'समालोचक' की समय-समय पर प्रकाशित होने वाली टिप्पणियाँ इस बात का प्रमाण हैं कि तत्कालीन बुद्धिजीवियों में भारतीयता के प्राचीन रूप को सुरक्षित रखने की कितनी तीव्र अभिलाषा थी। स्वभाव से अत्यन्त सहज होने के कारण जब समस्या का कोई भी समाधान नहीं हो पाता तो अन्त में कभी-कभी व्यक्तिगत आक्षेपों पर भी वे लोग उतर जाते थे—

"बिहार पत्रिका में मेरे नाम से एक दूसरे साहब ने भी जन्म लिया है। विधाता की बलिहारी। पाठक एक की बला दूसरे के मत्थे न मढ़ेंगे। खबरदार ! मेरी खंझड़ी की आवाज बेसुरी है।"

('इन्दु', मस्तराम का मंतव्य सं० १ कि० १ पृ० १६१)

"पूर्व प्रकाशित जासूसी किस्से और भयानक खून से सहयोगी अलग हो गया तो परवाह नहीं, अपने भूतपूर्व सम्पादकों को सम्पादक न कहकर 'लेखक' कहा, यह भी चिन्त्य नहीं, पर वह लज्जित न हो तो एक बार 'मेहता पं० लज्जारामजी' अनुवादित 'विचित्र स्त्री चरित्र' का अवलोकन करें जिसमें उन्होंने बड़ी शेखी के साथ 'इंगलैण्ड की पुलिस की सौम्यता' का वर्णन किया है। क्या इस समय के सम्पादक श्रीयुक्त पं० लज्जारामजी उन मेहता पं० लज्जारामजी से भिन्न हैं ! 'कहु रावण ! रावण जग केते ?"

('सुदर्शन' 'भ्रम किसका है ?' ज्येष्ठ सं० १९६०)

साहित्यिक विषयों को लेकर हुई बहसों में उस समय की सर्वाधिक महत्वपूर्ण और मनोरंजक बहस देवकीनन्दन खत्री के उपन्यासों के संदर्भ में हुई थी। यह मनोरंजक बहस 'सुदर्शन' और 'श्री वेंकटेश्वर समाचार' के बीच हुई थी, लेकिन उसमें अन्य तात्कालिक पत्र-पत्रिकाओं ने भी भाग लिया था। उस समय की पत्रिकाओं में प्रकाशित टिप्पणियों को देखने से एक और महत्त्वपूर्ण बात यह मिलती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है कि समस्त पत्रिकाओं के बीच गरमागरम बहस और व्यक्तिगत आक्षेप होने के बावजूद एक-दूसरे के प्रति अत्यंत आत्मीयता थी। किसी भी नई समस्या के उठ जाने पर सभी पत्र-प्रत्रिकाएँ अपनी-अपनी राय अवश्य देते थे। 'सुदर्शन' तथा 'श्रीवेंकटेवर समाचार के बीच हुए इस विवाद' को 'समालोचक' पत्र ने अत्यंत आत्मीय मज़ाकिया स्वर में समाप्त किया।

विवाद का प्रारम्भ एक छोटी-सी घटना से हुआ। 'श्रीवेंकटेश्वर समाचार' ने सन् १९०२-०३ के एक अंक में किसी पुस्तक की समीक्षा करते हुए लिख दिया था, "इसमें बाबू देवकीनन्दन खत्री के 'चन्द्रकांता' की तरह की असम्भव बातें नहीं हैं। किन्तु प्रायः उन्हीं बातों का उल्लेख है जो हो सकती हैं।"

सर्वप्रथम इस विषय को लेकर एक लम्बा लेख 'उपन्यास और समालोचक' शीर्षक से सुदर्शन में संवत् १९६० में प्रकाशित हुआ जिसका प्रारम्भ इस प्रकार किया गया था—

"हिन्दी के बड़े-बड़े संवाद पत्रों में आजकल समालोचना की खूब धड़ाधड़ हो रही है। छोटे से बड़े तक सब समालोचक हो रहे हैं। किसी ने नायिका भेद का मिटा देना चाहा है, किसी ने उपन्यासों को उठा देने के लिए कमर कसी है। उनकी समालोचना का मुख्य अभिप्राय क्या है, सो तो वे ही जानें या अंतर्यामी, परन्तु उनका कहना यह है कि इन सब पुस्तकों से समाज नष्ट भ्रष्ट हो रहा है उसी के लिए यह सब परिश्रम है।

"कोई २ कहते हैं नहीं साहब! बात कुछ और ही है। इन जादूभरे उपन्यासों की तो रात दिन बिकरी हो रही है और उनकी अच्छी २ पुस्तकें भी लोग नहीं खरीदते। इसी कारण वे अपने जी का उबाल न निकालें तो क्या करें भला यह कैसे सहन किया जाय कि पाठक और द्विवेदी जी आदि की पुस्तकों का द्वितीय संस्करण भी न हो, भारत मित्र सम्पादक से 'हरिदास' को कोई रद्दी के भाव भी न ले, वेंकटेश्वर समाचार सम्पादक लिखित पुस्तकों की कोई बात भी न पूछे और काशी वालों की पुस्तकों पर लोग ऐसे टूटें कि हाथों-हाथ सारी प्रतियाँ उड़ जाँय।"

विवाद का मुख्य विषय "सम्भव असम्भव" था। 'सुदर्शन' ने इस सम्बन्ध में लिखा—"किसी अज्ञ पुरुष से अविचारित वाक्य निकल जाय तो कुछ खेद नहीं होता यदि विचारशील वैसे वाक्य का प्रयोग करें तो खेदोत्पादक होता है। सहयोगी को उचित तो यही था कि प्रस्तुत की चाहे जितनी भी प्रशंसा करते परन्तु अप्रस्तुत की अर्थ निन्दा न करते। यदि असम्भव शब्द का यही अर्थ सहयोगी ने समझ लिया कि आश्चर्य व्यापार किसी एक की समझ में न आवे वही असम्भव है तब तो चन्द्रकांता की बातें तो दूर रहीं विद्या विषयक सभी बातें असम्भव हैं। कालानभिज्ञ पुरुष जैसे रेल-तार की बातों को असम्भव कह सकता है परन्तु उसके ऐसा करने पर भी क्या वे असम्भव हो जाएँगी? और यदि यह कहा जाए कि नहीं असम्भव शब्द का अर्थ वही है जो शास्त्र में प्रसिद्ध है तो हमारा निवेदन यह है कि फिर आपका कहना उचित नहीं क्योंकि चन्द्रकांता में न तो वंध्या के पुत्र उत्पन्न हुआ और न उसमें शश विषाण का वर्णन है। कहीं भी कारण के बिना कार्य की सृष्टि नहीं दिखाई गई है। फिर उसकी बातों को असम्भव कहना कैसे उचित हो सकता है?"

'सुदर्शन' ने 'सम्भव-असम्भव' के सम्बन्ध में अपने पक्ष में जो तर्क दिये वे भी बड़े मनोरंजक हैं—"परमात्मा की सृष्टि में क्या सम्भव है और क्या असम्भव है यह तो वही जान सकता है कि जिसने कृति पुरुष के यथात्म्य को जान लिया हो। ××××बाबू बालमुकुन्दजी ने हरिदासजी के विषय में सप्रमाण लिखा है कि वे महीनों तक जमीन में रहे, जल पर चले और अनेक ऐसे ही चमत्कारिणी बातें दिखाईं। इसी प्रकार साधु रामरूप जी भी एक ही काल में दो जगह दिखाई पड़े थे, कहिये यह सब क्या था? सम्भव कि असम्भव? हमने सहस्रों मनुष्यों के समक्ष काशीजी जङ्गमबाड़ी और कुर्ग के यहाँ अग्नि में कापालिकों को (तथा औरों को) चलते हुए देखा है।××××यह तो आँखों देखी हुई, अब नाटकों और उपन्यासों की बात सुन लीजिए। बाबू देवकीनन्दनजी से भी आश्चर्यमयी घटना दूसरे कवियों ने लिखी है। सबसे प्रथम आप कादम्बरी को ही लीजिए। यह वह उपन्यास है जिसकी नायका युवती की युवती ही बनी रही और नायक के तीन जन्म बीत गये। क्या किसी के पूछने पर आप कह देंगे कि यह सम्भव है या यह उपन्यास का गुण है।××××विलायत के सुप्रसिद्ध महाकवि शेक्सपियर के 'म्येकबेथ' नाटक में जो भूतनियों के आशीर्वाद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की घटना लिखी है उससे उसका सौन्दर्य घटा है कि बढ़ा है और वह सम्भव है कि असम्भव ? क्या कोई कह सकता है कि विलायत के रिनाल्ड साहब उपन्यास लिखना ही नहीं जानते थे। कारण कि उन्होंने 'मेरी प्राइस' में स्वप्न-विचार और 'फोस्ट' तथा 'वेहर-उल्फ' इत्यादि में भूत व्यापार लिखा है। यहाँ तक कि एक आदमी हर महीने की आखीर तारीख को आदमी का शरीर छोड़कर भेड़िया बन जाता था।' तो क्या इससे उनके सब उपन्यास रद्दी हो गये ? × × × × खूब स्मरण रखना चाहिए कि ऐयारी और तिलिस्म पुरानी बात है और असम्भव नहीं है। उपन्यास का मुख्य गुण विचित्र घटना है। वह चाहे जिस प्रकार से हो परन्तु उत्तरोतर कौतूहलवर्धक और संगत होनी चाहिए। जिन्होंने 'अंधेरी' और 'एलोरा' की गुफाएँ देख रखी हैं, उनकी दृष्टि में चन्द्रकांता के तादृश्य मकान असम्भव नहीं हैं।...''

('सुदर्शन' वर्ष ३, सं० २, सं० १९६०)

'श्री वेंकटेश्वर समाचार' ने अपने अगले ही अंक में इस लेख की प्रतिक्रियास्वरूप 'सुदर्शन का भ्रम' शीर्षक से दो कॉलम का एक लेख प्रकाशित किया जिसमें उसने व्यंग्यात्मक स्वर में लिखा---"सहयोगी सुदर्शन की सी विशाल बुद्धि हम में नहीं है।" लेख में आगे 'सम्भव असम्भव' की चर्चा करते हुए 'श्री वेंकटेश्वर समाचार' ने लिखा—"जो सम्भव है वह सम्भव है और जो असम्भव है सो असम्भव है। × × × × सुदर्शन बाबू साहब (देवकीनन्दन) का पत्र है इस कारण यदि उसने वैशाख की संख्या असम्भव को सम्भव सिद्ध करने का यत्न किया तो इसमें उनकी स्वामि-भक्ति है। परन्तु इस तरह की स्वामिभक्ति करते हुए उसके सम्पादक बहुत भूले हुए हैं। × × × सुदर्शन ने या तो भ्रमवश यह बात गढ़ी है या किसी कमीने आदमी ने उसे बहकाया है। × × × × वास्तव में हम ऐयारी तिलिस्म और जासूसों की कहानियों को अच्छा नहीं समझते और हमारे ऐसा समझने पर भिन्न २ लेखकों की भिन्न रुचि से समय २ पर इस पत्र में जासूसी किस्से प्रकाशित हुए हैं और भयानक खून भी उपहार में दिया गया है। परन्तु जिस समय यह कार्य हमारे यहाँ अधिकारी भेद से हुआ है हम, यदि सहयोगी सुदर्शन बुरा न माने तो बतला सकते हैं कि उसके एक ही सम्पादक ने एक बार एक साधारण मनुष्य का स्तुतिपाठ करने में उसे महर्षि बना डाला था और दूसरी बार उसे ही पहाड़ पर से ढकेल दिया है।"

'श्री वेंकटेश्वर समाचार' के सम्पादक की उक्त प्रतिक्रिया के बाद 'सुदर्शन' सम्पादक ने ज्येष्ठ सं० १९६० के अंक में 'भ्रम किसका है ?' शीर्षक से एक और लम्बा लेख प्रकाशित किया। 'सुदर्शन' की त्वरा तेज मगर गम्भीर थी। उसने लिखा—"× × × जिस सुदर्शन ने 'शत्रोरपि गुणा-वाच्या दोषा वाच्या गुरोरपि' इस सिद्धान्त का सदा निर्वाह किया है और कर रहा है और जो सत्य के सन्मान ही के लिए आज एक प्रलम्बकाय साप्ताहिक पत्र के अनुचित कटाक्ष की समीक्षा करने में अग्रसर हुआ है, उन पर स्वा-मिता का दोष आरोपण करना बुद्धिमत्ता का कार्य नहीं है। सुदर्शन स्वामिभक्ति के कारण नहीं भूल रहा है वरञ्च कर्त्तव्य के लिए एक भूले हुए मित्र की बात का प्रतिवाद कर रहा है। यदि इसी का नाम असम्भव को सिद्ध करना है तो बलिहारी इस विचार की। हतातर्हि मनस्विता ! × × × × बहकाने वाले मित्रों में ही कोई हो सकते हैं और जहाँ तक हम जानते हैं हमारे मित्रों में कमीना कोई नहीं है वरञ्च उनमें सब सहयोगी 'श्री वेंकटेश्वर समाचार' सम्पादक के समान कुलीन और प्रतिष्ठित पुरुष हैं। × × × यद्यपि सहयोगी (सहयोगी कहने में अव्याप्ति है तो लेखक सही) ऐयारी और तिलस्म को अच्छा नहीं समझता परन्तु अपने को निर्दोष और हमें सदोष कहने के लिए हमसे ऐयारी करने में संकोच नहीं करता है, पर वह कदाचित इस बात को भूल गया है कि जासूसी किस्से पढ़ने वाले उसके इस भेद को शीघ्र ही ताड़ जायेंगे। 'श्री वेंकटेश्वर समाचार' के वर्तमान सम्पादक महाशय अपने विशेष नाम से निज पत्र के पुराने लेखकों की (सम्पादकों की नहीं !) रुचि की निन्दा करते और कहते कि वास्तव में हम ऐयारी तिलस्म और जासूसी की कहानियों को अच्छा नहीं समझते हैं, तो उचित भी था, परन्तु पत्र सम्पादन काल में अपनी रुचि को निर्मूल सिद्ध करने के लिए अपने पालक-पोषक पत्र को कलंकित करना किसी प्रकार उचित नहीं है। × × × × क्या सहयोगी उस साधारण मनुष्य का नाम प्रकाश करेगा जिसको हमने महर्षि बनाकर पहाड़ से ढकेल दिया है। अवश्य ही पत्र सम्पादकों को कर्त्तव्य के अनुरोध से समय-समय पर कार्यानुसार स्तुति-निन्दा करनी पड़ती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। यदि सम्पादकीय धर्म के कारण ही सुदर्शन दोषी है तो बताइए इससे कौन सा संवाद पत्र बचा हुआ है ? पण्डिता रमाबाई ने जिस समय प्रथम ही प्रथम अपने संस्कृत भाषण से दर्भङ्गा नरेश की सभा को चकित किया तो सभी देशीय पत्रों ने भविष्य की शुभाषा से उसकी प्रशंसा की थी और जब कलकत्ते में जाकर वह एक कायस्थ की गृहिणी हुई तो सबका स्वर बदल गया। पहले पहल लार्ड कर्ज़न की वक्तृता सुन कौन सा संवादपत्र चकित नहीं हुआ था ? कौन जानता था कि उनकी आश्वास वाणी केवल श्रवण-सुखद है कार्य में परिणत न होगी। × × × दूर मत जाइए दर्भङ्गा नरेश और मथुरा-मण्डल के कार्य की ओर देखिये। आरंभ में कई पत्रों ने उसकी प्रशंसा की थी, परन्तु अंत में उनकी निन्दा करनी पड़ी। × × × इसका उत्तर हमारे पास इसके सिवाय और कुछ नहीं है कि मनुष्य भूत और वर्तमान कार्यों की आलोचना कर सकता है, भविष्य की नहीं। हिन्दी राजतरंगिणी को प्रकाशित करने के समय जिस प्रकार हमारे कलकत्ते के सहयोगी ने एक पण्डितजी को महर्षि बनाया था, उस प्रकार हमने किसी आधुनिक पुरुष को महर्षि नहीं लिखा क्योंकि हम जानते हैं कि यह समय हमारे महर्षियों के प्रकट होने का नहीं है, आर्यसमाजीय, ब्रह्मसमाजीय महर्षियों के उत्पन्न होने का है....."

विवाद धीरे-धीरे सामयिक समस्याओं से लेकर सामाजिक तथा राजनैतिक समस्याओं को लेकर आगे बढ़ा, 'सुदर्शन' ने मेहता लज्जाराम शर्मा के द्वारा अनूदित उपन्यास 'विचित्र स्त्री रहस्य' के कथानक का उदाहरण देते हुए अपना पक्ष पुष्ट करना चाहा। इस विवाद को देखने से इस बात की पुष्टि मिलती है कि तत्कालीन पत्र पत्रिकाओं में 'सुदर्शन' का ही स्वर ऐसा था जिसमें गाम्भीर्य और दोनों पक्षों को ध्यान में रखते हुए तटस्थ मूल्यांकन कर सकने की दृष्टि थी। 'सुदर्शन' इस ने बात को अत्यंत सहजता से आगे बढ़ाते हुए लिखा—"हम फिर यहाँ कहते हैं कि हमने सहयोगी को स्वार्थी वा पुस्तक बेचने का लोभी नहीं कहा है, केवल लोगों का विचार प्रकट किया है, जब आपका उद्देश्य ही यह है कि जिन पुस्तकों को समाज के लिये उपकारक नहीं समझते अथवा जिनसे पाठकों का उपकार होते दिखाई देता है उसकी कड़ी आलोचना की जाय तो क्या कारण है कि वैसी पुस्तकों का स्वयं प्रचार कर 'खुरदा फजीहत, दीगराँ नसीहत' इस फारसी कहावत को चरितार्थ करते हैं....." इसके विपरीत श्री वेंकटेश्वर समाचार का स्वर अत्यंत उथला दिखाई देता है। अपने लेख 'सुदर्शन का भ्रम' में ही उसने लिखा—

"जब तक वह (सुदर्शन) अथवा बाबू देवकीनन्दनजी ऐयारी का बटुवा तैयार करके सर्वसाधारण के समक्ष न रख दें केवल हम ही नहीं वरन इन उपन्यासों की प्रशंसा में लोटपोट हो जाने वाले पाठक भी इन्हें मिथ्या समझते हैं।"

विवाद का अंत 'सुदर्शन' में ही प्रकाशित 'धन्यवाद' शीर्षक निबन्ध से हुआ। 'सुदर्शन' ने 'श्री वेंकटेश्वर समाचार' की ओर से कोई संतोषजनक उत्तर न पाकर स्वयं ही स्थिति का समाधान प्रस्तुत किया ".....यद्यपि हम चाहते हैं कि हमारा हिन्दी साहित्य धर्मशास्त्रानुमोदित हो, हिन्दी में कालिदास और दण्डी जैसे महाकवियों का आविर्भाव हो, पर दुख यही है कि वैसा क्षमताशाली होना प्रत्येक के लिये सम्भव नहीं है। हमारे जिन मित्रों ने उपन्यासादि की शैली पर परीक्षागुरु के समान उपदेशपूर्ण आख्यायिका लिखनी प्रारम्भ की है उनकी रुचि का हम आदर करते हैं किन्तु काव्य के विचार से हमें कहना पड़ता है कि निर्जीव शरीर का शृंगार हो रहा है। ('गणेशं कुर्वाणो वानरं चकार' की कहावत चरितार्थ हो रही है। यदि उपदेश ही ग्रहण करना है तो किसी आधुनिक लेखक की निर्जीव आख्यायिका का पाठ करने की जगह रामायण-गीता आदि धर्म-पुस्तकों का ही अवलोकन करना चाहिए।"

'श्री वेंकटेश्वर समाचार' ने 'सुदर्शन और हम' शीर्षक से इससे पूर्व एक टिप्पणी प्रकाशित की, जिसमें साहित्य का एकमात्र उद्देश्य उपदेश देना बताया, इस लेख की प्रतिक्रिया में सुदर्शन ने भी 'चिराग तले अँधेरा' शीर्षक से एक विस्तृत टिप्पणी छापी।

'सुदर्शन' और 'श्री वेंकटेश्वर समाचार' की इस विस्तृत बहस में 'भारतमित्र', 'समालोचक', 'इन्दु' तथा 'छत्तीसगढ़मित्र' ने भी भाग लिया। समालोचक की प्रतिक्रिया इस संदर्भ में सर्वाधिक मनोरंजक है।

"स्वयं आदर्श के लेख में सुदर्शन कहता है कि कुएं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में भाँग पड़ी है किन्तु हम उसके 'चिराग तले अंधेरा' और 'भ्रम किसका है' लेखों को पढ़कर कहते हैं कि कुएँ में भाँग छानी गई है और सुदर्शन भी उसके भक्त हैं। मालूम होता है हिन्दी वालों को अपने साहित्य का अजीर्ण हो गया है। अभी तुम्हारे यहाँ है ही क्या जो तुम ग्रंथों को जलाने-बहाने पर उतारू हो गये हो। हो तो जाय मजा ही—सुदर्शन सारे नागरी प्रचारिणी के लेख, मधुसूदन संहिता और सनातनधर्म विरुद्ध सब लेखों को मिटा दे, नागरी प्रचारिणी सभा सब अश्लील किताबों को जला दे, आर्यसमाज पुराणों को फिंकवा दे, आरा की सभा उपन्यासों की होली कर दे, राजपूत महासभा वेद के अश्वमेध प्रकरण से लेकर ऐतिहासिक (!) उपन्यासों तक को गंगा प्रवाह कर दे, पण्डित महावीरप्रसाद, सीताराम बी० ए० के काव्यों को कटिंग में दे दे, बस न रहेगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी। हम भी समालोचक को रद्दी के भाव बेचकर बैठ जाएँ। टण्टा मिटे। हिन्दी ! तेरे सपूतों ने तेरी चरम पूजा कर ली, अब तेरे विसर्जन की देर है, सो गंगासागर में व ज्ञानवापी में वा बुलानाले में हो जाता है। आज दो महीने से जलाने-बहाने की धूम है—प्रयाग समाचार क्षत्रियों को गाली देता है, स्वार्थान्ध प्रकाशिका ने ब्राह्मणों को बुरा कहा है, भारतमित्र वैश्य व शूद्रों को गाली दे डाले और हम अपने को ही गाली देते देते अयोगोलक वाले यादवों की तरह अपना साहित्य संहार कर डालें।"

('समालोचक', सित० १९०३, पृष्ठ ४३)

भारतमित्र ने इस प्रसंग में लिखा....."सुदर्शनजी महाराज का यह कथन है कि कोई कैसा ही खराब पुस्तक बनाकर हिन्दुओं को गाली दे, भारतजीवन सम्पादक को जरूर उसी का अनुवाद करा लेना चाहिये।"

'इन्दु' के 'मस्तराम' ने 'चन्द्रकांता' पर टिप्पणी करते हुए लिखा—

"चन्द्रकांता को देखकर अब लोग सूर्य्यकांता भी लिखने लगे हैं। खैर आशा है कि जब तक मैं मंगलकांता लिख रहा हूँ तब तक मौजी रंगी, लहरी और गुरुघण्टाल क्रमशः एक-एक बुधकांता, बृहस्पतिकांता, शुक्रकांता और शनिकांता लिखने के लिए तैयार होंगे।"

('इन्दु', जनवरी १९१३, पृष्ठ ८३)

इसी संदर्भ में 'समालोचक' द्वारा नव० १९०३ के अंक में प्रकाशित एक विस्तृत लेख अत्यंत महत्त्वपूर्ण है जिसका शीर्षक था—"सुदर्शन की सुदृष्टि" यह लेख ५४ पृष्ठों का था, इसमें 'समालोचक' ने तत्कालीन पत्रकारिता की मुख्य प्रवृत्तियों की विस्तृत समीक्षा की है। इस लेख को पढ़ने से तत्कालीन साहित्यिक पत्रकारिता की नीतियों को जाना जा सकता है।

तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में साहित्यिक पुस्तकों की समीक्षाएँ भी अत्यंत मनोरंजक रूप में प्रकाशित होती थीं, 'छत्तीसगढ़मित्र' के १९०२ ई० के अंक में श्रीनिवासदास के उपन्यास—'परीक्षागुरु' तथा नाटक 'रणधीर प्रेममोहिनी' की सम्पूर्ण समीक्षा दृष्टव्य है—

"बाबू नन्दलाल वर्मा मैनेजर फ्रैण्ड्स एण्ड कम्पनी—रणधीर प्रेममोहिनी, परीक्षागुरु, दीनानाथ।

"मथुरा के फ्रैण्ड्स एण्ड कम्पनी के कार्यालय में देशी कारीगरी का माल बहुत बढ़िया मिलता है। हमने इस कम्पनी के बनाये हुए ताले स्वतः देखे और मोल लिये हैं। यदि किसी को कुछ लेना हो तो इसी दुकान से मँगायें, कभी निराश न होने पड़ेगा।"

एक अन्य समीक्षा लालजीसिंह गहरवार के उपन्यास 'चन्द्रावली' की समीक्षा 'समालोचक' के मई १९०४ ई० के अंक में प्रकाशित हुई थी। विस्तृत समीक्षा का एक अंश उद्धृत किया जा रहा है—

".....इस पुस्तक के लेखक कोई हिगुतरगढ़ के लालजीसिंह गहरवार हैं। पुस्तक अच्छे टाइप में छापी हुई है जिसमें पढ़ने में सुगमता होती है। उपन्यासदर्पण औफिस के अध्यक्ष बाबू विशेशरप्रसाद (काशी) के निकट ग्राहकों को चिट्ठी और मूल भेजना चाहिए।..... जो पाठक किसी प्रकार उपन्यास पढ़े बिना नहीं रह सकते वे इसको क्रय कर सकते हैं....."

'सरस्वती' की वर्ष १९११ की फाइल में पृष्ठ ६२२ में प्रकाशित 'नूतन ब्रह्मचारी' की समीक्षा भी मनोरंजक है—

"नूतन ब्रह्मचारी—छोटा-सा ४० पृष्ठ का उपन्यास है। केवल तीन आने देने से मिलता है। पं० जनार्दन भट्ट अहियापुर, प्रयाग को लिखने से घर बैठे आ जाता है। पण्डित बालकृष्ण भट्टजी का लिखा हुआ है। ××× भट्टजी की लेखनी से निकले हुए रस में डूबा हुआ है। अतएव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेने और पढ़ने लायक है।"

समालोचक के अगस्त १९०३ अंक में किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यास 'तारा' उपन्यास की विस्तृत आलोचना की गई है। समीक्षा का यह ढंग अत्यंत मनोरंजक है और इस समीक्षा को पढ़कर आज सहज ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि हिन्दी पत्रकारिता ने भाषा और शिल्प के स्तर पर कितनी उन्नति कर ली है। समीक्षा का प्रारम्भ इस प्रकार है—

"अब तक हम यही जानते थे कि पवित्र दम्पति प्रेम के उन चित्रों को जिनका परदा लज्जा के मारे पवित्रता के ख्याल से कोई मनुष्य वा लेखनी नहीं उघाड़ सकती, सरे बाजार रखने में पंडित किशोरीलाल गोस्वामी revel करते हैं, मजे लूटते हैं किंतु अब मालूम हुआ कि बलात्कार, पाशविक दुराचार, हत्याकाण्ड, विदूषक प्रभृत्ति के उद्वेगजनक चित्रों में भी वह अधिक रुचि से wollow करते हैं!! लीलावती लाड़ली और तारा की लज्जा यों उघाड़ी जाकर सही भी जा सकती थी क्योंकि उसका उघाड़ना पवित्रता से सुवासित था किन्तु देखते हैं कि गोस्वामीजी को गंदे चित्र उघाड़ने में भी मजा आता है। × × × यों ही चपला को नंगे करने की कोई dramatic necessity न थी, कि उसके बिना नाटक ही अधूरा रह जाता, चपला को बाल बचाकर गोस्वामीजी रेनाल्ड की उस घृणित चतुराई की नकल (भद्दी नकल) कर रहे हैं जिसने Mary Price को कई दफा पूरे सर्वनाश से बचा दिया। सम्भव है कि गोस्वामी जी उसी राह पर चलने Rosa Lambart की नकल करने की बहादुरी लूटकर हिन्दी साहित्य को गन्दा करें और लीलावती की बहन का हाल देने की उनने प्रतिज्ञा भी की है।"

समीक्षा में गोस्वामी पर अनेक व्यक्तिगत आक्षेप लगाने के बाद समीक्षक ने आगे लिखा—"हमारा स्वर नक्कारखाने में तूती की आवाज़ की तरह भले ही न सुना जाय किन्तु हम अपना कर्तव्य समझते हैं कि हिन्दी पाठकों की इन प्रपंच के विरुद्ध अपील करें। इसके पक्षपाती कह सकते हैं कि अन्त में सच्चे का बोलबाला दिखाकर हम उपदेश करते हैं, किन्तु इसमें बड़ी भूल है, पुस्तकें आजकल जो काम कर रही हैं वह बड़ा भारी है। × × × गोस्वामी जी के ग्रंथ सभ्य समाज में कदापि अमर नहीं हो सकते यदि वे इस रीति का यों ही अनुसरण करते रहे।"

समीक्षा में श्लीलता और अश्लीलता की व्याख्या करने के साथ ही समीक्षक ने पोप की रचना 'पोप्स ऐसे ऑन मसि' की कुछ पंक्तियों का पद्यानुवाद भी दिया है। इस सम्बन्ध में एक अन्य मनोरंजक तथ्य यह है कि 'समालोचक' के ही अगले अंक (दिसम्बर १९०३) में एक टिप्पणी प्रकाशित हुई, जिसके प्रारम्भ में 'बिहारबंधु' मासिक के एक उद्धरण का उल्लेख करते हुए गोस्वामीजी के दो अन्य उपन्यासों की समीक्षा की है। बिहारबंधु का उद्धरण निम्न है—

"समालोचक होना सहज कथा नहीं है। जौन्सन साहब की कुर्सी पर बैठना कठिन कार्य है। समालोचक का चित्त उदार और माया विद्या बुद्धि का आगार होना चाहिए।"

समीक्षा के कुछ अंश इस प्रकार हैं—

"गत बार पं० किशोरीलाल गोस्वामीजी के उपन्यासों पर जो नोट लिखा गया था, उसमें एक भूल रह गई है। चपला की लज्जा नहीं बेची गई है, किन्तु उसकी बहिन सौदामिनी और कामिनी का सतीत्व गन्दी तरह खतरे में लाया गया है। अब हम चपला के प्रकाशित दो भागों के चरित्र की समीक्षा में कुछ लिखने में समर्थ हैं। × × × प्रथम तो यह पूछना है कि उपन्यास का नाम चपला ही क्यों रखा गया? × × × दो भागों तक प्रधान नायिका Background नेपथ्य में रखी गई है। आगे भी हमें यह आशा नहीं होती कि दो भागों में गोस्वामीजी उसी बात को कहेंगे। उन्हें भी तो कई झमेले सुलझाने हैं। × × × हम सबसे पूछते हैं कि इन चरित्रों में क्या कोई एक भी ऐसा है जिससे हमारे हृदय को आमोद मिले। जिससे मनप्राण ऊँचा उठे। जिनको दिखाकर गोस्वामीजी अपने कर्तव्य के अनुसार हमारे से मोरी के रेंगते कीड़ों को उन्नत करे? कोई भी नहीं! × × × गोसाईंजी ने एक टंका और छेड़ा है। ललिता का अपने भाई से प्रेम! गोस्वामीजी महाराज से हमारा निवेदन है कि वे बुरा न मानें। हम जो कहते हैं सो उनके ग्रन्थ पर, उनके लिए हमें आदर है। जब वह गम्भीर लेख लिखते हैं तो वैसा लिखने वाले बहुत थोड़े मिलते हैं; किन्तु पाठको! जिस कलम से लंका, कलिंगराज्य और गंगावतरण निकले हैं उसी कलम से यह सब निकलना देखकर हम कहते हैं भली सूरत को छिपाते हो,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बुरा करते हो।"

समालोचक इसकी समीक्षा के बाद एक अन्य समीक्षा का उल्लेख कर देना आवश्यक है। पं० बालकृष्ण भट्ट के उपन्यास 'नूतन ब्रह्मचारी' की विस्तृत समीक्षा 'आनन्द कादम्बिनी' के भाद्रपद सं० १९४४ (सन् १८८७) के अंक में प्रकाशित हुई। 'आनन्द कादम्बिनी' में विराम-चिह्नों तथा वाक्य-रचना आदि का प्रयोग बड़ा विचित्र होता था। समीक्षा का प्रारम्भ यों होता है—

"उपन्यास ○ एक सहृदय के हृदय का विकास अर्थात् हम लोगों के एक सुयोग्य मित्र एम० ए० उपाधिकारी "रचित: जिसको वे हमारे पास भेजकर "संयोगिता स्वयंबर" की सी समालोचना लिखने को लिखते हैं। ○ यह छोटी पुस्तकी ६८ पृष्ठ की रायल सोलह पेजी फार्म के आकार में टाइप के अक्षरों से पुष्ट कागज पर प्रयाग प्रेस कम्पनी लिमिटेड में छपी है ○ मू० डा० व्य० स० =)॥ है। ××× फिर भला इसमें तो किसी छोटी कहानी का भी आनन्द न आया, उपन्यास कि जिसमें केवल कथा, लेख और प्रबन्ध-चातुरी ही की प्राधान्य हैं, उसकी यह कथा? रही प्रबन्ध-चातुरी और लेखलालित्य सो प्रबन्ध प्राय: कथा ही के आधार पर होता है, तथापि इसके प्रबन्ध में बहुत कुछ वक्तव्य है..."

समीक्षा में विभिन्न पक्षों की आलोचना करने के साथ-साथ सुझाव भी दिए गये हैं—"निदान हमारी राय में ४था परिच्छेद पहला, तीसरा परिच्छेद दूसरा, यों ही दूसरा परिच्छेद तीसरा एवं प्रथम एवं पंचम परिच्छेद बिल्कुल निकाल देना चाहिए ○ तथा अन्त के अर्थात् आठवें परिच्छेद की जो इस रीति से छठवाँ कहाएगा उसी में कथा की समाप्ति कर देनी चाहिए, और नवम् परिच्छेद जिसे हम मानते हैं, उसे भी निकाल उसी जगह विनायक के हाथ से उन दोनों घातक डाकुओं का वध करा देना उचित है ○××××परन्तु इससे यही नहीं समझ लेना चाहिए कि ग्रंथ निरा निकम्मा है, किन्तु कहीं-कहीं उसमें मधुर सजीली और पक्की लिखावट भी है। ○ जैसे पृष्ठ ७ में—"प्रात:काल वनों में जैसा पक्षियों का कोलाहल होता है वह अभी समाप्त नहीं हुआ था क्योंकि दिनानाथ भगवान प्रभाकर कुछ निकले थे और कुछ आकाश-वितान से अपना मुँह ढाँपे रजनीकर के वियोग-ताप में संतप्त रजनी विरहिनी को आश्वासन-सा दे रहे थे।..."

एक अन्य समीक्षा 'समालोचक' में प्रकाशित महत्त्वपूर्ण है जिसे 'समालोचक' के अक्टू०-नव० १९०३ के अंक में श्री जैनेन्द्र किशोर ने किया था। समीक्षा देवकीनन्दन खत्री के सामाजिक उपन्यास 'काजर की कोठरी' की थी। यों सम्पूर्ण समीक्षा में विरोध का ही स्वर है, किन्तु समकालीन बौद्धिक रुचि का अनुमान लगा सकने के लिए इसमें से कुछ उद्धरण दिये जा सकते हैं। समीक्षक ने समीक्षा का प्रारम्भ करते हुए लिखा है—"ग्रंथकार के मत से इस पुस्तक का प्रधान विषय ऐय्यासी है, क्योंकि ग्रंथकार ने इसका नाम काजर की कोठरी रखा है।"

समीक्षा में मुख्य रूप से चार बिन्दुओं के माध्यम से लेखक ने अपनी बात कही है—

(१) इस ग्रंथ में किसी प्रकार का गुण आ गया है। इस पुस्तक के पढ़ने से ऐय्यास रंडियों की चलती-फिरती घातों से बच सकते हैं बल्कि उन्हें उनसे एकबारगी घृणा हो जाय तो आश्चर्य नहीं। घुणाक्षर न्याय से स्त्री की पति-भक्ति भी इसमें वर्णित हो गई है।

(२) इस पुस्तक में अनुबन्ध चतुष्टय दोष है। इसका निर्णय ऐय्यासी है। इसमें ऐय्यासों की दुर्दशा दिखलानी उचित थी सो नहीं हुआ वरन् नायक हरिनन्दन को रण्डी की कृपा से सरला-सी पतिव्रता एक नारी मिली। पारसनाथ का बाँदी रण्डी से मिलकर सरला के रहस्यों का पता करना कुछ भदेसल और बेजोड़-सा जान पड़ता है क्योंकि रण्डी सब भेदों को जानने की पात्र नहीं है। यह प्रकृति विपर्य्यय है।

(३) पिता को अधिकार नहीं है कि अपने पुत्र को किसी कारण या किसी अवस्था में रण्डीबाजी करने की आज्ञा दे। इस उपन्यास से यह स्पष्ट टपकता है कि हरिनन्दन अपने पिता कल्याणसिंह की आज्ञा से बाँदी रण्डी के घर-आने जाने लगा। यदि ग्रन्थकार किसी कारण से ऐसी बातें लिखने के लिए लाचार ही हो गया था तो उसको उचित था कि काजर की रेख न लगने देता।

(४) यह पुस्तक उपन्यास के लक्षणों से कोसों दूर है। उपन्यासों में रहस्यमयी घटनाएँ उलझेड़े के साथ बहुधा हुआ करती हैं परन्तु अन्त में क्रमश: सारी बातें दर्पण-सी खुल जाती हैं। कोई बात ग्रंथकार के पेट-पिटारे में छिपी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं रह सकती ।

उपन्यास की भाषा के विषय में समीक्षक ने लिखा है—"इसके बारे में क्या लिखूँ । न तो नागरिक हिन्दी साधुभाषा कह सकता हूँ । न संस्कृत, न मुल्लाओं की भाषा और न पंजाबी । यदि इस पुस्तक को 'चौंचे का मुरब्बा' कहा जाय तो ठीक है । क्योंकि इसमें थोड़ा-थोड़ा सब भाषाओं का आनन्द मिलता है..."

तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में एक-दूसरे के प्रति सारे विरोधों के बावजूद कितनी आत्मीयता थी, इस बात का समर्थन समालोचक द्वारा प्रकाशित एक टिप्पणी से मिलता है जिसमें तत्कालीन पत्रिकाओं का उल्लेख भी है—

"हम भारतेन्दु के "कहाँ करुणानिधि केशव सोये" पद को गुनगुनाते हुए यहाँ पहुँचे थे कि—

प्रलय काल सम जौन सुदर्शन आतुर प्रान संहारी ।
ताकी धार भई अब कुण्ठित हमरी बेर मुरारी

इतने ही में ज्येष्ठ का सुदर्शन मिला । खैर, अब हिन्दी मांसिक पुस्तकों की यह दशा समझ लें—

सितम्बर १९०३—अश्विन १९६०

सरस्वती (सितम्बर १९०३) सुदर्शन (ज्येष्ठ १९६०) हिन्दी प्रदीप (मार्च-अप्रेल १९०३) जासूस (सितम्बर) उपन्यास (अगस्त) आनन्द कादम्बिनी (फाल्गुन १९५९) निगमागम चन्द्रिका (चैत्र-वैशाख १९६०)"

पत्र-पत्रिकाकों और पुस्तकों के प्रचार-विज्ञान भी बड़े मनोरंजक होते थे । विज्ञापनों में यह प्रयास रहता था कि साधारण-से-साधारण आदमी भी पुस्तकों की ओर आकृष्ट हो सके । कुछ विज्ञापनों के उदाहरण देखिये—

१. इसमें राजकुमारी का रंगीन चित्र तो ऐसा दिया है कि जैसा सुन्दर चित्र बाजार में चार आने में भी नहीं मिलेगा ।

२. यों तो अब तक सैकड़ों उपन्यास छप चुके हैं जिनसे मनोरंजन या ऐतिहासिक बातें जानने के सिवा कोई विशेष कुछ लाभ नहीं हुआ किंतु हमें आशा है कि इस उपन्यास से मनुष्य जाति मात्र का उपकार होगा ।

३. इसको पढ़ने से कभी आँखों में आँसू बहने लगते हैं कभी आनन्द की लहरें आती हैं और कभी हँसते-हँसते पेट फटने लगता है ।

४. जब घटनापूर्ण अश्लीलतामय, चरित्रनाशी, रसीली कहानियाँ पढ़ते-पढ़ते आप लोगों का जी ऊब जाय तब आप लोग इसे अपने हाथ में लीजिएगा और देखियेगा कि आप लोगों के मन को इससे कुछ विश्राम मिलता है कि नहीं ।

५. इस समय जब कि लोगों के मन में धर्मग्रंथों से अरुचि हो रही है—यह टरेक्ट जिसमें सत्य-सनातन वैदिक धर्म के सिद्धान्तों की महिमा दर्शाई गई है जनता की भेंट किया जाता है...

साहित्यिक समस्याओं से इतर सामाजिक समस्याओं पर लिखे गये आलोचनात्मक लेखों और टिप्पणियों में सामाजिक कुरीतियों को समाप्त करने का तीव्र स्वर मिलता है । 'हिन्दी प्रदीप' के अक्टूबर १८८० ई० के अंक में 'औरतों का परदा अवध पंच से' शीर्षक निबन्ध में परदा समस्या की अत्यंत प्रभावशाली ढंग से आलोचना की गई—

"हिन्दुस्तान में औरतों का परदा भी एक कयामत है। हम लोगों का ख्याल है कि अगर जरूरत पड़ने पर हमको अपनी बीबी का जिकिर करना पड़े तो इस तरह करें कि सुनने वाले का ख्याल सीधा बीबी पर न जा गिरे बल्कि लुढ़क-पुढ़क कर उस तक पहुँचे, जैसा बीबी की तबियत अलील हो और हम इसलिए गमगीन हों कोई हमारे बड़े रफीक पूछ उठें क्यों साहब आज आप उदास क्यों हैं तो पहले हम यही कहें जी हाँ कुछ खानगी बात है दुनियाँ के हर तरह के झगड़े लगे ही रहते हैं और पूछने वाले जो कोई ऐसे इनायतफरमां हुए जिनसे सब तरह की बेतकल्लुफी है तब भी साफ-साफ न कहेंगे कि हमारी बीबी बीमार है अगर इस तरह कहें तो चटपट लब्ज बीबी सुनने वाले के ध्यान में नक्श हो फौरन जातबीबी का तसौअर कर लें बल्कि हम यों कहेंगे हमारे घर के लोगों की तबियत नासाज है या हवेली की तबियत अलील है या अगर कोई साहब-जादा मौजूद हो तो उसका नाम लेकर कहेंगे इसकी माँ बीमार है तब सुनने वाला समझेगा कि ये इस लड़के के बाप हैं तो इसकी मा इनकी बीबी हुई..."

भारतेन्दु के दिसम्बर १९०५ के अंक में श्री पुरुषोत्तम प्रसाद शर्मा का 'स्त्री-शिक्षा' शीर्षक से एक निबन्ध प्रकाशित हुआ, जिसमें स्त्री-जागृति की ओर ध्यान आकर्षित किया गया—

"समय आ पहुँचा है जब लोगों को स्त्री-शिक्षा विषय पर विशेष ध्यान देना चाहिए जिस प्रकार बालकों की शिक्षा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आवश्यक समझी जानी चाहिए क्योंकि बालकों की भी शिक्षा के लिए यह अत्यन्तावश्यक है कि माता शिक्षित हो... यह वही आर्यावर्त देश है जहाँ धर्म की उन्नति के कारण अनेकानेक वीर, धीर, तेजस्वी पुरुष हो गये हैं। जिनकी विद्या-बुद्धि कौशल को सुनकर आजकल के लोग विस्मृत हो जाते हैं××× हाय ! आज यह वही देश है जो धर्म की न्यूनता के कारण आलसी, डरपोक, अधर्मी, व्यभिचारी मनुष्यों से अपमानित और कुत्सित हो रहा है..."

"सरस्वती' के १९०८ ई० के अंक में पुस्तकों-पत्रिकाओं के सम्बन्ध में सरकारी रिपोर्ट प्रकाशित हुई जिसमें मुख्यतया यह शिकायत की गई थी पुस्तकें उपदेशात्मक नहीं हैं। रिपोर्ट का एक अंश दृष्टव्य है—

"...४३३ किताबें पद्य में निकलीं पर इसमें से एक भी इस योग्य नहीं कि जिसके पद्यों को कविता कह सकें। उपन्यासों की तादाद बढ़ती जा रही है पर गवर्नमेण्ट की शिकायत है कि एक भी अच्छा उपन्यास नहीं निकला। प्रायः सभी अलौकिक और असम्भव कथाओं से पूर्ण, अंग्रेजी उपन्यासों की नकल कुरुचिपूर्ण और भ्रष्ट निकले।"

इस युग की एक अन्य मनोरंजक और महत्त्वपूर्ण बहस का उल्लेख आवश्यक है। यह विवाद सन् १९१२ ई० में 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन कलकत्ता' तृतीय अधिवेशन में पढ़े गये लेख 'हिन्दी का हानिकारक साहित्य' की प्रतिक्रिया-स्वरूप उत्पन्न हुआ था। साहित्य सम्मेलन में लेख पं० विष्णुचन्द्र शर्मा ने पढ़ा था। सम्मेलन में पढ़े गये सभी निबन्ध पुस्तकाकार प्रकाशित हुए जिन्हें पढ़कर ही बाबू चम्पालाल जौहरी 'सुधाकर' ने इन्दु के १९१३ ई० के अंक में एक विस्तृत निबंध लिखा, जिसका शीर्षक था—"हिन्दी साहित्य में डकैती।" सुधाकरजी के निबंध का प्रारम्भ इस प्रकार है—"उक्त लेख पण्डितजी ने हानिकारक साहित्य के मनमाने विषय का मनमाना उदाहरण दे उसकी आड़ में हिन्दी के प्रायः सभी लेखकों, कवियों और सेवियों को खूब फटकारा है। आपने सभी को 'लौंडे', 'गूने उठाने योग्य भी नहीं,' 'टटपूँजिये' आदि विशेषण दे उन्हें आड़े हाथ लिया है।..."

पण्डित विष्णुचन्द्र शर्मा ने उपन्यासों से होने वाले निम्न दोषों को अपने लेख में गिनाया है—

"पहली हानि यह है कि ये शृंगार रस के अधिक होते हैं और इनके पढ़ने से पाठकों के हृदय में कुवासना उत्पन्न हो वे इश्क की उपासना करने लगते हैं; जिससे थोड़े ही दिनों में वे बल, नैरोग्य, उत्साह, धैर्य चरित्र और धन से जीवन-मुक्त हो जाते हैं। दूसरी हानि यह है कि उनके पढ़ने से ऐहिक वा पारलौकिक कार्यों में कुछ भी फल-सिद्धि नहीं होती और तीसरी हानि मन और बुद्धि का सुखियापन है।

सुधाकरजी ने अपनी टिप्पणी में यद्यपि उपन्यासों की कुछ सीमाएँ मानी हैं, तथापि उपन्यास को वे साहित्य का एक महत्त्वपूर्ण अंग मानते थे। उन्होंने लिखा है—

"इस पर हमारी प्रार्थना यह है कि सभी उपन्यास शृंगार रस पूर्ण नहीं होते। यह हम मानते हैं कि शृंगारिक उपन्यास अवश्य हानिकारक हैं; किन्तु नैतिक उपन्यासों से हानि होना तो हमने कभी भी नहीं देखा और न सुना। साथ ही ऐतिहासिक घटना-मिश्रित उपन्यास पाठकों के हृदय पर इतना उत्कृष्ट प्रभाव डालते हैं कि जो मिटते नहीं मिटता। इसी प्रकार कल्पित उपन्यासों को भी यदि शुद्ध नैतिकता का स्वरूप दिया जाय तो वे भी कम प्रभावशाली नहीं होते, किन्तु पण्डितजी तो कल्पित-नैतिक उपन्यास और कहानियों को भी हानिकारक बतलाते हैं। आपका कहना है कि 'कल्पित कहानियों से तो ऐसा फल हो ही नहीं सकता क्योंकि पाठक उन्हें पहले से ही झूठी माना करते हैं।' इस स्थान पर पण्डितजी ने कितनी भूल की। पाठकों को भली प्रकार विदित ही है कि झूठी बातों को शिक्षित तो दूर रहे अशिक्षित भी नहीं मानते, न उनकी ओर आँख उठाकर ही देखते हैं; फिर आश्चर्य है कि कल्पित कहानियों और उपन्यासों को पहले से ही झूठा मान लेने पर भी पाठक उनको पढ़ने के लिये इतने अधीर क्यों हो उठते हैं ? कोई भी उपन्यास झूठा हो या सच्चा उसे पढ़े बिना पाठकों को चैन क्यों नहीं पड़ता ? वे इसके पीछे भोजन करना तक क्यों छोड़ देते हैं। इसीलिए कि वे झूठे हैं ? सारांश यह है कि उपन्यास कल्पित हों या ऐतिहासिक यदि वे शुद्ध भाव से जनसमाज के उपकारार्थ लिखे गये हों और उनमें ऐसी घटनाओं का मिश्रण हो जो संसार में घट सकती हों तो अवश्य लाभ पहुँचायेंगे।"

सुधाकरजी ने इसके बाद एक उदाहरण देकर अपनी बात समझानी चाही है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"अभी थोड़े समय की बात है कि एक स्त्री एक समय ऐसे निंद्य आचरण वाली थी कि शिक्षित लोग उससे घृणा करते थे। किन्तु एक विद्वान व्यक्ति के सहवास में उपन्यासों को पढ़ने से ही उसकी कायापलट हो गई। एक दिन ऐसा था कि वह प्रत्येक पुरुष के स्पर्शास्पर्श में कुछ भी संकुचित नहीं होती थी, किन्तु एक समय उपन्यास पढ़ने के पश्चात् उसके मुँह से एक अचिन्त्य घटना के समय मैंने, यह उद्गार प्रत्यक्ष सुने हैं कि "हिन्दू सूर्य महाराणा प्रताप हिन्दू के लिए एक अटल नियम कर गये हैं कि हिन्दू स्त्री की पवित्र देह को अन्य पुरुष का अपवित्र करना तो दूर रहा उसे स्पर्श कर दूषित करना भी दुस्तर है।' पाठक ! यह प्रभाव किसका है ? हानिकारक उपन्यासों का ही न।"

श्री चम्पालाल जौहरी 'सुधाकर' ने शर्माजी द्वारा संकेतित प्रायः सभी समस्याओं को अपने लेख में उठाया है। तीसरी हानि 'मन और बुद्धि का सुखियापन' के सम्बन्ध में शर्माजी का तर्क है—

"उपन्यास जैसे सीधे ग्रंथों को पढ़ने से मन और बुद्धि सुखिया जाती है।...उपन्यास के पढ़ने वालों का मन और बुद्धि क्लिष्ट विषयों में नहीं लगता (ती)...और वे शास्त्रों को नहीं पढ़ सकते जो उपन्यासों से क्लिष्ट होते हैं।"

श्री सुधाकर ने इसके उत्तर में लिखा—

"इस स्थान पर भी पंडितजी ने बड़ी भारी भूल की है। आज भी हिन्दी के ऐसे लेखक विद्यमान हैं कि जिन्होंने उपन्यासें लिखकर शास्त्रीय गहन एवं क्लिष्ट विषयों पर भी ग्रंथ लिखे हैं। उदाहरण-स्वरूप स्वर्गस्थ भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र, पं० प्रतापनारायण मिश्र, पं० अम्बिकादत्त व्यास, पं० बालकृष्ण भट्ट तथा वर्तमान के पं० रुद्रदत्तजी शर्मा, सम्पादकाचार्य पं० लज्जाराम शर्मा और आजकल के कई लेखक तथा पत्र सम्पादक।...अत्यन्त शोक का विषय है कि पण्डितजी ने उपन्यास द्वारा लौकिक हानि की निराधार ही चर्चा की।"

उपन्यासों की भाषा और उसका साहित्य पर प्रभाव। इस विषय में चर्चा भी चली। 'शब्द-दारिद्रय' तथा शास्त्र-हीनता जैसे मुद्दों को उठाते हुए पं० विष्णुचन्द्र शर्मा ने अपने निबन्ध में लिखा—

"जब तक हिन्दी, कहानियों मात्र की भाषा होगी, तब तक शास्त्रोपयोगी शब्दों की कल्पना नहीं हो सकती... इसलिए जब तक उपन्यासों का प्रचार रोका नहीं जायेगा तब तक यह शब्द-दारिद्र्य नहीं मिटेगा। उपन्यासों के कारण अब तक हिन्दी में कोई शास्त्र नहीं दिखाई देता... जिस भाषा में शास्त्र नहीं हैं, वह केवल गली-कूचों की भाषा है। विद्वानों में इसकी प्रतिष्ठा नहीं हो सकती और जब तक हिन्दी में शास्त्र नहीं होंगे तब तक लोगों को विवश होकर शास्त्र और भाषाओं में पढ़ने होंगे।.....इससे इस भाषा को सारे देश की भाषा बनने में विघ्न पड़ेगा।"

'सुधाकर'जी ने अपने उत्तर में लिखा—"इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दी भाषा में अब तक शास्त्रों का अभाव है। हम यह जानते हैं। किन्तु इसका दोष उपन्यासकारों के मत्थे मढ़ना नितान्त भूल है। यह हमारे पण्डितजी के हृदय की संकीर्णता मात्र है कि जब तक उपन्यासों का प्रचार रोका नहीं जायेगा तब तक शब्द-दारिद्र्य नहीं मिटेगा। इससे यह भाव निकलता है कि उपन्यास ही शास्त्र बनने में बाधक हैं। हमारी समझ में नहीं आता कि उपन्यासकार शास्त्रकारों के बाधक क्यों और कैसे हैं ? कदाच् पण्डितजी कोई शास्त्र रचने बैठे होंगे उस समय किसी उपन्यास-कार ने उनका हाथ पकड़ लिया होगा और उन्हें ऐसा करने से मना किया होगा। कदाच् यह दोष हिन्दी संसार में ही है। भला अन्य भाषाओं में उपन्यासकार शास्त्रकारों से आड़े क्यों नहीं आते ? यदि पंडितजी किंचित् अंग्रेजी, बंगला आदि भाषाओं की और भी दृष्टि डालने का कष्ट करते तो उन्हें स्पष्ट विदित हो जाता कि उन भाषाओं में उपन्यासों की धड़ाधड़ दिन दूनी, रात चौगुनी सृष्टि होते हुए शास्त्रीय विषयों की पुस्तकों की भी रचना होती है। वहाँ के शास्त्रकार क्यों नहीं उपन्यासकारों की पण्डितजी के समान अवहेलना करते ? बात तो यह है कि अपने को हिन्दी भाषा के उत्कट विद्वान समझने वाले मौलिकता न होने से अपनी इस निर्बलता का अपराध उपन्यासकारों के मत्थे मढ़ अपने को निर्दोष सिद्ध करते हैं। यह उतने के लिये कितना उपयुक्त है, सो वे ही जाने। मैं पण्डितजी से निवेदन करता हूँ कि आप शस्त्रों की रचना करें। यदि आपके इस शुभ कार्य में कोई उपन्यासकार आड़े आवे तो उसे आप हिन्दी संसार में प्रकट कर उचित शिक्षा दें अथवा दिलावें। इस कार्य में कोई आपको बाधा दे तो उसका ज़िम्मेदार मैं हूँ।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपन्यास-विद्या को साहित्य से हटा देने की बात का उत्तर देते हुए श्री सुधाकर ने लिखा है—

"आपका कहना है कि उपन्यासों को हिन्दी संसार से सदा के लिए मिटा देना चाहिए, क्यों ? हम जानते हैं किस गुरुतर अपराध के कारण पण्डितजी उपन्यासकारों के पीछे हाथ धोकर पड़े हैं। उनके अस्तित्व में आपकी क्या गति होती है और उसके मटियामेट होने में आपने क्या लाभ विचारा है ? आज जिनके प्रताप से हिन्दी के पाठकों और लेखकों की संख्या में वृद्धि हो रही है, उन्हीं का प्रचार आपकी आँखों में काँटे-सा खटक रहा है। पण्डितजी! जिस भूमि में होने वाले सम्मेलन की स्टेज पर पढ़ा जाने के लिए आपने अपना यह लेख लिखा है, यदि उसके साहित्य की ओर आप किंचित् दृष्टि भी डालते तो आपको उपन्यासों के विषय में ऐसा कह सकने का साहस नहीं होता। आज वही बङ्ग साहित्य उपन्यासों के प्रताप से ही इतना प्रसिद्ध है। अतएव दया कीजिए—हिन्दी संसार में उपन्यासों की कमी है। अच्छे उपन्यासों की सृष्टि होने दीजिये महाराज।"

इस विस्तृत वाद-विवाद के पश्चात् इस स्थिति की कल्पना की जा सकती है कि उस समय बुद्धिजीवियों में उपन्यास के क्षेत्र में किस प्रकार की बहसें हुआ करती थीं।

हिन्दी-पत्रकारिता की इस पृष्ठभूमि के अध्ययन से यह संकेत मिलता है कि उन लोगों ने भाषा-शिल्प और साहित्य के लिए कितना संघर्ष किया। भाषा विषयक उपलब्धियों के अतिरिक्त इन लेखकों ने 'भारतीयता' के परम्परागत आदर्श रूप को बनाये रखने के लिए भी संघर्ष किया। इस युग की पत्रिकाओं, उपन्यासों, कहानियों आदि में एक स्वर से उस रूप को बनाये रखने का आग्रह मिलता है। सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक जीवन के प्रायः सभी पहलुओं पर इन लोगों ने विचार किया और अपने पूरे सामर्थ्य के साथ विचार किया।

आज हमें वे स्थितियाँ कितनी ही बचकानी और अप्रौढ़ लगें, उनकी बहसें कितनी ही व्यक्तिगत आक्षेपों से भरी हुई लगें, मगर हम इस सत्य को अस्वीकार नहीं कर सकते कि सारे विरोधों के बावजूद उन लोगों में एक-दूसरे के प्रति अत्यंत आत्मीयता थी और हिन्दी पत्रकारिता को एक सुस्पष्ट रूप देने की ललक थी। आज की विकसित पत्रकारिता के इस रूप के निर्माण के संदर्भ में हमें उन लोगों का अवश्य ही ऋणी होना चाहिए। यदि कोई इस तथ्य को अस्वीकार करता है तो निश्चय ही इतिहास की सचाई को किसी-न-किसी रूप में नकारता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दो कविताएँ

श्रीराम वर्मा

: १ :

परिवार-नियोजन

न पिसें भीड़ की तरह
टेलिविज़न पर लोग देखें : रोना
किसे कहते हैं ।

सिर्फ आइनें में चेहरे दिखें दुबले ।
राशनकार्ड देख पेट भर जाय
बैठे-बिठाये
हथेलियों के बीच से हँसते
कबूतर उड़ें ।

(तड़ी पड़ी
किसी शांतिप्रिय गंजे सर पर
भ्रम न हो उनके फड़फड़ाते
पंखों से ।

सारा का सारा आसमान भर जाय
जब झुंड से उनके,
न हो बादल-बोध, लगे प्रकाश है;
शांति पृथ्वी पर उतर आयी है अगाध ।)

जनता और जनार्दन
(अनुपात अधिकतम तीन-पाँच)
आसानी से जोड़-तोड़ कर सकें ।
घड़ियाल और बंदर में
अधूरी नहीं, पूरी दाँतकाटी हो ।
(देस से बिदेस तक ।)

मंत्री ज्यादा न हों,
जितने हों, अपने हों ।
(मंत्री चाहे न हो मंडी में ।)

बेकार न हो कोई,
सबके पास कार हो,
टपकती हुई लार हो ।

बा गये,
बा दिये गये
हर मुँह में कौर ।
सिरमौर, सरताज सबके सब,
हर कोई ।
(हर काई दिखे,
पर कोई न दिखे काइयाँ ।)

दायीं जेब में ज़रूरत की सारी चीज़ें,
बायीं में रोज़गार दफ़्तर ।
भैंस के पेट में बजता ट्रांजिस्टर ।

कुर्सी झट से मिल जाय,
जब नेता लुप से दामाद चुने मनपसंद ।
भाई हवाई जहाज़ पर बर्राय,
भतीजा पानी के पोत पर इतराय ।
धोबी का कुत्ता (न घर का, न घाट का)
मुहावरा बदलकर क़ीमती साबुन से नहाय ।

इसलिए ज़रूरी है,
(लोग जायँ सदके !)
चाँदी के लिये चमचे
पैदा हों घर में सबके
बस, दो या तीन बच्चे ।

[क्रमशः]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

: २ :

पतझर

जैसे माँ से किसी ने
छीन ली हो बच्चे की फोटो
और कर दी हो उसकी जाने कितनी
चिन्दियाँ !
—उड़ती हुई धूल में
उड़ती हुई पत्तियाँ ।

हवा में जैसे
भटक रही हैं आँखें और अनंत !

पन्ने पन्ने ढूँढ़ती हुई जैसे
कहाँ हैं वसीयतें और कहाँ है वसंत ?

बढ़ती हुई आबादी,
उद्जन और चंद्रयात्रा :
एक ओर चिन्दियाँ,
एक और दुनिया !

क्या कोई सचमुच ज़िन्दा है
उड़ती हुई धूल में ?

० ० ०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अफ्रीकी कथा-साहित्य की आधुनिक प्रवृत्तियाँ

आनन्दस्वरूप वर्मा

अमरीका में बच्चों के लिए संगृहीत कहानियों की कुछ पुस्तकों में दो मेमनों की एक कहानी है :—

"एक सफेद मेमना एक दिन अपने झुंड में से भटक गया और घूमते-फिरते जंगल में जा पहुँचा। उसे देखकर काले मेमने ने कहा—तुम तो सफेद मेमने हो जिसके पास रहने के लिए अच्छा घर, खाने के लिए अच्छा भोजन और तमाम सुन्दर-सुन्दर चीज़ें होंगी। यहाँ तक कि तुम्हारा रखवाला भी बहुत भला आदमी होगा, लेकिन मैं तो काला हूँ...न जाने किस दिन वह गड़ेरिया (यीशु) आएगा और हमें भी सफेद मेमनों के झुण्ड में मिला देगा!

"यह सुनकर सफेद मेमना बोल पड़ा—मैं नहीं समझता कि वह तुम्हें पसंद करेगा क्योंकि मुझसे बराबर यह कहा गया है कि उसे सफेद कंबल पसन्द हैं और वह केवल सफेद भेड़ें और मेमने ही अपने साथ रखता है। आखिर गड़ेरिया यीशु अपने मेमने की तलाश में आता है जिसका रंग मलिन पड़ने लगा था। यीशु ने अपने मेमने को गोद में उठा लिया और कहा कि अभी धोकर उसे चमका देगा। जब यीशु चलने को हुआ तो काले मेमने ने कहा कि उसकी भी इच्छा थी कि वह यीशु का मेमना हो पर वह तो काला है। यह सुनकर यीशु ने कहा—तुमने सुना नहीं ? मैं धोकर सफेद चमका सकता हूँ। तभी गोद में पड़ा सफेद मेमना बोल पड़ा—यीशु, तुम मुझे चमका सकते हो क्योंकि मैं तो सफेद था ही, पर वह तो जन्म से ही काला है और तुम्हें काले मेमनों से नफरत है।

"कौन कहता है कि मुझे काले मेमनों से नफरत है ? —कहते हुए यीशु ने काले को भी गोद में उठा लिया और एक सोते के किनारे ले जाकर धो दिया। काला मेमना भी सफेद चमकने लगा और खुशी से उछलने लगा।[1]

अमरीका, ब्रिटेन तथा अनेक उपनिवेशों के बच्चों को इस तरह की कहानियाँ पढ़ाई जाती हैं। इन कहानियों को पढ़ने वालों में श्वेत एवं अश्वेत दोनों बच्चे हैं। ये कहानियाँ श्वेत बच्चों के मन में जहाँ रंग के प्रति एक गलत चेतनता का जन्म देती हैं वहीं अश्वेत बच्चों के अन्दर एक हीन भावना भी पैदा करती हैं। क्या उनके उद्धार के लिए भी किसी दिन यीशु आएगा ?

लेकिन नहीं, यीशु का इन्तजार करना व्यर्थ है। वह कभी नहीं आने वाला है। इसीलिए अमरीका से लेकर अफ्रीका तक के अश्वेत लोगों ने अपनी मुक्ति का भार अपने ऊपर लिया और आज अफ्रीका महाद्वीप में लगभग चालीस से भी अधिक स्वतन्त्र राष्ट्रों का जन्म हो चुका है, उसी अफ्रीका में जो बीसवीं सदी के पूवार्द्ध तक यूरोप के सात साम्राज्यवादी देशों—ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी, पुर्तगाल, बेल्जियम, स्पेन और इटली—के बीच टुकड़े-टुकड़े में बँटा हुआ था। यह बात और है कि इन स्वतन्त्र राष्ट्रों में कई आज नव उपनिवेशवाद के चंगुल में फँसे हुए हैं और वहाँ नए सिरे से संघर्ष चल रहे हैं या संघर्ष की तैयारियाँ चल रही हैं।

"ब्लैक अफ्रीका" शब्द से अफ्रीका का जो रूप सामने उभर कर आता है वह मुख्यतया सहारा के दक्षिण का भाग है। इसमें जांबेसी नदी के दक्षिणी भाग (दक्षिण अफ्रीका) को छोड़कर देखें तो अधिकांश राष्ट्र स्वतन्त्र दिखाई देते हैं। दक्षिण अफ्रीका, जिम्बाबवे (रोडेशिया), अंगोला, मोजाम्बिक आदि में तीव्र रूप से मुक्ति संघर्ष जारी हैं और गोराशाही आदि दम तोड़ रही है। जो राष्ट्र स्वतन्त्र हो चुके हैं, वहाँ की संस्कृति, साहित्य एवं सामाजिक व्यवस्था अभी अपने को उपनिवेशवादी संस्कृति के अवशेषों से मुक्त नहीं कर पाई है पर इसके लिए सतत् प्रयत्नशील है।

अफ्रीकी साहित्य पर कुछ भी विचार करते समय हम उस क्रूर तथ्य को नज़रअंदाज़ नहीं कर पाते हैं जिसने अफ्रीका के एक विशाल भाग की समूची सामाजिक व

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आर्थिक व्यवस्था को बेहद अमानवीय और कठिनतम बना दिया है और वह क्रूर तथ्य है वहाँ के काले लोगों पर स्थापित गोराशाही यानी रंगभेद-नीति। रंगभेद-नीति का विकृततम रूप दक्षिण अफ्रीका में देखने को मिलता है और यह मात्र संयोग नहीं है कि अफ्रीका महाद्वीप के साहित्य की चर्चा में जिन लेखकों और कृतियों का महत्त्वपूर्ण ढंग से उल्लेख होता रहा है उनमें। से अधिकांश दक्षिण अफ्रीका के हैं। अलेक्स ला गुमा, रिचर्ड राइव, एज़किएल म्फालेले, एलेन पैटन, माइकेल पिकार्डी, लीविस न्कोसी, फिलिस, अल्टमॉन आदि का सम्पूर्ण साहित्य मुख्यतया गोरे-काले के संघर्ष का साहित्य है, रंगभेद-नीति के विरोध का साहित्य है या कुल मिलाकर वर्तमान शोषणयुक्त व्यवस्था के बदलाव के लिए प्रतिबद्ध साहित्य है। ये लेखक विश्व के उस हिस्से से आते हैं जहाँ उपनिवेशवाद पूरी बेशर्मी के साथ अपनी स्वार्थ-सिद्धि के सभी हथकंडे इस्तेमाल कर रहा है। विश्व का शायद ही कोई ऐसा हिस्सा हो जहाँ अब तक तेरह हज़ार से अधिक पुस्तकों पर प्रतिबन्ध लगाया गया हो, जहाँ बीस वर्षों के अन्दर १,४१९ राजनीतिक बन्दियों को मृत्युदण्ड की सजा दी गई हो तथा न्याय की माँग करने वालों को एक तरफ का पासपोर्ट देकर अपने ही देश से निकाल दिया गया हो।

ऐसी विषम परिस्थितियों में किस प्रकार के साहित्य का सृजन हो सकता है इसकी कल्पना की जा सकती है। उपन्यासकार एज़किएल म्फालेले का कहना है कि 'जहाँ तक सर्जनात्मक लेखन का सम्बन्ध है, मैं काफी निराशा महसूस करता हूँ...इन स्थितियों से संघर्ष करने में हमारी शक्ति इस हद तक क्षीण हो जाती है कि सृजनात्मक लेखन के लिए हमारे पास कुछ रह ही नहीं जाता है। आप यह सवाल कर सकते हैं कि लेखन की दिशा में यह क्यों नहीं प्रेरणा बन सका पर मैं समझता हूँ कि ये स्थितियाँ आदमी को लकवा-ग्रस्त कर देने वाली स्थितियाँ हैं।[2] जेम्स बाल्डविन को लिखे गए एक पत्र में मेरी बेन्सन ने भी यही सवाल उठाया है कि 'जिन अति तनावपूर्ण स्थितियों में एक दक्षिण अफ्रीकी को रहना पड़ता है, उसमें वह किस प्रकार रचनाकार के दायित्व का निर्वाह कर सकता है?'[3]

अलेक्स ला गुमा, लीविसन्कोसी, रेमण्ड कुएनेने, एज़किएल म्फालेले, डेनिस ब्रूटस, ब्लोक मॉदिसेन, अल्फ्रेड हचिन्सन आदि अफ्रीकी लेखन से संबद्ध सारे सुपरिचित नाम दक्षिण अफ्रीका से बाहर निर्वासित कर दिए गए हैं। १९६१ के लगभग डेनिस ब्रूटस पर कुछ भी लिखने या छपवाने पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। यह प्रतिबन्ध उस कानून के अन्तर्गत लगाया गया था जो तोड़-फोड़ करने वालों के लिए बना था। १९६५ में जेल से छूटने के एक दिन पहले यह प्रतिबन्ध हटा लिया गया पर फिर एक नई धारा के अन्तर्गत १९७० के लिए उसका नवीकरण कर दिया गया। ये प्रतिबन्ध संख्या में तीन थे, पहला, कुछ भी लिखना; दूसरा, कुछ भी प्रकाशित कराना; और तीसरा, किसी भी प्रकाश्य सामग्री का प्रारूप तैयार करना। फिर लम्बे अरसे तक उन्हें नज़रबन्द रखने के बाद एक तरफ का पासपोर्ट देकर देश से बाहर निकाल दिया गया। उपन्यासकार अलेक्स ला गुमा पर १९५६ में 'सरकार का तख्ता पलटने के कम्युनिस्ट प्रयासों' का आरोप लगाकर अफ्रीकन नेशनल कांग्रेस के १५६ सदस्यों के साथ गिरफ्तार कर लिया गया। 'ट्रेज़न ट्रायल' के नाम से यह विख्यात मुकदमा लगभग पाँच वर्षों तक चला और अदालत द्वारा आरोपों की पुष्टि न होने पर सबकी रिहाई हुई, पर १९६२ में उन्हें पुनः नज़रबन्द कर दिया गया। इसी अवधि में उन्होंने अपना पहला उपन्यास 'ए वॉक इन द नाइट'[4] लिखा जिस पर दक्षिण अफ्रीका में पूर्णतया प्रतिबन्ध लगा दिया गया। दक्षिण अफ्रीका की संसद द्वारा 'नाइन्टी डेज़ नो ट्रायल ऐक्ट' के पास होने के बाद १९६३ में पुनः अलेक्स ला गुमा को बिना मुकदमा चलाए बन्द कर दिया गया। इस अवधि में उन्हें पूरी तौर पर एकान्तवास की सज़ा दी गई। चौबीस घंटों में से साढ़े तेईस घंटे वह एकान्त में रहते और आधे घंटे के लिए उन्हें व्यायाम आदि की छुट्टी दी जाती। इस प्रकार उनकी राजनीतिक गतिविधियों पर पूरा-पूरा अंकुश लगा दिया गया। ऐसी स्थिति में एक लेखक अन्याय का विरोध कैसे करे? इस अवधि में उन्होंने अपना दूसरा उपन्यास एण्ड ए थ्री-फोल्ड कार्ड'[5] लिखा। बाद में जब उन्हें देश से निर्वासित कर दिया गया, तब उनका तीसरा उपन्यास 'द स्टोन कंट्री'[6] प्रकाशित हुआ।

सरकार द्वारा वहाँ की साहित्यिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियों पर नियंत्रण रखने की ये कोई विशेष घटनाएँ नहीं हैं बल्कि यह तो आम बात हो गई है। अभी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पिछले दिनों, अगस्त १९७० में दक्षिण अफ्रीका के प्रमुख नाटककार एथोल फ्यूगार्ड को अमरीका जाने के लिए पासपोर्ट देने से महज़ इसलिए इनकार कर दिया गया क्योंकि वह सरकार की दमनकारी नीतियों का समर्थन करने में अपने को असमर्थ पाते थे। फ्यूगार्ड का नाटक 'बोनमैन एण्ड लीना' न्यूयार्क में खेला जाने वाला था और उसका रिहर्सल देखने के लिए उन्हें आमंत्रित किया गया था। इसी प्रकार की घटना दस वर्ष पूर्व 'क्राइ द बिलवेड कंट्री' नामक विख्यात उपन्यास के लेखक एलेन पैटन के साथ भी हो चुकी है।

इन स्थितियों में जबकि लिखने मात्र पर (प्रकाशन की तो बात ही अलग है) प्रतिबन्ध लगा दिया गया हो, उस समय आप यदि अच्छा या बुरा कैसा भी लिख रहे हों तो दक्षिण अफ्रीका में रंगभेद-नीति के विरोध का यह एक तरीका माना जाएगा।[७]

इसीलिए दक्षिण अफ्रीका का लेखन आज पश्चिमी दुनिया के स्थापित मानदण्डों की परवाह न करते हुए अपनी रचनात्मकता के अलग मानदण्ड स्थापित कर रहा है। पश्चिमी दुनिया के सामने अपना 'औचित्य' साबित करने वाली रूढ़ धारणाओं को जब तक वह ध्वस्त नहीं कर देता, वह अपने को स्वतन्त्र एवं विचारवान नहीं साबित कर सकता। 'जहाँ तक सामाजिक जीवन का सम्बन्ध है, पश्चिमी विचार-पद्धति मृत हो चुकी है। वह अब आगे नहीं जा सकती बल्कि एक गोले में ही घूमती रहेगी और और अफ्रीका के बुद्धिजीवी को इसके लिए एक रास्ता बनाना होगा और अपने बारे में सोचना होगा।[८] और जिन लेखकों ने इस दिशा में सोचा है, उनका लेखन सही अर्थों में विरोध का लेखन साबित हुआ है। कुछ लोगों का कहना है कि जहाँ राजनीतिक संभावनाएँ इतनी प्रशंसनीय हैं वहीं साहित्यिक स्तर में गिरावट आई है पर साथ ही यह भी सही है कि 'रंगभेद-नीति की भर्त्सना करने वाले विश्व जनमत ने आलोचकों को उन सारी कृतियों को साहित्यिक मानने को तैयार कर दिया है जिनका राजनीतिक महत्त्व ज्यादा है। दक्षिण अफ्रीकी साहित्य की उत्कृष्टता का निर्णायक तत्त्व विषय-वस्तु है।'[९]

दिसम्बर, १९६२ में अकरा (घाना) में अफ्रीकावादियों के प्रथम अन्तरराष्ट्रीय कांग्रेस में एज़किएल म्फालेले ने अपना एक लेख पढ़ा था जिसमें कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाए गए थे। उनका विचार था कि केवल शोषित-पीड़ित 'अश्वेत अफ्रीकियों' द्वारा लिखे गए के नाम पर किसी कृतित्व की परख नहीं की जा सकती बल्कि उन विशिष्टताओं को इंगित करना ज़्यादा आवश्यक है जो आम लेखन से उसे अलग करती है। और यदि गौर करें तो दक्षिण अफ्रीका के श्वेत एवं अश्वेत लेखकों के बीच स्वयं एक अन्तर दिखलाई पड़ेगा।

ऐसा होना स्वाभाविक भी है। श्वेत एवं अश्वेत लेखक के सोचने के तरीके में, अनुभव के दायरे में अन्तर होगा ही। यह सच है कि अफ्रीका के प्रगतिशील श्वेत लेखक भी रंगभेद-नीति का विरोध करते हैं जिसका उदाहरण एलेन पैटन का 'क्राई द बिलवेड कंट्री' नेदिन गार्डीमर का 'द लेट बुर्जुवा वर्ल्ड' उपन्यास एवं इनकी तमाम कहानियाँ तथा माइकेल पिकार्डी की तमाम रचनाएँ हैं पर एक अश्वेत लेखक जिसके लिए रात में ११ बजे के बाद ज़्हान्सबर्ग में कर्फ्यू लग जाता है, जिसे बिना पास लिए घूमने पर गिरफ्तार कर लिया जाता है, जिसकी जमीन किसी भी समय 'श्वेत क्षेत्र' घोषित करके छीन ली जाती है, जिसे घंटों तक बस स्टॉप पर खड़ा रहना पड़ता है और खाली जाती बसों में बैठने की इच्छा दबाकर उस बस का इन्तज़ार करना पड़ता है जो अश्वेतों के लिए है, जो पार्क की खूबसूरत बेंचों पर नहीं बैठ सकता क्योंकि उस पर 'फॉर ह्वाइट्स ओनली' या 'स्लेग्स वर ब्लैक्स' लिखा रहता है, जिसके सामने पुलिस वाले की लाल आँखें हरदम आग उगलती रहती हैं, जेब में पैसे होने पर भी जो किसी होटल में जाकर चाय नहीं पी सकता क्योंकि वह केवल गोरों के लिए है—उसकी विचार-प्रक्रिया एवं रचना-प्रक्रिया में तथा सारी सुविधाओं का उपभोग करने वाले प्रगतिशील श्वेत लेखकों की रचना-प्रक्रिया में कोई अन्तर न हो, ऐसा हो ही नहीं सकता। म्फालेले यदि कहते हैं कि 'कोई भी स्पष्ट रूप से देख सकता है कि वे (श्वेत लेखक) रंग लाइन के श्वेत वाले हिस्से में हैं क्योंकि उनका तादात्म्य अश्वेत पात्रों की अपेक्षा श्वेत के ज़्यादा निकट है'[१०] या जॉन एफ० पोवॉय का कथन कि 'श्वेत-अश्वेत लेखक एक ही एप्रोच के साथ लिखना शुरू करते हैं लेकिन श्वेत लेखक अधिक अलग-अलग-सा लगता है'[११] या केन्या के कथाकार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जेम्स न्गुगी का खीजकर 'श्वेत घुसपैठिए'[12] कहने के पीछे यही पृष्ठभूमि है।

निस्संदेह अश्वेत लेखक रिचर्ड रॉइव की 'बेंच'[13] कहानी का नायक कार्ली या 'ड्राइव इन'[14] का नायक बिल श्वेत लेखक एलेन पैटन या माइकेल पिकार्डी के नायकों की तुलना में अधिक जुझारू दीखते हैं। पर इसके पीछे श्वेत लेखकों की कोई सुनियोजित योजना हो ऐसा मैं नहीं मानता बल्कि मेरे विचार से यह व्यवस्था-विशेष में रहने वाले लेखक की मजबूरी है। रिचर्ड रॉइव, अलेक्स ला गुमा या अन्य अश्वेत लेखकों ने यदि काली जाति के संगठित होने और गोराशाही के विरुद्ध मुकाबला करने की सम्भावनाओं को ढूंढा है जो श्वेत लेखक एलेन पैटन, फिलिप्स अल्टमॉन, नेदिन गार्डिमर आदि ने भी उन स्थितियों को पूरी ईमानदारी के साथ उभारा है जो गोराशाही के प्रति तीखी नफरत पैदा करती हैं और जिसका सम्यक् प्रभाव कमोबेश वही होता है जो अश्वेत लेखकों की कृतियों का है। इस संदर्भ में एलेन पैटन के पैम्फलेट 'द पीपुल वेप्ट' मात्र का ही उल्लेख कर देना पर्याप्त होगा।

रिचर्ड रॉइव की 'बेंच' कहानी का नायक कार्ली अपने गाँव से किसी कार्यवश कैपटाउन आता है और उसे यहाँ कुछ अजीब बातें देखने को मिलती हैं जिससे वह अभिभूत हो जाता है, मसलन गोराशाही के विरुद्ध खुली सभा जिसमें गोरे और काले साथ-साथ बैठकर रंगभेद-नीति का विरोध करते हैं, उस कानून को चुनौती के रूप में स्वीकार करने की 'ज़िम्मेदारी' का बोध कराते हैं जो 'किसी के ज़िन्दा रहने के अधिकार को छीनता है।' वह देखता है कि सभा-मंच पर उस क्षेत्र का अश्वेत मज़दूर नेता एंजेली एक गोरी महिला को सिगरेट पेश करता है और वह सहर्ष उसे ले लेती है। यह सारी चीज़ें कार्ली ने कभी सपने में भी नहीं सोची थीं। वह अपने अन्दर 'एक तूफान महसूस कर रहा था···एक ऐसा तूफान जिसके बाहर आने के विषय पर उसने पहले कभी नहीं सोचा था।'

शाम को जब वह अपने गाँव जाने के लिए स्टेशन पहुँचता है तब तक उसके अन्दर कई नए विचार घर कर चुके होते हैं। उसे स्टेशन पर एक बेंच दिखलाई देती है जिस पर साफ-साफ अक्षरों में 'केवल गोरों के लिए' लिखा होता है। उसे महसूस होता है कि 'उसके और आदमियत के बीच का रोड़ा यह बेंच ही है...अगर वह बेंच पर नहीं बैठता है तो उसे अपने को आदमी कहने का कोई अधिकार नहीं है। उसके आदमी साबित होने का सारा दारोमदार इस मामूली-सी बेंच पर ही है।' इस मौके का वह लाभ उठाता है और बेंच पर बैठ जाता है। उसकी इस मनोदशा का बड़ा अच्छा चित्रण कथाकार ने किया है :

> 'बेंच पर बैठने के बाद ऊपर से तो वह शान्त दीख रहा था पर उसका दिल बुरी तरह धड़कने लगा। दो विरोधी विचार दिमाग में उथल-पुथल मचा रहे थे। एक आवाज़ कहती—तुम्हें इस बेंच पर नहीं बैठना चाहिए था। पहला विचार उसके अतीत को दिखलाता, खेतों पर उसकी जानलेवा काम की याद दिलाता, उसके पिता की झुकी आकृति सामने लाता और उसके पिता के पिता का इतिहास खोलता जो खच्चर की तरह पैदा हुए, खच्चर की तरह ज़िन्दगी बिताए और खच्चर की तरह ही मर गए। दूसरी आवाज़ में भविष्य के सपने थे—कार्ली, तुम एक आदमी हो। तुमने वह साहस दिखलाया है जो तुम्हारा पिता नहीं दिखला सका। तुमको आदमी की मौत मिलेगी।'

उसने अखबारों में कभी-कभार ऐसी तसवीरें देखी थीं जिनमें आंदोलनों में गिरफ्तार लोग मुस्कराते हुए दिखलाई पड़ते थे और वह इस पहेली को नहीं समझ पाता था। कहानी के अन्त में एक गोरा युवक पुलिस की मदद लेता है और कार्ली को बेंच पर से उठने को मजबूर करता है :

> 'नहीं उठता है तो साले को एक बूट दो—कार्ली की गर्दन पर हाथ लगाते हुए गोरे युवक ने कहा—उठ, साले उठ—हरामज़ादे! 'कार्ली ने प्रतिरोध में बेंच को कसकर पकड़ लिया। कई आदमी मिलकर उसे खींच रहे थे और बर्बरतापूर्वक उस पर प्रहार कर रहे थे। अचानक उसे लगा जैसे किसी ने उसकी आँख पर एक घूँसा लगा दिया है। आँख के पास से खून टपकने लगा। वह अब लड़ेगा। पुलिस कांस्टेबल ने अपने दोनों हाथों से उसकी कलाई पकड़नी चाही और भीड़ में खींचना चाहा। कार्ली भीड़ से जूझता रहा और उसके ऊपर अनगिनत प्रहार होते रहे। सहसा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह ढीला पड़ गया। लड़ना व्यर्थ है—उसने सोचा। हाँ, अब उसकी बारी है मुस्कराने की—वही मुस्कराहट जो अखबारों में छपी तस्वीरों के चेहरों पर थी। उसने चुनौती दी और विजय महसूस की, परिणाम की किसको परवाह है!

'इधर आ साले—पुलिस वाले ने भीड़ के बीच से उसे खींचते हुए कहा।

'हाँ, हाँ शौक से—कार्ली ने पहली बार अपनी ज़बान खोली और पुलिस वाले की तरफ उस गुस्ताख़ की नज़रों से देखा, जिसने गोरों की बेंच पर बैठने की हिमाक़त की थी।'

रिचर्ड रॉइव की यह विशेषता है कि वह एक छोटी घटना से या एक-दो चरित्रों के माध्यम से समूचे उद्देश्य एवं भावनाओं की पर्त-दर-पर्त खोलते जाते हैं। अपने पहले उपन्यास 'इमरजेंसी[१५]' में उन्होंने बड़ी कुशलता से उस सामाजिक एवं नस्ली पृष्ठभूमि का चित्रण किया है जिसमें पलकर केपटाउन का एक अश्वेत लड़का ऐण्ड्रयू ड्रेयर बड़ा होता है। किस प्रकार वह डिस्ट्रिक्ट सिक्स की घरेलू तू-तू मैं-मैं और कलह आदि से किनारा करता हुआ विश्वविद्यालय तक की पढ़ाई पूरी करता है और रंगभेद-नीति विरोधी आंदोलन का संचालन करता है—इसका बड़ा सटीक चित्रण उपन्यास में मिलता है। ड्रेयर एण्ड्रयू तथा एक श्वेत लड़की रूथ के प्रेम को लेकर कहानी चलती है और इसी के साथ तमाम घटनाओं का तारतम्य जुड़ा रहता है। एण्ड्रयू का चरित्र बहुत कुछ 'ड्राइव इन' के नायक बिल से मेल खाता है। दोनों चौबीसों घंटे राजनीति की ही दुनिया में जीते हैं। दोनों किसी-न-किसी रूप में इसे मानते हैं कि 'कभी-कभी आदमी को खतरे उठाने पड़ते हैं। आज़ादी कोई प्लेट में परोस कर नहीं दे जाता।[१६] बिल तो कभी-कभी ज़्यादा तीखा भी हो उठता है। दल में काम करने वाली श्वेत लड़की वाल्दा की अपने प्रति अतिरिक्त सहानुभूति देखकर वह उससे कहता है कि 'मुझे लगता है कि तुम रंग के बारे में ज़रूरत से ज़्यादा उदारता बरतने की कोशिश करती हो। यह एक तरह की उल्टी रंगभेद नीति है।'[१७] 'इमरजेंसी' के अति राजनीतिक संवाद कहीं-कहीं पाठक को उसी प्रकार उबारने लगते हैं जिस प्रकार म्फालेले की कहानियाँ जिनकी गति असाधारण रूप से धीमी रहती है।

हाँ, म्फालेले का आत्मकथात्मक उपन्यास 'डाउन सेकंड एवेन्यू'[१८] धीमी गति के बावजूद दिलचस्प और विचारोत्तेजक है। अफ्रीका में होने वाली दो आम घटनाओं का ज़िक्र इसमें शामिल है। नकली देशी शराब बेचने वाली दूकानों की तलाश में पुलिस द्वारा आम गिरफ्तारी और एक नीग्रो जिले का अनिवार्य रूप से खाली कराना और इसे खाली कराने में पुलिस की गोली से कुछ बच्चों का मर जाना। आत्मकथात्मक शैली में लिखे गए उपन्यासों में ब्लोक मोदिसेन का 'ब्लेम मी ऑन हिस्ट्री' तथा 'ट्रेजन ट्रायल' के एक अन्य अभियुक्त अल्फ्रेड हचिसन का 'रोड टू घाना' भी दक्षिण अफ्रीका की यातनापूर्ण ज़िन्दगी का चित्र प्रस्तुत करता है।

विषय और शिल्प, दोनों की दृष्टि से अलेक्स ला गुमा की कहानियाँ और उनके तीनों उपन्यास 'ए वाक इन द नाइट', 'एण्ड ए थ्री-फोल्ड कॉर्ड', और 'द स्टोन कंट्री' बेजोड़ हैं। पहले दोनों उपन्यासों में डिस्ट्रिक्ट सिक्स के लोगों की स्लम-ज़िन्दगी का, उनकी दिनचर्या का तथा उनकी आम मुसीबतों का जितनी आत्मीयता से वर्णन किया गया है, वह बहुत कम देखने को मिलता है। अलेक्स ला गुमा को डिस्ट्रिक्ट सिक्स के लोगों से बेहद प्यार है, उन्होंने उन बच्चों को देखा है जिनकी 'आँखों में गरीबी का भरा रंग तैरता है,' जिनके मकान के चारों तरफ 'पाखानों और पेशाबों की गंध भरी रहती है' और जिनकी सारी बरसात सीलन-भरे कमरे की टपकती हुई छाजन को जोड़ने में ही बीत जाती है। अलेक्स ला गुमा का एक नायक चार्ली एक दिन अपनी प्रेमिका को बुलाने उसके श्वेत मालिक के मकान पर जाता है जहाँ वह चौका-बरतन करती है। उस मकान को देखकर वह दंग रह जाता है और अपने पड़ोसी से उस मकान का वर्णन करता है: 'सुनो, सुनो चचा बेन, मैं एक बार फ्रेदा को देखने उसके मालिक के मकान पर गया। उसका मकान! इतना बड़ा मकान था जैसे शहर का वह बड़ा वाला हॉल हो और वहाँ एक बूढ़ी कुतिया थी जिसके भूरे बाल थे और मोटे चूतड़ थे। उसका मर्द तो मील भर लंबी मेज़ पर बैठ कर खाना खा रहा था और उस मेज पर, बाप रे बाप, कितना सामान रखा था। मेरी तो दरवाज़े को छूने तक की हिम्मत नहीं हुई। चमचमाती हुई मेज पर दुनिया-भर का गोश्त और कबाब रखा था।'[१९]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेकिन जब वह कहता कि, 'मेरा दोस्त कहता था अगर दुनिया की सारी चीज़ें सब लोगों में बराबर बाँट दी जाएँ तो कोई परेशानहाल न रहे,' तब चचा बेन उसे रोक देते हैं, 'नहीं बेटे, बाइबिल में लिखा है कि दूसरे की चीज़ पाने की इच्छा न करो।'[२०] वही चार्ली जब बारिश में दिन-रात अपनी छत दुरुस्त करता रहता है तो बड़बड़ाता है, 'क्या मज़ाक है ! यहाँ लाखों लोग ऐसे हैं जो अपनी छत ही दुरुस्त करते रह जाते हैं और न जाने कितने साले ऐसे हैं जिनके रहने के लिए आलीशान मकान बना है...वैसा ही मकान जिसमें फ्रेदा काम करने जाती है।'[२१] अलेक्स लागुमा के पात्र संघर्ष में पलते हुए थकते नहीं बल्कि संघर्ष उन्हें और तपा देता है और वे ज़िंदगी को खुशहाल बनाने की दिशा में किसी मौलिक बदलाव की बात सोचते हैं।

इसके विपरीत एलेन पैटन, माइकेल पिकार्डी, नेदिन गार्डिमर या फिलिप्स अल्टमॉन जैसे श्वेत लेखकों के अश्वेत पात्र हमेशा बेचारगी की स्थिति में ही दिखलाई पड़ते हैं। रंगभेद-नीति के कारण गोरों द्वारा किए अत्याचारों के प्रति उनकी विवश सहनशीलता उनके प्रति सहानुभूति पैदा करती है। इनका एप्रोच भी बड़ा आदर्शवादी है। 'क्राइ द बिलवेड कंट्री' का जुलू पादरी अपने भटके हुए लड़के की तलाश में जान्सबर्ग की खाक छानता है और उसे एक श्वेत व्यक्ति की हत्या के जुर्म में बंद पाता है। व्यग्र पादरी कुमालों को तभी शांति मिलती है जब वह मृत व्यक्ति के पिता के साथ रहने लगता है। सम्पूर्ण कथानक दहला देने वाला है। लगभग पच्चीस वर्ष पूर्व (१९४४ में यह उपन्यास पहली बार प्रकाशित हुआ था) फादर कुमालो द्वारा व्यक्त की गई धारणा कि 'एक दिन जब वे (श्वेत) हमें प्यार करने के लिए विवश होंगे तब तक हमारे भीतर भारी मात्रा में उनके लिए घृणा इकट्ठी हो गई रहेगी,'[२२] कितनी सच लगती है।

एलेन पैटन की एक अन्य कहानी 'ए ड्रिंक इन द पैसेज'[२३] का नायक अश्वेत शिल्पी है जिसकी एक मूर्ति 'माँ और शिशु' से अभिभूत हो कर एक श्वेत युवक उसे अपने घर ले जाता है और शराब पिलाता है। शराब पीते समय युवक उसकी प्रशंसा करता रहता है और शिल्पी भयभीत रहता है कि कहीं किसी तरफ से पुलिस आकर गोरों की बिल्डिंग में उसकी मौजूदगी पर उसे गिरफ्तार न कर ले। अन्त में वह श्वेत युवक उसे अपनी कार में स्टेशन तक छोड़ आता है और कुछ कहना चाहता है पर कह नहीं पाता। लेकिन शिल्पी की समझ में सारी बात आ जाती है :

'हाँ, मैं उसका मकसद समझ गया था। मैं समझ गया कि वह भी मुझे छूना चाहता है लेकिन यह मुमकिन नहीं था क्योंकि सदियों के अंधेरे ने उसे अन्धा बना दिया था। यह एक दयनीय स्थिति थी क्योंकि दो व्यक्ति यदि एक-दूसरे को छू नहीं सकते तो तय है कि वे एक-दूसरे पर किसी-न-किसी दिन ज़रूर प्रहार करेंगे। वह छू नहीं सकता था क्योंकि गोरा आदमी कभी काले को छू नहीं सकता। अगर छू भी ले तो दुर्घटनावश—उन्हीं हालातों में जब कोई 'माँ और शिशु' जैसी कृति बनावे।

'तुम क्या सोच रहे हो ?'—उसने पूछा।

'बहुत कुछ—मेरे इस जवाब से वह उदास, पराजित और थका-थका-सा दिखने लगा। स्टेशन का फाटक आ गया था, उसने कार रोकी...मैंने शुक्रिया अदा की और उतर गया। वह क्या सोच रहा था यह मैं नहीं कह सकता। हाँ, मैं यह ज़रूर सोच रहा था कि लोहे के जूते पहनकर वह दौड़ में भाग ले रहा है पर यह नहीं समझ पा रहा है कि कौन-सी चीज़ उसके दौड़ने में रुकावट डाल रही है।'[२४]

श्वेत क्षेत्र में बिना स्पेशल पास के पाए जाने पर कोई भी अश्वेत व्यक्ति पुलिस से बच नहीं सकता भले ही वह किसी श्वेत व्यक्ति का मेहमान ही क्यों न हो। मुकदमा चलता है और सज़ा मिलती है। इसके अलावा पुलिस उसकी भरपूर पिटाई भी करती है और वह नीग्रो या 'निग्गर' या 'काफ्फिर' डर के मारे जज से कुछ कह भी नहीं पाता। माइकेल पिकार्डी का पात्र एमोस अपने ही देश में किस यातना का अनुभव करता है :

'कचहरी के बरामदे में एमोस मौजूद था। मार्था ने पिछले तीन दिनों से—गिरफ्तारी की रात से ही उसे नहीं देखा था...एमोस के होंठ सूजे और फटे हुए थे। माथे पर गहरा काला दाग पड़ा था।

'उन्होंने तुमको पीटा भी ?'—मार्था ने पूछा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'हाँ—उसने जवाब दिया—मैं चाहता था कि जज साहब को बतलाऊँ पर हिम्मत न पड़ी।'

'क्यों ?'—उसकी आँखें भर आई थीं।

'मैं बेहद डरा हुआ था।'

मार्था की तबियत हुई कि वह खूब तेज आवाज़ में चीखे, उसके कंधों को थपथपाए, होठों पर के घावों पर अपने होंठ रख कर सारा दर्द खींच ले पर वह कुछ कर न सकी।'[२५]

दक्षिण अफ्रीका के श्वेत लेखकों की ऐसी तमाम कहानियाँ भी हैं जिनमें रंगभेद-नीति का कोई संदर्भ नहीं है पर उनका मूल स्वर यही है क्योंकि पिछले कई वर्षों की गोराशाही ने जिस सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था का जन्म दिया है तथा उसमें पले लोगों का चित्रण जिस रूप में भी किया गया है उन्हें आप रंगभेद-नीति के प्रभाव से कैसे अछूता मान सकते हैं !

सहारा के दक्षिण और जांबेसी नदी के तट तक फैले भाग में अफ्रीका के उन देशों का काफी बड़ा हिस्सा आ जाता है जहाँ या तो स्वतंत्रता मिल चुकी है या स्वतंत्रता के लिए मुक्ति-संघर्ष चल रहे हैं या प्रत्यक्षतः साम्राज्यवाद तो समाप्त हो चला है पर नव उपनिवेशवाद के चंगुल में देश छटपटा रहा है। उन देशों में जनता की आंकाक्षाओं का हनन अपनी ही सरकार द्वारा हो रहा है क्योंकि विदेशी शासक तो चले गए पर सत्ता की बागडोर राष्ट्रीय पूँजीपतियों के हाथ में आ गई। इस संदर्भ में केन्या एक ज्वलंत उदाहरण है। किसी जमाने में महान क्रांतिकारी समझे जाने वाले जोमो केन्याटा के प्रशासन ने वहाँ किस हद तक असमानता, भ्रष्टाचार, पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था का जन्म दिया है तथा अपने राजनीतिक विरोधियों (उदाहरण के लिए ओजिंगा ओडिंगा) को अन्यायपूर्ण ढंग से जेल में बंद कर दिया है यह दृष्टव्य है। नाइजीरिया का गृहयुद्ध हम पिछले दिनों देख ही चुके हैं। घाना में एक के बाद एक विदोहों की श्रृंखला भी किसी से छिपी नहीं है। तंजानिया जैसे गिने-चुने देशों को छोड़ कर सब की हालत कमोबेश ऐसी ही है।

इसलिए पश्चिमी, पूर्वी या मध्य अफ्रीका के उपन्यासकारों की थीम साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद एवं नव-उपनिवेशवाद विरोधी है। दक्षिण अफ्रीका के साहित्य में रंगभेद-नीति-विरोधी तथा अफ्रीका के अन्य हिस्सों के साहित्य में साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद-विरोधी तत्त्व अफ्रीका की सामाजिक एवं ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की ही उपज हैं।

जेम्स न्गुगी, शीनुआ एशेब, बोल सोयिन्का, शाहप्रयन एक्वेन्सी, मांगो बेती, फेरदिंद ऑयोनो, अमा अता आइडू आदि के उपन्यासों या कहानियों में दक्षिण अफ्रीकी लेखकों के मुकाबले एक स्पष्ट अन्तर देखा जा सकता है। 'दक्षिण अफ्रीकी लेखक जहाँ यह सोचता है कि सरकार बदल जाने से स्थितियाँ बेहतर हो सकती हैं, नाइजीरिया का लेखक ऐसा नहीं सोचता। उसकी आलोचना किसी पार्टी-विशेष को लक्ष्य करके नहीं है बल्कि देश के समूचे राजनीतिक एवं सामाजिक ढाँचे पर तीखा प्रहार है। सरकार की भर्त्सना करने के बजाय वे भ्रष्ट करने वाली भावनाओं यथा घूसखोरी, भ्रष्टाचार, पद-लोलुपता, हिंसा आदि की भर्त्सना करते हैं।'[२६]

शीनुआ एशेब का उपन्यास 'ए मैन आफ द पीपुल',[२७] १९६६ में प्रकाशित हुआ और उपन्यास के प्रकाशन के एक माह बाद ही नाइजीरिया में पहली सैनिक क्रांति हुई। ऐशब को इस विस्फोट का पूर्वाभ्यास हो चुका था। उक्त उपन्यास स्वतन्त्रता के बाद देश में फैले भ्रष्टाचार की विस्फोटक स्थिति का जिस व्यंगात्मक लहजे में पर्दाफाश करता है उसे पढ़ कर यह स्पष्ट हो जाता है कि आज़ादी के बाद जिन लोगों ने सत्ता संभाली वे जनता के आदमी (ए मैन आफ द पीपुल) नहीं थे बल्कि भूतपूर्व शासकों के ही आदमी (व्हाइट मैन्स् पीपुल) थे। उपन्यास का नायक ओडिली और एक प्रमुख पात्र राजनीतिक नेता चीफ नांगा के चरित्र के माध्यम से मौजूदा राजनीतिक स्थिति पर तीखा व्यंग्य किया गया है। व्यक्तिगत प्रतिशोध की भावना से प्रेरित हो कर युवा ओडिली राजनीति के क्षेत्र में घुसता है और वह प्रारम्भ में काफी वामपंथी विचारों वाला लगता है पर बाद में पता चलता है कि चीफ नांगा और कोको से वह किसी माने में कम नहीं है। हाँ, चीफ नांगा के मुकाबले धूर्तता, घूसखोरी आदि के तरीकों में वह चालाकी नहीं बरत सका। सम्पूर्ण उपन्यास की कथा का वर्णन ओडिली करता है।

एशेब के दूसरे उपन्यास 'नो लांगर ऐट ईज़'[२८] के एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजनीतिक नेता साम की दुनिया भी अजीब ही है। वह बतलाता है कि 'मेरे पास सहायक के रूप में एक नाइजीरियन था पर वह बड़ा इडियट था। उसका सर ऐसा फूला रहता था जैसे कोई सिपाही हो क्योंकि वह आइन्दन का पढ़ा हुआ था! अब मेरा सहायक एक गोरा व्यक्ति है, उसकी शिक्षा-दीक्षा भी ऑक्सफोर्ड में हुई है और वह मुझे 'सर' कहता है।...अपने देश के लोगों को अभी बहुत-कुछ सीखना है।' साइप्रयन एक्वेंसी के उपन्यास "ब्यूटीफुल फीदर्स'[२९] का पात्र जैकोब, टी० एम० आकुल्को के 'वन मैन, वन मैचेट'[३०] का पात्र बैंजामिन या 'किन्समैन एण्ड फोरमैन'[३१] का नायक—इन सबके माध्यम से नाइजीरिया का वही चित्र उभरता है जिसकी आज़ादी के पूर्व कभी किसी ने कल्पना भी नहीं की थी।

यूरोपीय साहित्य के पाठकों को इन उपन्यासों में शायद वह स्वाद न मिले जिसके वे आदी हो चुके हैं पर जैसा कि शीनुआ एशेब ने कहा है, 'यूरोपीय लेखकों के विपरीत अफ्रीकी लेखक अपने समाज के लोगों की आकांक्षाओं के विरुद्ध विद्रोह की स्थिति में नहीं है। जनता को पुनर्शिक्षित और पुनर्जाग्रत करने के दायित्व से लेखक छुटकारा नहीं पा सकता और उसे यह करना ही होगा। वस्तुतः इसके लिए उसे मोर्चे की पहली कतार में होना चाहिए क्योंकि चाहे कुछ भी हो वह अपने वर्ग का एक संवेदनशील प्राणी है।'[३२]

सामाजिक दायित्व की यही भावना केन्या के युवा लेखक जेम्स न्गुगी के उपन्यासों में भी देखी जा सकती है। न्गुगी के विचार से व्यापक या विश्वजनीन मूल्यों का कोई अर्थ नहीं है। यदि कहीं व्यापक मूल्य हैं तो वे सामाजिक यथार्थ के चौखटे के भीतर ही हैं।[३३] एक अन्य अफ्रीकी आलोचक के अनुसार 'एक पूर्वी अफ्रीकी लेखक निर्वात (वैकुअम) में नहीं जीता है जहाँ से वह एकदम 'निस्संग' हो कर ऐसी रचना कर सके जो उसके समाज-विशेष की न हो कर आम मानवता के लिए हो। वह जिस समाज में रहता है उसके बारे में लिखते समय उसके विचारों से प्रभावित होने के लिए वह विवश है।'[३४] जेम्स न्गुगी के तीनों उपन्यास 'वीप नाट चाइल्ड', 'द रीवर बिट्वीन' और 'ए ग्रेन आफ व्हीट'[३५] में गुलाम केन्या का, माउ माउ संघर्ष काल के केन्या का, दो संस्कृतियों की चक्की में पिसते केन्या का विविध रूप हमें दिखलाई पड़ता है।

'वीप नाट चाइल्ड' में माउ माउ आंदोलन काल के केन्या का चित्रण मिलता है। संभवतः इस आन्दोलन का उनके दिमाग पर बड़ा गहरा प्रभाव था। वह स्वयं उस दौर से गुजरे थे और उन्होंने महसूस किया था कि निरंतर गोलियों और बारूदों के बीच सात वर्ष कैसे बीते थे। अपने इस उपन्यास में उन्होंने मृत लोगों के प्रति—चाहे वे यूरोपीय हों या अफ्रीकी—गहरा शोक व्यक्त किया है। कुछ आलोचकों ने इस उपन्यास को पढ़ कर तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त की और कहा कि यह सर्वथा अप्रतिबद्ध लेखन है, महज़ एक विवरण है जैसा इतिहास की पुस्तकों में मिलता है। लेकिन क्या इस उपन्यास में माउ माउ की निरर्थकता और उसका गंदा हिंसात्मक रूप ही उभरता है? मेरे विचार से ऐसा नहीं है। माउ माउ आंदोलन एक ऐसी व्यवस्था को नष्ट करने के लिए शुरू हुआ था जो अन्याय एवं शोषण की नींव पर खड़ी थी। इस दृष्टि से माउ माउ आंदोलन अफ्रीका के परिप्रेक्ष्य में एक अनिवार्यता थी और लेखक ने इससे कहीं भी इनकार नहीं किया है। यह आंदोलन उपनिवेशवादी व्यवस्था को खत्म करने के लिए था। इसलिए मूल में गड़बड़ी आन्दोलन की नहीं है बल्कि व्यवस्था की है। उपन्यास में लेखक कहीं-कहीं अधिक भावुक हो गया है और यही उपन्यास की खामी है।

पर न्गुगी का तीसरा उपन्यास 'ए ग्रेन आफ व्हीट' असाधारण रूप से सुंदर है। इसे डेकर फेस्टीवल में महत्त्वपूर्ण साहित्यिक पुरस्कार भी प्राप्त हो चुका है। उपन्यास का कथानक १९६३ के केन्या के स्वतन्त्रता दिवस समारोह से शुरू होता है। बीच-बीच में फ्लैशबैक के सहारे १९५० के आसपास के गिकुयू विद्रोह की झलक भी दिखलाई पड़ती है। उपन्यास में ऐसे कई अपराधियों का चरित्र उभरता है जो आंदोलन के दिनों में उपनिवेशवादियों का छिपे तौर पर साथ दे रहे थे क्योंकि उन्हें उपनिवेशवादियों की पराजय पर विश्वास नहीं था। बावजूद इसके, स्वतंत्रता दिवस समारोह में वे जनता का सत्कार पा रहे हैं। साधारण नागरिक, जिसने आज़ादी की लड़ाई में निष्ठा से भाग लिया था उसकी कहीं पूछ नहीं है और नकली नेतागण सम्मान लूट रहे हैं। एशेब के उपन्यास 'ए मैन आफ द पीपुल' में भी ओडिली

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आश्चर्य व्यक्त करता है कि घूसखोरी भ्रष्टाचार और अन्याय को दूर किए बिना समाज अपनी शिथिलता से कैसे मुक्ति पा सकता है ? न्गुगी का विचार है कि जब तक प्रत्येक व्यक्ति तथा राष्ट्र अपनी गैर-ईमानदारी से सीधे-सीधे साक्षात्कार करने के लिए तैयार नहीं होंगे तब तक यह आजादी एकदम अपर्याप्त है ।

वोल सोयिन्का का 'द इण्टरप्रेटर्स,' गैब्रियल ओकारा का 'द वायस', न्गुगी का 'ए ग्रेन ऑफ व्हीट', साइप्रयन एक्वेन्सी का 'जगुआ नाना' और 'ब्यूटीफुल फीदर्स', शीनुआ एशेब का 'ए मैन ऑफ द पीपुल' आदि ऐसे उपन्यास हैं जिन्होंने तथाकथित स्वतंत्रता के सामने एक प्रश्नचिह्न लगा दिया है और लोगों के दिमाग में आज़ादी का सही अर्थ स्पष्ट होने लगता है ।

जेम्स न्गुगी इस तथ्य को अच्छी तरह समझते हैं कि 'उपनिवेशवादी को जब पता चलता है कि उसका खेल समाप्त हो रहा है तो वह तत्काल राष्ट्रवादी ताकतों के साथ समझौता करके उन्हें आजादी दे देता है लेकिन किसान-मजदूर, जो संघर्ष के सही आधार हैं, उनके लिए यह असली आज़ादी नहीं हुई बल्कि यह एक अहसास हुआ कि उनका शोषण अभी जारी रहेगा और इसके लिए नए सिरे से संघर्ष की आवश्यकता है ।'[३६]

अफ्रीका का लेखक आज उसी संघर्ष के लिए विचार-धारात्मक आधार तैयार करने में संलग्न है ।

टिप्पणियाँ

१. एनकाउंटर, अगस्त, १९६३, पृष्ठ १५ ।
२. ट्रेण्ड्स इन प्रेजेंट डे अफ्रीकन राइटिंग—एज़किएल म्फालेले, यूनेस्को कूरियर जून, १९६७ ।
३. 'ट्वेल्व इयर्स !' इट्स नथिंग ! —मेरी बेन्सन, साउथ अफ्रीकन राइटिंग टु डे, पेंग्विन ।
४. 'ए वाक इन द नाइट'—अलेक्स ला गुमा, अफ्रीकन राइटिंग सिरीज, हाइनमन, लंदन ।
५. 'एण्ड ए थ्री फोल्ड कार्ड'—अलेक्स ला गुमा, सेवन सीज़, बर्लिन ।
६. 'द स्टोन कंट्री'—अलेक्स ला गुमा, सेवन सीज़, बर्लिन ।
७. 'प्रोटेस्ट अगेन्स्ट अपार्थीड—डेनिस ब्रूटस । प्रोटेस्ट एण्ड कांफ्लिक्ट इन अफ्रीकन लिटरेचर, लन्दन ।
८. 'अफ्रीका—द डाइनेमिक्स आफ चेंज' में एडवर्ड शिल का एक लेख ।
९. 'द पोलिटिकल थीम इन साउथ एण्ड वैस्ट अफ्रीकन नावेल्स,' —जान एफ० पोवाय
१०. 'ट्रेण्ड्स इन प्रेजेन्ट डे अफ्रीकन राइटिंग'—एजकिएल म्फालेले
११. 'द पोलिटिकल थीम इन साउथ एण्ड वैस्ट अफ्रीकन नोवेल्स'—जान एफ० पोवॉय
१२. 'द न्यू अफ्रीकन' (लन्दन) नं० ५३, नवंबर १९६९ ।
१३. 'अफ्रीकन सांग—रिचर्ड राइव, सेवन सीज़, बर्लिन ।
१४. वही ।
१५. 'इमरजेंसी'(उपन्यास),रिचर्ड राइव, फेबर एण्ड फेबर, लन्दन ।
१६. 'ड्राइव इन' (अफ्रीकन सांग, रिचर्ड,राइव, सेवन सीज़ बर्लिन)
१७. वही ।
१८. 'डाउन सेकंड एवेन्यू', एज़किएल म्फालेले, सेवन सीज़ बर्लिन ।
१९. 'एण्ड ए थ्री फोल्ड कार्ड,—पृष्ठ ८३
२० वही, पृष्ठ ८३
२१. वही, पृष्ठ ८९
२२. 'क्राइ द बिलवेड कंट्री'—एलेन पैटन, पृष्ठ २३५ (पेंग्विन)
२३. 'ए ड्रिंक इन द पैसेज— एलेन पैटन ('कम बैक अफ्रीका', इन्टरनेशनल पब्लिशर्स, न्यूयार्क)
२४. 'ए ड्रिंक इन द पैसेज'
२५. 'आइ हैड ए ब्लैक मैन' माइकेल पिकार्डी (कम बैक अफ्रीका)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२६. जान एफ० पोवॉय (द पोलिटिकल थीम इन साउथ एण्ड वैस्ट अफ्रीकन नावेल्स)

२७. 'ए मैन आफ द पीपुल'—शीनुआ एशेव, अफ्रीकन राइटिंग सिरीज़, हाइनमन, लन्दन।

२८. 'नो लांगर एट ईज़'—शीनुआ एशेव, अफ्रीकन राइटिंग सिरीज़, हाइनमन, लन्दन।

२९. 'ब्यूटीफुल फीदर्स—साइप्रयन एक्वेंसी, म्बारी पब्लिकेशन्स, नाइजीरिया।

३०. अफ्रीकन राइटिंग सिरीज़, हाइनमन, लन्दन

३१. वही।

[३२. 'नावलिस्ट ऐज़ टीचर'—शीनुआ एशेव द्वारा १९६४ में लीड्स में आयोजित राष्ट्रमंडलीय लेखक सम्मेलन में पढ़ा गया लेख।

३३. जेम्स न्गुगी का इन्टरव्यू, कल्चरल इंवट्स इन अफ्रीका बुलेटिन, लन्दन। नं० ३१।

३४. पीटर नाज़ारेथ, उगांडा, ट्रांजिशन—२४, पृष्ठ ६।

३५. अफ्रीकन राइटिंग सिरीज़, हाइनमन, लन्दन से तीनों प्रकाशित

३६. कल्चरल इवंट्स इन अफ्रीका, बुलेटिनलन्दन, नं० ३१।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्रांतिकारी स्वच्छंदतावाद

विली थामसन

इस शताब्दी के गत चतुर्थांश के दौरान, विश्वसाम्राज्यवाद के ढाँचे पर अनेकानेक संकट आये हैं। न केवल एक बहुत बड़ा भौगोलिक क्षेत्र और असंख्य आबादी साम्राज्यवादी परिधि-कथा से पूर्णतया निकल कर समाजवादी गुट में शामिल हुई है, अपितु, औद्योगिक राज्यों और अतिशोषित 'तृतीय-विश्व'—दोनों में, जहाँ साम्राज्यवादियों का नियंत्रण आज भी है; उनके शासन का तथा उस शासन को चलाने के उनके अधिकार का अस्वीकार उस बड़े पैमाने पर बढ़ा है, जो द्वितीय विश्व-युद्ध से पूर्व अनजाना था। पहले के निष्क्रियवर्ग और स्तर, चाहे वे औपनिवेशिक किसान हों, या अमरीकी नीग्रो हों या संयुक्त राज्य अमरीका और पश्चिमी यूरोप के छात्र हों, एक दृढ़ और सोद्देश्य ढंग से, संघर्ष में शामिल हो गये हैं।

इसके साथ ही, क्रांतिकारी खेमे में भी बहुत ही सार्थक परिवर्तन घटित हुए हैं। १९४० से पहले, विश्वक्रांतिकारी आंदोलन अपने संपूर्ण उद्देश्यों और अभिप्रायों के लिए साम्यवादी-अंतर्राष्ट्रीय (कम्यूनिस्ट इंटरनेशनल) का पर्याय और एक इकाई के रूप में समझा जा सकता था। १९५० से, राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन के उदय और समाजवाद के साथ इसके विविध प्रकार के संबंधों से, शीतयुद्धीय हिम-युग के पश्चात् संयुक्त राज्य और पश्चिमी यूरोप में क्रांतिकारी चेतना की एक नयी स्थिति में नवीकृत अभिवृद्धि से, और विभिन्न समाजवादी दलों तथा विभिन्न समाजवादी राज्यों के बीच खुलेआम अभिव्यक्त असहमति और मत-भेदों से, क्रांतिकारी प्रवृत्तियों में एक महत्त्वपूर्ण वैविध्य आया है।

इन प्रक्रियाओं के विकास ने, पुनः एक प्रकार का राजनीतिक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है, जिसे सुविधा-हेतु 'क्रांतिकारी स्वच्छंदतावाद' कहा जा सकता है। यह किसी एक विशिष्ट राजनीतिक विचारधारा के आधार पर व्याख्यायित नहीं किया जा सकता, क्योंकि, यह न केवल विविध अपितु अंतर्विरोधी सिद्धान्तों को भी अपने अंतर्गत समायोजित करके चल रहा है। क्रांतिकारी स्वच्छंदतावाद के बहुत से प्रकारों में प्राप्य जो समान-विशिष्टता है उसका संबंध नीति से कम क्रांति और राजनीति के प्रति पद्धति या रवैये से अधिक है। वर्तमान काल में, यह, मूल क्रांतिकारी शक्ति के रूप में, श्रमिक वर्ग की भूमिका, मार्क्सवादी दलों और समाजवादी राज्यों की प्रकृति और प्रभावशाली, क्रांतिकारी सिद्धान्त के रूप में मार्क्सवाद के मूल्यांकन पर टिका है।

यदि हम क्रांतिकारी स्वच्छंदतावाद के कुछ पहलुओं के प्रतिनिधि के रूप में, कुछ लेखकों और प्रचारकों की यहाँ निवेचना कर रहे हैं, तो सिर्फ इसीलिये कि वे प्रस्तुत प्रवृत्ति के सर्वाधिक सुसंगत, और मुखर प्रवक्ता हैं। इससे यह नहीं समझा जाना चाहिये कि उल्लिखित प्रवृत्तियों-'काली शक्ति' के अपवाद को छोड़ कर—का कोई निश्चित संगठनात्मक स्वरूप है या त्रात्स्कीवाद की तरह, किसी के पास एक राजनीतिक आंदोलन का आधार है।

"कोई समझौता नहीं"

जो नारा क्रांतिकारी स्वच्छंदतावाद की बहुविध-विषयवस्तुओं के समाहार के सर्वाधिक निकट है वह है—"कोई समझौता नहीं"—अपने दोनों गतार्थों में—कि वर्ग-शत्रु के प्रति किसी भी प्रकार का अस्थायी सुलहनामा या छूट नहीं; और कि, प्रतिकूल परिस्थितियों में जीवित रहने के लिये क्रांतिकारी सिद्धान्तों की शुद्धता के संदर्भ में भी कोई समझौता नहीं।

स्वच्छंदतावादी क्रांतिकारियों की राय में वर्तमान क्रांतिकारी आंदोलन और श्रमिक संगठन पर्याप्त गतिशील नहीं हैं; वे खट्टे और अपभ्रष्ट हो गए हैं, वे साव-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धानियों और समझौतों के कारण वृद्ध हो गये हैं; उनमें सैद्धान्तिक क्षमता नहीं रही अथवा अमानवीय और निर्दय नौकरशाहियों के समाज में भी, अमूर्त्त-सैद्धान्तिक-मान्यताओं के लिये वास्तविक मानव-संबंधों की निष्ठुरता से बलि देने वाले हो गए हैं। क्रांतिकारी स्वच्छंदतावादी इस प्रकार महसूस करता है कि नाटकीय उपलब्धियाँ किन्हीं भी परिस्थितियों में संभव हैं, और, कि, सिर्फ अतिरिक्त सावधानी और बुज़दिली ही किसी भी चमत्कारिक क्रांतिकारी प्रगति के मार्ग में बाधक हैं; जबकि वे प्रायः यह आशा करते हैं कि क्रांति के बाद समाज भटकाव रहित सीधी रेखा में आगे बढ़ता हुआ निकट भविष्य में ही पूर्ण साम्यवाद की अवस्था प्राप्त कर लेगा।

किंतु ऐसा सदा नहीं संभव नहीं हो पाया। रूसी क्रांति के एकदम बाद के समय में क्रांतिकारी स्वच्छंदतावाद की एक बहुत ही सशक्त धारा ने अंतर्राष्ट्रीय साम्यवादी आंदोलन के भीतर स्थान प्राप्त कर लिया। जब लेनिन ने अपनी पुस्तक 'वाम-पक्षीय साम्यवाद' लिखी तब उनके दिमाग में संगठित रूप से काम करने वाले विघटनकारी कठमुल्ले नहीं थे अपितु ऐसे आदमी थे जिनके रणनैतिक विवेक पर उनका रागात्मक सम्मान हावी था।

फिर भी, तब से, अविश्वसनीय रूप से कठिन परिस्थितियों में भी प्रथम समाजवादी राज्यों का आविर्भाव हुआ और उनका अस्तित्व सुरक्षित रहा जब कि प्रतिक्रियावादी शक्तियों की ओर से भीषण प्रत्याक्रमण होता रहा जो अपप्रचार और आतंक के सूक्ष्मतम तरीकों से लैस था और जिसमें संभावित रणनैतिक विकल्प के रूप में, भूमण्डल के सर्वनाश तक की योजना बना ली गई थी।

जटिल पृष्ठभूमि

अस्तित्व की रक्षा के लिये संघर्ष की लगातार आवश्यकता के अतिरिक्त, गत वर्षों में घटित होने वाला विराट् सामाजिक रूपांतरण असंभव होता यदि मार्क्सवाद ने संघर्ष की इच्छाशक्ति और समझदारी प्रदान की होती अथवा ऐसी कम्युनिस्ट पार्टियाँ न होतीं जो राजनीतिक संघर्ष और सामाजिक सिद्धांत के बीच संबंध-विधान करने वाले क्रांतिकारी शक्ति के प्रतिरूप तथा रूपान्तरकारी समूह से सुसज्जित हैं।

तथापि, मार्क्सवादी सिद्धांत का साम्यवादी दलों के द्वारा सामाजिक संघर्ष के हेतु उपयोग की क्रिया सीधे-सादे कार्य-व्यापार से बहुत दूर की वस्तु है। अभूतपूर्व रूप से रक्त-पिपासु प्रतिक्रांति के जिसने अत्यधिक बड़े पैमाने पर वर्ग-समाज के संपूर्ण दुःस्वप्न पैदा किए हैं, प्रतिरोध का प्रभावशाली रूप से मुकाबला करने के लिये क्रांतिकारी-व्यवहार-पद्धति के निर्वाह में, क्रांतिकारी आंदोलन को कई बार गम्भीर पराजय ही हाथ लगी है; यही नहीं अपितु प्रतिक्रिया के दीर्घ-अंतरालों में जब राजनीतिक अग्र विकास की आशायें अल्पतम थीं, रक्षात्मक स्थितियों के लिये इसे स्वयं को तैयार रखना पड़ा है। 'ब्रेस्त लितोव्स्क संधि' और 'नयी अर्थनीति' से लेकर, जर्मन-सोवियत 'अनाक्रमण संधि' से संयुक्त राज्य अमरीका के साथ नवीनतम समझौता वार्त्ताओं और मई, १९६८ की फ्रांस की घटनाओं तक, समाजवादी सरकारों और साम्यवादी दलों पर क्रांति के विक्रय करने के अभियोग लगाये जाते रहे हैं।

हम इस बात को दुहराने की ज़रूरत महसूस नहीं करते कि इस कहानी का इससे भी अंधियारा पहलू है। प्रतिक्रियावादियों की हिंसा और परिस्थितियों के दबाव द्वारा आरोपित चक्करदार मार्गों के साथ-साथ, आन्दोलन में संघर्ष के दबाव से, अशुभ तत्त्व भी उभरे हैं। घेरेबंदी में पड़े राज्य साधारणतया, उदारनीतियों द्वारा शासित नहीं होते और क्रांतिकारी सरकारें अपने शत्रुओं के प्रति बहुत दमनकारी होने के लिये बाध्य होती हैं, किन्तु यह आवश्यकता मौके के अनुसार इस क़दर तोड़ी मरोड़ी गई है कि सर्वहारा अनुशासन और क्रांतिकारी एकता के मूल्य और समाजवादी राज्यों की सर्वाधिक भयंकर बुराइयों और अपराधों का दुरुपयोग उनका औचित्य सिद्ध करने के लिये किया गया है।

अंत में, १९४० और फिर १९६० के बाद के वर्षों में पश्चिमी साम्राज्यवाद ने स्वयं स्वास्थ्य लाभ किया और अपने जीवन की अप्रत्याशित शक्तियाँ खोज निकालीं, और जिन देशों में समाजवादी क्रांति परिपक्व होती दिखाई दी, जैसे कि इटली और फ्रांस में, उसे रुद्ध कर दिया; ब्रिटेन में साम्राज्यवादी विश्व के सर्वशक्तिशाली मजदूर आंदोलन ने लेबर पार्टी के नेतृत्व द्वारा स्वीकृत शीतयुद्ध की राजनीति और वर्ग-सहयोग को चुपचाप स्वीकार करके घुटने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

टेक दिए और संयुक्त राज्य अमेरिका में १९१४ से पूर्व का उदीयमान समाजवादी आंदोलन ऐसा डूबा कि उसका नामोनिशान न बचा।

आश्चर्यजनक नहीं

ऐसी परिस्थितियों में, यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि कुछ सैद्धान्तिक विकास, जो सिद्धांत में किसी भी प्रकार से समाजवाद-विरोधी और प्रतिक्रांतिकारी नहीं है, अप-भ्रष्ट और नौकरशाही ग्रस्त 'सामाजिक-लोकतंत्र' के साथ ही आंदोलन की मुख्य धारा के सिद्धान्त की प्रतिक्रिया में अग्रसर हुआ। मार्क्सवाद ने जहाँ क्रांति के लिये मजदूरों की भूमिका पर ज़ोर दिया, क्रांतिकारी स्वच्छंदतावदियों ने लम्बे समय से स्थापित एक उदार मजदूर वर्ग, अधिकंतु, उसे साम्राज्यवाद के अंतर्गत मुटियाते हुए और अपने क्रांतिकारी दाय के प्रति लापरवाह होते हुए देखा; जहाँ साम्यवादी दलों ने संगठित मजदूर आंदोलन को अपने पक्ष में करने को प्राथमिकता दी, स्वच्छंदतावादियों ने उसे रद्द कर दिया। दूसरे शब्दों में, एक ओर धैर्यपूर्ण अनुशासित कार्य की मांग है तो दूसरी ओर चमत्कारपूर्ण महाकार्यों को कर गुज़रने की हवस। कुछेक दिमागों द्वारा मार्क्सवाद भ्रष्ट, यांत्रिक या अनैतिकवाद के रूप में देखा गया और इसके सुविस्तृत परिघूरण या स्थानापन्न की खोज की गई।

यदि क्रांतिकारी स्वच्छंदतावाद मात्र कुछ बुद्धिजीवियों तक ही परिसीमित रहता, तो यह किसी मतलब का न हुआ होता; किन्तु वस्तुतः इसके नारों—विशेष रूप से 'काली-शक्ति' और 'छात्रशक्ति'—के अंतर्गत जनता (ओं) को संघटित किया गया है। एक दूसरे मोर्चे पर इस धारा के चिंतकों ने मार्क्सवादी बहसों को गंभीर रूप से प्रभावित किया है। हमें यह आशा नहीं करनी चाहिये कि स्वच्छंदता-वादी क्रांतिकारी विचारों की शक्ति वैसे ही कम होती जायेगी जैसे कि समाजवादी खेमा अपने अखण्डित विम्ब को क्रमशः खोता जा रहा है, जैसे समाजवाद की प्राप्ति के लिये विभिन्न दल विशिष्ट और विविध रणनीतियाँ अपना रहे हैं, जैसे कि विकासमान शिक्षा और तकनीकी विकास मजदूर वर्ग के अंदर संरचनात्मक परिवर्तनों को बराबर पैदा कर रहे हैं; अपितु, जिस प्रकार तेजी से परिवर्तनशील परिस्थिति क्रांतिकारी सिद्धांत और व्यव-हार के प्रति नयी और अभूतपूर्व माँगें प्रस्तुत करती है, स्वच्छंदतावादी विचारों का फूलना-फलना निश्चित है। ऐसे विचार समाजवाद में संक्रमण के बाद भी हम "हमेशा अपने साथ रखेंगे;" वैज्ञानिक समाजवाद की धारा को, क्रांतिकारी स्वच्छंदतावाद की अपेक्षा प्रत्येक समय जनता के सामने परिस्थितियों के बेहतर नियंत्रण के स्पष्ट प्रदर्शन के द्वारा अपने प्रत्यय-पत्र सिद्ध करने की आवश्यकता होगी। यह सम्पूर्णतया स्वागत के योग्य है।

मजदूर वर्ग की भूमिका

अब हम, क्रांतिकारी स्वच्छंदतावाद के सिद्धांतों और केन्द्रीय विचारों का, यह ध्यान रखते हुए कि वे एक सुसं-गत सिद्धांत का विधान नहीं करते, विवेचन करेंगे और कि, यहाँ, एक सिद्धांत के प्रति किसी व्यक्ति का लगाव इस बात की गारंटी नहीं है कि विवेच्य व्यक्ति दूसरे सिद्धान्तों में से किसी एक को सचेत रूप से स्वीकार करता है। उक्त केन्द्रीय विचार और सिद्धान्त ये हैं :

१. समाजवाद में संक्रमण के लिये, प्रमुख क्रांतिकारी शक्ति और आधार के रूप में मजदूर वर्ग और साम्यवादी दलों की महत्त्वपूर्ण भूमिका को नका-रना।

२. इस स्थिति में, उनके स्थानापन्न के रूप में अन्य सामाजिक समूहों की स्थापना।

३. मार्क्सवाद का पर्याप्त संशोधन या परित्याग।

जेम्स बर्नहम और फ्रांज़ बोर्केनो जैसे प्रतिक्रियावादी विचारकों ने १९३० में, साम्राज्यवाद की सेवा के लिये सामाजिक-सामंजस्य के अंतर्गत मजदूर वर्ग का एकीकरण घोषित किया था, किन्तु पाँचवें दशक के उग्रपंथी अमरीकी समाजशास्त्री सी० राइट मिल्स, उस समय अमरीका के मजदूर वर्ग की प्रतीयमान निश्चलशीलता पर टिप्पणी करते हुए, इस बात को स्वीकार करने के लिये तैयार थे कि इसे प्रभावशाली ढंग से तटस्थ बना दिया गया है। राइट मिल्स अपने सामाजिक विश्लेषण को शुद्ध और कुछ-कुछ अमूर्त्त शक्ति-संबंधों के शब्दों में प्रकट करते हैं; उनकी अभिनव कृति 'द पॉवर इलीट' और 'व्हाइट कॉलर' अमरीकी शासक वर्ग को इन्हीं शब्दों में विश्लेषित करती है, जबकि उसकी बुर्जुआ-समाजशास्त्र की आलोचनाएँ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बहुत ही विध्वंसक हैं।

तथापि, मार्क्सवादी न होते हुए भी राइट मिल्स स्वयं इस बात पर विश्वास नहीं कर सके कि मजदूर वर्ग कभी शक्तिसंपन्न भद्र वर्ग के बराबर शक्ति पैदा कर सकेगा और इसीलिये, उन्होंने तर्क किया कि क्रान्तिकारी-आवेग 'बाहरी व्यक्तियों' के द्वारा ही, सिद्धान्ततया, उनके विचार में, बुद्धिजीवियों की तरफ से ही आना चाहिये, जो समसामयिक पूँजीवाद में हो रहे गड़बड़-घोटाले को सैद्धान्तिक रूप से समझने में सक्षम हैं।

हर्बर्ट मार्कूस

इस प्रकार की स्थापना का, अपेक्षाकृत अधिक विकसित और स्वघोषित "मार्क्सवादी" रूप, क्रान्तिकारी स्वच्छंदतावादियों में एक सर्वाधिक प्रसिद्ध व्यक्ति हर्बर्ट मार्कूस द्वारा विकसित किया गया है। मार्कूस हिटलरी-आतंक के फलस्वरूप एक ऑस्ट्रियन शरणार्थी हैं। मार्कूस ने कुछ उत्कृष्ट कृतियाँ लिखी हैं—खासकर 'रीज़न एण्ड रिवोल्यूशन' जो हेगेल पर लिखी गई सर्वोत्तम पुस्तक और इस शती का सर्वोत्तम मार्क्सवादी ग्रंथ है,। तथापि वह अपनी पुस्तक 'एकायामी मानव' (वन डाइमेंशनल मैन) के द्वारा अधिक प्रसिद्ध हुआ है, जिसमें युद्धोत्तर काल के पश्चिमी समाज का विश्लेषण और इसके सम्पूर्णतः अमानवीय मूल्यों और मानदण्डों, इसकी आकस्मिक हिंसा, इसकी पागल प्रतियोगिता, इसकी मन-मौजी आणविक रणनीतियों का उद्घाटन, किया गया है। विशेष रूप में, यहाँ, मार्कूस लोकतांत्रिक मूल्यों और संस्थाओं की तोड़मरोड़ को परीक्षित करता है, जो यह तय करता है कि सार्वभौम मताधिकार, अनन्त काल तक, मिथ्या चुनाव की यांत्रिकता के माध्यम से एक दानवी और उत्पीड़क शासक वर्ग के प्रतिनिधियों को पुनर्निर्वाचित करता है। मार्कूस निष्कर्ष निकालते हैं कि यौन-लिप्सा, अर्थ लिप्सा और इनको संतुष्ट करने की आश्वस्ति की आकांक्षाओं के ऊपर एक सफल आन्तरिक परिचालन के द्वारा, जो पद-लिप्सा और यौन फैंटैसी के रूप में तंत्र को शक्तिशाली बनाता है, मजदूर वर्ग हमेशा के लिए, अमरीकी साम्राज्यवाद की महत्त्वाकांक्षाओं और लक्ष्यों में समाहित हो गया है। इसके अतिरिक्त वह क्रान्तिकारी चेतना को उन समूहों में सम्भव मानता है जो बुर्जुआ-सर्वसम्मति, से पूर्णतः अपवर्जित हैं, जिसे अत्याचार और विशेषीकृत पृथक्करण का विषय होने के कारण मूर्ख नहीं बनाया जा सकता जैसे कि छात्र, नीग्रो, अपराधी वर्ग, जंकी (junkies), मानसिक व्याधिग्रस्तों के समूह।

गो, मजदूर वर्ग की शक्ति कहीं भी प्राथमिक नहीं मानी गई है, फिर भी मार्कूस का सिद्धान्त राइट मिल्स के सिद्धान्त से अपेक्षाकृत अधिक ब्यौरा भरा है, जिसे वह न केवल अनुमानाश्रित प्रमाणों से ही प्रमाणित करता है, अपितु, प्राकृतिक विज्ञान के साथ मार्क्सवाद के सम्बन्ध की समर्थ पुनर्व्याख्या से भी, जिसे हम नीचे विवेचित करेंगे, प्रमाणित करता है, और जो उसे उपर्युक्त आदर्श को उसकी मूलभूत तात्विकताओं में समाजवादी देशों को एक समान स्थिति में बनाये रखने के लिए अनुगृहीत करता है।

इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि अमरीकी दृश्यपटल पर होने वाले परवर्ती विकास उपर्युक्त विश्लेषण को पक्का करने के लिए दृष्टिगोचर हो सकते हैं; "जीवन के अमरीकी तरीकों के लिए सबसे भयानक चुनौती नीग्रो और छात्रों की 'कालीशक्ति' और 'छात्रशक्ति' के संगत सिद्धान्तों-नारों से है, जो कि परिस्थितियों के अन्तर्गत आवश्यक और वैध हैं, किन्तु स्वच्छंदतावादी दृष्टिकोण और भ्रान्ति के लिये इनमें काफी गुंजाइश है।

कालीशक्ति

'कालीशक्ति' के अधिवक्ता एकदम सही हैं, जब वे यह दावा पेश करते हैं कि अमरीकी नस्लवादी अपनी क्रूर नृशंसताओं को बरकरार रखने में कामयाब रहे हैं क्योंकि उन्होंने नीग्रो लोगों को एक वशीकरण में बाँध रखा है, एक ऐसे शक्तिशाली, संगठित अवरोधन के लिये उनकी क्षमता का निरास करते हुए एक ऐसे दिमागी-ढाँचे में बन्द कर दिया है, जहाँ उनकी भूमिका हीन मान ली गई है, और अहिंसा को उनकी भूमिका के संदर्भ में एक अपरिवर्तनशील सिद्धान्त स्वीकृत कर लिया गया है।

इस वशीकरण बन्धन को तोड़ डालना और नस्लवादियों को यह पाठ सिखलाना, कि उनकी उत्तेजक कार्यवाहियों का हिसाब ब्याजसहित चुकाया जा सकता है, 'काली-शक्ति' की ऐतिहासिक क्षमता है।

'काली-शक्ति' आन्दोलन का सर्वाधिक पठित प्रवक्ता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्भवतया स्टोकली कारमाइकेल है और उसकी पुस्तक 'कालीशक्ति' (चार्ल्स वी० हैमिल्टन के सहयोग में लिखित) के विचार की क्षमताओं और कमज़ोरियों को बड़े विशद् रूप में चित्रित करती है।

'श्वेत-वातावरण' में कुछ लोगों के घुस जाने—नीग्रो लोगों के द्वारा इस सांकेतिक विकास के अस्वीकार में, नीग्रो आंदोलनों के लिये एक अनिवार्य नियति के रूप में 'श्वेत-मध्यवर्गीय' नेतृत्व के परित्याग में, तथा इस बात पर जोर देने में कि अत्याचार सशक्त रूप से रोका जाना चाहिये, 'काली शक्ति' पूर्णतया दृढ़ आधार-भूमि पर स्थित है। यह वहीं असफल होती है, जब यह इससे परे नहीं देखती और ऐसा यह तब तक नहीं कर सकती, जब तक कि यह संयुक्त राज्य के मूल विभाजन को 'काले' और 'गोरे' के रूप में परिगणित करती है। कारमाइकेल, यद्यपि, यह मानता है कि, रंगभेद की समस्या मूलतः वर्ग-समस्या है, किन्तु वह इसे उन अर्थों में विवेचित करता है, जो यह प्रतीति कराते हैं कि सारे गोरे एक तरफ समाहित हैं, और सारे काले लोग दूसरी तरफ। गोरे या काले समाज में से किसी के भी वर्ग-विभाजन का विश्लेषण वहाँ नहीं है। 'कालीशक्ति' की अनुक्रमणिका में न तो 'साम्यवाद' ही मिलेगा, और न पूँजीवाद या समाजवाद ही।

'कालीशक्ति' की प्रमुख आलोचना यही है कि दुर्दमनीय युयुत्सा और क्षमता वाले क्रांतिकारी आंदोलन का दावा करते हुए और अमरीकी क्रान्ति के लिये उचित माध्यम के रूप में प्रचारित होते हुए भी,'घेरों' से परे नहीं देख पाती और क्रान्ति को मात्र 'काले लोगों की मुक्ति' के रूप में पाती है। कारमाइकेल कहता है: "(इसका) अंतिम मूल्य या लक्ष्य दूसरे समूहों का शोषण या प्रभुत्व प्राप्ति नहीं है, अपितु समाज की कुल शक्ति के अन्तर्गत एक प्रभविष्णु हिस्सेदारी है।" यहाँ ऐसा कोई संकेत नहीं है कि किस प्रकार का समाज इस 'अंतिम' उद्देश्य के उपयुक्त है। यदि काली शक्ति मात्र एक 'आत्म-रक्षात्मक-संगठन' से अधिक कुछ है, तो इसी प्रश्न के संदर्भ में कि एक समाज में कौन-कौन से बदलाव आवश्यक हैं? इसे स्वयं को परिभाषित करना चाहिये। अन्यथा, वहाँ अमूर्तता और अस्पष्टता निरन्तर वर्तमान रहेगी।

'मुक्ति' का अर्थ क्या है? यह प्रश्न भी, 'कालीशक्ति' की पारिभाषिक शब्दावली में, एक बड़ी भ्रांति का विषय है। इसका सर्वाधिक जनप्रिय विचार, श्वेत-समाज के समान्तर और पूर्णतया आत्मनिर्भर एक काले-समाज का निर्माण प्रतीत होता है। एक राज्य में जहाँ नीग्रो निर्णायक अल्पमत में और उस पर भी बिखरे हुए हों, यह विचार हवाई लगता है। चूँकि नीग्रो-लोगों को श्वेत-लोगों के साथ रहना ही है, अतः किसी भी प्रकार के सहयोग का प्रश्न, श्वेतों के कुछ वर्गों के साथ नीग्रो-समता का प्रश्न पूरी तरह से एक महत्त्वपूर्ण सवाल है, जिसका कारमाइकेल सामना नहीं करना चाहता, और जो उसे उसकी दक्षिण-पंथी विशेषताओं को सारी कहानी में समान रूप से प्रस्तुत करते हुए अमरीकी मजदूर आंदोलन के पिछले इतिहास के अनर्गल तथ्य विकृति की ओर ले जाता है; अथवा जैसा वह अन्यत्र लिखता है:

"अमरीकी मजदूर वर्ग तीसरी दुनिया के मजदूरों की मजदूरी के फलों का उपभोग करता है। सर्वहारा वर्ग 'तीसरी-दुनिया' बन गया है। श्वेत पश्चिमी समाज बुर्जुआजी है।"

'कालीशक्ति' की सर्वाधिक कट्टर आयोजना को 'काले यहूदीवाद' की संज्ञा देकर कुछ अनुचित नहीं किया गया है। खेद तो यह देखकर होता है कि 'काले यहूदीवादी यहूदियों के विरोध को पाल रहे हैं--' यह तथ्य कुख्यात हो चुका है और इससे भी बुरा तो यह है कि इसके लिए शेखी बघारी जाती है।

'छात्र-शक्ति' एक नारे के रूप में

एक बड़ी राजनीतिक शक्ति के रूप में, 'कालीशक्ति' संयुक्त राज्य अमरीका तक ही सीमित रहने के लिए बाध्य है। 'छात्र-शक्ति' सिर्फ ब्रिटेन में ही नहीं, अपितु अन्य देशों में भी सैद्धान्तिक अभिव्यक्ति और व्यावहारिकता-उपयोगिता प्राप्त कर चुकी है।

मूलतः, नागरिक अधिकारों की रक्षा के लिये, या उच्चतर शिक्षा में बहुत समय से अपूर्त्त सुधारों को लागू कराने के लिये—सीधे संघर्ष से अधिक कुछ भी गर्भितार्थ नहीं रखती थी; किन्तु, ठीक वैसे ही जैसे कुछ विचारकों ने अमरीकी नीग्रो लोगों में, मजदूरवर्ग के लिए एक क्रान्तिकारी प्रतिनिधि प्राप्त किया; कुछ अन्यों ने उसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भूमिका के लिये छात्रों को चुना। अपने द्वारा बुर्जुआ राज्य व्यवस्था को उलटने वाले छात्रों की दृष्टि अधिक अतिवादी—या अधिक अव्यवस्थित है; और कि छात्र और युवा ही मूलतः क्रान्तिकारी वर्ग है, इस बात का प्रदर्शन करने वाले भी कुछ बहुश्रुत सैद्धान्तिक अध्ययन हुए हैं ('इन्टरनेशनल सोशलिस्ट जर्नल' का नं० २५ देखिये)।

दूसरे लोग, हालाँकि, इस बात को मानने के लिए तैयार हैं कि बिना मजदूर वर्ग के कोई भी क्रान्ति सम्भव नहीं है; और वे सन्तुष्ट हैं, कि छात्रों को नेताओं और सैद्धान्तिक परामर्शदाताओं का स्थान ले लेना चाहिये, क्योंकि व्यापक और सामान्यीकृत स्तर पर समाज के अध्ययन के लिए पर्याप्त सुविधाएँ और समय छात्रों के पास है; जबकि इस रूप में आगे न जाकर, अर्नेस्ट मैंडिल, 'न्यू रिवोल्यूशनरीज : लेफ्ट अपोज़िशन' (तारिक अली द्वारा सम्पादित पुस्तक) में कहता है कि छात्र "नया हिरावल दस्ता है...वे बुर्जुआ राज्य व्यवस्था और पूँजीवादी समाज को चुनौती देने के लिए मजदूर वर्ग में, असीम ताकत भर सकते हैं।"

मई, १९६८ से, इस प्रकार के क्रान्तिकारी स्वच्छंदतावादी यह स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत हैं कि अन्ततोगत्वा मजदूरवर्ग क्रान्तिकारी हो सकता है, किन्तु मजदूर वर्ग ने अनेक दशाब्दियों के संघर्ष के द्वारा अपनी रक्षा और आक्रमण के हथियारों के रूप में, ट्रेड यूनियनों और राजनीतिक दलों के रूप में, जो संगठन—विशेषकर कम्युनिस्ट पार्टी विकसित की उस पर ज़हर उगला जाता है। यह अक्सर कहा जाता है कि क्रान्ति के मार्ग में प्रमुख व्यवधान वास्तव में यही हैं। पेरिस के छात्र नेताओं में से एक एलेन गीज़मर के अनुसार "यह आश्चर्यजनक नहीं है कि (राज्य सत्ता के दमन में) परिणाम विश्वविद्यालय में अधिक स्पष्ट रूप में मालूम पड़े...क्योंकि वहाँ तथ्यों को छिपाने के लिए कोई भी ट्रेड यूनियन जैसे ढाँचे नहीं हैं।"

ब्रिटेन में, ट्रेड यूनियन के चालू ढाँचे को समाप्त करने और अधिक नवीन और स्वतःविकसित संगठनों की शुरुआत कराने के लिए "क्रान्तिकारी समाजवादी छात्र-संघ" द्वारा उठाई माँगें हमारे सामने हैं।

कुछ सक्रियतावादी छात्रों और उनके विचारों द्वारा "आधिकारिक" मजदूर वर्ग के संगठनों के अस्वीकरण से, लगाकर, कोहेन बेंदी के द्वारा प्रस्तुत की गई विचार-पद्धति हमारे सामने है, जो कि संगठन और नेतृत्व को सिद्धान्ततः अस्वीकार करती है; और स्वतः स्फूर्तता को रूढ़ि के रूप में स्वीकार करती है।

"(हमारा आन्दोलन) इसे समाहित करने की, अथवा, अपने लाभ के लिए इसके द्वारा प्रवर्तित क्रियाशीलता का उपयोग करने की कोशिश के बिना ही यह एक प्रकार की स्वतः प्रेरणा देता है।"—कोहेन बेंदी (ज़्याँ पॉल सार्त्र के साथ साक्षात्कार)। यही 'लाल-डैनी' इससे भी आगे बढ़कर अन्ततः क्रान्तिकारी सिद्धान्त को ही अस्वीकार कर डालता है :

"प्रत्येक (व्यक्ति) का अपना सिद्धान्त होता है···ये सभी विश्लेषण अधिक या कम ठीक हैं; किन्तु मेरे लिये अपेक्षाकृत कम महत्त्व के हैं।" (वही)

ऐसे तर्क यदि स्वीकृत कर लिये जाएँ तो ये जन-समूह को संगठन और सिद्धान्त से मुक्त करने के बजाय, पूँजीवादी संगठन और सिद्धान्त के अधीन बना देंगे। क्रान्ति के चरमोत्कर्ष पर जबकि प्रमुख शत्रु पूर्णतया 'अकेला' कर दिया गया हो, और, सार्वजनीन आक्रमण का लक्ष्य हो गया हो जैसे कि मार्च १९१७ में यह नव्य उत्साह सभी को अपने प्रवाह में बहा ले जा सकता है, किंतु यह प्रश्न कि पहले तो आक्रमण किया जाय, और फिर यदि मोर्चे जीत लिए जाएँ तो उसे कैसे कायम रखा जाय या विस्तृत किया जाय, यह सब कुछ एक सही सिद्धान्त और उचित संगठन पर निर्भर है। जब १९१७ में लेनिन ने कहा था कि बोल्शेविक 'अस्थायी सरकार' का विरोध करें, तो, कुछ ने उन्हें पागल समझा था फिर भी अप्रैल में उस सिद्धान्त की विजय के बिना, अक्तूबर की राजनीतिक विजय असम्भव रही होती।

मजदूर वर्ग की क्रान्तिकारी चेतना के एक विकल्प के रूप में छात्र-शक्ति का विरोध करने का अर्थ, इस बात से इनकार नहीं है कि, अपने क्षेत्र में, विशेषतः, छात्र-सुविधाओं की माँगों के लिए लागू किये जाने के संदर्भ में, यह विचार पूर्णतया सही है। हालाँकि इस क्षेत्र में भी, दो बहुत ही भिन्न प्रकार के लक्ष्यों—वे जो छात्र-संघर्ष के ही द्वारा प्राप्तव्य हैं, और, वे जो पूँजीवादी सम्बन्धों के दमन के द्वारा ही सम्भव हैं, के बीच कुछ युयुत्सुओं में भ्रांति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की प्रवृत्ति रही है। पूंजीवादी राजतंत्र से, ऐसी संस्थाओं को, जो सचेष्ट रूप से इसके विनाश के लिये स्वयं को होम कर रही हैं, आर्थिक सहायता की आशा करना व्यर्थ है, और, इसलिये उदाहरणार्थ, कि 'आधिकारिक' पाठ्यक्रमों में एक क्रान्तिकारी 'कथ्य' होना चाहिये, या सभी प्रकार की वर्त्तमान परीक्षा-प्रविधि की शीघ्र समाप्ति की माँग करना—एक निश्चित पराजय और नैतिक-पतन को आमंत्रित करना है। इस प्रकार के दूरगामी लक्ष्य छात्रशक्ति से न जीते जाकर, मात्र राजनीतिक क्रान्ति से ही जीते जा सकते हैं।

'तृतीय विश्व-वाद'

तथापि, न तो 'छात्रशक्ति' और न 'कालीशक्ति' ही, हालाँकि ये दोनों क्रान्तिकारी स्वच्छंदतावाद की रूपरेखा बनाते हैं, 'तृतीय विश्ववाद' के रूप में परिभाषित दृष्टिकोण की बराबरी कर सकते हैं; क्योंकि, बुरी तरह से शोषित उपनिवेशों और भूतपूर्व-उपनिवेशों की भूमि पर रहने वाली किसान जनता में से ही सर्वहारा का सर्वाधिक संभाव्य उत्तराधिकारी अस्तित्व में आता दीखता है। 'तृतीय-विश्ववाद' से, पृथ्वी के, गरीबी की मार से पीड़ित क्षेत्रों को, दूसरी दो दुनियाओं—समाजवादी और पूंजीवादी—से विरोध प्रकट होता है और समाजवादी राज्यों तथा आर्थिक रूप से पिछड़े हुए देशों के मध्य हितों का तादात्म्य धुँधला पड़ जाता है। इस संदर्भ में विवेचना करने पर यह बात आश्चर्यजनक नहीं लगती कि औपनिवेशिक क्रान्तियाँ समाजवादी और साम्राज्यवादी खेमों के बीच ऐतिहासिक द्वंद्व से अलग-थलग कटी हुई घटित प्रतीत होती हैं; और समाजवादी देशों की भूमिका उपेक्षित हो जाती है जिनके संघर्ष ने ऐसी परिस्थितियाँ पैदा कीं, और वस्तुतः जिन्होंने औपनिवेशिक क्रान्तियाँ को सक्षम बनाया।

'तृतीय-विश्व-क्रान्ति' के दो विशेष लक्षण ऐसे थे, जिन्होंने इसे एक स्वच्छंदतावादी व्याख्या के लिये, अतिरिक्त रूप से, अनुकूल बनाया। प्रथमतः, इस क्षेत्र में आपाततः संघर्ष, यूरोप या उत्तरी अमरीका और १९४५ के बाद विकसित देशों की अपेक्षा अधिक नाटकीय था। यह साम्राज्यवाद के साथ एक सशस्त्र मुकाबले का, भीषण भुखमरी, वीभत्स अत्याचारों और ज़िंदगी तथा मौत की लड़ाई का अखाड़ा था। इस प्रकार यह स्वीकार करना, अपेक्षाकृत एक छोटा कदम था कि एशिया, अफ्रीका, लातीनी अमरीका के विलक्षण तीखे संघर्ष ही महत्त्वपूर्ण हैं, अथवा, गोलाबारी ही वर्ग-संघर्ष की एकमात्र सार्थक प्रविधि है।

द्वितीयतः एक बात यह भी है कि छठे और सातवें दशक की सर्वाधिक प्रचारित साम्राज्यवाद विरोधी क्रान्तियाँ, विश्वसमाजवादी आन्दोलन से असंबद्ध ऐसे दलों द्वारा की गई थीं जिन्होंने जनसमर्थन को संघटित और जागृत करने के हेतु अपने कार्यक्रमों के अंतर्गत 'समाजवाद' शब्द को ईमानदारी से कभी भी अंकित नहीं किया। इस प्रकार, उन लोगों के लिये, वैज्ञानिक समाजवाद के दृष्टिकोण से भिन्न एक नया परिप्रेक्ष्य खुला जो इसे समाजवाद के प्रति एक नई दृष्टि मानने के लिए प्रस्तुत थे और उन्होंने ही देशभक्ति की आन्दोलनकारी शक्तियों में से कुछ में समाजवादी शिविर द्वारा परित्यक्त क्रान्तिकारी उत्साह को सुरक्षित माना और उन्हीं के द्वारा समाजवादी निर्माण के अगुओं द्वारा भोगे हुए बलिदानों और गलतियों को बचाते हुए एक नवीन समाजवाद का निर्माता संभव समझा। इसके साथ यह भी ठीक समझा गया था कि ऐसे राज्यों का समान रूप से शीतयुद्ध के निर्माण एवं अपराधी के रूप में निर्णीत 'पश्चिम' और 'पूर्व' के बीच एक तटस्थता की स्थिति अख्तियार करनी चाहिए क्योंकि वे राज्य ऐसा कर सकते हैं।

इस संदर्भ में, अलजीरिया का मामला उल्लेखनीय है। पश्चिम के बहुत से वामपंथियों की दृष्टि में 'एफ. एल. एन.' ऐसा क्रान्तिकारी दल था जो मुक्ति आन्दोलन की अग्नि में तपी हुई देशभक्तिक-एकता के आधार पर एक समाजवादी व्यवस्था की रचना करने में सक्षम है और जिसकी दृष्टि अप्रत्याशित रूप में विशुद्ध है और व्यावहारिक क्षमता अद्भुत है। किन्तु बाद की घटनाओं ने इस विश्वास को ध्वस्त करके यह प्रदर्शित कर दिया कि 'राष्ट्रीय मुक्ति' प्रक्रिया का पहला चरण है, और देशभक्त-मोर्चे की एकता इसी एक शर्त पर कायम रखी जा सकती है कि उसके अंदर मजदूरवर्ग और मार्क्सवादी शक्तियों की पहल हो।

क्यूबा की क्रांति

आम तौर पर जो चीज़ उपनिवेश-विरोधी क्रान्ति के साथ शुरू हुई थी, क्यूबाई-क्रान्ति के साथ विशेष तौर पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जारी रही।

क्यूबाई-क्रान्ति की एकमात्र शैली—अपने सिगारों से लेकर जनशिक्षण अभियानों तक—अपनी स्थिति की भयानक कठिनाइयों के बावजूद सफल होने का और लातीनी अमरीका में महाद्वीपीय क्रान्ति की प्रगति को यथेष्ट सहयोग देने का उनका स्पष्ट निश्चय और अन्त में चे गुएवारा के जीवन ने, क्यूबाइयों को स्वच्छंदतावादी हृदयों के लिये प्रिय बना दिया। इन लोगों के द्वारा समाजवाद "भौतिक प्रेरणा की अपेक्षा नैतिक प्रेरणा" का आदर्श बन गया।

तथापि, साम्यवादी आन्दोलन का यह एक मूलभूत सिद्धान्त है कि प्रत्येक राष्ट्र समाजवाद के लिये अपना मार्ग निश्चित करता है जो स्थानीय परिस्थितियों और संस्कृति पर निर्भर है। चीन की पार्टी की तरह अन्य पार्टियों की, जो इस बात को अस्वीकर करती हैं, आलोचना उचित ही की गई है। क्यूबाई क्रांतिकारियों ने एक कार्यक्रम के आधार पर, जो सुधार के संदर्भ में काफी आगे जाता था, किन्तु जो निश्चय ही पूर्ण समाजवादी नहीं था, अत्यधिक भ्रष्ट और बर्बर कुलीनतंत्र को शिकस्त दी।

इसके सुधार-कार्यक्रमों को लागू करने में, अपने संघर्षों के द्वारा, अमरीकी साम्राज्यवाद को चुनौती देने के लिए तथा मजदूरवर्ग पर निर्भर करने के लिए, और इस तरह इस क्रान्ति को एक समाजवादी दिशा में मोड़ने के लिए, क्यूबा की क्रान्तिकारी सरकार ने स्वयं को मजबूर पाया। इस प्रकार साम्राज्यवाद-विरोधी क्रान्ति समाजवाद के लिये संक्रांति में विलयित हो गई और अब उसे, पिछले क्रांतिकारी दलों और समूहों के द्वारा निर्मित—क्यूबाई साम्यवादी दल के द्वारा चलाया जाता है।

ब्रिटेन में क्यूबाई अनुभव और शैली की नकल करने की कोशिश करना हास्यास्पद होगा और लातीनी अमरीका में समाजवादी क्रान्ति द्वारा पूर्वी-यूरोप में अपने प्रतिरूप के साथ एक ऊपरी सादृश्य रखने की उम्मीद करने के लिये भी कोई, सार्थक तर्काधार नहीं है।

चे गुएवारा ही, जो साहस, आत्मबलिदान और सिद्धान्त का एक उचित प्रतीक बन गया है, ऐसा प्रथम व्यक्ति होता जो अपनी इस 'भक्ति' से घृणा करता, जो उसके नाम के चारों ओर स्थापित कर दी गई है, और जो बहुत से नीग्रो लोगों द्वारा, जिनके राजनीतिक दृष्टिकोण उसके दृष्टिकोण से पूर्णतया अजनबी हैं, व्यवहृत की जाती रही है।

पिछले कुछ वर्षों में, स्वच्छंदतावादी क्रान्तिकारियों के लिये क्यूबाई अनुभव की सार्थकता को वियतनाम युद्ध के कारण 'ग्रहण' लग गया है, जहाँ हथियारों का ऐसा 'भव्य-प्रदर्शन' पहले कभी नहीं देखा गया था। यह मामला, इसलिये, विशेषरूप से दिलचस्प है कि इस स्थिति में, दोनों वियतनामों में मार्क्सवादी दल की भूमिका और मूलभूत क्रान्तिकारी सिद्धान्तों का आश्चर्यजनक आदर्श रूप से सफल प्रयोग का अस्वीकार, असंभव है। इस संघर्ष के दौरान हुई विराट् उपलब्धियाँ इस कपोल-कल्पना का सुस्पष्ट खंडन करती हैं कि, साम्यवादी दल अपने गत 'स्तालिनवाद' से अनिवार्यतः अपभ्रष्ट हुए हैं। वे राजनीतिक प्रवृत्तियाँ जो इससे संश्लिष्ट थीं, अब ये आड़े-तिरछे तर्क प्रस्तुत करने लगी हैं कि शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के लिए दूसरे समाजवादी राज्य वियतनाम के लोगों को धोखा देने का षड्यंत्र कर रहे हैं।

फैनॅन की दृष्टि

उपनिवेशी-क्रांति की वर्गीय प्रकृति के बारे में बहुत से सुनिश्चित वक्तव्यों में से एक, फ्रांज फैनन के द्वारा दिया गया है, जो लिखता है कि "यह स्पष्ट है कि उपनिवेशी-राज्यों में सिर्फ किसान ही क्रांतिकारी हैं, क्योंकि उनके पास खोने को कुछ नहीं, हरेक चीज़ पाने के लिये है।" और जो यह दावा पेश करता है कि चूंकि अविकसित देशों में शहरी सर्वहारा, जीवन स्तर के अर्थों में किसान जनता से अपेक्षा या अधिक सुविधाभोगी है, अतः यह क्रांति का अगुआ दस्ता होने में अक्षम है। तथापि, मार्क्सवादी युक्तियाँ सापेक्षिक गरीबी की मात्रा पर कभी निर्भर नहीं रही हैं। निष्कर्ष यह है कि सिर्फ सर्वहारावर्ग ही क्रांतिकारी वर्ग है, क्योंकि यही ऐसा वर्ग है जो अपनी समस्यायें व्यक्तिगत-संपत्ति-संबंधों के आधार पर हल नहीं कर सकता; यह उन्हें सिर्फ समाप्त कर सकता है। किसान भूमि बाँट सकते हैं और पुनः सर्वत्र व्यक्तिगत संचयन और बेदखली के चक्र को शुरू कर सकते हैं, किंतु, कामगर कारखानों को नहीं बाँट सकते (देखिये—'मार्क्सिज्म टुडे' के मार्च, १९६९ के अंक में 'हू विल लीड द रिवोल्यूशन' नामक जेम्स वॉडिस का लेख)।

किंतु, फैनन का यह दृष्टिकोण, उदीयमान-राज्यों में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बुर्जुआ-राजनीतिज्ञों की भ्रष्टता और कमजोरी के पैने विश्लेषण या उपनिवेशीकृत जनसंख्या के प्रति उसकी भावुकता शून्य दृष्टि की यथार्थता, जो इस बात पर ज़ोर देती है कि क्रान्तिकारी उद्योग के बिना अपने पिछड़ेपन और पुराणपंथी मनोवृत्ति से उबरना असंभव है, को प्रभावित नहीं करता।

रेज़ी देब्रे

'तृतीय-विश्व' के कुछ क्षेत्रों में, वास्तविक रूप से क्रांति की पूर्णता का सवाल, सांप्रतिक बोलीविया में चेगुएवारा के अंतिम अभियान के साथ निकटता रखने के कारण कारावास-दंड भोगते हुए, फ्रांसीसी दार्शनिक रेज़ी देब्रे द्वारा काफी विस्तार के साथ निरूपित किया गया है। उसकी पुस्तक 'क्रान्ति के अन्दर क्रान्ति' का बहुत भारी स्वागत हुआ है, और उसी प्रकार से, उस पर बहुत से आलोचनात्मक आक्रमण भी किये गये हैं। हालाँकि वह यह अस्वीकार करता है कि वह एक सामान्य आदर्श का निर्माण करने की कोशिश कर रहा था, किंतु उसकी पुस्तक द्वारा संप्रेषित प्रभाव निश्चय ही ऐसा नहीं है।

यह पुस्तक क्रांति के कुछ समसामयिक आदर्शों को ध्वस्त करती है; जैसे "सशस्त्र आत्मरक्षा," जिससे शक्ति केन्द्रों पर एक क्रांतिकारी प्रहार बहिष्कृत है; 'सशस्त्र प्रचार' और 'छापामार केन्द्र' जो चीनी और वियतनामी अनुभव की यांत्रिक प्रतिकृतियाँ हैं। आगे वह छापामार दस्ते के बारे में अपना हल प्रस्तुत करता है :

"आज किसे मजबूत किया जाय—पार्टी को या जन सेना के भ्रूण छापामारों को? इन दोनों में से कौन-सी कड़ी निर्णायक है?" और वह उत्तर देता है कि इस संदर्भ में पार्टी न्यूनतम महत्त्व की ठहरती है; प्रत्येक वस्तु, दूरस्थ देहातों में स्थित और शहरों के सभी प्रकार के संपर्कों से वंचित छापामार केन्द्र पर निर्भर करनी चाहिये। वह यहाँ तक कहता है कि "शरीर विज्ञान और विचारधारा में एक घनिष्ठ सम्बन्ध है" यानी सिर्फ वही आदमी, जो छापामार के रूप में कार्य कर सकते हैं, वास्तविक क्रांतिकारी हो सकते हैं। देब्रे के अनुसार क्रांतिकारी हिरावल दस्ता एक सैनिक इकाई है और वह हिरावल दस्ता स्वयं ही क्रान्तिकारी पार्टी भी है। यह धारणा 'विकल्पवाद' की अंतिम सीमा है। यह ध्यातव्य है, कि कुछ शुभचिंतक आलोचकों ने संकेत किया है कि क्यूबाई-क्रांति में जिसे देब्रे अपनी स्थापना के मूर्त उदाहरण के रूप में पेश करता है, सशस्त्र सेना और राजनीतिक दलों के बीच का संबंध, देब्रे की धारणा से नितांत भिन्न है।

मार्क्सवाद और प्राकृतिक-विज्ञान

क्रांतिकारी स्वच्छंदतावादियों के कुछ वर्गों में, एक क्रांतकारी सिद्धांत के रूप में, मार्क्सवाद की मान्यता पर पर बड़ी गर्म बहस हुई है किंतु, सामान्यतया सामाजिक यथार्थ को ठीक से समझने और उसे बदलने के लिए अपनी अत्यधिक कार्य-क्षमता के कारण, अराजकतावादियों को छोड़कर मार्क्सवाद सर्वत्र सम्मानित रहा है।

किंतु जिस चीज़ पर उग्रतम आक्रमण हुआ है और जिसे भ्रष्ट एवं कुत्सित कहकर तिरस्कृत किया गया है वह है कम्युनिष्ट आन्दोलन द्वारा विकसित मार्क्सवाद। और स्वच्छंदतावादियों का आग्रह है कि ऐसे हाथों में पड़कर मार्क्सवाद एक प्रकार के पूजा-पद्धति-सम्मत अंध-धर्म के रूप में विकृत हो गया है, जो सामाजिक यथार्थ के किसी भी पहलू को सही-सही व्याख्यायित नहीं करता, अपितु यह एक या दूसरे साम्यवादी दलों की अवसरवादी नीतियों के लिये, एक प्रकार के सुविधाजनक पक्षसमर्थक के रूप में सेवारत है, और निर्जीव-सूत्रों की एक बड़ी संस्था ने द्वंद्वात्मक तर्क पद्धति का स्थान ग्रहण कर लिया है।

इस कथित विकृति का मुख्य दोषारोपण स्वाभाविक रूप से 'स्टालिन' के शासन की दहलीज पर रखा जाता है, किंतु दोषारोप्य प्रक्रिया के आरंभ के अपराधी स्वयं एंगेल्स बताए जाते हैं, जिन्होंने मार्क्सवाद को विकृत किया—कुछ तो उसे जनता के लिये सीधे तरीके से बोधगम्य बनाकर, और कुछ इसलिये भी कि वह स्वयं मार्क्स की अति-सूक्ष्मता को समझने में अक्षम थे। एंगेल्स का और भी मूलभूत अपराध यह है कि उन्होंने इस बात पर ज़ोर दिया कि मार्क्सवाद एक विज्ञान है, और वे प्राकृतिक विज्ञानों के प्रतिआदर भाव रखते थे। 'सोशलिस्ट रजिस्टर' १९६५ में डोनाल्ड सी० हॉजेज़ के अनुसार 'इसके बावजूद कि एंगेल्स तत्व मीमांसात्मक विचार-परम्परा पर आक्रमण करता है...गति के बारे में उसके अपने सामान्यीकरण भी पारंपरिक तत्व-मीमांसा के सामान्यीकरणों की अपेक्षा कुछ कम अमूर्त और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सार्वभौमिक नहीं है। उस सीमा तक वे खोखल के समान ही हैं।" इस लेखक ने यह दावा बहुत पहले ही पेश किया है कि एंगेल्स ने मार्क्सवाद का अपना प्रतिपादन एक ऐसे दृष्टिकोण से किया है कि जिसने मार्क्स को, उसके अंतिम दिनों में संदूषित भी किया। इस प्रकार 'युवा मार्क्स, यानी मार्क्स की १८४० के दशक की आरम्भिक रचनाओं को मार्क्स की सर्वाधिक प्रामाणिक कृतियों के रूप में पेश किया जाता है; जैसे-जैसे वह दर्शनशास्त्र से राजनीतिक अर्थ-शास्त्र की तरफ शीघ्रता से मुड़ता चला जाता है, उसकी परवर्ती रचनाएँ एक संकीर्ण केन्द्र-बिन्दु बनाती चली जाती हैं।

'मार्क्सवाद बनाम प्राकृतिक विज्ञान' के सर्वाधिक प्रसिद्ध और सशक्त व्याख्याता फ्रांसीसी दार्शनिक ज्याँ पाल सार्त्र हैं जिन्होंने पिछले डेढ़ दशक में इसी दृष्टिकोण के संदर्भ में मार्क्सवाद की समीक्षा का बीड़ा उठाया है। उसका महाकाय ग्रंथ 'द क्रिटीक ऑफ डायलेक्टीकल रीज़न' सामाजिक व्यवहार को मार्क्सवादी ढाँचे के अन्तर्गत मानव-चेतना, वरण, और स्वतंत्रता प्रभृति अस्तित्ववादी विषयों के समावेश के द्वारा सामाजिक व्यवहार के विश्लेषण का दावा पेश करता है।

सार्त्र का उक्त दावा अपने-आप में बिल्कुल सही है क्योंकि सार्त्र के अनुसार पिछले दशकों में विकसित मार्क्स-वाद जनता और वर्गों के आन्दोलनों पर अपना ध्यान केन्द्रित करने के कारण, एक ऐसी कमज़ोरी जिसे दूर करने के लिए सार्त्र ने बहुत कुछ स्वयं भी किया है,—वैयक्तिक-चेतना के प्रश्न को उपेक्षित करता रहा। किन्तु, सार्त्र का यह दावा और भी आगे जाता है, जहाँ वह मार्क्स-वाद को एक नितान्त भिन्न आधार पर पुनःस्थापित करने का प्रयास करता है जिसकी दो मूलभूत आलोचनाएँ स्पष्ट-तया संभव हैं।

प्रथमतः तकनीकी विकास के प्रति एक गहरे संदेह से सार्त्र अपनी बात आरम्भ करता है, और ऐसा विश्वास करता हुआ लगता है कि मानवीय सम्भावनाओं की मुक्ति के बजाय इन सबका उपयोग अनिवार्यतया शोषण और धोखाधड़ी के लिये होता है। वह वैज्ञानिक प्रणाली को काफी हेय समझता है और 'द्वंद्वात्मक-तर्क' से उसका जो अर्थ है, उससे भी वैज्ञानिक प्रणाली को हीन मानता है।

यह बात उसकी दूसरी आलोचना को जन्म देती है। सार्त्र की चिंतन-पद्धति में एक ऐसी दृष्टि अनुस्यूत है जो मानसिक प्रक्रिया को अपनी विशिष्ट शोध-प्रक्रिया के द्वारा यथार्थ के किसी नितान्त भिन्न धरातल पर—प्राकृतिक विज्ञान के धरातल से भी भिन्न धरातल पर—ले जाकर स्थित कर देती है। यहाँ तक, गो, वह बहुत जोर के साथ इस बात को नकारता चलता है फिर भी, मूलतः एक भाव-वादी आधार रखने के कारण सार्त्र के दर्शन को दोषरहित ठहराना भी कठिन ही है।

"हम, निर्वासित आदमी को एक वस्तु के साथ या बाहरी परिस्थितियों को अनुशासित करने वाले भौतिक नियमों के साथ उसके निर्वासन के मध्य किसी भी भ्रान्ति को अस्वीकार करते हैं। **हम मानवीय कार्य की विशेष प्रकृति को मान्यता देते हैं...।"** **(क्रिटीक)**

प्राकृतिक विज्ञान को नकारने में मार्क्स सार्त्र से भी अधिक अतिवादी स्थिति में है। उसका विश्वास है कि आधुनिक युग के विश्व दृष्टिकोण के रूप में उसकी स्वीकृति ही, ऐसे 'एक आयामी' समाज के लिये उत्तरदायी है। वह इस प्रकार के यान्त्रिक दृष्टिकोण को बुर्जुआ नीति-विज्ञान और मूल्यों का अनिवार्य-जनक मानता है और वह मार्क्स-वाद के वैज्ञानिक घटकों के अस्वीकरण में सबसे ज्यादा ज़ोरदार है।[1]

कुछ अन्य राजनीतिक मोर्चे और अभिमत भी क्रान्ति-कारी स्वच्छंदतावाद के शीर्षक के अन्तर्गत खूब अच्छी तरह से रखे जा सकते हैं किन्तु हमें विश्वास है कि हमने उन सभी का संकेत कर दिया है, जो इस संदर्भ में सर्वाधिक सार्थक हैं। 'न्यू लेफ्ट रिव्यू' नामक द्वैमासिक पत्रिका ब्रिटेन में इस विचारधारा के अन्तर्गत आने वाले विचारों के लिये एक मंच प्रस्तुत करने में सक्रिय है; और जबकि उसके संपादक-मंडल की अपनी दृष्टि है और व्यक्तिगत हैसियत से प्रत्येक संपादक विविध प्रकार के दृष्टिकोण उपस्थित करते हैं।

(स्वच्छंदतावादी) दृष्टिकोण का सार-तत्त्व

अब प्रश्न उठता है कि राजनीतिक विकास के वर्त-मान काल में, इस क्रान्तिकारी स्वच्छंदतावाद की सार्थकता क्या है?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रथमतः, इसे राजनीतिक कठमुल्लेपन से शीघ्राति-शीघ्र भिन्न किया जाना चाहिये; जिसका प्रमाण-चिह्न ये गलत राजनीतिक फैसले नहीं हैं जो क्रान्तिकारी स्वच्छंदतावादियों को प्रभावित करते हैं। किन्तु,—'सतत-क्रान्ति' या 'सांस्कृतिक-क्रान्ति' या 'राज्य-पूंजीवाद' जैसी कुछ ऐसी जड़ अवधारणाएँ हैं जिनका उपयोग इस दल के लोग प्रायः करते पाए जाते हैं।

सर्वसम्मति से, क्रान्तिकारी स्वच्छंदतावादियों का क्षेत्र, कट्टरपंथियों को एक अनुकूल 'भरती की जमीन' प्रदान करता है, जिसका फायदा उठाने के लिये वे बाद में कोशिश करते रहे हैं। अभी-अभी 'न्यू रिवोल्यूशनरीज़, लैफ्ट अपोजीशन' (पीटर ऑवेन) नामक पुस्तक प्रकाशित हुई है जिसमें—'देब्रे', 'स्टोकली कारमाइकेल', 'छात्रशक्ति-विचारकों' इत्यादि के योगदान के साथ स्वच्छंदतावादी क्रान्तिकारी सिद्धान्त का एक दिलचस्प सारांश प्रस्तुत किया गया है जिसे अन्तर्राष्ट्रीय मार्क्सवादी ग्रुप (चतुर्थ अंतर्राष्ट्रीय) के तारिक अली ने संपादित किया है, तथा उसमें पियरे फ्रांक तथा अर्नेस्ट मांडेल जैसे विश्रुत प्रतिनिधि त्रात्स्कीवादियों की सामग्री भी शामिल की गई है। समाजवादी देशों में भी, वहाँ की सरकारों को पलटने में पर्याप्तरूपेण सक्षम एक राजनीतिक संकट पैदा करने वाले छात्र-असंतोष के बारे में भी, इस पुस्तक में, अटकलें भिड़ाई गई हैं।

इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं, जैसा कि इस पुस्तक में कहा गया है, कि—क्रान्तिकारी स्वच्छंदतावाद की प्रमुख धाराओं को एक संगठनात्मक रूप प्रदान करने के लिए, उपर्युक्त कथ्यों के प्रकार के आधार पर एक कार्यक्रम बनाने के लिए और वर्तमान क्रान्तिकारी दलों को प्रदच्युत करने के लिये और एक निश्चित क्रान्तिकारी विकल्प प्रस्तुत करने के आधार पर विविध तत्वों को संगठित करने के लिये कोशिशें की जा रही हैं। 'ब्लैक ड्वार्फ' शीर्षक से तारिक अली का, इसी दिशा में एक निबन्ध भी प्रकाशित हुआ है। यह अस्वाभाविक ही होगा, यदि, आधुनिक-विक्षुब्ध-यथा-स्थिति में, ये कट्टरपंथी अपने विकास के लिए सबसे अच्छा अवसर न देखें; और अपने विचारों की समानुरूपता के द्वारा एक जन-आन्दोलन को पैदा करने के हेतु और इसे अस्तित्व में ले आने के लिये कोई कसर बाकी न छोड़ने के लिये, इससे अच्छा मौका कभी पाने से रहे। हम साम्यवादियों को, एक बहुत बड़ी जनसंख्या—जो उक्त विचारों से प्रभावित है, को जीतने की चुनौती को स्वीकार कर लेने की आवश्यकता है क्योंकि, लक्ष्यों के प्रति अपेक्षाकृत कुछ अधिक मौलिक राजनीतिक समझ और अधिक पर्याप्त कुशल कार्यनीतिक दृष्टि हमारे पास है।

सीखने के लिये प्रस्तुत

सिर्फ मूल मार्क्सवादी ग्रंथों से उद्धृत करते रहने पर निर्भर रहने से यह सब कभी नहीं किया जा सकता। जब तर्क अस्वीकार्य हों, तब, उन्हें ठोस प्रमाणों और वृहद्-शोधों के आधार पर सिद्ध किया जाना चाहिये। क्रान्तिकारी स्वच्छंदतावाद तब पैदा होता है जब राजनीतिक फेरबदल होती है, और जब वर्ग-अंतर्विरोध तेजी से सामने आते हैं और जब पहले की निष्क्रिय जनता, राजनीतिक रूप से सचेष्ट होना शुरू करती है, किंतु यह तभी होता है, जब आगे के मार्ग का कोई साफ परिदृश्य पास में नहीं होता। ऐसी परिस्थितियों में, संक्षिप्त मार्ग (शार्ट-कट्स) और फौरी क्रान्तिकारी नुसखे खोजे जाते हैं, और सिद्धान्त, जो मनःस्थितियों में ही ठीक होते हैं, तत्काल स्वीकृति पाते हैं। क्रान्तिकारी-भावना प्रखरता की सर्वोच्च कसौटी के स्तर तक कसी जाती है, किन्तु यदि सफलता शीघ्र नहीं मिलती तो यह अपने पीछे एक भाव-शून्यता और स्थितियों के मोह-भंग को छोड़ती हुई, ढहने लगती है। यह इन सवालों के संदर्भ में साफ-साफ दिखाई पड़ेगा कि ब्रिटेन में एक लम्बे अरसे के संगठन और वर्ग-संघर्ष की मौजूदगी के अभाव-स्वरूप क्रान्तिकारी स्वच्छंदतावाद मजदूर आन्दोलन से बाहर के जनसमूह को ही क्यों आकर्षित करता है? दूसरी तरफ इससे इंकार नहीं किया जा सकता कि, तेजी से विकासमान स्थितियों में स्थापित आन्दोलनों के द्वारा, परिस्थितियों के कुछ महत्त्वपूर्ण छूटे हुए सत्य और पहलुओं को, संघर्ष के लिये तैयार मस्तिष्क, शीघ्रता से पकड़ सकते हैं।

हमें, उनको सीखने के लिये सदैव प्रस्तुत रहना चाहिये।

अनुवाद : सुधीश पचौरी

['मार्क्सिज्म टुडे' के मई १९७० के अंक से साभार]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मतदान से पहले

त्रिनेत्र जोशी

अस्तु प्रभु
अपना हाथ वापस लेता हूँ
अन्धेरे के बीच फड़फड़ाते
शब्दों में । वह बात कहाँ
जिसे बोलना था
चालू चीख के विपरीत
क्यों कहाँ गई । सुबह । सूरज
कागजों के फैलते धुन्ध में
सचमुच । छिप गया
सब कुछ । और
एक डरी हुई जाति को डराने
फिर निकल आया
सूरज की जगह । बंदूक की बैरल से
एक कानून । मैं जानता था । हूँ
ताबूतों में ढल जायगी जिन्दगी
और तब स्याह
सुनसानी को । चुपचाप
ठेलता । मैं देख रहा हूँगा
अहमदाबाद के लाल रंग से
उठती हुई एक संध्या
वियतनाम की खाइयों में दुबकी
तरक्की । आदमी के खिलाफ
हथियार उठा रहे । वायदों को
झंडे के नीचे फैलाते
लोगों का गीत
खिलाफ़ लहरा रहे रंगों को
राजपथ पर । छटपटाते
महापुरुषों के शब्दों में
कसमसाते । अपनी इच्छाओं को
देखूंगा
एक अगली विस्फोटक तैयारी में
मरते-खपते
कभी अकाल में सड़ते
कभी बाढ़ में बहते
अपने ही तंत्र के बारूदों का
सामना करते । लौट आऊँगा
पर्दे के पीछे
चुपचाप
कभी दफ्तर की कुर्सी पर
समाचार बनते
कभी देश के महामंत्री का
हाल पूछते
और कभी अदालत में रिरियाते
कि.....
षड्यंत्र मैंने नहीं
अदालत ने किया था
मगर अदालत के लोग । बेलाग
हँसेंगे । निराशाओं में शामिल भीड़ पर
किसी भी धारा के प्रवाह में
गोलियाँ चलेंगी
शर्म से गिर रही होंगीं
हड्डियाँ और खून
धत्त-तेरे की
केवल शब्दों में बच जाता
हाथ हिलाता । सुसंस्कृत, सभ्य
कुर्सी की फाइल का
गणतंत्र दिवस । के बीच
खड़े—
पंडित ऊबाऊनाथ
मौलाना मुकाबिला मोहम्मद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की शतरंज का विवादास्पद
मोहरा
उज्ज्वल भेड़िये के शब्दों का
निशाना
श्रीमती जी की बिगड़ती रियासत का
चिराग़े अलादीन
ढोना और ढोना और ढोना
ऐसे ही ले जाना । अपने विरुद्ध
जो मैं कतई नहीं
संसद की बहसों के बीच
वही मैं
हूँ । हूँ । हूँ । सब कुछ
नहीं । मैं नहीं स्वयं । रहा
रहना था जिसको
किसी दुर्घटना में
अखबार की खबर बनता
समाप्त हो गया । इस तपस में
चावल के दाने बीन रहे
ताप पा रहे । लोग
इतिहास में उठाते
उजाड़ । उदास । खण्डहर । खड़ा
आँखों को
बीड़ी के धुएँ में भिगाता
वह । एक कश और खींचता
दर्द का या फर्ज का
महापुरुष की तसवीर के नीचे
हरकतों का एक कानूनी मिजान
बनाता । पुलिस कप्तान
और पताका फहराता । मौसम पर
मुस्कराता । पत्रकारों के सामने
अकाल-पीड़ित । नक्शे की व्यवस्था करता
मंत्री । खिलखिलाता
हरे राम । हरे राम
उनका परम कर्तव्य
कर बढ़ाता । भत्ते बनाता
पूँछ हिलाता । फिर आ रहा
मतदान की पेटी के पास

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साहित्य और सहृदय

सरनाम सिंह शर्मा 'अरुण'

सबसे पहले रसविषयक चर्चा भरतमुनि के सूत्र में प्रारम्भ हुई। वह सूत्र है 'विभावानुभावसंचारिसंयोगाद्रस-निष्पत्तिः'। यह चर्चा इतनी प्रौढ़ है कि लगता है कि उससे पहले भी कोई मत रहा होगा और रस के विषय में चर्चा हुई होगी। इस सूत्र में 'विभावादि' शब्दों की पारिभाषिकता तथा 'संयोग' और 'निष्पत्ति' शब्दों के अर्थ की उपयुक्तता बड़ी महत्त्वपूर्ण है। मेरी दृष्टि में 'संयोग' और 'निष्पत्ति' शब्दों की संगति में 'विभावादि' का पारिभाषिक अर्थ बहुत स्पष्ट हो जाता है। यह समझ लेने पर कि 'रस' का सम्बन्ध 'प्रमाता' से है, 'संयोग' शब्द बड़ी विशदता से आलोचक के समक्ष आ जाता है। 'संयोग' से उसके दो पक्ष भी प्रत्यक्ष हो जाते हैं। एक 'संयोगी' पक्ष और दूसरा 'संयुक्त' पक्ष।

सूत्र की व्याख्या में बताया गया है कि संयुक्त पक्ष में स्थायी भाव का नाम आता है जिसका सम्बन्ध प्रमाता या सहृदय के मानस से है और उसके मानस में स्थायी भाव से संयोग के लिए किसी व्यक्ति या वस्तु की गुंजाइश नहीं हो सकती। इससे स्पष्ट है कि स्थायी भाव के संयोगी विभावादि भाव मात्र हैं।

जो विभाव, अनुभाव और संचारी नाम से अभिहित हैं वे मात्र भाव हैं। उनका उपयोग कवि अपने भाव के परिवेश के रूप में करता है। ये भाव आश्रय से सम्बन्धित व्यक्तियों, वस्तुओं, उक्तियों, क्रियाओं और भावों के प्रतिनिधि होते हैं। साहित्यदर्पणकार ने विभाव की व्याख्या में लिखा है—'रत्याद्युद्बोधका लोके विभावाः काव्य-नाट्ययोः', अर्थात् लोक में रत्यादि के उद्बोधक ही काव्य और नाटक में 'विभाव' कहलाते हैं। विभाव के मुख्य अवांतर भेद आलम्बन और उद्दीपन हैं। इसी प्रकार अनुभाव के लक्षण हैं जिनसे आश्रय के मनोगत भाव का परिचय मिलता है। इनमें भाव-परिवर्तिता का आश्रय निहित है। रत्यादि के संचरण में सहयोग देने वाले उठने-मिटने वाले, आश्रय से सम्बन्धित भावों के प्रतिनिधि भाव काव्य और नाटक में संचारी कहलाते हैं।

लोक-रति आदि का आधान काव्य या नाट्य में 'आश्रय' अभिधा प्राप्त करता है। कवि या नाटककार वास्तव में अपने भाव का ही निरूपण करता है और निरूप्य भाव को वह आश्रय में निक्षिप्त कर देता है। कवि या तो स्वयं आश्रय होता है या आश्रय उसका प्रतिनिधि होता है। प्रत्येक दशा में कवि अपना ही भाव व्यक्त करता है। आश्रय के भाव के रूप में व्यक्त उसका अपना आवृत भाव है। अपने भाव का अनावरण वह आश्रय के भाव के रूप में करता है। जिस आश्रय के माध्यम से वह अपने भाव का अनावरण करता है, उसका पक्ष धारण करता है। वह अपने भाव का आश्रय बदल भी सकता है। प्रबन्ध-काव्यों में उसका भावाश्रय परिवर्तित होता रहता है।

यह समझना भ्रम होगा कि कवि या नाटककार प्रबंध-काव्य या नाटक में किसी विशेष नायक या नायिका का ही पक्ष लेता है। वह तो प्रतिनायक-नायिका का भी पक्ष लेता है। अपनी बात कहने के लिए वह किसी भी पात्र में फूंक मार कर खड़ा कर देता है। उसे जो कुछ कहना होता है उसे पात्रों के मुख से कहता है। वह दो पक्ष खड़े करके लौकिक स्वर में दोनों का वकील बनकर बोलता है। कवि दोनों पक्षों में बोलता है, सब पात्रों में बोलता है; किन्तु अन्ततोगत्वा उसका इष्ट पक्ष या इष्ट आश्रय ही विजयी होकर विजय-पताका धारण करता है।

यह तो स्पष्ट कर ही दिया गया है कि कवि-भाव का परिवेश आश्रय के भाव का परिवेश है। हमें आश्रय के दो पक्ष दृष्टिगोचर होते हैं: एक उसका बाह्य पक्ष जिसके अन्तर्गत आलम्बन विभाव, उद्दीपन विभाव और अनुभाव की गणना की जाती है और दूसरा पक्ष अन्तःपक्ष है जिसमें उसका भाव और संचारी आते हैं। कवि को आश्रय के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाव का उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं होती। विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के सम्बन्ध से आश्रय-भाव का पूर्ण परिवेश निर्मित हो जाता है। विभाव, अनुभाव और संचारी आश्रय के भाव का भावात्मक परिवेश हैं। काव्य की इस भाव-स्थिति को कवि-भाव का परिवेश भी कह सकते हैं।

सामान्य रूप में हमें भाव की तीन श्रेणियाँ दृष्टिगोचर होती हैं: व्यक्ति-भाव, कवि-भाव और सहृदय-भाव। साहित्य में व्यक्ति-भाव अपने मौलिक रूप में संनिविष्ट नहीं होता। वास्तव में कवि-भाव ही साहित्य में प्रतिष्ठा पाता है। इसके अनेक कारणों का उल्लेख आगे किया गया है। कवि सहृदय की भी उपेक्षा नहीं कर देता क्योंकि रस का सम्बन्ध एक ओर उसके उपकरणों से है जिनकी सृष्टि कवि करता है और दूसरी ओर सहृदय से जो उन उपकरणों के संस्पर्श से आस्वाद्यता को प्राप्त अपने ही स्थायी भाव की अनुभूति का आनन्द लेता है। स्थायी भाव सहृदय की हृदय-सम्पत्ति है, असहृदय की नहीं। साहित्य को पढ़कर जो भाव उद्बोधन को प्राप्त होता है उसी स्थायी भाव की परिणति रस-रूप में सहृदय में होती है।

यहाँ एक प्रश्न यह भी उठता है कि क्या असहृदय व्यक्ति भाव-शून्य होता है? नहीं, ऐसी बात नहीं है कि असहृदय व्यक्ति भाव-शून्य होता है, किन्तु उसमें संस्कारों का अभाव होने से वह सहृदय संज्ञा प्राप्त नहीं कर सकता। संस्कार सहृदय को साहित्य की अवगति में योगदान देते हैं। संस्कारी व्यक्ति का भाव ही साहित्यानुशीलन से द्रवण-स्फुरणशील होकर स्थायी भाव की संज्ञा प्राप्त करता है। जो भाव सम्यक् द्रवणशीलता एवं स्फुरणशीलता से वंचित है, वह मात्र भाव है, स्थायी भाव नहीं है।

यहाँ भाव और स्थायी भाव का अन्तर स्पष्ट हो जाना चाहिये। भाव तो मन की प्रथम विक्रिया है, किसी भी दृश्य या घटना से भाव की उत्पत्ति हो सकती है, किन्तु वह वस्तु-जन्य होने से मात्र भाव रह जाता है। दृश्य और घटना अपनी वस्तुपरकता छोड़कर कवि-हृदय में भावित होकर उसके शब्दों में भाव-रूप ग्रहण करती हैं।

इन भावों के सम्पर्क में केवल सहृदय आता है। जो व्यक्ति दृश्य या घटना के वास्तविक सम्पर्क में आता है वह काव्य-नाट्य में आश्रय कहलाता है और कवि-प्रणीत भावों के सम्पर्क में आने वाला व्यक्ति सहृदय कहलाता है। जो व्यक्ति कवि के बोध और भावों से सम्पर्क स्थापित नहीं कर सकता वह सहृदय नहीं है। सहृदय में कवि का-सा हृदय होना चाहिये। सहृदयता को ईश्वरदत्त मानकर संस्कारों की उपेक्षा नहीं की जा सकती है। इसमें सन्देह नहीं है कि 'कल्पना-शक्ति' मनुष्य की एक बड़ी भारी शक्ति है। इसको दिव्य-दान मान सकते हैं किन्तु संस्कारों से कल्पना में जो प्रखरता आती है वह भी विस्मरणीय नहीं है। अतएव सहृदयता मनुष्य का एक उपलाभ है जिसमें उसके प्रयत्न, अभ्यास, वातावरण, सम्पर्क, अध्ययन आदि का प्रथिति योग होता है।

जो व्यक्ति संस्कारहीन है उसकी कल्पना निर्बल एवं मन्द होती है। वह कवि द्वारा चित्रित दृश्यों और घटनाओं की मर्मावगति करने में ही असमर्थ नहीं होता, अपितु वास्तविक अवगति करने में भी असफल सिद्ध होता है।

कुछ लोग आश्रय में ही स्थायी भाव की स्थिति मान कर रस-सिद्धान्त को भ्रामक बना देते हैं। आश्रय वह व्यक्ति है जिससे कवि किसी मनोविकार की जागृति की बात करता है और आलम्बन वह व्यक्ति या दृश्य है जिसके सम्बन्ध से आश्रय के मन में विक्रिया पैदा होती है। उद्दीपन से यह विक्रिया और भड़कती है।

आश्रय को सहृदय का पर्यायी मानकर रस-सिद्धान्त की छीछालेदर करने वाले भी लोग विद्यमान हैं; किन्तु आश्रय के भाव का सम्बन्ध वस्तु, व्यक्ति या घटना से है और सहृदय के भाव (जिसको स्थायी भाव कहते हैं) का सम्बन्ध कवि-प्रणीत सामान्य भाव से है। यह आवश्यक नहीं है कि कवि सभी विशिष्ट भावों को प्रत्यक्ष कराये, कुछ भाव-निरूपण-कौशल से सहृदय की कल्पना के अंग बने बिना नहीं रहते। उनके वर्णन के निरूपण से—निरूपण की वृत्ति के सहयोग से—जो भाव उभर कर सहृदय के मानस को आच्छादित कर लेता है वही तो रस-रूप में अनुभूत होता है।

भाव और रस

साहित्य भावों का निरूपण होता है। जब तक भावों को मिलने का उपयुक्त अवसर नहीं दिया जाता, तब तक वे भाव ही रहते हैं, वे स्थायी भाव को रस-रूप में परिपक्व

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं कर सकते। अपने सहयोगियों का उपयुक्त सहयोग पाकर स्थायी भाव रस की स्थिति पा लेता है। स्थायी भाव में रस-रूप में परिणति प्राप्त करने की क्षमता होती है और सहगामी या सहयोगी भावों में उस परिणति में सहयोग देने की क्षमता होती है। अपने सहचर भावों का सहयोग पाकर ही सहयुक्त भाव रसावस्था को प्राप्त होने की क्षमता रखता है।

कभी-कभी सहयोगी भाव अप्रत्यक्ष रहता है, किन्तु स्थायी भाव उससे या उनसे उपयुक्त सहायता ले लेता है। ऐसी स्थिति में वह अप्रत्यक्ष सहचर स्थायी में अपनी शक्ति या गुण निक्षिप्त कर देता है अर्थात् उस भाव के अप्रत्यक्ष रहने पर भी उसकी कल्पना कर ली जाती है। निक्षिप्त भावों की कल्पना का अवसर प्रायः उन मुक्तक रचनाओं में रहता है जिनके छंद छोटे होते हैं और जो परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं रखते। प्रबन्ध-काव्य में ऐसे अवसर बहुत कम आते हैं। निक्षिप्त भावों को ध्वनित या व्यंजित करने की क्षमता बड़े कुशल कलाकारों में ही होती है और सबको ग्रहण करने के लिए भी संस्कारवान् प्रमाता की अपेक्षा होती है, अन्यथा भाव की उद्गति नहीं होती।

परिवेश निरूपण से निक्षिप्त भाव की उद्गति को विशेष सहयोग मिलता है। परिवेश स्वयं ऐसी ध्वनि व्यक्त करता है जिसमें निक्षेप की क्षमताएं निहित रहती हैं। अतएव निक्षिप्त भाव की क्षमताओं का संनिधान परिवेश में भी रह सकता है।

जब तक स्थायी भाव को निक्षेप-लाभ नहीं होता तब तक वह भाव ही रहता है; उसे रस-परिणति नहीं मिल पाती। अतएव निक्षेप में कुशलता की भूमिका अपेक्षित होती है। इस कुशलता में कल्पना-कौशल भी सम्मिलित होता है। कल्पना मनीषा-प्रसूता होती है जो कवि को स्वयंभू बनाती है और वही कवि की विशद अनुभूति से मिलकर उसे 'परिभू' बनाती है। मनीषी कोई भी व्यक्ति हो सकता है, किन्तु 'स्वयंभू' होना दुष्कर है और 'परिभू' होना तो और भी दुष्कर है।

कवि अपने काव्य में पुनर्जात होता है, उसे कोई अन्य पैदा नहीं करता। अतएव वह अपने काव्य में 'स्वयंभू' है। उसका समग्र अन्तर, उसका समग्र व्यक्तित्व काव्य या उसकी रचना में अभिव्यक्त हो जाता है। उसका व्यक्तित्व लघु भी हो सकता है, किन्तु उस समय उसे 'परिभू' की उपाधि नहीं मिल सकती। जब वह 'महामानव' (विराट), के रूप में अवतीर्ण होता है तभी वह 'परिभू' होता है। उसका महामानव (विराट्) ही उसके 'परिभू' का प्रतिनिधि है।

रस की कायिकता

रस कायिक बिल्कुल नहीं है, वह एक सहयुक्त भाव की आनन्दमयी परिणति है जिसके लक्षण प्रमाता के शरीर और वाणी से भी व्यक्त हो सकते हैं।

कवि भी अपनी रचना में रस बनाकर नहीं दे देता, वरन् वह ऐसी भाषा की सृष्टि करता है जिसमें उसके भाव पिरोये रहते हैं। भाषा दो प्रकार की होती है: लिखित और उच्चरित। लिखित शब्द प्रमाता के मानस को लोचन मार्ग से जाग्रत करते हैं और उच्चरित श्रुति-मार्ग से। इन दो ही मार्गों से भाषा मानस को सजग करती है। मानस का प्रमुख कार्य भाव को पकड़ना है, शब्दों को पकड़ना नहीं, किन्तु भाव शब्दों के वाहन बनाकर आते हैं, इसलिये प्रमाता को उनकी भी अवगति रहती है। वे उसकी स्मृति पर अंकित हो जाते हैं।

स्मृति-अंकित शब्द या तो प्रमाता की स्वेच्छा से या किसी अनुषंग से प्रमाता के तत्सम्बन्धी भाव को फिर जाग्रत कर सकते हैं। पुनर्जागृति में भाव की तीव्रता स्मृति के सनिष्ठ आचरण पर निर्भर करती है।

लिखित भाषा में बोध को ज़ोर लगाना पड़ता है, किन्तु उच्चरित भाषा को शारीरिक संकेत भी सहयोग देते हैं, जिससे बोध का श्रम कम हो जाता है। यही कारण है कि नाटक की अवगति किसी काव्य की अवगति से सरल होती है।

कवि-प्रतिभा और मनीक्षा

ये दोनों ही मनुष्य की शक्तियाँ हैं, शारीरिक नहीं मानसिक। मनुष्य का मन, जिसके अनेक नाम लिये जाते हैं, एक अद्भुतालय है क्योंकि उसमें अनेक अद्भुत शक्तियाँ निहित हैं, जो आवश्यकता पड़ने पर मनुष्य की सहायता करती हैं। दोनों बुद्धि के परिवार की हैं। कवि के पास आकर दोनों वाग्देवी की सेवा करती हैं। मनीषा कवि-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर्म में उपादेय तत्त्वों को निरख-परखकर संकलित करती है, किन्तु प्रतिभा प्रखर-बोध की वह प्रतिक्रिया है जो नवीनता उद्भासित करती है। कालिदास ने महाभारत के शकुन्तलोपाख्यान को जिस 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' का रूप प्रदान किया, वह कवि की मनीषा का प्रसव नहीं है, वरन् उनके प्रातिभ प्राखर्य की सृष्टि है। इसी प्रकार कामायनी के अनेक सृजन-सूत्र कवि की मनीषा के आलोड़न-विलोड़न में अवश्य आये होंगे, किन्तु कामायनी ने जो स्वरूप प्राप्त किया है, वह प्रतिभा के सृजन-करों की देन है।

भाव और उसके उद्बोधकों का विभावादि से सम्बन्ध

भाव का जन्म किसी परिवेश में होता है। भाव का आश्रय कोई मनुष्य होता है अथवा मनुष्य-कल्प वस्तु या पदार्थ होता है। भाव के कारणों और लक्षणों को मैं 'परिवेश' नाम से अभिहित करता हूँ। जिसको काव्यशास्त्र में 'विभाव' संज्ञा दी जाती है, वह भी 'भाव-परिवेश' होता है और उसे 'कारण' कहना ही उचित है, किन्तु आश्रय के भाव की जिन-जिन बातों से प्रतीति होती है वे लक्षण कहलाते हैं। उनको काव्य-शास्त्रियों ने अनुभाव कहा है। अतएव भाव के परिवेश में विभाव और अनुभाव तो आते ही हैं' साथ ही संचारी भी आते हैं। संचारियों को परिवेश-संज्ञा इसलिए दी जा सकती है कि वे भाव के सहचर होते हैं। जब तक भाव रहता है तब तक संचारी भी उदय और विलय की परम्परा में चलते रहते हैं। एक के बाद दूसरा, तीसरा आदि क्रम से संचारियों की परम्परा चलती ही रहती है। भाव तो जितने समय तक रहता है, जमकर रहता है, किन्तु संचारी उठते-मिटते रहते हैं। उनका कोई नियम या क्रम नहीं है। यों तो प्रत्येक भाव के साथ कुछ विशेष संचारियों के नाम गिनाये जाते हैं, किन्तु इसका निर्णय परिस्थिति के आधार पर ही किया जा सकता है। कवि इन सबको सामने रख कर इनका निरूपण करता है। ऐसी बात नहीं है। उस समय प्रसंग या अनुषंग में जो भी निरूपणीय होते हैं, जिनकी आवश्यकता होती है, वही महत्त्व के समझे जाते हैं। एक के बाद दूसरा संचारी तरंग-परम्परा की भाँति उठता चला जाता है, इसलिए उनको संचारी और व्यभिचारी दोनों ही नाम दिये जाते हैं। उनसे भाव में आवेग पैदा होता है, फिर भी वे भाव से पृथक् नहीं रह पाते; अतएव भाव-परिवेश में ही उनकी गणना की जाती है।

भाव के साथ उसके संचारियों का नामोल्लेख करने की आवश्यकता कवि को नहीं होती। कवि भाव-निरूपण के लिए जो परिवेश तैयार करता है उसी से भाव-विशेष की अवगति हो जाती है।

एक ही आश्रय में कवि कालक्रम से अनेक भावों की सृष्टि दिखला सकता है; किन्तु यह बिल्कुल आवश्यक नहीं है कि उन सबका आलम्बन भी एक हो, फिर उद्दीपन के एक होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। भिन्न-भिन्न भावों के लक्षण भिन्न-भिन्न होते हैं क्योंकि भावों की भिन्नता लक्षणों की भिन्नता की स्वयंसिद्धि है।

व्यक्ति-विशेष में विशेष कारणों के संदर्भ से विशेष भाव की उत्पत्ति होती है, किन्तु कारणों के बदलते ही भाव की विशेषता भी बदल जाती है। 'श्याम' के मन में अपने शत्रु 'वक्रिम' के सम्बन्ध से उसके गाली देने पर जो भाव उत्पन्न होता है उसकी विशेषता, श्याम के स्थान पर 'राम' के होने पर, समाप्त हो जाती है। उद्दीपन के बदलने पर तो भाव की विशेषता की समाप्ति और भी अधिक सिद्ध होती है।

कवि-कल्पना का पुट लगते ही विशेष भाव (जो स्वयं कवि-संबद्ध भी हो) भी सामान्य हो जाता है, उसी प्रकार जिस प्रकार कि विशेष नदी समुद्र में मिलकर समुद्र हो जाती है। कारण यह है कि कल्पना के लिए विशेष संदर्भ खोजने पर भी वह सामान्य को ही पकड़ती है। प्रसाद ने श्रद्धा की गौरता के सम्बन्ध से जिस 'नील परिधान' का निरूपण किया है उसका संदर्भ विशेष होते हुए भी कवि-कल्पना ने उसे 'सामान्य' बना दिया है। प्रश्न उठ सकता है कि श्रद्धा और उसके परिधान की बात सामान्य कैसे हो गयी? इसलिए हो गयी कि श्रद्धा और उसके रूप-लावण्य का भाव कवि के मन की सृष्टि है, वह कल्पना-प्रसूत है: अतएव उसकी विशेषता का प्रश्न ही नहीं उठता। हमें यह न भूल जाना चाहिये कि कवि 'भाव' ग्रहण करता है, व्यक्ति को ग्रहण नहीं करता। जिस व्यक्ति या जिन व्यक्तियों को वह अपनी रचना में सँजोता है वे केवल भाव हैं। उस या उनके जो रूप-गुण-स्वभाव आदि कवि-रचना में निरूपित हुए हैं, वे कल्पना के साँचे से निकलकर आये हैं, अतएव विशेष नहीं हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कवि किसी भी आश्रय के सम्बन्ध से जिस भाव का निरूपण करता है, वह विशेष व्यक्ति या विशेष भाव न होकर कवि का कल्पित भाव है, जिसका कवि ने 'विशेष' पर आरोपण किया है; अतएव वह भाव विशेष न होकर सामान्य ही होता है।

एक विशेष बात और है जिस पर ध्यान देने की आवश्यकता है। वह यह है कि कवि किसी वर्तमान-भाव का निरूपण नहीं करता। जिस समय कवि-मानस विशेष भाव से आक्रान्त होगा उस समय वह कविता जैसा पुनीत कर्म कर ही नहीं सकता, क्योंकि भाव में तो सुख-दुःख निहित होते हैं और सुख की स्थिति भी काव्य-कृति के लिए उतनी ही बाधक होती है जितनी दुःख की। इसके अतिरिक्त भाव, निरूपण के समय भूत हो जाता है; वह वर्तमान रह ही नहीं सकता।

रही दूसरे के भाव-निरूपण की बात, सो वह तो भाव की भूतता ही सिद्ध करती है। दूसरे के भाव को प्रथम तो कवि निरूपित ही नहीं कर सकता और असम्भव को संभव मानकर यदि यह भी कहें कि वह ऐसा कर सकता है तो दूसरे का निरूपित भाव वर्तमान नहीं हो सकता।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि—(१) कवि किसी दूसरे के भावों का निरूपण नहीं कर सकता।

(२) कवि दूसरे के ही नहीं, अपने भाव का भी तत्काल निरूपण नहीं कर सकता; अतएव कवि-निरूपित सभी भाव भूतकालिक होते हैं।

(३) भूतकालिक भावों के निरूपण में कल्पना का पुट अनिवार्य है।

(४) भूतकालिक एवं कल्पना-पुटित भावों का निरूपण विशेषता-विरहित होता है। अतएव कवि-निरूपित भाव सामान्य होते हैं।

(५) भूतकालिक एवं कल्पना-पुटित कवि-निरूपित भाव सामान्य इसलिए भी होते हैं कि वे मौलिक परिवेश में प्रस्तुत नहीं होते और न उनका ऐसा प्रस्तुतीकरण सम्भव ही है।

मूलभाव और सामान्य भाव

मूलभाव उस व्यक्ति में होता है जिसको हम काव्य-शास्त्र में 'आश्रय' कहते हैं। वह विशेष कारणों से उत्पन्न होता है और उसके विशेष लक्षण होते हैं। कवि किसी मूलभाव को यथावत् निरूपण नहीं कर सकता क्योंकि किसी दूसरे के भाव का ज्यों-का-त्यों निरूपण दुष्कर ही नहीं, असम्भव भी है। कवि-निरूपित भाव कवि-कल्पित भाव होता है जिसका आरोप वह आश्रय पर करता है और उसका निरूपण इस प्रकार करता है मानों वह आश्रय का ही भाव रहा हो। जिस समय कवि स्वयं अपने ही किसी भाव का आश्रय-रूप में निरूपण करता है उस समय भी भाव भूतकालिक होने से मौलिक परिवेश से रहित होता है और निरूपण में उसे स्मृति से भी अधिक कल्पना का सहयोग प्राप्त करना पड़ता है। कल्पना के सहयोग और कौशल के उपयोग से वह अपनी स्मृति को जो अनुभूति बन गयी है, सामान्य भाव के रूप में प्रस्तुत करता है जो सहृदयों द्वारा सम्माननीय बनता है। विशेष भाव के साथ राग-द्वेष जुड़ा रहने से वह सभी सहृदय-पाठकों को मुग्ध नहीं कर सकता। राग-द्वेष के सम्बन्ध से सहृदय-वर्ग विभाजित हो सकता है।

इस विवेचन के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि तथ्यतः मूलभाव वह भाव है जिसका निरूपण कवि करता है और वह कवि के भाव से भिन्न नहीं है। कवि का भाव विशेष राग-द्वेष से मुक्त होकर काव्य में प्रतिष्ठित होता है। सहृदय को प्रभावित करने वाला कवि-निरूपित भाव ही होता है। किसी भी आश्रय का तात्कालिक भाव सामान्य सहृदय के आनन्दमय मानसिक वातावरण की सृष्टि नहीं कर सकता।

किसी से सुना हुआ भाव भी कवि की वाणी में होकर सहृदय के मन को प्रभावित करता है, यह बात उतनी ही अतथ्यमय है जितनी कि कोई कहे कि आपके वर्णन से आपकी चटनी का आस्वाद मुझे भी मिल गया। हम दूसरे के भाव की केवल कल्पना कर सकते हैं। आश्रय के गुण, स्वभाव और परिस्थिति आदि का भी भाव से सम्बन्ध होता है। कारण की विशेषता भी किसी भाव की विशेषता को अपना सहयोग प्रदान करती है। वास्तव में समय और परिस्थिति के बदलने पर कोई भी भाव नहीं रहता। वह स्मृति या अनुभूति के रूप में रह जाता है। स्मृति में केवल परिवेश रह जाता है! भाव का मौलिक रूप स्मृति में न

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रहने से, वह मात्र अनुभूति के रूप में हमारी सम्पत्ति बना रहता है।

भाव तत्कालीन होता है। उसका सम्बन्ध समय, परिस्थिति आदि से होता है, किन्तु स्मृति विगतकालीन होती है और परिवेश की सारी विशिष्टताएँ उसमें विद्यमान रहती हैं। इसके विपरीत अनुभूति विगत काल से सम्बद्ध होती हुई भी वह अपने भूतकालिक परिवेश का विसर्जन कर देती है। स्मृति क्षीण होने पर भी अपनी विशेषता के बिना जीवित नहीं रह सकती। स्मृति अपने इतिहास में लिपटी रहती है और अनुभूति इतिहास-तन्त्र से पृथक् अपनी स्वतन्त्रता स्थापित करती है। यद्यपि उसके प्राणों में इतिहास का अप्रत्यक्ष स्पन्दन होता है, किन्तु इतिहास स्मृति के रूपाकार की भाँति अनुभूति का रूपाकार नहीं बनता। जहाँ स्मृति होती है वहाँ अनुभूति मिल सकती है, किन्तु, अनुभूति के आधान में स्मृति का होना आवश्यक नहीं है।

प्रेषण किसका ?

प्रेषण आश्रय के भाव का नहीं होता और न कवि के भाव (इमोशन या आवेग) का ही होता है। प्रेषण होता है कवि की अनुभूति या अनुभूतियों का जिन्हें कवि-कल्पना एक परिवेश में जगा कर ले जाती है। यह तो अन्यत्र कहा ही जा चुका है कि इस समग्र परिवेश का वाहन कवि की भाषा होती है।

अभी तक यह मान्यता रही है कि भाव का वाहन भाषा है। सामान्य शब्दावली में तो यह बात स्वीकार की जा सकती है, किन्तु पारिभाषिक शब्दावली में ऐसा कहना अनुचित है। पारिभाषिक शब्दों में यही कहना होगा कि कवि की अनुभूति या अनुभूतियाँ अपने परिवेशों के साथ भाषा के रथ में बैठकर सहृदय की दिशा में जाती हैं क्योंकि भाषा भाव (इमोशन) के भार को नहीं संभाल पाती। भाव (इमोशन) के भार से भाषा की आकृति, उसका सौन्दर्य बिगड़ सकता है। 'इमोशन' के बाद इमोशन की स्थिति समाप्त होकर केवल स्मृति की दशा रह जाती है।

भाषा में स्मृतियाँ जा सकती हैं, किन्तु उनमें राग-द्वेष, भाव (इमोशन) की 'विकृत अनुकृति' जा सकती है। अनुभूति जो कवि-कल्पना में जगकर भाषा के वाहन को स्वीकार करती है, वह संवेग-मुक्त होती है; अतएव सहृदय के मन में भी किसी संवेग को जागृत नहीं करती। कल्पना-व्यूढ अनुभूति भाषा के माध्यम से सहृदय में जिस आनन्दमय वातावरण का प्रादुर्भाव होता है, वही तो काव्य या साहित्य की विशेषता है। साहित्यकार की अपनी स्मृतियाँ भी जब कल्पना से संपुटित हो जाती हैं और कवि-भाषा पर आरूढ़ हो जाती हैं तो वे संस्मरण के रूप में साहित्य का रूप धारण कर लेती हैं। कवि-भाषा और कवि-कल्पना से विरहित स्मृतियाँ साहित्यिक संस्मरण नहीं बन सकतीं।

व्यक्ति का भाव तत्कालीन वातावरण में स्फूर्त होता है, स्मृति में लेटता है, अनुभूति में सोता है, और कल्पना में पुनः जाग्रत होता है। यदि व्यक्ति कवि है तो कौशल का सहयोग पाकर कल्पना उसको परिवेश देती है, जो कहीं बिम्ब में, कहीं प्रतीक में और कहीं अलंकार में स्फुटित होता है।

जो सहृदय इस परिवेश के सम्पर्क में आता है वह इसका उचित सम्मान करता है। यह परिवेश सम्मानित और समादृत होकर सहृदय के समभाव-तद्रूपानुभूति को उद्बुद्ध करता है और अपनी सद्य व्याप्ति से मन और मनःशासित अंग-प्रत्यंग को अनुभूत कर देता है। यह मन की निर्विशेष दशा होने से निष्कलुष, सत्त्वप्रतिष्ठ आनन्द-दशा होती है। जब तक कवि-भाव-परिवेश सहृदय की कल्पना-दृष्टि में रहता है तब तक यह आनन्द-दशा भी रहती है। परिवेश से विरहित होने पर सहृदय का मन आनन्द-मुक्त हो जाता है।

स्थायी भाव

भरतमुनि के रस-सूत्र में कहीं भी स्थायी भाव का नाम नहीं आया। क्यों ? यह एक विचारणीय प्रश्न है, सम्भवतः इसलिए कि भरतमुनि ने स्थायी का सम्बन्ध सहृदय से जोड़ा है। विभाव, अनुभाव और संचारी की व्यवस्था कवि को करनी पड़ती है। स्थायी सहृदय से सम्बन्धित है। विभाव, अनुभाव और संचारी ये सहृदय के मन से बाहर के होते हैं और स्थायी सहृदय के मन का सुषुप्त भाव होता है। विभावादि का प्रेषण होता है और स्थायी का उद्बोधन।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विभावादि

कवि के निरूप्य भाव होते हैं। भाव उसके अपने होते हैं। जब वह कभी दूसरे के भावों का निरूपण करता हुआ-सा लगता है तब भी वह अपने ही भावों का निरूपण करता है। दूसरे के लगने वाले भाव उसके अपने आरोपित भाव होते हैं।

दूसरे के भावों का, दूसरे के अन्तर का वर्णन करना दुष्कर ही नहीं, असम्भव काम भी है। कवि किसी अन्य व्यक्ति के भावों का अनुमान उसकी क्रिया-प्रतिक्रियाओं से ही कर सकता है जो कायिक, वाचिक और सात्विक के रूप में प्रकट होती हैं। ये भाव के लक्षण मात्र हैं, भाव नहीं हैं।

ये लक्षण किसी व्यक्ति द्वारा किसी अन्य वस्तु या व्यक्ति के सम्पर्क में आने पर व्यक्त होते हैं। निश्चित रूप से ये लक्षण किसी भाव के द्योतक होते हैं। जिस भाव का ये द्योतन करते हैं वह मात्र भाव है, किन्तु उस भाव की उत्पत्ति किसी अन्य वस्तु या व्यक्ति के कारण होती है। भावोत्पत्ति के कारणों के दो रूप होते हैं—एक तो मूलोत्पादक और दूसरे उद्दीपक। कवि वर्णित होने पर इन्हीं को आलम्बन और उद्दीपन नाम से अभिहित किया जाता है। दोनों ही विभाव के अन्तर्गत सम्मिलित किये जाते हैं। मूलभाव की उत्पत्ति जिस व्यक्ति में होती है वह आश्रय कहा जाता है। आश्रय कवि स्वयं भी हो सकता है और कोई अन्य व्यक्ति भी हो सकता है। मानवीकरण की धरा पर कवि कभी-कभी किसी वस्तु, पदार्थ या भाव को भी आश्रय रूप में कल्पित कर लेता है। इस स्थिति में उत्पादक कारण भी वस्तु, पदार्थ या भाव का रूप ले सकते हैं। उदाहरण के लिए—

तड़पती क्यों वेदने तू
कुलिश-मन का मान लख कर;
बहकती पगली अरी क्यों ?
मोह को प्रतिमान रख कर ! !

यहाँ 'वेदना' भाव-रूप आश्रय है और कुलिश-मन आलम्बन है।

कवि जब अपने भाव का निरूपण स्वयं करता है तब वह स्वयं आश्रय होता है, अन्यथा कोई दूसरा आश्रय होता है। कभी-कभी वह अपने पर आश्रय का आरोपण करता हुआ प्रतीत होता है। 'रुपये की आत्मकहानी', 'इत्यादि. की आत्मकथा' आदि विषयों के प्रतिपादन में कवि अपने पर 'रुपये' या 'इत्यादि' का आरोपण कर लेता है अर्थात् कवि या लेखक इनमें से किसी का वकील बन कर अपने मुवक्किल की पैरवी 'उत्तम पुरुष' में करता है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा', 'शेखर : एक जीवनी' आदि रचनाओं में इसी प्रकार की पैरवी दिखायी पड़ती है।

यह विवेचन हमें एक निष्कर्ष पर ले पहुँचता है, वह यह है कि कवि या साहित्यकार अपने भावों का निरूपण करता है, वह किसी वस्तु या व्यक्ति का वर्णन नहीं करता। किसी अन्य व्यक्ति के भाव का निरूपण तो वह कर ही नहीं सकता। इसलिए यह कहना बहुत ग़लत होगा कि कवि किसी अन्य आश्रय के भावों का निरूपण करता है। तुलसीदास जिस रावण के भावों का १६वीं शती में निरूपण करते हैं क्या वह कवि के समय में था ? इतिहास साक्षी है कि तुलसीदास के समय में न कोई रावण था और न राम। इससे स्पष्ट है कि राम या रावण के भावों का जो भी निरूपण तुलसीदास ने किया है उसे हम या तो पूर्ववर्ती कवियों का मान कर तुलसीदास को उनकी मौलिकता के श्रेय से वंचित कर दें अथवा उसे रावण में तुलसी का आरोपित भाव मान कर कवि की सृजन-प्रतिभा को समुचित आदर प्रदान करें। औचित्य दूसरी ही बात का समर्थन करता है।

अनेक अवसरों पर कवि अनेक प्रकार की अनुभूतियों का संचय करता रहता है जो उसके संस्कारों की गरिमा बढ़ाती रहती हैं। साथ ही उनसे उसकी कल्पना-शक्ति को भी बल मिलता रहता है। कल्पना-प्रतिभा की अमोघ एवं प्रमुख शक्ति है, किन्तु अनुभूतियों के सहयोग से उसकी क्षमताओं का विस्तार होता जाता है। अब प्रश्न यह उठता है कि कवि जिस आत्मेतर आश्रय का शब्द-चित्र प्रस्तुत करता है क्या वह वास्तविक भी हो सकता है, या कल्पित ही ? इससे यह तात्पर्य नहीं है कि कवि-कल्पना नितान्त अवास्तविक होती है : उसमें वास्तविकता के सभी लक्षण होते हैं, क्योंकि वह अपनी शक्ति का विस्तार शून्य से नहीं करती; वास्तविक अनुभूतियों से सूक्ष्म या स्थूल सूत्र लेकर वह प्रतिभा को अपनी कारयित्री श्रद्धा अर्पित करती हैं। इसलिए साहित्यिक कृति में कल्पना की अवा-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्तविकता खोजना अनुचित ही नहीं, प्रायः असंभव है। किसी भी साहित्यिक भवन के ईंट-रोड़े और चूने का सम्बन्ध किसी एक स्रोत से जोड़ना नितान्त असंभव है। एक निर्मिति में जिन अनेक स्रोतों की सह-युक्ति रहती है उनके सफल संयोजन में ही तो कल्पनावत्सल प्रतिभा का योग-दान रहता है।

कवीतर आश्रय कल्पित हो सकता है, आलम्बन और उद्दीपन कल्पित हो सकते हैं, आश्रय की चेष्टादि का कवि जो वर्णन करता प्रतीत होता है वह भी कल्पित हो सकता है। आश्रय के भावों की कल्पितता तो स्वयंसिद्ध है; किन्तु कवि-कल्पना में जितना सत्य होता है उसको झुठलाया नहीं जा सकता। फिर भी कल्पना को सत्य की वैज्ञानिक भूमि पर प्रतिष्ठा नहीं दी जा सकती क्योंकि उस भूमि पर कल्पना अपनी शक्ति को सुरक्षित नहीं रख सकती; तब उसके नाम की सार्थकता भी कहाँ रह सकती है? अपने ढंग से सत्य का संरक्षण करती हुई कल्पना ही कवि को 'स्वयंभू' के पद पर आसीन होने का गौरव प्रदान करती है।

काव्य में वास्तविकता निषिद्ध नहीं है, किन्तु विशिष्ट वास्तविकता को काव्य अंगीकार नहीं करता। कवि की विशिष्ट वास्तविक अनुभूतियाँ स्मृति के भंडार में तो अपनी-अपनी विशेषताओं को सुरक्षित रखती हैं, किन्तु जब वे भाव-पथ से कारयित्री प्रतिभा के करों में होकर कल्पना का स्पर्श पाकर गुज़रती हैं तो अपने विशेष रूप का विसर्जन कर देती हैं और सहृदय के स्थायी भाव का स्पर्श वे सामान्य भाव के रूप में ही करती हैं।

अतएव विभावादि के सम्बन्ध में यह कहना उचित ही होगा कि वे 'स्मृतियाँ' भी नहीं हैं और वे अनुभूतियाँ भी नहीं हैं। वे तो अनुभूतियों से बनी हुई संश्लिष्ट भाव-प्रकृति का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसीलिए भाव के उत्पादक कारण 'आलम्बन-उद्दीपन' अनुभूतियों की सामान्य एवं कल्पना-संपुटित स्थिति से निकलकर विभाव में गृहीत किये गये हैं।

विभाव, अनुभाव और संचारी वे उपकरण हैं जिनको कवि साहित्य के माध्यम से सहृदय को अर्पित करता है। इन उपकरणों के संकलन के लिए वह आश्रय को ही अपना लक्ष्य बनाता है। जो भाव कवि के अपने मन का है, उसकी उत्पत्ति वह आश्रय में दिखाता है और उसकी उत्पत्ति के लिए वह आश्रयेतर उपादानों की कल्पना करता है, जिनको काव्य में आलम्बन और उद्दीपन नाम दिया गया है। कवि आश्रय के भाव के साथ उसके मन की संचारी तरंगों और उसकी चेष्टादि की भी कल्पना करता है। मन की तरंगों का नाम काव्य में संचारी या व्यभिचारी भाव रखा गया है और चेष्टादि को अनुभाव संज्ञा दी गयी है।

इस प्रकार कवि अपने या अपने आरोपित भाव का निरूपण करते समय अपना या आश्रय का एक परिवेश तैयार करता है जिसके अन्तवर्ती स्वरूप में संचारी भाव निहित होते हैं और बाह्य स्वरूप में विभाव और अनुभाव निहित रहते हैं।

विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के निरूपण में निश्चित रूप से एक परिवेश बनाता है जो सहृदय के मानस को आच्छादित करके, उसके स्थायी भाव को उद्बुद्ध, उद्दीप्त और संचारित करके उसी में विलीन हो जाता है।

रस और साहित्य

कुछ लोगों को यह कहते सुना जाता है कि साहित्य में रस होता है। यह मान्यता उचित नहीं है। यदि साहित्य में रस होता है तो प्रमाता को तो पकी-पकायी वस्तु मिल जाती है। फिर उसकी सहृदयता का कोई मूल्य ही नहीं रह जाता। यह बात कहीं पहले भी कही जा चुकी है कि 'रस', मन या हृदय की वस्तु है। साहित्य में कुछ रस-तत्व रहते हैं जिनको विविध नामों के अन्तर्गत अभिहित किया जाता है। वे भाव कुछ ऐसे वर्णनों में निहित रहते हैं जो प्रमाता के मन में एक परिवेश की सृष्टि करते हैं, जिससे प्रमाता का स्थायी भाव आन्दोलित, उद्दीप्त एवं संचारित होता है। 'संचारित' से तात्पर्य यह है कि स्थायी भाव उस परिवेश को ग्रहण करता है जो उसकी व्याप्ति को प्रेरित करता है। व्याप्त स्थायी भाव का केन्द्र मन होते हुए भी रग-रग में विद्युत की भाँति उसकी धारा दौड़ जाती है। उस तरंग का आदि भी मन है और अवसान भी मन है। मन में ही वह तरंग जाग्रत होती है और मन में ही उसका विलय हो जाता है। वह तरंग उसमें डूब जाती है। उस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संचारित भाव की व्याप्ति का कुछ अनुमान हमें कबीर की इस साखी से हो सकता है—

सब रग तंत रबाब तन, विरह बजावै नित्त ।
और न कोई सुन सके, कै साँई कै चित्त ।।

विरह एक भाव है जिसका संचारण रक्त-धारा की भाँति रग-रग में हो जाता है । समग्र शरीर उसकी व्याप्ति से अभिभूत हो जाता है, बिल्कुल उसी प्रकार जिस प्रकार कि तने हुए झंकृत तन्तुओं के साथ रबाब की दशा होती है । इस दशाकी अवगति या तो स्वामी (परमात्मा) को होती है अथवा मन को ।

कबीर की यह उक्ति अध्यात्म भाव को व्यक्त करने में तो सशक्त है ही, किन्तु इससे ब्रह्मानन्द सहोदर 'रस' की स्थिति का भी अनुमान किया जा सकता है । जो स्थायी भाव रसोपकरणों का परिवेश प्राप्त करके मन को आन्दोलित कर देता है और मन के सम्पर्क से समग्र शरीर सारी इन्द्रियाँ अपनी विषय-संवेदना की उस भाव-व्याप्ति को अर्पित कर देती हैं तब मानस में इन्द्रिय-भोगातीत दशा का एकानुशासन होता है । वही रस-दशा है, जो प्रमाता का संस्कारजन्य सौभाग्य है । यह निश्चित रूप से प्रमाता के मन की आनन्द-दशा है । साहित्य मात्र इसका सहयोगी है, यह दशा साहित्य का उपलाभ नहीं है ।

साहित्य रस नहीं है, रस का आकर नहीं है, जिसमें से पात्र भरभर कर सहृदय निरंतर पीता चला जाये । साहित्य तो कवि के भाव या भावों की प्रेषण-प्रक्रिया है । इसी प्रक्रिया में कवि के भाव 'विभावादि' अभिधा पाते हैं । प्रेषण भाव नहीं है, भाव का वाहन है; किन्तु भाव के बिना उसके वाहन (भाषा) की कल्पना नहीं की जा सकती । भाषा भावों की वाहिका है । वह जितनी सशक्त एवं सक्षम होगी भाव उतनी ही सहज क्षिप्रता से सहृदयता का आलिंगन कर सकेगा ।

भाव-द्वारा सहृदयता का आलिंगन और स्थायी भाव का उद्बोधन रस-प्रक्रिया की दो सहवर्ती क्रियाएँ हैं । जिस प्रकार आलिंगन और उद्बोधन की निरन्तरता सिद्ध होती है उसी प्रकार भाव-संचरण और भाव-व्याप्ति में भी निरन्तरता रहती है । कहने का आशय यह है कि भाषा का प्रयोजन सहृदयता से कवि-भाव का आलिंगन कराना है । सहृदयता की दुर्बलता या भाव की अपुष्टता आलिंगन का व्यवधान बन सकती है । भाषा की असमर्थता आलिंगन का व्यवधान बनकर अन्ततोगत्वा भाव की असमर्थता का ही रूप धारण कर लेती है । ऐसी स्थिति में रस ही नहीं भाव भी व्याहत होता है और रसाभास तो दूर की बात है, व्यवधान का सूत्रधार 'भावाभास' ही बन जाता है । अतएव भाव और भाषा दोनों की सम्मिलित शक्ति का नाम ही साहित्य है । इस शक्ति का परिचय प्रेषण से मिलता है जो सहृदय के मन की एक तीव्र, किन्तु दृढ़ पकड़ है ।

जीवन और साहित्य का गहन सम्बन्ध है । जीवन सृष्टि है और साहित्य जीवन का पुनः सृजन । अंग्रेजी में कह सकते हैं कि जीवन की वास्तविक सत्ता भावों में होती है और साहित्य की वास्तविक सत्ता भाव-प्रतिरूपण में होती है । भाव-प्रतिरूपण एक परिवेश में होता है जिसे काव्यशास्त्रीय भाषा में विभाव, अनुभाव और संचारी कहते हैं । यह संभव है कि इनमें से किसी एक की भी उपस्थिति कवि भाव को परिवेष्टित कर ले अर्थात् इनमें से किसी एक से भी कवि-भाव का परिवेश निर्मित हो जाये । भाव-विशेष होता है क्योंकि उसका परिवेश विशेष होता है । कवि-भाव सामान्य होता है क्योंकि वह 'विशेष-विनिर्मुक्त' होता है । कल्पना के पुट से उसमें सामान्यता आ जाती है, क्योंकि कल्पना में 'विशेष' की स्थिति नहीं रहती । यहाँ कल्पना से तात्पर्य कवि-कल्पना से है । वास्तव में कवि-कल्पना ही उसके भाव को प्रयोज्य बनाती है । भाव अपने विशेष रूप में, चाहे वह कवि का ही क्यों न हो, साहित्य प्रयोज्य नहीं होता । वह आवेग या उद्वेग मात्र होता है और कल्पना एवं कौशल के लिए उसमें कोई अवकाश नहीं होता । जिस प्रकार उत्तप्त जल प्रायः पेय नहीं होता उसी प्रकार भाव (इमोशन) प्रयोज्य नहीं होता । जब उसमें से व्यक्ति-संनिधान का अभाव हो जाता है तब वह प्रयोज्य होता है । इसके लिए भावोत्तर परिस्थिति और कल्पना का पुट आवश्यक है । तभी उसे कवि-भाव की संज्ञा मिलती है । कवि-भाव को सामान्य होने के लिए सहृदय की आवश्यकता नहीं है । सहृदय को उसके संस्पर्श से जो आह्लादक आस्वाद उपलब्ध होता है वह उसके सामान्य होने पर ही मिलता है ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साधारणीकरण की समस्या

अनेक विद्वानों की यह मान्यता रही है कि साधारणीकरण कवि के भावों का होता है। मेरा कहना यह है कि कवि अपनी अनुभूतियों में से भाव निकालकर प्रतिभा के कारखाने में डालकर कल्पनापुट से अपनी रचना में जिन भावों को निरूपित करता है, वे साधारण ही होते हैं। राग-द्वेष की विशेषता से युक्त भाव सामान्य सहृदय की रुचि को तोष नहीं दे सकते। अतएव वे विशेष सहृदय के लिए ही तोषक हो सकते हैं; किन्तु हम देखते हैं कि सुकाव्य सभी सहृदयों को प्रणीति करता है, सबको आनन्ददायी होता है। इससे स्पष्ट है कि काव्य-प्रणीत भावों की विशेषताएँ विगलित हो जाती हैं, इसलिए वे सर्व-रोचक और सर्व-प्रीणन-सक्षम होते हैं।

सहृदय की व्याख्या में यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि सहृदय वह व्यक्ति है जिसका मानसिक स्तर कवि के भाषा-भाव-स्तर तक पहुँच सकता है, अर्थात् अपने भावों को जिस कल्पना और कौशल के साथ कवि सहृदय तक प्रेषित करता है वह उसे ग्रहण करने में समर्थ होता है। उसकी अनुभूतियाँ अधिक भले ही न हों और उसकी कल्पना-शक्ति में उतनी सर्जन-क्षमता भी भले न हो, किन्तु वह काव्य-प्रणीत अनुभूतियों और कल्पना-पुटों के मर्म को समझने की क्षमता रखता हो। जिन संस्कारों के परिवेश में कवि अपने काव्य की रचना करता है उन संस्कारों से वह वंचित न हो, उनसे वह अनभिज्ञ न हो तब तो वह सहृदय है, अन्यथा नहीं।

सहृदय और समाज

जिस प्रकार कवि सामाजिक प्राणी है उसी प्रकार सहृदय भी सामाजिक प्राणी होता है। विशेष संस्कारों की बात छोड़ी जा सकती है, किन्तु समाज से जिसने सामान्य संस्कार भी ग्रहण नहीं किये हैं, वह संस्कारहीन व्यक्ति काव्यानन्द का अधिकारी नहीं है। जो व्यक्ति संस्कारों के अभावों से कवि की अनुभूतियों और कल्पनाओं तक नहीं पहुँच सकता है, उनमें प्रवेश कर उनके मर्म को नहीं जान सकता है वह कवि-रचना के समुचित आनन्द का अधिकारी नहीं है। संस्कारों के क्षेत्र में हम भाषा-संस्कारों को भी विस्मृत नहीं कर सकते। यही कारण है कि सब लोग सभी कृतियों का आनन्द प्राप्त नहीं कर सकते। क्या वे सहृदय हैं? उत्तर स्पष्ट है कि सहृदयता अनुभूति, कल्पना और भाषा के साथ चिन्तन-संस्कार भी चाहती है। फिर भी सहृदय को सर्वज्ञ नहीं माना जा सकता। अतएव सहृदय के संस्कार सर्वज्ञता का ठेका नहीं ले सकते। उदाहरण के लिए जो व्यक्ति किसी संस्कृत-रचना को नहीं समझ सकता है, हिन्दी-उर्दू की रचना से ही आनन्द ले सकता है, स्पष्ट है कि वह उन्हीं रचनाओं के सम्बन्ध में (जिनको वह समझता है और कवि के भावों में प्रवेश कर सकता है) वह सहृदय कहा जा सकता है।

नाटक और सहृदय

नाटक-अभिनय के समय सहृदयता के बाट कुछ हल्के होते हैं क्योंकि अभिनय को देखने वाले व्यक्तियों को कायिक और वाचिक भंगिमाओं से नाटक के विषय में बहुत-कुछ अवगति हो जाती है। इसीलिए यह देखने में आता है कि अनेक दर्शक अंग्रेज़ी का सामान्य ज्ञान भी न होने पर अंग्रेज़ी के खेलों को देखने जाते हैं और संतोष की मुद्रा लेकर लौटते समय अपनी सहृदयता का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं।

काव्य और नाटक की भाषा में बहुत अन्तर हो सकता है क्योंकि कवि को यह ध्यान रखने की आवश्यकता नहीं है कि उसकी रचना को कौन पढ़ेगा और समझेगा, किन्तु नाटककार इस बात की उपेक्षा नहीं कर सकता। किसी नाटक के व्यावसायिक उपयोग की बात छोड़ देने पर भी उसका दृश्यात्मक मूल्य अविस्मरणीय है। यह सोचना ग़लत होगा कि नाटक-दर्शकों में सब लोग एक ही स्तर के होंगे अथवा सब कवि के स्तर के होंगे। उनके बौद्धिक धरातल में अन्तर हो सकता है, फिर भी वे एक सामान्य सामाजिक स्तर पर तो हो ही सकते हैं। नाटककार उसी स्तर को रखने का प्रयत्न करता है। यदि वह ऐसा नहीं कर पाता है तो उसकी नाट्यकृति सामान्य सहृदय के स्तर से ऊँची होने के कारण प्रसाद के नाटकों की स्थिति में जा पहुँचती है।

इसी प्रकार किसी दार्शनिक सिद्धान्त के आधार पर लिखी हुई काव्य-कृति विशिष्ट सहृदय का रुचि-तोष कर सकती है, फिर भी कवि-कला की भूमिका पर उसकी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विशिष्टता सहृदय की रुचि को व्याहत नहीं कर देती। कामायनी में अनेक स्थलों पर सैद्धान्तिक प्रतीक हैं। सामान्य पाठक उनको समझने में कठिनाई का अनुभव कर सकता है, किन्तु उसको समझने के लिए, उससे आनन्द पाने के लिए आवश्यक संस्कार बनाने पड़ेंगे। उसी स्थिति में ही उसको सहृदय की संज्ञा दी जा सकती है।

भाव-परिवेश

कवि सहृदय तक अपने भाव को किसी परिवेश में निहित करके भेजता है। परिवेश में भाव उसी प्रकार संरक्षित या संप्रतिष्ठित रहते हैं जैसे मन्दिर में देव-प्रतिमा। यह परिवेश लघु भी हो सकता है और विशाल भी। प्रेषण और ग्रहण, दोनों दृष्टियों से परिवेश उपयोगी होता है। परिवेश किसी एक शब्द में भी निहित हो सकता है और अनेक शब्दों और वाक्यों में भी परिवेशों का प्रसार हो सकता है। परिवेश के भीतर सहृदय भाव-परिकल्पना सहजता से कर लेता है और रस-निष्पत्ति को उससे सहयोग मिलता है।

परिवेश भाव या भावों में बिखराव नहीं होने देता। इसके अतिरिक्त भाव-सम्बन्धों की रक्षा करके परिवेश प्रमाता के मन में सम्बद्ध भाव की प्रेषणा में सहयोगी उपकरण का श्रेय प्राप्त करता है। परिवेश की सृष्टि में कवि-कौशल से उसकी अनुभूति और कल्पना को बड़ी सहायता मिलती है।

भाव के अनुरूप परिवेश का होना नितान्त आवश्यक है। भाव-विषम परिवेश में कवि का इष्टभाव अपने मौलिक रूप में प्रमाता द्वारा गृहीत नहीं हो पाता। भावानुकूल परिवेश ही सुन्दर माना जाता है।

सुन्दर परिवेश कभी भी भाव-प्रतिकूल नहीं हो सकता। क्रोध, जुगुप्सा आदि भावों का परिवेश भी उनके आनुकूल्य में ही सुन्दर कहा जा सकता है। जो परिवेश प्रसंगानुकूल भाव का मित्र है वही सुन्दर परिवेश है।

परिवेश-सौन्दर्य प्रमाता की रुचि पर निर्भर नहीं होता, वह निर्भर होता है प्रसंग की आवश्यकता पर जो कवि-रुचि से सहयुक्त होती है। कौशल के सहयोग से कवि-निर्मित भाव-परिवेश ही सहृदय के मन में उपयुक्त वातावरण उत्पन्न करके उसमें समुचित रुचि का पुट दे देता है।

कवि द्वारा निरूपित विभावादि ही परिवेश का काम करते हैं। इसी परिवेश में निगूढ़ कवि-भाव सहृदय के मन में प्रवेश करके उसके सुषुप्त स्थायी भाव को सचेत करके आस्वाद्य बनाता है।

भाषा, कवि एवं सहृदय

साहित्य और दैनिक व्यवहार की भाषा में अन्तर होता है। दैनिक व्यवहार की भाषा में उस सौन्दर्य की अपेक्षा नहीं होती जिसकी अपेक्षा साहित्यिक भाषा में होती है। बिम्ब, प्रतीक, अलंकार आदि व्यावहारिक भाषा की आवश्यकता नहीं होते, वरन् कभी-कभी तो इनसे व्यावहारिक भाषा अपने अर्थ को व्यक्त कर देती है। हाँ, कभी-कभी अपने अभिप्राय को व्यक्त करने के लिए व्यक्ति अपनी व्यावहारिक भाषा में इनमें से किसी का प्रयोग कर सकता है। कवि की तो ये आवश्यकताएँ हैं। उपमान, प्रतीक और बिम्ब कल्पना के वाहन हैं : उस कल्पना के जो भाव-प्रेषण की नालिका है। यह हो सकता है कि कवि इनमें से कभी किसी से और कभी किसी से अपने अभिप्राय की पूर्ति कराता हो, किन्तु वह इन सबकी नितान्त उपेक्षा नहीं कर सकता। जिस प्रकार सामान्य घर और विवाह वाले घर के वातावरण में अन्तर होता है, उसी प्रकार सामान्य व्यावहारिक भाषा और साहित्यिक भाषा में अन्तर होता है। भाषा के साथ भाव का विवाह ही तो साहित्य है। विवाह के वातावरण में जो सजधज होती है, वही साहित्यिक वातावरण में होती है। शब्दों का चुनाव, संगति, प्रयोग-कौशल-ये सभी तो इस वातावरण का निर्माण करते हैं। इस वातावरणिक प्रसाधना में कल्पना का विशेष सहयोग होता है। उपमान, प्रतीक आदि तो कल्पना के सेवक होते ही हैं साथ ही अनुभूतियों की जोड़-तोड़, प्रसंगों की 'सैटिंग' और 'फिटिंग' में भी कल्पना का प्रमुख योग-दान रहता है।

जहाँ साहित्य है वहाँ अनुभूतियाँ हैं, कहीं छाँटी हुई, कहीं तोड़कर तराशी हुई और कहीं संधि-से-संधि मिलाकर जोड़ी हुई। प्रसंग से तात्पर्य किसी कथा-प्रसंग से नहीं है, वरन् द्रुत परिवेश प्रसंग से है क्योंकि प्रत्येक शब्द किसी परिवेश में प्रयुक्त होता है। प्रसंग-विरोधी शब्द परिवेश को ध्वस्त करता है। उदाहरण के लिए नीचे की पंक्तियों को ले सकते हैं—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शीतल दाह अमोघ यहाँ,
मैं कर दूँगा तेरा विनाश ।

यहाँ रौद्र के परिवेश में 'शीतल दाह' दाह में भी शीतलता की गवेषणा नहीं करता । यह चिन्ता का शमन करने वाली आशा का उत्साह नहीं है, वरन् यह वीर भाव को रौद्र की दिशा में ले जाने वाला उत्साह है, अतएव यहाँ 'दाह' के साथ 'शीतल' शब्द का प्रयोग परिवेश को ध्वस्त करता है। कल्पना साहित्य जगत् में ऐसे ध्वंस को जन्म देकर अपनी सृजनशीलता को कलंकित नहीं कर सकती ।

इस प्रकार कल्पना भाव का पोषण करती हुई अभिव्यक्ति को सशक्त बनाती है। कल्पना से एक ओर भाव प्रेष्य बनता है तो दूसरी ओर ग्राह्य भी बनता है । अतएव कल्पना द्विगुणित वरदान है—कवि के लिए भी वरदान है और सहृदय के लिए भी । यहाँ पर हम कवि के लिए वरदानस्वरूप कल्पना से सम्बद्ध हैं । हम जिस कल्पना की बात कर रहे हैं वह कवि की कारयित्री प्रतिभा की आत्मजा है ।

कारयित्री प्रतिभा की विशेषता उसकी सामान्य प्रतिष्ठा है, 'विशेष' की सीमा में वह अपनी व्याप्ति की गरिमा को खो सकती है, किन्तु प्रतिभा की प्रशस्यता इस खतरे को कभी भी स्वीकार नहीं कर सकती । प्रतिभा जितनी विभु एवं सौरभौम सिद्ध होगी उतनी ही सामान्य एवं अमोघ होगी । दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि कल्पना के पुट से कवि की अनुभूति अपनी सीमा का विसर्जन कर देती है । कल्पना जितनी पुष्ट होगी, जितनी गहन होगी वह उतनी ही व्यापक एवं अतिसीम होगी । अतएव कल्पना के पुट से व्यावहारिक भाषा भी साहित्यिक वेष धारण कर लेती है । इससे स्पष्ट है कि साहित्यिक भाषा के आनन्द लेने के लिए कल्पनाशील प्रमाता की आवश्यकता है । यहाँ हम यह पुनरावृत्ति न करने की भूल नहीं कर सकते कि कल्पना जहाँ दिव्यदान है वहाँ वह संस्कार की प्रदाति भी है ।

स्मृति, कल्पना और अनुभूति

स्मृति 'विशेष' के बोध से संबद्ध होती है । उसमें राग-द्वेष का पुट, स्मर्ता के दुःख-सुख का भाव निहित रहता है । सद्य स्मृति में प्रखरता और तीव्रता हो सकती है । उसमें दुःख-सुख का जितना अंश होता है, वह अनुभूति से संबंधित होता है । दुःख-सुख की गहनता या तीव्रता में अनुभूति की गहनता या तीव्रता रहती है । स्मृति के जिस अंश में विशिष्टता या वैयक्तिकता का ह्रास होता जायेगा, अनुभूति उतनी ही असंपृक्त होती चली जायगी । प्राचीनतम स्मृति वैयक्तिकता को खोकर सामान्यता के निकट आ जाती है और कुछ स्मृतियाँ तो एक-दूसरी में मिलकर सामान्य ही हो जाती हैं । किन्तु जब तक उनसे स्मर्ता का दुःख-सुखपरक संबंध रहता है तब तक वे उसके बोध की सहचरी होती हैं; परन्तु जब वे सामान्य रूप पा लेती हैं तब वे उसके हृदय-लोक की विशेष संपत्ति न होकर सामान्य निधि होती हैं।

कुछ लोग यह सोच सकते हैं कि प्राचीन और नवीन के संबंध से कवि की अनुभूतियों में काल-व्यवधान रहता है। कवि अपनी स्मृतियों का भी पूरा उपयोग करता है, किन्तु स्मृतियों के रूप में नहीं, अनुभूतियों के रूप में अर्थात् अपनी अनुभूतियों का उपयोग कवि विशिष्ट परिवेश में नहीं करता सामान्य परिवेश में करता है । दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि जिन अनुभूतियों का प्रयोग साहित्य-रचना में होता है वे दुःख-सुख से मुक्त होती हैं । उनमें से स्मृति-तत्त्व नितान्त क्षय को प्राप्त हो जाता है । अतएव प्राचीन और नवीन स्मृतियों का कवि-सृष्टि में कोई मूल्य नहीं है। यदि है तो केवल इतना कि वे अनुभूति-रूप में कवि-कर्म की सहायक बन जाती हैं ।

कवि-कल्पना कवि-कर्म में अनेक प्रकार से सहायक होती है । उसका पहला काम तो यह है कि वह कवि की स्मृतियों को अनुभूतियों के रूप में ग्रहण करती है और फिर अनुभूतियों को व्यवस्था के अनुरूप काटती-तराशती है। इसके अतिरिक्त वह कवि-कौशल को सजग करके उसे सक्षम बनाती है । इसी कौशल के स्पर्श से कवि की कला, न केवल सौन्दर्य का विकास करती है, अपितु वह भाव-प्रेषण को स्फूर्ति प्रदान करती है ।

अनुभूति और कल्पना

अनुभूति और कल्पना में अति गहन संबंध होता है। सामान्य मनुष्य में भी इनका कुछ-न-कुछ संबंध रह सकता है, फिर भी यह संबंध अनिवार्य नहीं है, किन्तु कवि के सम्पर्क में आकर अनुभूतियाँ उसकी कल्पना का गहन स्पर्श पाकर अपने को सँवारे और सजाये बिना नहीं रह सकतीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिस प्रकार एक सुशिक्षक के हाथों में हिंस्र पशु भी संयत हो कर काम करता है उसी प्रकार सक्षम कल्पना के संस्पर्श से बेडौल अनुभूतियाँ भी सुडौल हो कर किसी भी व्यवस्था को स्वीकार करने के लिए सन्नद्ध रहती हैं।

अनुभूति और कल्पना का अन्योन्याश्रय संबंध है। कल्पना अनुभूति को नया रूप देती है और नया जन्म देती है तो अनुभूति भी कल्पना को सक्षम एवं सशक्त बनाती है। शरीर-विज्ञान जिस प्रकार मस्तिष्क और हृदय की अन्योन्याश्रयता स्वीकार करता है उसी प्रकार काव्यशास्त्र में भी कल्पना और अनुभूति का संबंध स्थिर होता है। अनुभूति और कल्पना, एक दूसरी से पृथक् रहकर केवल अपनी व्यर्थता सिद्ध कर सकती हैं। कवि-कर्म इन दोनों के पार्थक्य में कदापि संपन्न नहीं हो सकता। जहाँ कवि-कर्म की स्थिति होगी, वहाँ कल्पना और अनुभूति का अटूट सम्बन्ध भी होगा।

जिनको हम संस्कार कहते हैं वे अनुभूतियों से तो बनते ही हैं, कल्पना और अध्ययन से भी बनते हैं। जिस प्रकार अनुभूतियों से 'कल्पना' की क्षमता की अर्जना होती है, उसी प्रकार अध्ययन से भी कल्पना की अर्जना होती है और कल्पना स्वयं अध्ययन के माध्यम से अनुभूतियों को नव्यता प्रदान करती है। इससे यह स्पष्ट है कि संस्कार-निर्माण में भी कल्पना और अनुभूति का योग अविस्मरणीय है। ये संस्कार कवि-कर्म को तो प्रेरित और सक्षम करते ही हैं, साथ ही सहृदयता को भी सक्षम बनाते हैं। इनसे सहृदयता में शक्ति एवं स्फूर्ति आती है।

कवि-कल्पना का प्रसार और अनुभूतियों का उपयोग

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी अनुभूतियों और कल्पनाओं का लाभ उठाता है। उसके दैनिक जीवन में ये निरन्तर काम आती रहती हैं। ये दोनों उसके अर्जित ज्ञान-भंडार के उत्पादक तत्त्व हैं। जो व्यक्ति जितना कल्पनाशील होता है वह उतना ही अधिक विज्ञ समझा जाता है। हम किसी कल्पनाहीन व्यक्ति की कल्पना नहीं कर सकते; किन्तु, हाँ, बहुत से लोगों में कल्पना-शक्ति बड़ी क्षीण होती है, अतएव ऐसे लोग मन्दबुद्धि नाम से लांछित होते हैं। जिनकी कल्पना क्षीण होती है वे अनुभूतियों का सम्यक् उपयोग भी नहीं कर पाते और ऐसे लोगों के पास अनुभूति-संचय भी बहुत कम होता है। अनेक घटनाओं और परिस्थितियों में से निकल कर भी वे अनुभव का संकलन नहीं कर पाते। कल्पना की दुर्बलता के कारण अनुभव उनके पास ठहर नहीं पाता अथवा अनुभव की सहानुभूति कल्पना के साथ होती है। यह तो अन्यत्र कहा ही जा चुका है कि अनुभूति और कल्पना का बड़ा गहन सम्बन्ध है। इनमें से एक के क्षीण एवं निर्बल होने पर दूसरी की क्षीणता और निर्बलता स्वयंसिद्ध है। फिर भी दोनों का स्थान एक नहीं है, दोनों का काम एक नहीं है। कल्पनाशीलता अनुभूतियों के लिए सदाशयता का निर्माण करती है। कल्पना अनुभूतियों के उपयोग के लिए वातावरण बनाती है और उपयोग को स्वस्थ बनाने का काम भी कल्पना ही करती है। अनुभूतियों के टुकड़े करना या टुकड़ों को जोड़ना या अनेक अनुभूतियों को एकस्थ करना कल्पना की क्षमताओं के ही विविध रूप हैं। कल्पना को दिव्यदास कह कर भी उसके प्रति अनुभूति-सहयोग का विस्मरण संभव नहीं है। अनुभूतियाँ कल्पना को शक्ति प्रदान करती हैं। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि अनुभूतियों से कल्पना अपनी शक्ति बढ़ाती है। हर हालत में कल्पना सेव्य है और अनुभूतियाँ उसकी सेविका हैं। जिस प्रकार सेव्या अपनी सेविकाओं का संरक्षण करती है उसी प्रकार कल्पना भी अनुभूतियों का संरक्षण करती है। अनुभूतियों द्वारा कल्पना की सेवा की बात तो दिन के प्रकाश के समान स्पष्ट है ही।

कल्पना चाहे कवि में हो चाहे किसी दूसरे में वह सृजन-कार्य करती है। सच तो यह है कि वह शिल्प को प्रोत्साहित करती है। प्रतिभा के सूक्ष्मतम तंतुओं से कल्पना का सृजन होता है। जिसे प्रतिभा का आलोक मिला है वहीं कल्पना की शिल्पिता अपना वैभव प्रदर्शित करती है। यह दूसरी बात है कि वातावरण और परिस्थितियों के कारण कल्पना को अपनी अभिव्यक्ति का समुचित अवसर न मिलने से वह प्रतिष्ठा न पा सके। जो लोग कवि नहीं हैं उनमें भी कल्पना के चमत्कार देखे जाते हैं। जिस प्रकार कला के सौन्दर्य में कल्पना के कोमल करों का स्पर्श होता है, उसी प्रकार विज्ञान के साकार चमत्कार भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कल्पना की सृष्टि हैं। निर्माणशीलता कल्पना की प्रेरणा है। मनुष्य की प्रत्येक कृति में कल्पना की प्रेरणा को देखा जा सकता है। मनुष्य की निर्माण-दृष्टि और उपकरणहीन सृष्टि कल्पना का ही बीज है। कल्पना से विविध अनुभूतियों को जन्म मिलता है। अनेक प्रयोग कल्पना-प्रेरित होते हैं जिनसे अनुभूतियों को अवसर मिलता है और फिर वे अनुभूतियाँ कल्पना के प्रसार और प्रचार की स्वयं सेवा करती हैं।

यद्यपि कविता में शिल्प होता है, किन्तु अन्य शिल्पियों के शिल्प से कवि का शिल्प भिन्न होता है। उसके शिल्प के सब उपकरण सूक्ष्म होते हैं, अस्पृश्य एवं अदृश्य होते हैं। उसकी सैटिंग-फिटिंग भी भाव-भूमि पर होती है; अतएव काव्य-शिल्प निराला होता है। काव्य-शिल्प में भाव सँजोये जाते हैं जिनको भाषा में साकार किया जाता है। जिस प्रकार अच्छी प्रतिमा के बनाने में अच्छे प्रस्तर, अच्छी छैनी, अच्छी हथौड़ी, स्वस्थकर और स्वस्थ दृष्टि अनुपेक्षणीय हैं, उसी प्रकार कवि को भी अच्छी कविता के लिए अनेक अच्छे उपकरणों की आवश्यकता होती है, जिनका उल्लेख अन्यत्र किया जा चुका है।

मूर्ति आदि कलाकृतियों में मूर्त रूप होता है, अतएव वह प्रत्यक्ष होता है। काव्य-कृति में वर्णों के सिवा कोई चीज़ प्रत्यक्ष नहीं होती। उसमें जिस भाव की प्रतिमा का निर्माण होता है उसका निर्माण कल्पना करती है और वह भाव-रूप-रचना कल्पना में होती है। अनुभूतियों से भाव मिलने पर भी भाव-सौंदर्य का समस्त दायित्व कल्पना पर होता है।

सहृदय की दिशा में भी कल्पना का योगदान अविस्मरणीय है। कल्पना की जिस भूमिका पर कवि-कृति की सृष्टि हुई है सहृदय को उसी पर पहुँचने की क्षमता होनी चाहिये और वह क्षमता उसको प्रदान करती है कल्पना। सहृदय की इस कल्पना में अनुभूतियों की बलिष्ठता परम उपादेय होती है। जिनको हम संस्कार कहते हैं वे ऐन्द्रिय तो होते ही हैं काल्पनिक भी होते हैं। जहाँ-जहाँ अनुमान सहयोगी होता है वहाँ-वहाँ कल्पना-शक्ति स्फूर्त होती है।

कल्पना अध्ययन आदि से भी शक्ति संकलित कर लेती है। अतएव कल्पनाशीलता सहृदय का परमावश्यक गुण है। कल्पना कवि-मानस के परिवेश को सहृदय के मानस में भी निर्मित कर देती है। भाव-परिवेश कवि-कल्पना की देन होता है और सहृदय के मानव में उसका प्रत्यंकन एवं परिजागरण उसकी कल्पना का ही प्रतिदान है। अनुभूतियों के होते हुए भी सहृदय कवि की भाव-प्रतिमा को पकड़ नहीं सकता जब तक कि उसके पास कल्पना की पैनी चिमटी न हो। इस प्रकार कवि-भाव को पकड़ने के लिए अनुभूति का आश्रय चाहिए और कल्पना की पकड़ चाहिए। इन दोनों से सुसज्जित व्यक्ति ही संस्कारवान् कहलाने का अधिकारी है, वही सहृदय अभिधा से अभिहित किया जाता है। भाषा आदि की योग्यता सहृदय के संस्कारों का उपतत्त्व है।

कल्पना और सौन्दर्य

जो रूप, वस्तु, वाणी या भाव मोहक प्रतीत हो उसको सामान्य भाषा में सुन्दर कहा जाता है। सौन्दर्य के विषय में भिन्न-भिन्न विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं। कोई उसे वस्तुपरक बतलाता है और कोई भावपरक और कुछ विद्वान् सौन्दर्य का संबंध वस्तु और भाव दोनों से जोड़ते हैं। पश्चिम के भौतिकतावादी विद्वानों ने सौन्दर्य को वस्तुपरक माना है, किन्तु वहाँ भी बहुत से लोग ऐसे हैं जो उसे भावपरक या विषयीपरक मानते हैं। भारतीय मनीषियों ने भी सौन्दर्य को अपनी-अपनी दृष्टि से परखा है। यदि लैला-मजनूँ की कहानी की सहायता लें तो सौन्दर्य विषयीपरक सिद्ध होता है। गुलाब का सुन्दर सुमन सभी को आकर्षक लगता है, किन्तु कुछ लोग गुलाब से भी अधिक कमल को पसन्द करते हैं। इसमें रुचि-भेद ही भेदक तत्त्व सिद्ध होता है। इन सब मतों को संकलित करके परखने के पश्चात् यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि 'बाह्य रूप' के आकर्षकत्व में रुचि का विशेष योग होता है। बिहारी ने अपने एक दोहे में इसी तथ्य की पुष्टि की है। वे कहते हैं—

समै समै सुन्दर सबै, रूप कुरूप न कोइ।
जाती जेती रुचि जितै, तेतौ सुन्दर होइ॥

यह दोहा रुचि को सौन्दर्य का निर्णायक तत्त्व घोषित करता है। प्रसाद ने बिहारी की भाँति सौन्दर्य की वास्तविकता का विस्मरण न करके उसे हृदय से सम्बन्धित किया है—

हो नयनों का कल्याण बना,
आनन्द सुमन-सा विकसा हो।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथवा—

जो गूँज उठे फिर नस नस में
मूर्च्छना समान मचलता सा
आँखों के साँचे में आकर
रमणीय रूप बन ढलता-सा
नयनों की नीलम की घाटी
जिस रसघन से छाजाती हो;
वह कौंध कि जिससे अन्तर की
शीतलता ठंडक पाती हो।

अन्त में प्रसाद कहते है—

उज्ज्वल वरदान चेतना का
सौन्दर्य जिसे सब कहते हैं
जिसमें अनन्त अभिलाषा के
सपने सब जगते रहते हैं।

प्रसाद के अन्तिम पद ने यह निश्चय कर दिया कि सौन्दर्य अनेक अभिलाषाओं का प्रेरणा-स्रोत है और वे अभिलाषाएँ नित्य नवीन हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि प्रसाद सौन्दर्य को स्थिर नहीं मानते। मेरी दृष्टि में भी सौन्दर्य स्थिर नहीं है। स्थिर सौन्दर्य मात्र रुचि की जड़ता हो सकती है, चेतना का उज्ज्वल वरदान नहीं हो सकता। कालिदास की उक्ति भी सौन्दर्य को नवता का विकास सिद्ध करती है।

स्थिर सौन्दर्य से तात्पर्य उस सौन्दर्य से नहीं है जो अपरिवर्तनीय है, वरन् किसी नये पहलू से देखने पर भी जिसमें किसी विशेषता का आभास नहीं होता। दृष्टिकोण या पहलू का निर्णय रुचि करती है। अतएव रुचि को बाह्य सौन्दर्य का भी विशेष निर्णायक तत्त्व मानना ही पड़ेगा।

इसमें सन्देह नहीं कि कवि वस्तु-सौन्दर्य की भी उपेक्षा नहीं कर देता, किन्तु वह वस्तु-सौन्दर्य में अपनी रुचि का गुण भी भर देता है। उसकी आँख अपनी आँख होती है, उसकी दृष्टि अपनी दृष्टि होती है। उसी के अनुरूप वह सृष्टि करता है। स्पष्ट है कि उसकी दृष्टि में केवल चाक्षुष सौन्दर्य का महत्त्व नहीं है; उसकी दृष्टि कल्पना-दृष्टि है और उससे वह जिस सौन्दर्य की सृष्टि करता है वह इतनी कुशलता से प्रतिरूपित होता है कि उसका प्रभाव सहृदय पर वही होता है जो जादू का दर्शक पर होता है। जिस प्रकार जादूगर दर्शक की दृष्टि को अधिकृत कर लेता है, उसे बाँध लेता है उसी प्रकार कवि भी सहृदय की कल्पना को अधिकृत कर लेता है। यह जादू कवि द्वारा निर्मित भाव-परिवेश की उस सृष्टि में निहित रहता है, सहृदय की उस कल्पना की जागृति में निहित रहता है जो उसे समानुभूति की भूमिका पर ले पहुँचती है।

कवि-कृति दो प्रकार के सौन्दर्य का आधान होती है: परिवेश-सौन्दर्य एवं अभिव्यक्ति-सौन्दर्य। दोनों में कल्पना-सौन्दर्य सजग एवं स्फूर्त होता है। परिवेश-सौन्दर्य अनुभूतियों को भाव-रूप में व्यवस्थित करता है और अभिव्यक्ति-सौन्दर्य शब्दों का चयन और उनकी संगति-व्यवस्था करता है। अभिव्यक्ति को सरल और स्पष्ट करने के लिए वह जिन-जिन साधनों का उपयोग करता है वे उसके अभिव्यक्ति-सौन्दर्य के अंग होते हैं।

कवि-सृष्टि की उपयोगिता कवि के लिए अथवा सहृदय के लिए

पश्चिम में कला 'कला के लिए है अथवा उसका कोई उपयोग है', इस विषय पर काफी वाद-विवाद हो चुका है और काफी लिखा जा चुका है। इस जगत् में उपयोग का अमित महत्त्व है। भक्तों ने भक्ति तक में उपयोग की सुगन्ध फैलाकर उसका प्रचार किया और भक्ति-आन्दोलन का प्रसार किया। कला के सम्बन्ध में भी यह बात लागू होती है। यदि साहित्य-सृष्टि का कोई महत्त्व, उसका कोई उपयोग न हो तो कवि व्यर्थ ही उसमें अपना समय क्यों लगाये? कुछ लोग कहते हैं कि साहित्य-स्रष्टा को सृजन-काल में आनन्द आता है इसलिए वह साहित्य की सृष्टि करता है। यदि यह बात भी मान ली जाये तो आगे उसे छपाने, वितरण करने आदि में क्यों परिश्रम करता है? वह विद्वानों की, उन विद्वानों की जिनकी बात का लोक में कुछ मूल्य है, सम्मति क्यों चाहता है?

इन सब प्रश्नों के उत्तर में यही कहा जा सकता है कि साहित्य का उपयोग है। साहित्यकार साहित्य-सृष्टि इसलिए करता है कि उसे इस काम में आनन्द आता है, वह अपनी प्रशस्ति चाहता है। कीर्त्ति की अर्जना के साथ-साथ यदि अर्थोपलाभ हो जाये तो उसे आपत्ति भी कहाँ है? वरन् कोई-कोई साहित्यकार तो साहित्य की सृष्टि मूलतः व्यापारिक दृष्टि से करते हैं। यश की कामना उन्हें नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होती, ऐसी बात तो नहीं है, किन्तु उसका प्रमुख स्थान नहीं होता, यह सम्भव है। अतएव कवि-कर्म प्रयोजनहीन नहीं होता। मेरी दृष्टि में प्रयोजन के बिना कवि-सृष्टि या कोई भी कला सौन्दर्य के विकास की ओर बढ़ती भी नहीं है। अतएव काव्य के प्रयोजन के सम्बन्ध में 'काव्यप्रकाश' में 'काव्यं यशसे अर्थकृते व्यवहारविदे' आदि की जो बात कही गई है, वह सत्य प्रतीत होती है। यदि साहित्य सर्जना के प्रयोजनों में से औरों को एक बार भुला भी दिया जाये तो 'यशोलिप्सा' को तो नहीं भुलाया जा सकता। यश तो शिष्ट मानस की भी प्रथम दुर्बलता है। अतएव कवि-सृष्टि का प्रयोजन और उसकी उपयोगिता अविस्मरणीय है।

काव्य का प्रयोजन केवल कवि-दृष्टि से ही नहीं है, सहृदय की दृष्टि से भी है। कवि तो अपनी सृष्टि से आह्लादित होता हैं, अपने यश से प्रसन्न होता है, अर्थलाभ से तुष्ट होता है; किन्तु सहृदय कवि की कृति से तोष-लाभ करता है। उसकी मनोभूमि का परिष्कार होता है अथवा उसके संस्करों में वृद्धि होती है, उसका ज्ञान बढ़ता है। कविता उसको प्रेरणा देती है और उसके आचरण की धरा में परिवर्तन होता है। रूसो और वाल्टेयर के लेखों ने फ्रांस में जिस क्रान्ति को जन्म दिया था, इतिहास उसका साक्षी है। 'भारत-भारती' ने स्वराज्य की भूमिका में जो योगदान दिया साहित्यिक एवं राजनीतिक इतिहास उससे अनवगत नहीं है। कामायनी ने कितने हृदयों को मुग्ध नहीं किया। 'गोदान' किसका कंठहार नहीं बना ? ये बातें इस बात का प्रमाण हैं कि कवि-सृष्टि कवि के लिए ही प्रयोजनवती नहीं है, अपितु सहृदय के लिए भी है।

कवि और सौंदर्य

यह मानी हुई बात है कि सौन्दर्य चेतना का उज्ज्वल वरदान है और उससे ऐन्द्रिय रुचि की तृप्ति होती है। फिर कवि सौन्दर्य की उपेक्षा कैसे कर सकता है। कलाकार में सुन्दरता की ललक का होना स्वाभाविक है क्योंकि कला सौन्दर्य की अभिव्यक्ति है। यदि कवि-कला की प्रशंसा होती है तो कवि को उससे आह्लाद होता है, उसके मन को तोष मिलता है। कवि-कृति की प्रशंसा तभी हो सकती है जबकि उसमें सौन्दर्य की व्यवस्था की गयी हो—सौन्दर्य भी सामान्य नहीं, असामान्य। असाधारण सौन्दर्य ही कवि का अभिप्रेत होता है और होना भी चाहिये। कवि का सौन्दर्य उसकी कृति में भाव-व्यवस्था का सौन्दर्य होता है और अभिव्यक्ति का सौन्दर्य होता है। सुन्दर भाव-व्यवस्था में सुन्दर अभिव्यक्ति चार चाँद लगा देती है।

कवि का कौशल इसी में है कि वह भाव का चयन बड़ी समझदारी से करे और बड़ी ईमानदारी से करे। 'समझदारी' से तात्पर्य है कि कवि किसी भी भाव को अपना निरूप्य न बना ले। जहाँ जिस भाव की अपेक्षा हो उसी को उचित सम्मान एवं उचित स्थान मिले। आवश्यकता न होने पर विरोधी भावों का मेला न लगाया जाये, यही कवि से अपेक्षित है। भाव की उचित परिवेश में अभिव्यक्ति हो जानी चाहिये। जहाँ भाव का परिवेश आवश्यकता से अधिक संकीर्ण हो जाता है वहाँ वह अपना प्रभाव प्रकाशित नहीं कर सकता। इसी प्रकार परिवेश की अनावश्यक वृद्धि से भी भाव-सौन्दर्य क्षीण हो जाता है। जब कोई भाव वर्णनों के घटाटोप में फँस जाता है तब भी वह अपने प्रभाव को खो बैठता है। रामचन्द्रिका में ऐसे संकीर्ण और परिवृद्ध वर्णनों को देखा जा सकता है जहाँ भाव प्रभावहीन हो गया है।

एक भाव एक बार प्रभाव खोकर अपने सम्मान को वापस नहीं पा सकता क्योंकि फिर उसे न तो वह स्थान मिल सकता है और न वह व्यवस्था ही। दुबारा आकर वह पुनरावृत्ति-दोष का भागी ही बन सकता है। यदि प्रकारान्तर से वह आ भी जाये तो उसमें मौलिक क्रान्ति, क्षमता नहीं आ पाती। कवि अपनी कृति के अपेक्षित भावों से भी परिचित होता है, और वह भावों के प्रति अपने व्यवहार से भी परिचित होता है; किन्तु कभी-कभी वह 'उपेक्षा' और वह व्यवहार उसके अधिकार से बाहर हो जाता है। यही स्थिति उसकी कृति के सौन्दर्य को बिगाड़ने वाली होती है।

काव्य में भाव शिथिल नहीं होना चाहिये क्योंकि शिथिलता भाव के सौन्दर्य को सुरक्षित नहीं रख सकती। अधिक खिंचा हुआ भाव भी काव्य में कुरूपता पैदा करता है। भाव में शिथिलता अनेक भावों की घुसपेठ के कारण आती है। वर्णनों की अधिकता भी भाव में शिथिलता पैदा करती है। जहाँ भाव को समुचित निरूपण नहीं मिलता वहाँ वह अपना सही परिवेश नहीं पाता है और खिंचा-सा प्रतीत होता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रश्नोत्तर शैली में कितनी ही बार भाव की खिंचाई बड़ी स्पष्टता से पाठक के समक्ष आ जाती है।

भाव का कलेवर भाषा में होता है। कलेवर के सही न बनने पर भाव की सही प्रतिमा प्रत्यक्ष नहीं होती। इसलिए जहाँ शब्दों के तनाव से भाव खिंचा-खिंचा सा प्रतीत होता है, वहाँ अनुपयुक्त शब्दों से भी भाव की सुन्दर प्रतिमा निर्मित नहीं हो पाती। सधा हुआ कलाकार ही जानता है कि कौन-सा शब्द उपयुक्त होता है और कौन-सा अनुपयुक्त। शब्द की उपयुक्तता और अनुपयुक्तता प्रसंग पर भी निर्भर होती है। इसके साथ एक शब्द दूसरे को अनुपयुक्त सिद्ध कर देता है। उदाहरण के लिए एक वाक्य ले सकते हैं। वह है—मित्र, आपने इधर-उधर की बातें मिलाकर मेरा 'कलेवर' बिगाड़ दिया है। यहाँ 'कलेवर' अनुपयुक्त शब्द है। इसके स्थान पर 'चित्र' उपयुक्त शब्द है। विशेषणों की अनुपयुक्तता भाव को प्रायः बिगाड़ देती है। सामान्य रूप में 'हरी घास' का प्रयोग ही होता है। 'हरी' विशेषण के स्थान पर 'काली' अनुपयुक्त विशेषण है। 'काली घास' का प्रयोग सामान्यतया नहीं मिलता। ऐसे ही, अनुपयुक्त क्रियाएँ भाव को कुरूप कर देती हैं। 'वह मुँह खोले चला आ रहा था' में जो भाव है वह 'वह मुँह फाड़े चला आ रहा था' का स्थान नहीं ले सकता, वरन् विशेष स्थान पर दूसरे वाक्य में निहित भाव की स्थिति पहले से स्पष्ट ही नहीं होती। अतएव भाव की प्रतिमा ही सही रूप में पाठक के समक्ष नहीं आ पाती।

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि प्रसंग के अनुरूप भाव की प्रतिष्ठा भाव को सौन्दर्य प्रदान करती है। प्रसंग-विरोधी भाव काव्य-सौन्दर्य का विरोधी होता है। शब्दों के सुन्दर होने पर भी उससे काव्य की प्रकृति समादृत नहीं होती। ऐसा भाव सहृदय के मानस में इष्ट परिवेश का प्रत्यंकन नहीं कर पाता। इस कारण रस-निष्पत्ति बाधित ही होती है। इसी प्रकार शिथिल अथवा खिंचा भाव भी सहृदय के मन के उपयुक्त वातावरण को जाग्रत नहीं कर पाता। वास्तव में भाव-व्यवस्था ही काव्य को सुन्दर बनाती है और सहृदय का समुचित तोष और सम्यक् आनन्द की अनुभूति उसी से होती है। भाव-व्यवस्था ही भाव-सौन्दर्य का पर्यायी है।

यह ठीक है कि भाषा के प्रसाधनोपकरणों से भाव में कुछ घटत-बढ़त नहीं होती, किन्तु उनसे भाव में आकर्षण अवश्य आ जाता है। जिस प्रकार वन्दनवार वाले गृह को देख कर हमारा ध्यान उसके समारोह की प्रकृति की ओर भी खिंच जाता है, उसी प्रकार प्रतीक-अलंकार आदि के संबंध से सहृदय की वृत्ति भाव पर पहुँच जाती है। ऐसी स्थिति में वृत्ति सीधी भाव का संस्पर्श करती है और सहृदय का मन अपेक्षित तोष की प्राप्ति करता है। सहृदय की वृत्ति को आकृष्ट करने वाले तथा भाव से उसका सहज संस्पर्श कराने वाले एक उद्धरण को कामायनी से प्रस्तुत किया जाता है—

कौन हो तुम वसंत के दूत
विरस पतझड़ में अति सुकुमार !
घन तिमिर में चपला की रेख,
तपन में शीतल मन्द बयार ॥

—कामायनी, श्रद्धा०,

इन पंक्तियों में भाव केवल इतना है—'दुःख में सुख, निराशा में आशा और अशान्ति में शान्ति का संदेश देने वाले तुम कौन हो ?' इस भाव को 'घनतिमिर' के साथ चपला की रेखा और 'तपन' के साथ 'शीतल मन्द बयार' ने जितना द्युतिमय और प्रखर बनाया है उससे कहीं अधिक 'वसन्त के दूत' और 'विरस पतझड़' पद-प्रतीकों ने बना दिया है। वे अलंकार और ये प्रतीक भावों को सहृदय की वृत्ति से संपृक्त कराने में बड़े अमोघ सिद्ध हो रहे हैं।

प्रसाधनों से संपन्न एक दूसरा उदाहरण भी कामायनी से ही प्रस्तुत है—

नील परिधान बीच सुकुमार
खुल रहा मृदुल अधखुला अंग;
खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघ-वन बीच गुलाबी रंग ॥

यहाँ भाव इतना-सा है—'नीलपरिधान में से श्रद्धा का गुलाबी रंग का अधखुला वक्षोपरिभाग बड़ा सुन्दर दिखायी दे रहा था।' इसी को 'बिजली का फूल' और 'मेघ-वन' ने इतना कान्त और उत्कर्षमय बना दिया है। भाव की यह कान्ति उस स्पर्श का परिणाम है जो उसे कला से मिला है। इस स्पर्श से भाव स्फूर्त होता है और उससे मिलने में सहृदयता को निर्बाध सुकरता मिलती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन उदाहरणों से हम यह अनुमान कर सकते हैं कि अलंकार केवल भाषा-वनिता को ही कमनीय नहीं बना देते, प्रत्युत भावों को भी अधिक कान्त बना कर सहृदय की भाववृत्ति से गहनालिंगित करा देते हैं।

अलंकारों की विशेषता का निर्धारण इस बात से किया जा सकता है कि उनसे भाव व्यवस्था व्याहत न होने पाये। किसी प्रबन्ध-काव्य में भाव-व्यवस्था के लिए जितनी और बातें आवश्यक हैं उतनी ही भाव-परम्परा की रक्षा भी आवश्यक है। प्रबन्ध में एक भाव दूसरे के पीछे उसी प्रकार जुड़ा चला जाता है जिस प्रकार एक वाक्य दूसरे के पीछे, अथवा एक पद दूसरे के पीछे जुड़ा चला जाता है। भाव-परम्परा के विश्रृंखलित होने पर भी काव्य-सौन्दर्य क्षीण हो जाता है। कलाकार इस बात का पूरा ध्यान रखता है। भाव-परम्परा की व्याहति या विश्रृंखलता का प्रभाव सहृदय की वृत्ति पर पड़े ही नहीं यह संभव नहीं है। यह तभी संभव हो सकता है जबकि सहृदय के संस्कार इतने अपर्याप्त अथवा क्षीण हों।

संस्कार-सम्पन्न सहृदय भावों से भी मुग्ध होता है और अलंकारों से भी मुग्ध होता है। इसके विपरीत भाव-वैपरीत्य अथवा भावावरोध सेर स-निष्पत्ति में जो व्यवधान हो सकता है वह भी होता है क्योंकि सहृदय के संस्कार रस-निष्पत्ति में जितने साधक सिद्ध होते हैं उसी प्रकार प्रतिकूल परिस्थिति में अन्यथा सिद्ध होते हैं।

कवि-भाव-परिवेश

कवि-भाव अपने परिवेश में सहृदय का स्पर्श करता है। कवि कलाकार होता है अतएव वह उस परिवेश को सुन्दरतम बनाना चाहता है और जानता है। वह जिस परिवेश का प्रेषण करता है उसका वाहन भाषा है। भाषा में भाव की सुन्दरता प्रदान करने वाले अनेक उपकरण होते हैं। उनमें से अलंकार, प्रतीक और बिम्ब बहुत प्रसिद्ध हैं। बिम्ब तो सामान्य भाषा भी बना सकती है किन्तु बिम्ब-सौन्दर्य के लिए कल्पना और कला दोनों का सहयोग आवश्यक है। जिस प्रकार बिम्ब परिवेश बनाता है उसी प्रकार प्रतीक और अलंकार भी भाव-परिवेश का निर्माण कर सकते हैं। उदाहरण के लिए 'मेरा दम घुट-सा रहा है' इस वाक्य को ले सकते हैं। इसमें 'घुट-सा रहा है' ने जो परिवेश निर्मित किया है और भाव को जितना उज्ज्वल बना दिया है, वह अन्यथा सम्भव नहीं था। एक उदाहरण प्रतीक का लीजिये—

एक त्रिकोण वहाँ बैठा था,
राम, श्याम, घनश्याम।
एक सुप्त था, एक सजग था,
एक दृप्त, अनुकाम॥

इसमें राम, श्याम और घनश्याम के त्रिकोण में जो परिवेश निहित है उससे बैठने वालों की स्थिति का अनुमान साकार हो उठता है।

कवि और परिवेश

विभाव, अनुभाव और संचारी की कल्पना कवि पृथक्-पृथक् नहीं करता। उन सबका एक परिवेश होता है। जिस प्रकार किसी भाव-विशेष की उत्पत्ति के विषय में उसके उत्पादकों को नहीं भुलाया जा सकता, उसी प्रकार कवि-भाव के सम्बन्ध में उसके परिवेश को नहीं भुलाया जा सकता। जिस प्रकार उत्पादकों की स्थिति में भाव-स्थिति होती है, उसी प्रकार परिवेश की स्थिति में कवि-भाव सम्पन्न होता है। परिवेश के सम्बन्ध से हमारे समक्ष कई बातें प्रकट होती हैं जिनका एक चित्र नीचे दिया जाता है :—

क. जीवन	क. साहित्य
ख. भावमय	ख. कवि-भाव-मय
ग. सृष्टि (क्रियेशन)	ग. सृष्टि की सृष्टि (रि-क्रियेशन)
घ. सुख-दुःख-मय	घ. सुख-दुःख-मुक्त

बहुत से विद्वानों ने साहित्य को जीवन कहा है। वास्तव में जीवन और साहित्य में बहुत अन्तर है। भाव-संकुलता जीवन की माप है और कवि-भाव-संकुलता साहित्य की माप है। भाव-विरल जीवन जीवन का नाम मात्र है, जीवन का व्याज है। उसी प्रकार कवि-भाव-विरल साहित्य साहित्य नहीं होता। जब हम साहित्य की बात करते हैं तब स्पष्टतः कवि-भाव और उसके परिवेश की बात करते हैं। विशेष भाव विशेष व्यक्ति से सम्बन्धित होने के नाते प्रत्येक व्यक्ति द्वारा समादरणीय नहीं होता, किन्तु कवि-भाव अपने सामान्य परिवेश के कारण सर्व-सहृदय समादरणीय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होता है। कवि-भाव एक टकसाली रुपये की भाँति सामान्य रूप से सममान्य होता है। जीवन का प्रत्येक भाव सौन्दर्यावेष्टित हो यह आवश्यक नहीं है, किन्तु कवि-भाव निर्विकल्प रूप से सुन्दर होता है। उसमें कवि की ओर से सुन्दरता का हर सम्भव प्रयत्न, कौशल के चरण का समुचित निक्षेप झलकता है।

जीवन ममता-निर्ममता अथवा स्वीयता-परीयता के भावों से ओत-प्रोत होता है, काव्य या साहित्य में साहित्यकार की ओर से ऐसा कोई प्रयत्न नहीं होता। यदि उसकी ओर से कोई निगूढ़ प्रयत्न हो भी, तो वह उसे ऐसा प्रकट नहीं होने देता। कवि का लक्ष्य सहृदय को जीवन के ऐसे तत्त्वों से भेंट कराना होता है जिनमें विशेषता निगूढ़ होते हुए भी सामान्यता की प्रतीति हो, कल्पना का संपुटन होते हुए भी सत्य की झाँकी मिले। सहृदय कवि-कृति की भाव-झाँकी पाते ही मुग्ध हो जाये और सिहरने लगे तब तो कविता नाम सार्थक है, अन्यथा कविता नाम की सार्थकता सिद्ध नहीं होती।

सहृदय और स्थायी-भाव

जिस प्रकार विशेष परिस्थिति-जन्य विशेष व्यक्ति के मन में उद्भूत, विशेष भाव ही सामान्य भाषा में 'भाव' संज्ञा पाता है उसी प्रकार कल्पित परिस्थितियों में कल्पित भाव ही कवि-भाव होता है। उसकी अभिव्यक्ति कवि के जीवन में नहीं, साहित्य में होती है। कवि-प्रेषित कवि-भाव का संस्पर्श सहृदय के मन में जिस समधर्मी भाव को जगाता है वह स्थायी भाव होता है।

भाव भावी (भावुक) को सुख-दुःखप्रद होता है, उसकी अनुभूति सुख-दुःखमयी होती है, कवि-भाव सुख-दुःख से मुक्त होता है। व्यक्ति-भाव चेष्टा या क्रिया को प्रेरित करता है जो तात्कालिक हो सकती है; किन्तु कवि-भाव मुक्त-भाव का उत्पादक और आह्लादन का स्रष्टा होता है। स्थायी भाव सहृदय का वह भाव है जो न तो किसी चेष्टा या कर्म को तत्काल प्रेरित करता है, न किसी आत्मेतर भाव की सृष्टि करता है। वह मात्र आत्मभाव के रूप में प्रतिफलित होता है और उसकी अनुभूति आह्लाद या आनन्दस्वरूप होती है। जो स्थिति तिमिर-मुक्त प्रकाश की होती है वही तमोगुण और रजोगुण से मुक्त, सत्व-सम्पन्न स्थायी भाव से प्रतिफलित रस की होती है। रस कवि-भाव के परिवेश से उद्बुद्ध सहृदय के स्थायी भाव की उसको हुई आनन्दमयी अनुभूति है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूल्याङ्कन

मध्यकाल के संस्कृत काव्य पर कुछ बातचीत

धर्मेन्द्र गोयल

अपने पहले व्याख्यान में आचार्य द्विवेदीजी अपने व्याख्यान की योजना से परिचित कराते हुए अपने पाठक / श्रोता को इन व्याख्यानों में प्रस्तुत अपने चिन्तन की पद्धति का समुचित ध्यान दिला देते हैं, "मेरी दृष्टि में सम्पूर्ण साहित्य-बोध को समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम उन कवियों, ग्रंथकारों और कृतियों की जानकारी प्राप्त करें जो उस काल-विशेष में आदर्श, अनुकरणीय और व्याख्येय—समझे गये थे। फिर हमें उन लोकप्रिय किंवदंतियों का विश्लेषण करना भी आवश्यक हो सकता है जो श्रेष्ठ समझे जाने वाले कवियों और साहित्यकारों में प्रचलित हो गई थीं।...फिर विभिन्न रचनाओं पर लिखी गई टीका-टिप्पणियाँ भी हमें उस काल की विशेष प्रवृत्तियों का परिचय दे जाती हैं। कभी-कभी साहित्य-क्षेत्र के बाहर भी जाने की ज़रूरत पड़ सकती है क्योंकि साहित्य के पीछे अनेक प्रकार की धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक शक्तियाँ काम करती रहती हैं..."(पृ० ११)

वैसे स्वयं 'साहित्य' का तात्पर्य आचार्यजी के अनुसार रचनात्मक साहित्य तथा उसके मूल्यांकन के प्रयास मात्र है, (पृ० २५) किन्तु दर्शन, ज्योतिष, धर्मशास्त्र में भी सन् ईसवी की ८वीं सदी से लेकर जो मनोवृत्ति भारतीय मनीषा में केन्द्र बनी है वह यह है कि जो आदर्श, महिमाशील और श्रेष्ठ था वह व्यतीत हो चुका। इस बोध के अनुरूप साहित्य एवं साहित्येतर चिंतन में केवल संग्रह व्याख्या संकलन करना मात्र बचा है। आचार्यजी के उस वक्तव्य को साधारणतया निर्विवाद माना जाना चाहिए। किन्तु क्योंकि इसी सामान्य धारणा को केन्द्र मानकर आचार्य द्विवेदीजी मध्यकाल का सीमांकन भी करते हैं और जिस मध्यकालीन बोध पर यह व्याख्यान केन्द्रित है वह इसी युग के विशेषतया गुण ठहरते हैं, ऐसा कहना कुछ कठिन मालूम होता है। भारतीय मनीषा में आदि काल से आधुनिक काल तक नवीनता और इतिहास में प्रस्फुटित विकास को स्वीकार न करने की प्रवृत्ति सतत् विद्यमान है, मनुस्मृति हो या श्रौत (कल्प) सूत्र, भगवद्-गीता, उपनिषद हों या ब्रह्म सूत्र—सभी अपने को सही, अखण्ड एवं सार्वकालिक सत्य का अनगूँज ही बतलाते हैं। स्वयं महाभारत के रचयिता व्यास भी पुराणों के रचयिता माने जाते हैं, और यह सब उन्होंने केवल गणेणजी की बुद्धि का लिप्यंतरण मात्र ही किया है। इन मिथकों में कौन-सा इतिहास है और कौन-सी कल्पना कहना या जान पाना आसान नहीं है; तो दूसरी ओर उसी ८वीं सदी के बाद के साहित्य में और परवर्ती मध्यकाल में अर्थात् १५वीं सदी के बाद के युग में भी हिन्दुस्तानी संगीत, चित्रकला, और लोकभाषाओं के नवोन्मेष में विद्यापति, कबीर, मीरा, तुलसी, चैतन्य, नानक, तुकाराम, सूर आदि ने व्यापक धार्मिक चेतना दी है, यह बात दूसरी है कि संस्कृत रूढ़ि, अलंकार, लक्षण ग्रन्थों के कुण्ठाग्रस्त सुविधाभोगी कविराजों ने लम्बे अरसे तक लोकभाषाओं में अभिव्यक्त इस चेतना को स्वीकार न किया हो, प्रतिष्ठा न दी हो, शिष्ट सहृदय की रसज्ञता को आलोड़ित कर सकने लायक न पाया हो। आचार्य जी भक्ति, रीति, संत, कबीर, बाऊल जीवनदर्शन के इतने प्रज्ञाशील आलोचक और चिंतक हैं, मर्मज्ञ हैं जिसे उन्होंने अपने हिन्दी (अवधी, बिहारी, ब्रज) साहित्य के बारे में विवेकपूर्ण विस्तृत साहित्य में बैठाया है तो यह अनायास नहीं है, कि पाँचवें व्याख्यान में (पृ० ११३) केवल एक बार तुलसीदास का नाम आता है, या यों ही

'मध्यकालीन बोध का स्वरूप, (पाँच व्याख्यान):—लेखक आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्रकाशक पब्लिकेशन ब्यूरो, पंजाब विश्वविद्यालय चण्डीगढ़, मार्च १९७०, पृ० ११९, मूल्य १० रुपये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चलते-चलते (पृ० ९६) पर रस और रीतिकाल में केशव, देव, मतिराम आदि कवियों की शृंगारिता की महती केन्द्रीयत पर उन्होंने एक संक्षिप्त कथन दिया है। एक समीक्षक के नाते इन पर मुझे उनके व्याख्यानों में प्रतिपादित मध्य-कालीन युग की सीमा एवं विभाजन पर सोचने की ज़रूरत लगती है। ९वीं से १८वीं सदी तक। उनकी सिफ़ारिश पर यदि इन व्याख्यानों में व्याप्त काव्यादर्श, उक्त काव्या-दर्श से संलग्न सामाजिक अनुभूति (सामंतीय शिष्ट, विद्वान्, विनोदी सहृदय, कान्तासम्मित माहौल, और राजाश्रय में पनपी रुग्ण दास भाव (पृ० ६६-६७) देखें माघ, राजशेखर ऐसे महाकवियों द्वारा कवि-कर्म के लिए उपयुक्त ऐश की अनिवार्यता का बोध, पृ०६८-६९, काव्य-रूढ़ियाँ, अलंकार, उक्तिवैचित्र्य, यश, आदि) की जैसी आलोचना मिलती है तो उससे लगेगा कि सामंतीय शृंगा-रिक रूढ़ियों और विनोद, और अलंकारों में फँसी अतर्क-युक्त, नारी, शरीर को घोर कुण्ठामय व्यंजना मात्र (देखें पिछले व्याख्यान, पृ० ८७ के बाद) ही भारतीय काव्य-प्रतिभा का मूल स्वर है, मध्य काल में ही जहाँ अर्थ-कौशल (रूपकों की अनुप्रास, श्लेष, आदि द्वारा समास द्वारा लम्बे छंदों के प्रयोगों से अभिव्यक्त करके विशेषतया शाब्दिक बाजीगरी काव्य-शिक्षा, ७२-८३) आदि से एक निपुणता, चातुर्य मात्र प्राप्त किया गया है, वही संस्कृत साहित्य के गौरवान्वित युग के वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, भारवि, की तुलना में हल्की रचनाएँ मिलती हैं। साहित्यिक मनीषा के इतने संतुलित एवं सफल मर्मज्ञ ने यह बात न पहचानी हो सोचना भूल होगी। अपने तीसरे व्याख्यान के अन्त में (पृ० ८३) पर आचार्यजी लिखते हैं..."परन्तु अपने देश के श्रेष्ठ साहित्य की तुलना में वे बहुत अच्छा नहीं दे सकते हैं।" ठीक, लेकिन मध्यकालीन भारतीय बोध (९वीं ईसवीं सदी से १८वीं तक के युग) के इतने पैने बिंधे और सहज विचारक आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीजी स्वयं इस व्याख्यानमाला में क्यों जहाँ एक ओर प्राकृत, कथा सरित्सागर, अपभ्रंश के सही और गहरे स्वीकार की इतनी स्वाभाविक वकालत करते हैं (देखें दूसरे व्याख्यान का उत्तरार्ध पृ० ५५-५७) वहीं बारहवीं-तेरहवीं सन् ईसवी के बाद से नई अभिव्यक्ति करने वाली लोक-भाषाओं की कृतियों के द्वारा प्रस्तावित नवीन वृत्तियों को मध्यकालीन बोध के निरूपण के लिए आवश्यक (कम-से-कम इन व्याख्यानों में) नहीं मानते। यही वजह है कि मैं अपनी आलोचना के शीर्षक को "मध्यकालीन संस्कृत काव्य पर एक बातचीत" कहता हूँ, मुझे ऐसा लगा कि आचार्य द्विवेदीजी भक्ति, वैष्णव, संत-परम्परा की इतनी पैनी निष्ठापूर्वक एवं ओजपूर्ण सूझ दे चुके हैं, अपनी लम्बी गद्य सर्जन की यात्रा में पिछले ३० सालों में कर आये हैं कि इधर संस्कृत के चटोर शृंगारिकों से भी अपने भाव-विभोर श्रोता पाठकों का ज़ायक़ा बदलने और थोड़ा आलोड़ित करने की सहज इच्छा को इन व्याख्यानों में पूरा करते हैं। उनके इस प्रयास से भी साहित्य-मर्मज्ञों को रूढ़ि, अलंकार, रस के साहित्य के इतिहास के एक विशेष युग के प्रतिपाद्य की अच्छी जानकारी मिलती है यह सब निर्विवाद है, सहज हमारे लिए स्तुत्य भी। किन्तु मध्य-कालीन संस्कृत काव्य के बाहर उनकी स्थापनाओं को पूरे मध्यकालीन बोध पर लागू करना अनर्थ होगा। अगर मैं उन्हें ठीक समझा हूँ, तो वे ऐसा करने लगते हैं।

१८वीं सदी तक पुराने सहृदय, परिप्रेक्ष्य, भाषा, मुहावरा, रूप, गन्ध परिवेश इतने बदल चुके थे कि पण्डित-राज जगन्नाथ अब केवल सिंहावलोकन ही कर सकते थे, लोकभाषाओं के नवीन साहित्य ने जनचेतना को व्याप्त कर लिया था, नये संगीत, मुसलमान काल के नए स्थापत्य, वेशभूषा के आने से रूढ़िचालित नाटक और अभिव्यक्ति को 'सहृदय' जुटा पाना भी अब मुश्किल हो चुका था। इस पातक पेट के लिए थोड़ा-बहुत संस्कृत की पुरानी लीकचालित कर्मकाण्ड वाली शिक्षा, निपुणता या कलि-काल में उच्चारण और पाठशुचिता मात्र ही संस्कृत दिग्गजों के पास बची थी। राज्याश्रय में पनपी संस्कृत चेतना, परिष्कृत राज-सभा से निकलकर अब पुनः जन-देवता की देवी न बन सकी, न बन सकती थी। कई बार काल से कटे निरर्थक जुगुप्सा पालने वाले संस्कृत प्रेमी जब संस्कृत को अखिल भारतीय स्तर की संवाहक भाषा बनाने का स्वप्न देखते हैं, तो उन्हें आचार्यजी जैसे गहरे मनीषी की इन व्याख्याओं में उलझी विश्लेषण की समस्याओं से सीख लेनी चाहिए कि संस्कृत साहित्य कभी भी जन-साहित्य नहीं रहा है, भगवान् अमिताभ जन-मन को आलोड़ित करने के लिए सदा पाली में बोलते थे, किन्तु

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परवर्ती बौद्ध आचार्यों ने (अश्वघोष, असंग, दिङ्नाग, वसुबंधु, नागार्जुन, धर्मकीर्त्ति) अपने युगीन दार्शनिक चिंतन से सम्पृक्त होने के लिए कुषाण काल से ही पुनः संस्कृत के सारगर्भित माध्यम को अपनाते गये और इस प्रकार प्राकृत पाली से कटकर पुनः बृहत्तर सांस्कृतिक वैदुष्य में घुलकर जन-चिंतन न उभार सके। फारसी के राज्याभिषेक के बाद रजवाड़ी वृत्ति के आश्रयदाताओं का अभाव प्रखर होता गया। उत्तरी भारत में तुलनात्मक रूप से यह प्रभाव अत्यधिक ठहरा। दक्षिण में हिन्दू सामन्तशाही के साथ संस्कृत विद्वानों को राज्याश्रय की गठजोड़ बनाए रखने की भौगोलिक सुविधा बनी रही इसीलिए परवर्ती युग में सांस्कृतिक चेतना, अध्ययन के परम्परागत आकार में दाक्षिणात्य ब्राह्मणों का इतना योग रहा है जिसकी तुलना में संस्कृत केवल कुछ विशेष घरानों में ही उत्तर भारत में सीमित रह गई। (मिथिला, नदिया, काशी, श्रीनगर, आदि) वहाँ भी उसे ज़ोरदार प्रतिद्वंद्वियों का मुकाबला करना पड़ा था, कबीर, तुलसी, विद्यापति, मीरा, चैतन्य, नानक, सूर आदि कवि नई साहित्यिक अनुभूति के व्यापक प्रसार से कटकर संस्कृत वैदुष्य अपने व्याकरधणर्मी बोध में केवल मेहनत 'कौशल' और रूढ़ियों को ढोकर ज़िन्दा रखना चाहता था। आचार्यजी ने इसकी कुण्ठित सीमाओं और उपलब्धियों की अत्यन्त संतुलित एवं स्पष्ट व्याख्या दी है (पृ० १९), किन्तु इस वृत्ति के लोग ८वीं सदी के पहले भी थे, और बाद में भी रहे हैं, शायद आज १९वीं के बाद के भारत—स्वयं ईसवी १९७० में भी हों। किंतु समूचे मध्यकालीन बोध को इनके द्वारा चरितार्थ मानना तर्क से समुचित विश्लेषण नहीं मालूम देता।

मानव की रचना ही कुछ इतनी परिवर्त्तनशील है, हुई है, होती है, कि सभी साधारणीकृत कथन कुछ विशेष पूर्व-मान्यताओं के आधार पर ही सार्थक होते हैं। मुसलमान, सूफ़ी, लोकभाषीय चेतना से अन्तर-क्रिया संस्कृत की बिलकुल न हुई हो, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। स्वयं पण्डितराज जगन्नाथ ने अपने "दिल्लीश्वरो" को "जगदीश्वरो" तक कहा है, किंतु आदर्श, आदर्शमयी छलना ने, छलिया समय के साथ मिलकर परवर्ती संस्कृत काव्य की कैसी छीछालेदर की। कैसे ? देखें, आचार्यजी के ये व्याख्यान। किन्तु इन व्याख्यानों में साहित्य के बाहर जाने तक का दावा करने के बावजूद स्वयं अपनी जानी-मानी 'चिन्त्य' सामग्री का संकेत भी न करने का कोई लाज़िमी कारण मुझे नहीं दिखा, यह एक साधारण पाठक के नाते मुझे खटकने वाली बात लगी। वैसे दर्शन के क्षेत्र में उपनिषदों से नव्य-न्याय (गंगेश और रघुनाथ) कुमारिल या गौतम से (अप्पय-दिक्षित, विद्यारण्य, श्रीहर्ष) पूर्ववर्ती आचार्यों से कहाँ कैसे कम सार्थक हैं, भी मुझे नहीं मालूम। और, अन्तिम बात जिस अर्थयुक्त-सूक्ति और आनन्द का अन्वेषी मध्यकाल का कवि रहा है जिसके उद्देश्य, और उपलब्धियों की व्याख्या इन व्याख्यानों का विषय है वैसी अर्थयुक्त सूक्तियाँ, आनन्ददायक पद्यमय गद्य लिख सकने की शक्ति हिन्दी के इस मध्यकाल के मूर्द्धन्य विद्वान् में आज भी ठाठ से कल्लोल करती है, और यदि मध्यकालीन वृत्ति ने केवल ऐसा शिष्ट और शालीन हिन्दी का गद्य मात्र ही उपलब्ध किया होता तो भी उसी के लिए उसको महत्त्वपूर्ण मानना होता। इस गद्य-निधि की लयात्मकता की नाप-जोख नहीं करूँगा, पाठक को केवल एक-दो नमूने देने का लोभ संवरण नहीं कर पा रहा हूँ शायद यह यों ही हो, अनेक अन्य इन व्याख्यानों में फैले पड़े हों फिर भी सहृदय रस भोगें (पृष्ठ ५३)। बहुत कुछ टूट रहा है, बहुत कुछ ढह रहा है। मनुष्य सर्वत्र इन समस्याओं का समाधान खोजता है। वह विज्ञान से इसका हाल पूछता है, इतिहास से इसका रास्ता पूछता है और साहित्य से इसके समाधान की आशा रखता है। जीवन जटिल हो गया है.....पुनः (पृ० ६८),

जो तर्कशास्त्र या व्याकरण पढ़कर अपनी स्वाभाविक संवेदनशीलता खो चुका है...(स्वस्थ व्यंग)

आखिर में एक ओर मार्मिक वाक्य...पृ० १०७,

'...ऐसा उदात्त व्यक्तित्व-सम्पन्न मनुष्य जो विपत्ति में सम्पत्ति में इतरा न उठे, विजयदर्प में क्षमा करना न भूल म्लान न हो, जाय, शक्ति पाने पर विनम्र होने में न चूके और जीवन के उपरले तल की सफलताओं से अभिभूत होकर जीवन के अतल गाम्भीर्य में बहने वाली चरितार्थता की उपेक्षा न कर बैठे...'

वाग्देवी के इस नम्य, प्रौढ़, सार्थक पुजारी की इन ताल, स्वर, ध्वनि, अर्थ की सम्यक् श्रमहीन सहज योजनाओं को समझ भी पाऊँ तो 'सहज' बन सकूँ। शत-शत प्रणाम के साथ...यह हिन्दी के गौरव हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समकालीन चेतना-एक परिशीलन*

धर्मेन्द्र गोयल

".....मैं वर्षों से आधुनिक बोध, तथा आधुनिकता और भारतीयता के विषय में हुए परिसंवादों का अनुगमन करता रहा हूँ और अन्त में मैंने यही पाया है कि ये संवाद पंचतन्त्र के अन्धों द्वारा हाथी के आकार की भ्रामक परिकल्पनाएँ बना कर रह गये।" (प्रस्तावना, पृ० १५) — इसी संदर्भ में लेखक समाज परिवर्तन और उक्त परिवर्तन की प्रदत्त अवस्थाओं के लिए "मूलतः अर्थशास्त्र, दर्शन और इतिहास की त्रयी" को स्वीकार करता है (वही, पृ० १७) कुछ ही पहले वह अपने मार्क्सवादी होने की घोषणा भी कर चुका है, अपने पाठक से मार्क्सवादी होने की अनिवार्यतयः अपेक्षा नहीं करता, अपितु असहमति बरकरार रखकर भी प्रखरता से सम्वाद चलाने की अनुमति माँगता है—लेखक का दावा है कि ".....अपने चारों ओर अभिनीत हो रहे सामाजिक नाटक के प्रति 'बुद्धिजीवी' **तटस्थ** नहीं हो सकता" ...(पृ० १६) अस्तु। इस प्रस्तावना के अन्तिम चरण में लेखक अपने पाठकों से मुखातिब है :— "...आधुनिकीकरण तथा आधुनिकता के सवालों से जुड़े हुए एवं आधुनिक भारतीय प्रारब्ध से सम्बन्धित विचारधारात्मक विवाद के सहस्राधुनिकदीप को आलोकित करने की आपसे अनुमति पा सकता हूँ, ताकि उसके आलोक में हमारा पाँचवाँ रिनेसाँ प्रभाभिषेकित हो उठे।" (प्रस्तावना पृ० १९) प्रस्तावना की यह चर्चा डॉ० रमेश कुंतल मेघ की चर्चित पुस्तक के प्रयोजन, वातायन एवं उद्देश्य को उन्हीं की अपनी तरजबयाँ में निखार देती है।

लेखक द्वारा पुस्तक में बहुत ही विस्तृत वातायन जान-बूझ कर चुना गया है। विज्ञान, राजनीति, संस्कृति, कला, साहित्य और समीक्षा के विभिन्न संदर्भों की काफी उलझी गुत्थियों को स्पष्ट करने के सराहनीय लक्ष्य से प्रस्तुतः ग्रंथ अनुचालित है। पाठक को जगह-जगह झकझोर कर यथार्थ, सघर्ष, और नए विज्ञान की सूचनाओं (पृ० ३५४-३६५ : 'आधुनिक बोध' एवं 'सौन्दर्यबोध' की नव्य वैज्ञानिक संयोजनाएँ' अध्याय) से अवगत कराया गया है। लेखक के श्रम, सूचना एवं परिश्रम की जितनी प्रशंसा की जाये थोड़ी है, हिन्दी में इतनी लगन एवं आत्मविश्वास से लिखने वाले कितने कम हैं, यह इसी बात से स्पष्ट है कि इस प्रकार की रचनाओं का प्रायः यह पहला ग्रन्थ है। हिन्दी, चिन्तन एवं चेतना का प्रौढ़ माध्यम बने इसके लिए यह ज़रूरी है कि समकालीन संस्कृति, सर्जन, साहित्य-लोचन एवं बोध की इतनी सार्वभौमिक चर्चाएँ हिन्दी मेंपाठकों को मिलें। अक्षर प्रकाशन इस रचना को हिन्दी पाठकों के पास लाने के लिए हमारी प्रशंसा का पात्र है। पुस्तक के उत्पादन की दृष्टि से छपाई, जिल्द, कागज़ सराहनीय हैं किन्तु खेद है कि समीक्षक यही बात मूल्य और प्रूफ-रीडिंग के बारे में नहीं कह सकता। इनमें कई खटकने वाली खामियाँ रह गई हैं। इतने अधिक मूल्य (तीस रुपये) पर बिकने वाली पुस्तक के निर्माता को प्रूफ-रीडिंग के स्तर को भी उभारना चाहिए।

लेखक और प्रकाशक दोनों से मुझे शिकायत है कि उन्होंने पाठक के लिए न तो पुस्तक-सूची और न कथ्य के लिए कोई संकेत-पटल दिया है। विषय-सूची पर भी कोई क्रमांक नहीं है।

मैं इस ग्रंथ की समीक्षा के लिए तीन गैर-बराबर भागों में अपनी प्रतिक्रियाएँ व्यक्त करूँगा। पहली प्रतिक्रिया लेखक के भाषाई प्रयोगों और शैली को लेकर है, दूसरी प्रतिक्रिया स्वयं इस रचना में उपस्थित तन्त्र की

*'आधुनिकता बोध और आधुनिकीकरण' : लेखक डा० रमेश कुंतल मेघ, पृ० सं० ४४८, १९६९, मूल्य ३० रुपये, अक्षर प्रकाशन, २/३६ अन्सारी रोड, दरियागंज, दिल्ली-६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बुनावट और उसकी असहजता को लेकर है। तीसरी प्रतिक्रिया स्वभावतया पुस्तक के कथ्य में उठाई गई समस्या को केन्द्र बनाकर उपस्थित विचारों के बारे में होगी।

इसके पहले कि मैं पहली प्रतिक्रिया लिखूँ, एक बात और कहना ज़रूरी समझता हूँ कि लेखक ने अपने भरे-पूरे अध्ययन और बेशुमार पुस्तकों के नाम गिनवाकर अपनी रचना के साथ बड़ी बेरहमी का सलूक किया है, 'रचना' और 'सर्जनात्मक-चिन्तन' का यह विश्लेषण कहीं अधिक अर्थपूर्ण हो सकता था यदि लेखक ने स्थान-स्थान पर तालिकाएँ, सूचियाँ एवं वर्गीकरण न ठूँसे होते। साथ ही कई बार प्रतिपादित दलील और 'प्रतिपाद्य-समस्या' का भी विवेक लेखक भली प्रकार बनाए रख सकने में असफल लगता है। ऐसा कुछ उन भागों में अधिक हुआ है जहाँ लेखक सर्जनात्मक मानसिकता की आलोचना करने में संलग्न होता है, जैसा पुस्तक के आखिरी भाग जो 'स्व सामयिक परिदृश्य में भारतीय बुद्धिजीवियों का आत्म परायापन' से प्रारम्भ होता है, (पृ० २२३ से) और शनैः शनैः 'सहज जीवनबोध' .....मामूली मैं (पृ० ४३८ से आगे) में पराकाष्ठा पर जा पहुँचता है, यहाँ लेखक अपने मनोभावों को स्फूर्त्त व्यक्त करने में अग्रसर होता है और विश्लेषण के आयाम से अछूता रह जाता है। रागात्मक घटाटोप, एवं स्वर-मण्डित कथनों से भी लेखक अपने विश्लेषण-मूलक गद्य को सभी समय बचा नहीं सका है। पुस्तक विश्लेषणात्मक है किन्तु स्थल-स्थल पर लेखक पुनरावृत्तियाँ करता है, पहले भाग मैं भारतीयता 'भारतीयकरण,' 'भारत का राजनीतिक आधुनिकीकरण...', 'आत्म परायेपन की धारणा.....' स्वयं एक ही कथ्य को बार-बार दुहराता गया है, किन्तु इससे भी अधिक आश्चर्य तब होता है जब इसी कथ्य को नया चोला देकर लेखक पुनः 'आधुनिक सृजनात्मकता के बाधक तत्त्व' (३६६—३८३) और लेखकीय संत्रास (पृ०३०४) में पुनः लिखता है। यह विस्तार एवं पुनरावृत्तियाँ भी पुस्तक की गरिमा को कम करती हैं। दूसरी बात विश्लेषण एवं विचारधारा के प्रयोग का घपला है। लेखक बड़े बेबाक तरीके से अपने को मार्क्सवादी लेनिनवादी होने की घोषणा करता है, किन्तु उक्त विचारधारा का कीर्तन और उक्त दृष्टि से भारतीय संस्कृति के समकालीन तथ्यों की प्रासांगिकता अवधारणात्मक संगठन और परस्पर अवगुंठन की स्थितियों का विश्वसनीय परिशीलन न करना दो भिन्न बातें हैं। विस्तृत आँकड़ों, तथ्यों के सूचीकृत विवरणों और सूचनाओं का उबाने वाला अम्बार लगाकर भी लेखक किसी अमार्क्सवादी के लिए कोई अनिवार्य युक्ति देने में पूर्णतया असफल रहा है, जिससे मार्क्सवादी विश्लेषण की सार्थकता को पहचानने में सहायता मिले या फिर बेपहचानी संस्कृति प्रक्रिया की गुत्थियों का मार्क्सवादी हल क्या है, उसे कुछ समझ में आए। मेघजी रागात्मकता, प्रवाहमयता के साथ श्रमिक-प्रतिबद्धता की वकालत एवं नारेबाजी इस पुस्तक में गाहे-बेगाहे करते रहे हैं, किन्तु यदि केवल मेघजी की पुस्तक पर ही मार्क्सवादी परिभाषाएँ आश्रित हों, तो समीक्षक को मार्क्सवाद के लिए उत्साह नहीं होगा।

मैं मेघजी की भाषा में काफी सफ़ाई महसूस करता हूँ, उन्होंने हिन्दी के हिन्दुस्तानी रूप को अपनाकर हम सभी का बड़ा उपकार किया है, उन्होंने कम-से-कम प्रस्तुत रचना में छोटे-छोटे वाक्यों से ज्यादातर अपना काम चलाया है, विश्लेषण की शैली सदा दुरूह वाक्य-रचना वाली नहीं होती यह उन्होंने अपनी इस पुस्तक में बार-बार दिखलाया है। इसके लिए मैं उन्हें बधाई दूँगा। उन्होंने सहजता से अंग्रेजी, उर्दू और पंजाबी के मुहावरों को भी हिन्दी में खपाया रमाया है, यह इस पुस्तक की भाषा की एक और उपलब्धि है। किन्तु उनके कुछ शब्द प्रयोग 'असहज' हो गये हैं, उदाहरणार्थ (केवल कुछ ही दे सकूँगा; 'वैश्वक'; 'सार्वभौम' क्यों नहीं ? 'हाशिये' वर्ग, कोटि, क्यों नहीं ? ; 'प्रत्याहरण और प्रत्यागमन' (पृ०३८३); अलगाव और वापसी क्यों नहीं ?' 'कुज्झटिकाच्छादित' (पृ० २९५) क्या है ? यह क्या 'अगम्य' मात्र नहीं है ?) —इसी प्रकार उनकी कुछ परिभाषाएँ कभी-कभी निरर्थक तक हो जाती हैं जैसे 'भाषा-तात्विक अर्थपरक संकुलता' जो सम्भवतया 'भाषा की अर्थहीनता' को व्यक्त करती है। (पृ० २७४) इसी सम्बन्ध में लम्बी सूचीनुमा पदावली एवं फार्मूलों के प्रयोग भी कभी-कभी असह्य हो उठते हैं। 'आधुनिकीकरण','सामाजिकीकरण','सांस्कृतिककरण','राजनैतिककरण', 'अन्तर्राष्ट्रीयकरण' वाले 'भारतीयकरण' (पृ० १८), मजाक जैसा लगने वाला यह वाक्यांश सीधे उनका मन्थर प्रयोजन व्यक्त करता है, मेघजी के लेखक को इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खतरे से आगाह करना मेरा समीक्षा-धर्म है। इसी प्रकार पृ० ३५७ और ३६१ के बीच जिस प्रकार के विभिन्न फार्मूलों को मेघजी प्रस्तुत करते हैं, उनसे कुछ पल्ले नहीं पड़ता, यदि उन्हें गणित एवं गणितपरक आकलन की चर्चा करनी इस अध्याय में ज़रूरी लगी थी, तो पूरी स्पष्टता से प्रतीकों और अवधारणाओं की चर्चा ज़रूरी थी, आशा है इस पर लेखक विचार करेगा। सुधार आसान है।

अब मुझे प्रस्तुत ग्रन्थ के संगठन एवं रचना-योजना में जो असहजता लगी है उसे कहना चाहूँगा। यह पुस्तक एक व्याख्यात्मक चिन्तन है, चिन्तन और व्याख्या में एक आन्तरिक सहजता ज़रूरी होती है। कम-से-कम मुझे 'लातिन अमरीका' के राजनैतिक और आर्थिक सर्वेक्षण (पृ० १६९—१९१) की संगति पुस्तक के मूल कथ्य के साथ दिखलाई नहीं पड़ती। इसी प्रकार उनके दो अन्य अध्याय (क) सम-सामयिकता तथा बोध का प्रमाणीकरण (पृ० ३३८—३४७) (ख) आधुनिक बोध एवं सौंदर्य-बोध की नव्य वैज्ञानिक संयोजनाएँ (पृ० ३५४—३६५) भी उनके मूल कथ्य जिसकी चर्चा हमने शुरू में ही की थी (या लेखक के कथनों से निश्चित की थी) से प्रायः निस्संग लगते हैं, या अनिवार्यतया अनुगामित नहीं लगते। (क) में लेखक रस-सूत्र, रंगमंच, पुनर्जन्म, त्रिवर्ग-विभाव-अनुभाव, संचारी आदि रंगधर्मी सिद्धांतों की लम्बी चर्चा करता है, यह किस प्रकार उसके मूल संवाद को कोई सार्थक निर्देशन देते हैं कम-से-कम मुझे इन पृष्ठों (३५४—३६५) को पढ़ते समझ नहीं आया। (ख) भी इसी प्रकार समकालीन मनोविज्ञान की नई दिशाओं, साइनैक्टिक्स शास्त्र की उपलब्धियों से पाठक को परिचित तो अवश्य कराता है, किन्तु स्वयं मेघजी के स्वीकृत मंतव्य को आवश्यक संगति अथवा निर्धारण देता है, यह इन पृष्ठों (३५४—३६५) में पढ़ने पर ज़रा भी समझ नहीं आता। यह रचना-योजना इस सीमा तक सहज संगति से सदोष है। स्मरण रहे कि मैं यह नहीं कहना चाहता कि रस-सिद्धांत या अन्य रंग-धर्मी सिद्धांतों या समकालीन सौंदर्यवादी मनोविज्ञान के अध्ययन अनर्गल हैं या कम महत्त्वपूर्ण हैं, वे स्वतन्त्र रूप से विवेचित हों तो कोई आपत्ति मुझे न होगी, किन्तु 'आधुनिकता' और आधुनिकीकरण की भारतीय स्थिति के विश्लेषक से मुझे यह पूछने की सहज जिज्ञासा होती है कि वह इन पचड़ों में पड़कर कौन से मोती ढूँढना चाहता है? पुस्तक की रचना-योजना के बारे में ही मुझे अपनी एक अन्य प्रतिक्रिया भी स्पष्ट करनी है कि लेखक बाह्य-जगत् के कालचक्र (आर्थिक घटनाओं, समकालीन राज-नीति), कृतिकारों की जीवनी और कृति में उपस्थित पात्रों, उनकी स्थितियों, कथनोपकथनों को बार-बार एक सपाट स्तर के तथ्य स्वीकार करता लगता है, जिसके रहते उसके गम्भीर कथन 'आत्म-परायेपन', 'आधुनिकता', 'फान्तासी' के विश्लेषण न लगकर स्वयं इनके उदाहरण दिखने लगते हैं। विश्लेषक यह कई बार करता है, (देखें निर्मल वर्मा की कहानी 'वे दिन', के सहचारी कथन, पृ० ३२१—३२६ 'आधुनिकता' (तथा पुनः वह गोर्की, प्रेमचन्द, अमृता शेरगिल की कला-कृतियों और उनके समय, समाज और तथ्यों को इकसार मानने का सयत्न अनुरोध करता है पृ० ४१०, तथा पृ० ४२६ पर वह कहता है कि 'कृति' का विशिष्ट कथ्य, तत्कालीन परिदृश्य, कृतिकार की निजी संवेदना प्रायः एकस्तरीय यथार्थ हैं। लेखक को कला और साहित्य की आलोचना के लिए इतने अधैर्य्य एवं उतावले-पन से कोटि-भ्रमों में फँसकर अपने विवेचन को पंगु नहीं बनने देना चाहिए था। मैं यह भी नहीं कहता कि कलाकृति, या साहित्यिक रचना, उसके तत्त्व और अवयवों का कृतिकार के चेतन मंतव्य, अचेतन सहचारं गुणों तथा उसकी सामाजिक स्थिति, प्रतीति, और समकालीन सामा-जिक, राजनीतिक, आर्थिक घटनाओं का परस्पर कोई सम्बन्ध ढूँढ़ना मात्र ही असंगत है। किन्तु परिपार्श्व, परि-दृश्य, वास्तविक जीवन, विचारधारा द्वारा प्रतिपादित निष्ठाओं, और कृति की अन्दरूनी सजीव प्रतिध्वनियों, संवादों में अभिव्यक्त संवेदनाओं को केवल पहले वर्ग की स्थितियों का प्रतिबिम्ब अथवा अनुगूँज मानना सर्जन की नवीनता, सर्जनात्मक स्वायत्तता एवं अर्थवत्ता को ही नकारने के समान है। मुझे आशा है कि लेखक अपने आगे के चिन्तन में सर्जनशीलता द्वारा अन्वेषित सांस्कृतिक अर्थ-वत्ता की समसामयिक वस्तु-स्थिति से नैरन्तर्य की व्याख्या कुछ अधिक धैर्य्य, ज़िम्मेदारी और राजनीतिक प्रचार-धर्मिता से छूट कर करेंगे। वैसे यदि उनकी पुस्तक स्पष्ट रूप से विश्वसनीय राजनीतिक पक्षधरता की वकालत को सिद्ध भी कर पाती, और केवल कोलाहल और पक्षधरता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को ध्वनित मात्र ही न करती होती तो भी वह एक सराहनीय उपलब्धि होती। खेद है कि यहाँ पाठक को यह पक्षधरता विवेचना द्वारा उपलब्ध नहीं कराई जा सकी है। शायद सर्जनात्मक कृतियों की समीक्षा का यह पैंतरा ही अस्वाभाविक है। समकालीन विकल्पों में यौक्तिक वरीयता सिद्ध नहीं हुई।

अभी तक मैंने मेघजी के विराट् सम्वाद के मूल कथन, विचारों, और समस्या की व्याख्या के विभिन्न विश्लेषणों पर सीधे कोई प्रतिक्रिया नहीं दी है। वास्तव में मेघजी अपने कथ्य में बहुत-सी साधारणतया स्वीकृत स्थापनाओं को पुनः स्थापित करते हैं। उदाहरणार्थ भारतीयता, भारतीय राजनीति, पिछड़ाव, आर्थिक ग़रीबी, उपनिवेशवाद, विज्ञान, वर्ग-संघर्ष, मूल्यहीनता, आत्मपरायापन, यौन कुण्ठाएँ, फूहड़पन, नौकरशाही, रुमानी, आत्मरति, संत्रास, नैराश्य, नागरीकरण आदि ऐसी अनेक अवधारणाएँ हैं जिन्हें सम-सामयिक जीवन में कमोबेश सभी सजग बुद्धिजीवी पिछली सदी से विभिन्न प्रकारों और रूपों में अपने आधुनिकता बोध, बोधकता, संवेदना एवं चेतना को निरूपित करने के लिए प्रयुक्त करते रहे हैं। इन अवधारणाओं की सहज व्याख्या नहीं हुई थी, मेघ की पुस्तक इस दिशा में मार्क्सवादी विचारधारा को इन धारणाओं के विश्लेषण के लिए काफी जोश-ख़रोश से प्रयोग करती है। उन्होंने, अफ़सोस, समस्याओं को स्वाभाविक रूप से निखरने नहीं दिया है, वे सावधान मार्क्सवादी के स्वभाव के अनुसार अपने कठघरे को बदलने के स्थान पर तथ्यों की कतर-ब्यौंत करने से भी नहीं हिचकते। इतनी लम्बी-चौड़ी राजनीतिक दलीलों से पाठक को थकाने के बाद भी (देखें भारत का राजनैतिक आधुनिकीकरण, आधुनिकता, आधुनिक-बोध की मानवीयकृत अनुगामिता, समसामयिक परिदृश्य में भारतीय बुद्धिजीवियों का आत्मपरायापन, आधुनिक कलाकार का आत्मसंघर्ष, लेखकीय संत्रास और रचनात्मक 'असामर्थ्य बोध')। मेघजी समकालीन भारतीय जीवन में कई तथ्यों मसलन अंग्रेज़ी की भूमिका, मध्यम चाकरी पेशा वर्ग की क्षेत्रीय क़बीली एवं निम्न बुर्जुआ प्रतिस्पर्धाएँ, भाषीय और धार्मिक कठमुल्लई (हिन्दू-मुसलमान, हिन्दू-सिक्ख, बंगाली-असमिया, नागा-असमिया, तमिल-मलयाली, मरहठी और दाक्षिणात्य श्रमिकों की तना-तनी) को भूल जाते हैं। इंदौर, अहमदाबाद, राँची, और भिवंडी में साम्प्रदायिक दंगों में स्वयं सर्वहारा श्रमिक वर्ग का वर्ग-चेतना एवं वर्ग-शत्रुता के ऐतिहासिक तथ्यों को भूलकर कबीलापरक धर्मान्धता पर व्यवहार करने को उतारू होने पर भी मेघ ज़रा भी ध्यान नहीं देते। प्रतिबद्धता, अन्तर्राष्ट्रीय पूँजीवाद, साम्राज्यवाद और खलनायक इज़ारेदारी की शिकायत कुछ अत्यधिक कर बैठते हैं। क्या यह आकस्मिक नहीं है कि, ब्रेझनेव, लिनपाओ, या कैस्ट्रो में से किसे अन्तर्राष्ट्रीय समाजवाद का प्रामाणिक दावेदार माना जाए? मेघ नहीं कहते। मुझे खुशी है कि रूसी समाजवाद में उपस्थित कठिनाइयों का भी ज़िक्र श्री मेघ बचते-बचते कर गये हैं। दूब्चेक, गोमुल्का गरूदी नाज़ी की भी पूरी चर्चा उन्हें करनी चाहिए थी, युगोस्लाविया और चीन में होने वाले लालरक्षकों के विद्रोह की भी जानकारी मिलनी चाहिए थी। उत्तरी कोरिया, वियतनाम और अल्जीरिया में स्वनामधन्य क्रान्तिकारियों में परस्पर चलने वाली लाग-डाँट और प्रतिस्पर्धा का कोई ज़िक्र नहीं किया गया है। यह तथ्यों की सरासर कतर-ब्यौंत है। चीन पाकिस्तान के साथ मिलकर जिस प्रकार की भारत-द्रोही नीति अपना रहा है उसका मेघ आश्चर्य नहीं कहीं उल्लेख नहीं करते। मेघ जी रूसी समाज में मन्थर उपभोग के उत्तरोत्तर विकास की तो चर्चा करते हैं; किन्तु मेघ ऐसे संवेदनशील मार्क्सवादी विद्वान् जब इस बात को स्वीकार करते हैं कि सोवियत रूस में 'डौविक-लाभ' नौकरशाही और सेन्सर हैं, (देखें पृ० ३०६-७) तो उन्हें पास्तरनाक, सॉल्झेनेत्सिन, यूरा डैजियल श्नितियावेस्की, मायाकोव्सकी ऐसे कलाकारों द्वारा अभिव्यक्त पीड़ा और जिलास द्वारा अनावृत पार्टी नौकरशाही और राष्ट्रीय स्वार्थपरता, अहम्मन्यता एवं अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा के तथ्यों को भी समाजवाद की अन्तरराष्ट्रीय महत्त्वाकांक्षाओं के सही संदर्भ निर्धारण के लिए प्रयोग करना चाहिए था। केवल चेगुवारा या गाइप के कीर्तन से अंतर्राष्ट्रीयता और समाजवादी पार्टी लाइन चरितार्थ नहीं हो जाती। मेघजी की भारतीय समसामयिक राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक विकास की लम्बी संचेतना में स्वयं विभिन्न मार्क्सवादियों की परस्पर प्रतिस्पर्धा सतत बदलती पार्टी लाइनों की पैंतरे-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बाज़ी, सांस्कृतिक-प्रगतिशील मोर्चों की अवसरवादिता और हाल में प्रत्येक भारतीय मार्क्सवादी पार्टी के बुढ़ियाते नेताओं की बाबू-धर्मी पटेबाज़ी और हविश का कोई संकेत नहीं मिलता ? समकालीन भारतीय परिदृश्य की समूची बूझ के लिए साम्यवादियों का हिन्दी द्वेष, (मुसलमान-उर्दू प्रेम) ईसाई मिशनरियों और पाकिस्तानी सरमायेदारों और कबीली नेताओं की मध्यकालीन धारणाओं वाले उलेमाओं लीगी मुल्लों से साँठ-गाँठ (अकालियों से भी) तथा स्वयं सत्तालोभी भद्रलोकी निम्न मध्यमवर्गीय भारतीय कोढ़ नव-उपनिवेशवादी बुद्धिजीवी-वर्गों के हितों की समान रक्षा के लिए परम सुविधावादी कांग्रेस पार्टी से लुका-छिपी और रूसी सहयोग की इज़ारेदारियों में हाथ सेकने की इच्छा को भी पहचानना चाहिए। नेहरू, मेनन, इन्दिरा, डांगे, मालवीय, किस तरह बाजपेयी, मधोक, मसानी, या कोया, फीजू, अब्दुला, फतहसिंह से कम अहंवादी, दलाल, एवं साम्प्रदायिक नहीं हैं, सिद्ध करना चाहिए था। कम-से-कम यदि मेघजी अपने उन पाठकों से संवाद करना चाहते हैं जिन्हें पार्टी लाइन पर सोचने की आदत नहीं है। जैसा है, ये समूचे प्रश्न मेघ के लम्बे कथानक के बावजूद अविचारित रह गये हैं। इस प्रकार की विशेष कतर-ब्यौंत के बाद प्रायः किसी भी स्थिति से कोई भी धारणा, विचारधारा या आदर्श संगत सिद्ध किया जा सकता है, किन्तु इस प्रकार का लेखन कम-से-कम सचेत रूप से मेघ नहीं करना चाहते थे। यदि उनके द्वारा कुएँ के मेंढक की तरह अपनी स्वरचित "विचारधारा की घोषणा के बाहर कुछ है ही नहीं"— की आश्वस्त अहंम्मन्यता देंगे, तो फिर साधारण पाठक पर संवाद का निवेदन भी क्यों थोपा गया ? मुझे आशा है, ऊपर लिखी बातें छद्म मार्क्सवादी पाठकों को अत्यधिक खिजायेंगी, सम्भवतया लेखक को भी किंतु जिस प्रकार की अपरिवर्त्तित कठमुल्लई विचारधारा का कवच पहन कर इस पुस्तक में यत्र-तत्र-सर्वत्र अपने कथन में लेखक ने उभारी है उसके लिए इससे कम तीव्र प्रतिक्रिया कम-से-कम इस समीक्षक को झूठ के साथ सहयोग लगती।

हो सकता है कि मेरे मार्क्सवादी मित्र द्वंद्वात्मकता, विकासवादी परिप्रेक्ष्य और इतिहास में बहुधा विरोधपरक गतिशीलता, दिशा, नवीनता और परिवर्तन की समझ की आवश्यकता पर बल देना चाहें, ऐसा मेघजी ने भी इतिहास, इतिहास-दर्शन, सांस्कृतिक विकास की एकलीकी धारणाओं को प्रस्तावित करते हुए बार-बार किया है। (देखें आधुनिक बोध की मानवीकृत अनुगामिता, आधुनिकता, पृष्ठ ३१७) किन्तु इस प्रकार की सभी अवधारणाएं तथ्यों को समझने वाली अवधारणात्मक रचनाएं मात्र ही होती हैं। द्वंद्वात्मक भौतिकवाद अनुभूति, संवेदना, और अभिव्यक्ति के केन्द्रीभूत तत्त्व 'व्यक्ति' को केवल मार्क्सवादी गाली-गलौज (मेघ ने भी आत्मरति, अहम्मन्यता, अतिश्रेष्ठता, रुमानी निम्न मध्यमवर्गीय गरीबी के गौरवान्वयन, फान्तासी, आत्महत्या आदि की कहीं लगती कहीं न लगती फबतियों से रूपवाद, अस्तित्ववाद, कलावाद, बिम्बवाद, भाषा विश्लेषणवाद आदि की खबर लेनी चाही है, देखें पृष्ठ ३५०—३५३) से झुठला नहीं सकेगा। चेतना ही इतिहास की जननी है।

मेघजी सार्त्र से काफ़ी विनयपूर्वक समझौता करने के लिए आतुर हैं। जगह-जगह पुराने शिवभक्त की तर्ज पर राम द्वारा शिव की पूजा के रूपक की भाँति सार्त्र द्वारा मार्क्सवादी विश्लेषण की सराहना का प्रयोग किया गया है। किन्तु मेघजी यदि कला और साहित्य के संदर्भ में सर्जन, सम्प्रेषण एवं कलाकृतियों के 'आत्म-परायेपन' एवं आत्म-निर्वासन की संवेदनाओं की ईमानदार पकड़ पाना चाहते हैं, तो उन्हें लोक-चालित मार्क्सीय सामाजिक प्रतिबद्धता, ऐतिहासिक वर्गबोध द्वारा संचालित वर्गचेतना, पूर्वनिर्णीत पार्टी लाइन की अविच्छेद सत्यता आदि पर भी (ज़रूरी नहीं कि हमेशा ऐसा ही हो, किन्तु ऐसा भी हो सकने की सम्भावना है) प्रश्न-चिह्न लगाने के लिए तैयार रहना चाहिए। 'आत्म परायेपन' पर विजय पाने के लिए ज़रूरी नहीं है कि माओ की लाल किताब की संहिता पढ़कर पुस्तकें, लेख, कविता या कहानी लिखी जाएँ, या सुनिश्चित रूप से सभी पार्टी कामरेड भी अपनी चेतना को प्रामाणिकता हासिल कराने के लिए एकसमान एकस्तरीय प्रचारमूलक पार्टी-पोस्टरों के समानधर्मी कलाकृतियों का संकलन करें। पिछली दो पीढ़ियों में सामाजिक यथार्थवादी कुरुचि, भोथर एवं छिछली कृतियों का अम्बार रूसी संस्कृति-प्रतिष्ठानों में जमा होता गया है, क्या ही अच्छा होता कि मेघ समाजवादी कला कमीसारों, लेखक-संघों,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और सेंसर अधिकारियों की भी उतनी ही पैनी ख़बर लेते जैसी उन्होंने भारतीय प्रतिष्ठान में दानव, दैत्यों, चापलूसों, हुक्कामों और महंतों की ली है। मुझे यहाँ ज़रा भी संदेह नहीं है, संगठन एवं व्यवस्था, गैर-बराबरी आज की सार्वभौम नियति है। उससे आत्मनिर्वासित होना आतंक, संत्रास की फान्तासी की केन्द्रीय धुरी है। लेकिन लौहपाट के दोनों तरफ काफ़्का के 'गढ़' को चरितार्थ करने वाली स्थितियाँ मौजूद हैं। मार्क्स द्वारा कथित श्रम का आवश्यकता द्वारा आदेशित होना बन्द हो जाना (देखें मेघ : पृ० २६७) अभी तक समाजवादी तन्त्र में भी सम्भव नहीं हुआ है। आत्म-परायेपन, असम्प्रेषण, निर्वैयक्तिता, अबूझ की समस्या उत्पादन के साधनों अथवा उत्पादन के सम्बन्धों के समाजीकरण की समस्या से भिन्न समस्या है। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि इज़ारेदारी, पूँजीवादी उत्पादन व्यवस्था, संस्कृति के लिए अनिवार्य हैं, अथवा अविकसित, निष्क्रिय सामंतवादी सुविधाभोगी निठल्ले पिछड़े समाजों में राजनीतिक पुनर्गठन अथवा क्रान्ति की ज़रूरत नहीं है। मेघजी मेरी समीक्षा से यह सब निष्कर्ष न लगाएँ। मार्क्सवादी क्रान्ति की समूची ठेकेदारी (इज़ारेदारी) उठाना चाहते हैं, जो कि मैं उन्हें यह उठाने देने का बीसवीं सदी के इस चतुर्थ प्रहर में कोई उत्साह वर्धक कारण नहीं पाता। सुविधाभोगी नौकरशाही, (सोवियत रूस में) माँगे पैसे पर पलने वाले बाबू वर्ग के एशियाई कम्युनिस्ट, विराट् अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति-आयोजनों में लूट-खसोट करके चालू बगुला भगत, समय-साधक समकालीन मार्क्सवादियों के कैरिकेचर मात्र नहीं हैं। डा० मेघ ऐसे भावुक किशोरमना सात्विक मार्क्सवादी जब इस निरीह ध्वनि से '**क्रान्ति**' की आरती उतारने जैसा बचपना करते हैं, तो मुझे हँसी न आकर रुलाई आती है। वैसे शायद किसी मशहूर हास्य-लेखक ने कहा था: "मैं सभी पर हँसता हूँ, कहीं ऐसा न हो कि मुझे सभी पर रोना पड़े।" अस्तु।

स्वतंत्रता केवल आवश्यकता की पहचान मात्र नहीं है। मेघ युक्ति के दावेदार नहीं हैं, उनकी रचना में स्वतंत्रता की जो लम्बी परिभाषाएँ दी गई हैं, वे समुचित नहीं हैं। उनसे मेरा केवल इतना अनुरोध है कि वे स्वयं अपनी रचना के बीच ही 'आत्मसंघर्ष', के बारे में लिखी (पृ० ४२३-४२४) "मनुष्य, खुद को मनुष्य बना सकता है"—पर विचार करें। प्रिय, मेघजी देखें, जो बनेगा, वह पहले नहीं था। स्वतंत्रता भाषा, रंग, विज्ञान, स्वर तकनीक के माध्यम से नवीनता का सर्जन करने की है, जो पहले से उपस्थित नहीं हो सकती। जब तक अमानवीयकृत परम्पराएँ, विधान, शोषण, विचारधाराएँ (और पार्टी लाइन भी) इस सहज मानव की काल में खुली सम्भावनाओं के आयाम में सर्जनात्मक व्यक्तित्व के मार्ग में रोड़े बनी रहती हैं, संत्रास, भय, आत्म-परायापन, अकुलाहट आदि बनी रहेंगी। भयहीन समाज दूर है।

मेघजी द्वारा समकालीन साहित्य की आलोचना में आत्मपरायेपन की रुग्ण, त्रासमय यौन-जिघांसामूलक कुण्ठाओं के विज्ञापन सरीखी "फूहड़ता के लिए फूहड़ता," आत्मरति पर जो मुद्दे चढ़े हैं, उनका सभी विवेकशील हिन्दी पाठक स्वागत करेंगे। मेघजी ने स्थान-स्थान पर समकालीन मुखौटों, मठाधीशों, शृगालों, और छद्म मसीहाओं की जैसी मीठी-तीखी और मार्मिक ख़बर ली है, बखिया उधेड़ी है, वह स्वयं में उनके वैचारिक कथोपकथन से स्वतंत्र बहुमूल्य निधि है। गद्य-साहित्य के एक अदने पाठक के रूप में उनकी इन मार्मिक अभिव्यक्तियों का मैं समूचे विवादी स्वरों के बावजूद पुनः एक बार सहज एवं मुक्त अभिवादन करूँगा।

मेरी समीक्षा से यह न समझा जाये कि पुस्तक महत्त्वपूर्ण नहीं है, मैंने 'आलोचना' से समीक्षा के लिए इस रचना को पाकर बहुत-कुछ सीखा है, इसका संकेत करना भी समीक्षा का एक भाग है।—अस्तु।

साहित्य-सिद्धान्त

राजनाथ

रेनी वेलेक और ऑस्टिन वारेन की बहुचर्चित पुस्तक 'साहित्य-सिद्धान्त' ('थियरी ऑव लिट्रेचर') के पढ़ने के उपरान्त यह निर्णय करना कठिन है कि आखिर इस पुस्तक के लेखन में इसके लेखकों का उद्देश्य क्या है? पुस्तक की

साहित्य सिद्धान्त : मूल लेखक रेनी वेलेक एवं आस्टिन वारेन, अनुवादक पालीवाल, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भूमिका में इसके लेखकों ने स्पष्ट कह दिया है कि यह पुस्तक विशेषज्ञों के लिये नहीं है। (पृ० ८)। बात भी ठीक है। आधुनिक समीक्षा के विशेषज्ञ के लिए इस पुस्तक में कौन-सी नयी बात है ? यदि इस पुस्तक के मूलभूत तथ्य को संक्षेप में कहना हो तो कहा जा सकता है कि साहित्य की समीक्षा साहित्य के रूप में ही होनी चाहिए। इस बात को आधुनिक समीक्षा का एक सामान्य पाठक भी इस पुस्तक के प्रकाशन के बरसों पहले से नये समीक्षकों तथा शिकागो के आलोचकों (और इनसे भी पहले टी० एस० इलियट) से सुनता आ रहा है। साहित्य की समीक्षा साहित्य के रूप में होनी चाहिये यह नयी समीक्षा का मूलभूत सिद्धान्त है। पुस्तक के लेखकों के निर्णय अधिकांशतः नये समीक्षकों के निर्णय हैं और जहाँ कहीं भी उन्होंने नये समीक्षकों के आगे या उनके विरोध में जाने का प्रयास किया है गलत रास्ते पर चले गये हैं। अब रह गयी बात सामान्य पाठक की। पुस्तक-विशेषज्ञों के लिए न हो कर सामान्य पाठक के लिए हो सकती है। लेकिन दुर्भाग्य की बात कि यह सामान्य पाठक के लिए भी नहीं रह जाती। सामान्य पाठक की श्रेणी में छात्र ही आते हैं और पुस्तक की भूमिका में कहा गया है कि "यह ऐसी पाठ्य-पुस्तक नहीं है जिसमें छात्रों को साहित्यिक मूल्यांकन के तत्त्वों से परिचित कराया गया हो।" (पृ० ७) भले ही इस पुस्तक में साहित्यिक सिद्धान्त और आलोचना को पांडित्य और साहित्यिक इतिहास से जोड़ने का प्रयास हो लेकिन स्वयं पुस्तक पांडित्य के बोझ से इतनी लदी हुई है कि एक सामान्य पाठक उस बोझ के नीचे अपने को काफी दबा हुआ पाता है। लेखकों ने, नये आलोचकों की भाँति, इस बात पर अत्यधिक जोर दिया है कि एक समीक्षक को साहित्यिक कृतियों पर दृष्टि रखकर समीक्षा करनी चाहिए न कि अपने काव्येतर सिद्धान्तों पर। यदि ठीक यही काम इन लेखकों ने अपनी पुस्तक में किया होता तो यह वस्तुतः एक सामान्य पाठक के लिये साहित्य-समीक्षा का एक अमूल्य ग्रंथ होता। लेकिन होता यह है कि लेखक साहित्य-सिद्धान्त में इतने अधिक उलझ जाते हैं कि साहित्यिक कृतियों का यदा-कदा उदाहरण देकर भाग निकलते हैं। परिणाम यह होता है कि पुस्तक कहीं-कहीं अत्यधिक अपठनीय हो जाती है। उदाहरण के लिए, देखिए --

"इस तरह कलाकृति एक ऐसा अनोखा प्रमेय प्रतीत होता है जिसका अपना एक विशिष्ट अस्तित्व होता है। यह न तो वास्तविक (किसी मूर्ति की तरह भौतिक) होती है, न ही मानसिक (प्रकाश या वेदना की अनुभूति की तरह मनोवैज्ञानिक) और न ही प्रत्ययात्मक (किसी त्रिभुज की भाँति)। यह प्रत्ययात्मक संकल्पनाओं के उन मानकों की एक प्रणाली है, जो अनेक व्यक्तियों में होते हैं। यही मानना होगा कि ये मानक एक सामूहिक विचारधारा में रहते हैं, इसके साथ बदलते हैं, और इन्हें इसके वाक्यों की ध्वनि संरचना पर आधारित व्यष्टि के मानसिक अनुभवों के माध्यम से ही ग्रहण किया जा सकता है।" (पृ० २०४)

पाठक इन पंक्तियों की अपठनीयता के लिए अनुवाद को दोष न दें क्योंकि मूल ग्रंथ में भी यह इतना ही अपठनीय है। पुस्तक के अध्ययन की दृष्टि से यह अंश कितना महत्त्वपूर्ण है यह पुस्तक का एक सामान्य पाठक भी समझ सकता है। कला-कृति की परिभाषा ('यह प्रत्ययात्मक संकल्पनाओं के उन मानकों की एक प्रणाली है, जो अनेक व्यक्तियों में होते हैं') रेनी वेलेक और आस्टिन वारेन ही समझ सकते हैं, एक सामान्य पाठक तो क्या विशेषज्ञ के भी समझ के बाहर की प्रतीत होती है। यह तो मैंने एक उदाहरण दिया। सम्पूर्ण पुस्तक ऐसे सूक्ष्म विवादों से भरी पड़ी है। अपनी पुस्तक को वाल्ज़ेल और जूलियस पिटर्सन की पुस्तकों से अलग करते हुए लेखक 'आमुख' में लिखते हैं कि "जर्मन लेखकों की पुस्तकों से हमारी पुस्तक का फर्क यह है कि हमने उनकी तरह महज दूसरों के दृष्टिकोणों का रूपान्तर करने से बचना चाहा है।" (पृ० ७—८) लेकिन ये लेखक अपने प्रयास में कितने सफल हो पाये हैं यह इसी से पता चल जाता है कि केवल हेनरी वेल्स के बिंब सम्बन्धी विचारों का रूपान्तर लगभग ६ पृष्ठों में किया गया है। (पृ० २६१—६६)।

सम्पूर्ण पुस्तक पाँच खंडों में विभाजित है। प्रथम खंड में साहित्यिक परिभाषाओं और विभेद की चर्चा है; दूसरे खंड में साक्ष्यों की क्रम-व्यवस्था और स्थापना की चर्चा है, तीसरे खंड में साहित्येतर दृष्टियों से साहित्य का अध्ययन किया गया है; चौथे खंड में साहित्य का अंतरंग अध्ययन है तथा पाँचवें और अन्तिम खंड में कालेजों में साहित्य के अध्ययन की समस्या का संकेत है। पुस्तक का खंड-विभा-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वन काफी वैज्ञानिक है तथा पाँचों खंडों में तीसरे और चौथे खंड सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

प्रथम खंड में पाँच अध्याय हैं—'साहित्य और साहित्यिक अध्ययन' 'साहित्य की प्रकृति', 'साहित्य का प्रयोजन' 'साहित्य-सिद्धान्त','आलोचना तथा इतिहास, और 'सामान्य, तुलनात्मक तथा राष्ट्रीय साहित्य'। प्रथम अध्याय के प्रारंभ में लेखकों ने एक महत्त्वपूर्ण भेद साहित्य और साहित्यिक अध्ययन के बीच किया है। साहित्य सृजनात्मक है जबकि साहित्यिक अध्ययन 'ज्ञान या विद्या का ही एक प्रकार है।' (पृ० १७)। लेखकों ने यह दिखलाया है कि किस तरह वैज्ञानिक पद्धतियों का प्रयोग साहित्यिक कला के विवेचन में किया जा सकता है। कलाकृतियों के सामान्यीकरण के बारे में लेखक के विचारों से असहमति हो सकती है क्योंकि हमलोग जानते हैं कि नये समीक्षकों के सामान्यीकरण का क्या परिणाम हुआ और किस तरह कविता के विविध रूप एक सामान्य सिद्धान्त में आकर सीमित हो गये। दूसरे अध्याय 'साहित्य की प्रकृति' में लेखकों ने ठीक ही कहा है कि साहित्य और सभ्यता के इतिहास को एक रूप में नहीं देखा जा सकता। दोनों दो चीज़ें हैं और उन्हें दो रूपों में ही देखना चाहिए। साहित्य की भाषा और साहित्य तथा विज्ञान की भाषाओं में विभेद का अध्ययन काफी गम्भीर रूप से किया गया है हालांकि इनमें लेखक नये आलोचकों, खास तौर से क्लियन्थ ब्रुक्स, के काफी ऋणी हैं। तीसरे अध्याय, 'साहित्य का प्रयोजन' में 'उपयोगी' शब्द की एक नयी व्याख्या की गयी है। "कला की उपादेयता नैतिक शिक्षा देने में नहीं है। बल्कि 'उपयोगी' का अर्थ है जिसमें 'समय की बर्बादी न हो', 'काल-मापन का बहाना मात्र न हो,' 'महज एक फर्ज न हो,' 'जो स्वयं अपना प्रतिफल भी हो।' (पृ० ३८) लेकिन 'उपयोगी' शब्द की यह परिभाषा कितने लोगों को स्वीकार होगी? लेखकों का कहना है कि 'हमें कला के प्रयोजन का वर्णन इस रूप में करना होगा जिससे इसके माधुर्य और उपयोगिता दोनों के साथ न्याय हो सके।" (पृ० ३८) लेकिन 'उपयोगिता' की नयी व्याख्या करके तो ज़बरदस्ती न्याय की कोशिश की गयी है। नये आलोचकों, खास तौर से रैन्सम और टेट के 'कविता ज्ञान है' सिद्धान्त को बड़े ही संक्षेप में टाल दिया गया है जबकि इसके विस्तृत विवेचन की आवश्यकता है। यह समझ में नहीं आता कि दुनिया भर के लेखकों का नाम तो रेनी वेलेक और आस्टिन वारेन गिना गये हैं लेकिन नये आलोचकों का नाम लेने में इन्हें इतनी हिचकिचाहट क्यों आती है। एक कारण यह हो सकता है कि नये आलोचकों की नींव पर ही इस पुस्तक का महल खड़ा है। पुस्तक के चौथे अध्याय 'साहित्य-सिद्धान्त, आलोचना तथा इतिहास' में लेखकों ने यह दिखलाने की कोशिश की है कि आलोचना और इतिहास को एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। लेखकों ने बहुत परिश्रम से यह दर्शाया है कि किस तरह इतिहास में आलोचनात्मक तथा आलोचना में ऐतिहासिक तथ्य मौजूद हैं। लेकिन 'आलोचना बनाम इतिहास' की परम्परा से यह पता चलता है कि जो अधिकांश इतिहास लिखे गये उनमें आलोचना का अंश नाम मात्र का ही है। इसका यह मतलब नहीं कि आलोचना और इतिहास एक जगह नहीं हो सकते। लेकिन इसके लिये पुराने इतिहासों में आलोचना और इतिहास का संगम खोजने के स्थान पर एक नये ढंग का इतिहास लिखना होगा जिसमें युग और लेखकों की अपेक्षा व्यक्तिगत कृतियों पर बल दिया जायगा। प्रथम खंड के अन्तिम अध्याय 'सामान्य, तुलनात्मक तथा राष्ट्रीय साहित्य' में लेखकों ने 'सार्वदेशीय साहित्य' के पक्ष में अपने तर्क दिये हैं। लेकिन सार्वदेशीय साहित्य कहाँ तक व्यावहारिक हो सकता है, कहना कठिन है।

पुस्तक के दूसरे खण्ड में केवल एक ही अध्याय है—'साक्ष्यों की क्रम-व्यवस्था और स्थापना।' साक्ष्य दो प्रकार के होते हैं—बाह्य और आन्तरिक। साक्ष्यों के माध्यम से अनुसंधान सम्बन्धी सामग्री का चयन आलोचनात्मक विश्लेषण के लिए एक आवश्यक सहायता है किंतु साहित्य के विद्यार्थी को यह जानना चाहिए कि इस प्रकार की सामग्री स्वयं आलोचना का स्थान नहीं ग्रहण कर सकती। यह सामग्री तो वह बिंदु है जहाँ से वास्तविक आलोचना शुरू होती है न कि समाप्त होती है।

पुस्तक के तीसरे खण्ड में कुल पाँच अध्याय हैं—'साहित्य और जीवनी', 'साहित्य और मनोविज्ञान' 'साहित्य और समाज', 'साहित्य और विचार' तथा 'साहित्य तथा अन्य कलाएँ।' इन पाँचों अध्यायों में जो मूलभूत बात कही गई है वह सामान्य है। इन अध्यायों की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भूमिका में लेखकों ने यह स्पष्ट कर दिया है कि साहित्येतर मूल्यों का अध्ययन साहित्य पर प्रकाश तो डाल सकता है किंतु साहित्यिक विश्लेषण का स्थान नहीं ले सकता। साहित्येतर मूल्यों के प्रकाश में साहित्य पर अन्तिम निर्णय देना साहित्य के साथ अन्याय करना है। मैं भूमिका से एक छोटा-सा उद्धरण नीचे दे रहा हूँ—

"इस बात से कोई इंकार नहीं कर सकता कि साहित्य पर काफी प्रकाश उन परिस्थितियों के समुचित ज्ञान से पड़ा है जिनमें इसकी रचना हुई है; इस तरह के अध्ययन का भाष्यपरक मूल्य असंदिग्ध है। फिर भी इतना तो स्पष्ट ही है कि प्रासंगिक अध्ययन से साहित्यिक कला-कृति जैसी किसी चीज़ के वर्णन, विश्लेषण तथा मूल्यांकन की समस्या को खत्म नहीं किया जा सकता।" (पृ० ९५)

'साहित्य और जीवनी' शीर्षक अध्याय में लेखकों ने कुछ असंगत विचार व्यक्त किए हैं। वस्तुतः वे कहना तो यह चाहते हैं कि जीवनी का कोई सदुपयोग आलोचनात्मक विश्लेषण एवं मूल्यांकन में नहीं हो सकता। फिर अध्याय के प्रारम्भ में यह कहने की क्या तुक है कि जीवनी का उपयोग एक साहित्य के पण्डित के लिए वहीं तक है जहाँ तक कि "जीवनी वास्तविक काव्य-कृति की व्याख्या करती है और उस पर प्रकाश डालती है।" (पृ०९८)। लेखकों ने काफी स्पष्ट रूप से कह दिया है कि साहित्य और जीवनी का सम्बन्ध साहित्य के लिए कोई खास माने नहीं रखता। "यहाँ तक कि जब कला-कृति और लेखक के जीवन में निकट सम्बन्ध होता है तब भी यह समझने की भूल कदापि नहीं करनी चाहिए कि कला-कृति मात्र जीवन की अनुकृति हुआ करती है।" (पृ० १०३) कभी-कभी किसी लेखक की कृतियों से एक खास तरह का व्यक्तित्व उभर कर सामने आता है किंतु यह व्यक्तित्व कृतियों के आधार पर ही तय किया जा सकता है न कि लेखक का जीवन-परिचय पढ़ने से।

"साहित्य और मनोविज्ञान" शीर्षक निबन्ध में साहित्य और मनोविज्ञान के सम्बन्ध को चार भागों में बाँटा गया है—लेखक का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, एक व्यक्ति या एक टाइप के रूप में; सृजन-प्रक्रिया का अध्ययन; साहित्यिक कृतियों में पाये जाने वाले मनोवैज्ञानिक टाइपों और नियमों का अध्ययन तथा पाठकों के ऊपर पड़ने वाले मनोवैज्ञानिक प्रभाव का अध्ययन। लेखकों के अनुसार "इनमें से तीसरा रूप ही सम्भवतः ऐसा है जिसे शुद्ध साहित्यिक अध्ययन के अन्तर्गत लिया जा सकता है।" (पृ० १०६) लेकिन 'साहित्य और जीवनी' के सम्बन्ध की ही तरह साहित्य और मनोविज्ञान के सम्बन्ध पर भी लेखकों ने कुछ असंगत विचार व्यक्त किए हैं। लेखकों के अन्तिम निर्णय के अनुसार मनोविज्ञान कला के लिये अनावश्यक है और "अपने-आप में सर्जना की पृष्ठभूमि मात्र है; और कलाकृति में मनोवैज्ञानिक सत्य कलागत मूल्य तभी बन सकता है जब कि यह संगति और जटिलता में वृद्धि करे—संक्षेप में कह सकते हैं, यदि यह कला बनकर आये।" (पृ० १२३)

'साहित्य और समाज' शीर्षक अध्याय में लेखकों ने समाजवादी, खास तौर से मार्क्सवादी आलोचना से अपनी असहमति प्रकट की है। उनके अनुसार यह कथन कि 'साहित्य समाज की अभिव्यक्ति है,' गलत है क्योंकि साहित्य में "समकालीन सामाजिक स्थिति की 'यथातथ्य' झलक" तो होती नहीं। साहित्य और समाज के सम्बन्ध को लेखकों ने तीन भागों में बाँटा है—लेखक के सामाजिक मूल्यों का अध्ययन; साहित्यिक कृतियों की सामाजिक वस्तु, फलितार्थों और प्रयोजन का अध्ययन; साहित्य का समाज (श्रोता) पर प्रभाव का अध्ययन। तीनों ही दृष्टियों से साहित्य का अध्ययन गलत है क्योंकि "साहित्य समाज-शास्त्र या राजनीतिशास्त्र का स्थानापन्न नहीं है।" (पृ० १४६)

'साहित्य और विचार' शीर्षक अध्याय में लेखकों ने दार्शनिक विचारों के प्रकाश में साहित्य के अध्ययन के विरोध में अपने विचार प्रकट किए हैं। विचारों के अध्ययन में साहित्य को केवल उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जाता है जो कि साहित्य का सही मूल्यांकन नहीं है। लेखकों के शब्दों में, "किसी कला-कृति को मतवादी उक्तियों के स्तर पर और इससे भी बुरा यह कि प्रसंग से कटे चन्द उद्धरणों के स्तर पर उतार लाना किसी कलाकृति की समग्रता को समझने की दृष्टि से बहुत भयानक है।" (पृ० १४८)

साहित्य तथा अन्य कलाओं के सम्बन्ध के अध्ययन में लेखकों ने यह दिखलाया है कि किस तरह साहित्य और साहित्येतर कलाएं एक-दूसरे का उपयोग करती हैं। लेकिन लेखक साहित्येतर कलाओं के प्रकाश में साहित्य के अध्ययन के विरुद्ध हैं। प्रायः आलोचक साहित्य तथा साहित्येतर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कलाओं के बीच साम्य दिखलाते हैं किंतु "शुद्ध विश्लेषण के लिए इस तरह के साम्य का कोई महत्त्व नहीं होता।" (पृ० १७१)

पुस्तक का चौथा खण्ड आठ अध्यायों में बँटा है—"साहित्यिक कला-कृति का विश्लेषण", "यूफोनी, रिद्म और छंद", "शैली और शैली-शास्त्र", "बिम्ब, रूपक, प्रतीक, मिथ", "आख्यानात्मक कथा का स्वरूप और प्रकार", "साहित्यिक विधाएँ", "मूल्यांकन" और "साहित्य का इतिहास।" ये आठों अध्याय साहित्य के अंतरंग अध्ययन से सम्बन्धित हैं और अंतरंग अध्ययन ही लेखकों के अनुसार एक समीक्षक का प्रमुख उद्देश्य होना चाहिए। इन अध्यायों की भूमिका में (आश्चर्य की बात है कि अनूदित पुस्तक में भूमिका का अंश ही नहीं है जो छोटा होते हुए भी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है) लेखकों ने स्पष्ट कहा है कि साहित्यिक अनुसंधान में कार्य का प्रारम्भ-बिंदु स्वयं साहित्यिक कृति ही होनी चाहिए न कि साहित्येतर मूल्य।

'साहित्यिक कलाकृति का विश्लेषण' शीर्षक निबन्ध में लेखकों ने दबी ज़बान से ही सही एक महत्त्वपूर्ण बात कही है। उनके अनुसार साहित्य के अध्ययन में लेखक के आशय को महत्त्व देना एक भ्रामक तथ्य है क्योंकि "साहित्य के इतिहास में सचेतन आशय और वास्तविक व्यवहार में विरोध-भाव एक आम सी बात है।" (पृ० १९४) यहाँ 'आशय' शब्द से लेखकों का मतलब उस 'आशय' से है जिसे तय करने के लिये किसी कृति के कृतिकार की जीवनी आदि के विवरण में जाना आवश्यक हो जाता है। लेकिन आशय का एक दूसरा भी अर्थ है जिसे स्वीकार करने में लेखकों को कोई आपत्ति नहीं है। यह आशय तय करने के लिए एक आलोचक को जीवनी-सम्बन्धी ब्यौरों में जाने की आवश्यकता नहीं पड़ती। उसे तो सिर्फ यह देखना होता है कि कृति-विशेष के अन्तर्गत लेखक का क्या आशय है, वह क्या कहना चाहता है अर्थात् वह कौन-सा बिंदु है जिस ओर कृति के सभी पहलू इशारा कर रहे हैं। लेखकों के शब्दों में, "यदि 'आशय' के अध्ययन से हम सिर्फ यह मतलब समझते हैं कि यह अपनी पूर्ण अर्थवत्ता की ओर अग्रसर किसी समग्र कला कृति का अध्ययन है तो इससे किसी तरह की आपत्ति नहीं हो सकती। परन्तु 'आशय' शब्द का यह अर्थ बिल्कुल भिन्न और किंचित भ्रामक है।" (पृ० १९५) यह समझ में नहीं आता कि 'आशय' शब्द के इस अर्थ को भ्रामक क्यों कहा गया है। 'आशय' शब्द का यही वह अर्थ है जिस पर शिकागो के समीक्षकों ने अपने साहित्य-सिद्धान्त का निर्माण किया है। 'आशय' शब्द के जिस अर्थ को लेखकों ने अस्वीकार किया है यह वही अर्थ है जिसे विम्साट और वर्ड्सले ने अपने प्रसिद्ध निबंध "द इंटेंशनल फैलेसी" में अस्वीकार किया है। "यूफोनी रिद्म और छंद" शीर्षक निबंध में लेखकों के अनुसार साहित्य में अर्थ से अलग ध्वनि का कोई महत्त्व नहीं है। "यूफोनी" 'रिद्म' और 'छंद' शब्दों की व्याख्या और विश्लेषण काफी अच्छी तरह किया गया है। अध्याय के अन्त में ध्वनि और छंद के संबंध में ठीक ही कहा गया है कि "ध्वनि और छंद का अध्ययन किसी कलाकृति की समग्रता के तत्त्वों के रूप में किया जाना चाहिये न कि अर्थ से बिल्कुल अलग करके।" (पृ० २२५)

'शैली और शैलीशास्त्र' निबंध के प्रारम्भ में ही लेखकों ने भाषा के सम्बन्ध में काफी सुलझा हुआ विचार प्रस्तुत किया है। उनका यह कथन बिल्कुल ठीक है कि "साहित्यिक कलाकार का उपादान भाषा है।" (पृ० २२६) (अनुवाद ठीक नहीं है। ठीक अनुवाद होगा "भाषा साहित्यिक कलाकार का उपादान है।") लेकिन इस सुलझे हुए विचार के होने पर ही लेखक इस अध्ययन में काव्य-भाषा से सम्बन्धित विचारों के व्यक्त करने में अत्यन्त बहक गये हैं। यदि भाषा उपादान मात्र है (यहाँ लेखकों का उपादान और संरचना के बीच किये गये भेद को याद रखना चाहिये) तो भाषा को उतना अधिक महत्त्व नहीं दिया जा सकता जितना कि नये आलोचकों ने दिया है। भाषा कविता का उसी तरह उपादान है जिस तरह काठ टेबुल का, लोहा कुल्हाड़ी का या मिट्टी एक खिलौने का। बिना काठ के टेबुल नहीं बन सकता लेकिन टेबुल पर निर्णय काठ के आधार पर नहीं दिया जा सकता, अपितु इसके लिये टेबुल के सम्पूर्ण ढाँचे का निरीक्षण करना होगा। ठीक इसी तरह कविता पर निर्णय कविता की भाषा के आधार पर नहीं दिया जा सकता जैसा कि नये आलोचकों ने किया बल्कि शिकागो के आलोचकों की तरह भाषा को कविता का मात्र उपादान और एक अंश मानना होगा और कविता पर निर्णय कविता की सम्पूर्ण संरचना के आधार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर देना होगा। लेखकों ने एक ओर तो भाषा को साहित्यिक कलाकार का उपादान माना है और दूसरी ओर वेट्सन के इस विचार से सहमति प्रकट की है कि "कविता का असल इतिहास उन परिवर्तनों का इतिहास है जो उत्तरोत्तर काल की कविता की भाषा में आए।" (पृ० २२६)

'बिम्ब, रूपक, प्रतीक, मिथ' शीर्षक अध्याय में लेखकों ने चारों शब्दों की व्याख्या और विश्लेषण प्रस्तुत किया है। लेकिन उनके इस निर्णय को मानना कठिन है कि काव्य-संरचना का केन्द्र ये चार शब्द हैं। यह निर्णय तो वस्तुतः नये आलोचकों का निर्णय है जिनके अनुसार बिम्ब (जिसमें रूपक, प्रतीक और मिथ भी आ जाते हैं, काव्य-संरचना का केन्द्र होता है। इस निर्णय का जो भयंकर परिणाम नयी समीक्षा में हुआ उससे हम सभी परिचित हैं। जैसा कि आर० एस० क्रेन ने क्लिअन्थ ब्रुक्स पर लिखे हुए अपने निबंध (मॉडर्न फिलालजी, १९४८) में बतलाया है, नये आलोचकों के लिये एक कविता और दूसरी कविता में कोई भेद ही नहीं रह गया और गीत-काव्य, आख्यान तथा महाकाव्य सभी एक ही श्रेणी में डाल दिये गये। यदि कविता की केन्द्रीय संरचना ऊपर के चार शब्दों तक ही सीमित है तो प्रश्न उठता है कि 'पैराडाइज़ लास्ट' या 'दि रेप ऑव दि लाक' की केन्द्रीय संरचना क्या है? निश्चित रूप से यह कोई बिम्ब, रूपक, प्रतीक या मिथ नहीं है। प्रतीक, बिम्ब और रूपक के बीच किया गया भेद काफी महत्त्व का है। लेखकों के शब्दों में, "कोई बिम्ब एक बार रूपक के रूप में प्रकट हो सकता है, परन्तु जब यह बिम्ब बार-बार प्रस्तुत और अप्रस्तुत रूप में दोहराया जायगा तो यह प्रतीक बन जायगा।" (पृ० २४६) बिम्ब के संबंध में दूसरों के विचारों को दोहराने की अपेक्षा यदि कुछ उदाहरणों से उसका विश्लेषण किया जाता तो अधिक अच्छा होता।

'आख्यानात्मक कथा का स्वरूप और प्रकार' शीर्षक निबन्ध के पीछे लेखकों की यह धारणा है कि आख्यानात्मक कथा के लिये एक ऐसी समीक्षा-पद्धति की आवश्यकता होती है जो कविता की समीक्षा-पद्धति से भिन्न होती है। आख्यानात्मक कथा को तीन नियामक तत्त्वों में बाँटा गया है—कथानक, चरित्र-चित्रण और परिवेश। दो मुख्य बातें जिनकी ओर लेखकों का ध्यान नहीं गया है वे हैं—किस तरह कविता आख्यानात्मक कथा से भिन्न है (कविता से तात्पर्य केवल गीत-काव्य से नहीं है। इसमें आख्यानात्मक काव्य भी आता है) और आख्यानात्मक कथा के तीन तत्त्वों का किसी कथा-विशेष में किस तरह सम्मिश्रण होता है। आख्यानात्मक कथा के तत्त्वों से भाषा को निकाल देना कहाँ तक सम्भव है यह एक सोचने की बात है। लेखकों के विचार से तो ऐसा लगता है कि कविता और आख्यानात्मक कथा का किसी भी बिन्दु पर मिलन नहीं होता और यदि कविता की संरचना भाषा में है (भाषा के अन्तर्गत बिम्ब भी आता है) तो आख्यानात्मक कथा की संरचना कथानक, चरित्र-चित्रण और परिवेश में है। लेकिन यह बात तर्क-युक्त नहीं मालूम पड़ती क्योंकि भाषा का महत्त्व कम-अधिक तो हो सकता है किन्तु यह कहना कि कविता में भाषा ही सब कुछ है और आख्यानात्मक कथा में भाषा का कोई महत्त्व नहीं, गलत है।

'साहित्यिक विधाएँ' शीर्षक के अन्तर्गत साहित्य की विभिन्न विधाओं के अध्ययन में दो प्रमुख बातें छोड़ दी गयी हैं—एक तो यह कि साहित्यिक विधाओं का उपयोग साहित्य के विश्लेषण में किया जा सकता है या नहीं, यदि 'हाँ', तो किस तरह से। नये आलोचकों ने विधाओं को कोई खास महत्त्व नहीं दिया है जबकि अरस्तू की परम्परा में आने वाले शिकागो के समीक्षकों ने इन्हें साहित्य के विश्लेषण में काफी महत्त्व दिया है। एक दूसरा प्रश्न जो छोड़ दिया गया है वह यह है कि विधाओं और साहित्यिक मूल्य में किस तरह का सम्बन्ध है। लेखकों के अनुसार विधा-विशेष ही गुण की सूचक है। अतः एक महाकाव्य या नाटक किसी ओड या गीति-काव्य से निश्चित रूप से अधिक मूल्यवान है। लेकिन विधाओं के साथ साहित्यिक मूल्यों का संबंध स्थापित करने के लिये इन लेखकों के पास कोई तर्क नहीं है। एक गीत या 'ओड' एक महाकाव्य या नाटक से अधिक साहित्यिक मूल्य का हो सकता है। आखिर कीट्स अपने 'ओड्ज़' के लिये ही प्रसिद्ध है और टी० एस० एलियट 'दि वेस्ट लैण्ड' के लिए जो न महाकाव्य है न नाटक। दूसरी ओर स्पेन्सर 'फ़ेयरी क्वीन' लिखकर भी कीट्स या एलियट के स्तर के साहित्यकार न हो सके। अतः लेखकों का यह निर्णय कि "सानेट और ओड जैसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छोटी विधाओं को किसी तरह महाकाव्य और त्रासदी की तुलना में नहीं रखा जा सकता" (पृ० ३०४) बिल्कुल तर्कहीन है।

'मूल्यांकन' शीर्षक अध्याय में लेखकों ने अपनी पहले कही हुई बात दुहरायी है कि साहित्य का मूल्यांकन साहित्य के रूप में ही होना चाहिए और लेखक तथा श्रोता सम्बन्धी बाह्य मूल्यों को इसमें स्थान नहीं मिलना चाहिए। एक आलोचक का कर्तव्य यह देखना होता है कि साहित्य के विभिन्न तत्त्व किस प्रकार मिलकर कृति-विशेष को एक नया रूप देते हैं। लेखकों ने नये आलोचकों के एकांगी सिद्धान्त से असहमति प्रकट की है और बतलाया है कि यह किस तरह बहुत से कवियों के प्रति अन्याय करता है (पृ० ३३०) किन्तु इस असहमति का कोई मतलब नहीं निकलता जब तक यह न दिखलाया जाय कि इस एकांगी सिद्धान्त से बचकर किस ओर जाया जाय।

'साहित्य का इतिहास' शीर्षक निबंध में विभिन्न दृष्टिकोणों से लिखे गये साहित्य के इतिहासों की चर्चा की गयी है और राजनीति-शास्त्र के आधार पर साहित्यिक इतिहास के काल-विभाजन से असहमति प्रकट की गई है। साहित्यिक तथा ऐतिहासिक मूल्यों के सम्बन्ध की बात जोरदार ढंग से उठायी गयी है क्योंकि पहले के बिना इतिहास साहित्यिक न होगा और दूसरे के बिना इतिहास इतिहास नहीं।

पुस्तक के पाँचवें खंड में 'कालेजों में साहित्य का अध्ययन' शीर्षक निबन्ध में अमरीकी तथा यूरोपीय विश्व-विद्यालयों में साहित्य के अध्ययन की वर्तमान स्थिति की चर्चा की गयी है और उसमें सुधार के लिए सुझाव दिये गये हैं। लेखकों के अनुसार साहित्य का अध्ययन मात्र ऐतिहासिक न होकर आलोचनात्मक भी होना चाहिये और अंग्रेज़ी के अध्यापकों को मात्र अंग्रेज़ी के अध्यापक न होकर साहित्य का अध्यापक होना चाहिये।

पुस्तक के आद्योपान्त अध्ययन से पता चलता है कि इसके लेखकों ने न केवल अंग्रेज़ी अपितु सम्पूर्ण यूरोपीय साहित्य का काफी गहन अध्ययन किया। जहाँ तक साहित्य के पांडित्य का सम्बन्ध है, हडसन की 'साहित्य के अध्ययन की भूमिका' से कहीं अधिक पांडित्य साहित्य-सिद्धान्त में दिखलाई पड़ता है। लेकिन दोनों पुस्तकों में एक महत्त्वपूर्ण अन्तर है। हडसन की पुस्तक का लक्ष्य स्पष्ट है और उस लक्ष्य को प्राप्त करने में हडसन सफल हुए। 'साहित्य के अध्ययन की भूमिका' सामान्य पाठक के लिये लिखी गयी पुस्तक है और एक सामान्य पाठक पुस्तक को बड़े चाव के साथ पढ़ता है और बहुत कुछ प्राप्त करता है जबकि रेनी वेलेक और आस्टिन वारेन की पुस्तक, जैसा कि ऊपर कहा गया है, न तो एक सामान्य पाठक के लिए मालूम पड़ती है और न एक विशेषज्ञ के लिए। हडसन ने साहित्य की कृतियों को सामने रखकर साहित्य-सिद्धान्त की बात कही है जबकि रेनी वेलेक और आस्टिन वारेन साहित्य-सिद्धान्त में ही इतने उलझ गये हैं कि कृतियों का नाम देकर चलते बनते हैं। लेखकों के विचार कहीं-कहीं इतने सूक्ष्म हो गये हैं कि उन्हें एक सामान्य पाठक क्या विशेषज्ञ के लिए भी समझना मुश्किल है और पाठक को लीविस के साथ यह कहना पड़ता है कि दार्शनिक उलझनों में मेरी कोई दिलचस्पी नहीं (देखिये 'दि कामन पर्शूट' में 'दर्शन और आलोचना' शीर्षक निबन्ध)। जहाँ तक मौलिकता का सवाल है इसे 'साहित्य के अध्ययन की भूमिका' और 'साहित्य-सिद्धान्त' दोनों में ही खोजना व्यर्थ है।

जैसा ऊपर कहा गया है, 'साहित्य-सिद्धान्त' नये समीक्षकों के सिद्धान्त के आधार पर लिखा गया है। नये समीक्षकों की अपनी कमज़ोरियाँ हैं जिन्हें शिकागो के आलोचकों, विशेष रूप से आर० एस० क्रेन और एल्डर ओल्सन, ने विधिवत् दिखलाया है। इस संबंध में दो निबंध जो खास तौर से उल्लेखनीय हैं, वे हैं आर० एस० क्रेन का क्लिअन्थ ब्रुक्स पर और एल्डर ओल्सन का विलियम एम्पसन पर। (दोनों ही निबन्ध 'क्रिटिक्स एण्ड क्रिटिसिज़्म' के मूल संस्करण में उपलब्ध हैं) रेनी वेलेक और आस्टिन वारेन इस बात के लिये प्रशंसनीय हैं कि उन्होंने नयी समीक्षा की त्रुटियों की ओर से आँख नहीं मोड़ ली है लेकिन उनकी कमज़ोरी यह है कि वे उन त्रुटियों से हटने के लिये कोई दूसरा रास्ता नहीं दिखलाते। नये आलोचकों ने काव्य की शैली पर अत्यधिक बल दिया है और काव्य-समीक्षा में एकांगी सिद्धान्त (क्लिअन्थ ब्रुक्स का 'पैराडाक्स', रैन्सम का 'टेक्चर', एम्पसन की 'एम्बिगुइटी' आदि) को अपनाया है। 'साहित्य सिद्धान्त' के लेखकों ने पाठकों का ध्यान दोनों ही कमज़ोरियों की ओर दिलाया है। लेकिन कमज़ोरियों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की ओर ध्यान दिलाने मात्र से तो लेखकों का कर्तव्य पूरा नहीं हो जाता। यदि इन समीक्षकों का सिद्धान्त एकांगी है तो किसी बहुसूत्री सिद्धान्त की खोज करनी चाहिये और बहुसूत्री सिद्धान्त का प्रतिपादन पुस्तक के प्रकाशन के पहले ही शिकागो के समीक्षक कर चुके थे। (यद्यपि शिकागो के समीक्षकों का पहला ग्रन्थ 'क्रिटिक्स एण्ड क्रिटिसिज़्म" शीर्षक से १९५२ में ही प्रकाशित हुआ लेकिन इस पुस्तक के अधिकांश निबन्ध पुस्तक के प्रकाशन के वर्षों पहले पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके थे) शिकागो के आलोचकों की नये आलोचकों से विशेष रूप से यह शिकायत है कि वे एकांगी हैं। आख्यानात्मक कथा के विश्लेषण के सम्बन्ध में रेनी वेलेक और आस्टिन वारेन के विचारों में काफी बचपना है। लेखकों के इस कथन में भी कोई तर्क नहीं मालूम पड़ता कि कविता और आख्यानात्मक कथा के विश्लेषण के लिये दो विभिन्न सिद्धान्तों की आवश्यकता है। स्वयं लेखकों ने साहित्य के बारे में सामान्यीकरण के पक्ष में अपनी राय दी है जिसका मतलब यह निकलता है कि समस्त साहित्य चाहे वह कविता हो, नाटक हो या आख्यानात्मक कथा मूल रूप में एक ही होता है। फिर एक ऐसा सिद्धान्त निकाला जा सकता है जो मूल रूप में समस्त साहित्य पर लागू हो। इसका मतलब यह नहीं कि यह सिद्धान्त एकांगी होगा। समस्त साहित्य पर लागू होते हुए भी यह बहुसूत्री हो सकता है। शिकागो के आलोचकों का सिद्धान्त जो अरस्तू के काव्यशास्त्र पर आधारित है इसका साक्षी है। 'साहित्य-सिद्धान्त' के लेखक यदि नये समीक्षकों के सिद्धान्तों के साथ-साथ शिकागो के समीक्षकों के सिद्धान्तों का भी प्रयोग करते तो पुस्तक कहीं अधिक अच्छी होती।

जहाँ तक पुस्तक के हिन्दी में अनुवाद का प्रश्न है 'साहित्य-सिद्धान्त' एक ऐसी पुस्तक है जिसका हिन्दी में अनुवाद होना ही चाहिए था। वस्तुतः यह कार्य बहुत पहले हो जाना चाहिये था। पुस्तक का स्वभाव देखते हुए यह कहना पड़ता है कि अनुवाद बहुत कुछ सफल है, किन्तु हिन्दी में अनुवाद का स्तर और ऊँचा होना चाहिये। आधुनिक पाश्चात्य आलोचना कितनी क्लिष्ट हो गयी है यह एक सामान्य पाठक भी जानता है। आधुनिक आलोचना के शब्दों के अनुवाद का कार्य वस्तुतः काफी क्लिष्ट है। मैंने 'शैली और शैलीशास्त्र' शीर्षक से एक उदाहरण ऊपर दिया जिसे मैं यहाँ स्पष्ट करना चाहूँगा। मूल अंग्रेज़ी ग्रंथ में पंक्ति इस प्रकार है—Language is the material of the literary artist' पुस्तक में अनुवाद है-- 'साहित्यिक कलाकार का उपादान भाषा है'। अनुवाद में बल पड़ता है 'साहित्यिक कलाकार' पर न कि 'भाषा' पर जब कि मूल ग्रंथ में बल पड़ रहा है 'भाषा' पर। इसलिए सही अनुवाद होगा "भाषा साहित्यिक कलाकार का उपादान है।"

हिन्दी अनुवाद में एक बड़ी गड़बड़ी उच्चारण के कारण है। व्यक्तिवाचक संज्ञा के प्रायः गलत उच्चारण देखने में आते हैं। एलियट (या एल्यट) हिन्दी में इलियट कैसे हो गया कहना मुश्किल है। इस पुस्तक के अनुवाद में 'लीविस' का उच्चारण 'लेविस' 'टिलाट्सन' का 'टिलटसन', 'स्पर्जन' का 'स्पर्जियन' (पृ० २१३) आदि अनेक गलतियाँ हैं। व्यक्तिवाचक संज्ञा के अलावा भी उच्चारण की अनेक गलतियाँ हैं। 'फ़' की जगह 'फ' 'व़' की जगह 'व', 'ऐण्ड' की जगह 'एण्ड', 'आव' की जगह 'आफ', 'दि' की जगह 'द' आदि अनेक अशुद्धियाँ हैं। लेकिन आलोचनात्मक शब्दों के अनुवाद में श्री पालीवाल को काफी सफलता मिली है। अनुवाद कहीं-कहीं काफी असंतोषजनक है।

उत्तरछायावादी तलछट का अन्त

विष्णु खरे

कुछ वर्षों पहले अमरीका के एक विश्वविद्यालय से हिन्दी की 'आधुनिक' कविता का एक अनूदित संकलन प्रकाशित हुआ था जिसके संपादक एक भाषाविद् तथा संस्कृत के पंडित थे। यह संकलन विदेशों में हिन्दी कविता की ओर ध्यान आकृष्ट करवाने में क्यों असफल रहा इसकी छानबीन दिलचस्प हो सकती है। किन्तु उससे भी ज़्यादा दिलचस्प उसकी भूमिका है जो अज्ञेय ने लिखी थी। यह भूमिका, जो उस तमाम 'भारतीय' ताम-झाम से भरी पड़ी है जिसकी ओर एक विशेष प्रकार का मतिमंद अमरीकी हमेशा से आकृष्ट होता है, अपने अकालकवलित "विचित्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किन्तु सत्य" 'मौन-सिद्धान्त' के लिए पढ़ी जा सकती है। 'हवेवामा, हवेक्विश्ना','सी-टार' तथा 'योगा' के देश में यदि यह सिद्धान्त असफल हुआ तो इसका एक ही कारण है कि वह आवश्यकता से अधिक 'भारतीय' था, उसका 'क्रैडिबिलिटी गैप' अमरीकियों के लिए भी बहुत ज्यादा था। बात साफ़ तभी होगी जबकि इस भूमिका में से कुछ उद्धरण दिए जाएँ—"The genius of English lies in understatement ; all Indian languages, on the contrary tend to elaborate." मोटे तौर से इस वक्तव्य से असहमति नहीं हो सकती, किन्तु उसके बाद कहा गया है—"yet this apparent prolixity in Indian languages is offset by a rigorous discipline on another; plane: the profoundly significant use of silence ." यह उस पाश्चात्य पाठक के गले उतारा जा रहा था जो महाभारत के साथ इलियड, वाल्मीकि-रामायण के साथ ओडेसी, वेदों के साथ न्यू टैस्टामेन्ट और भारतीय साहित्य तथा कलाशास्त्रों के साथ प्लेटो के रिपब्लिक, अरस्तू के पोएटिक्स तथा लांगिनुस के पेरि इप्सुस की तुलना कर स्वयं अपने निष्कर्षों पर पहुँच सकता था। वह उपनिषदों और पुराणों की संख्या भी जानता है और तुलसीकृत रामचरित मानस का कलेवर भी उसे अब ज्ञात हो गया है। रही-सही जो कसर होगी वह स्वयं उस संकलन की कविताओं के 'मौन' ने पूरी कर दी होगी। किन्तु बात अभी पूरी कहाँ हो पाई है—"The contemporary Indian writer—and now I speak more specifically of the Hindi writer of poetry—would still regard silence as an effective means of expression." मौन का एक अर्थ तो बिल्कुल मौन हो जाना, कुछ भी न लिखना, है और इसमें कोई संदेह नहीं कि हमारे अधिकांश कवियों के लिए अभिव्यक्ति का यही माध्यम उपयुक्त है, किन्तु अज्ञेय का यह मन्तव्य तो स्पष्टतः नहीं है। खैर, जब कोई कवि ऐसा वक्तव्य देता है तो वह उसके समय में लिखी जा रही सारी कविता के लिए भले ही न हो, कम-से-कम उसकी अपनी कविता के लिए जायज़ हो सकता है। अज्ञेय आगे चलकर "maximum exploitation of the unsaid" का भी ज़िक्र करते हैं।

स्मरणीय है कि जिस संकलन की भूमिका में यह सब कहा गया है वह १९६५ में प्रकाशित हुआ था और उसके बाद सीधे १९७० में ही अज्ञेय के दो कविता-संग्रह[1] प्रकाशित हुए हैं जिनमें उनकी १९६५ से १९६९ की कविताएँ संकलित हैं, इसलिए उनके द्वारा प्रतिपादित 'मौन सिद्धांत' को कार्य रूप में देखने का अवसर इन कविताओं में मिलेगा, ऐसी उम्मीद बँधी। किन्तु दोनों संग्रहों में कुल मिलाकर १०६ कविताएँ हैं। 'अनकहे से अधिकतम लाभान्वित' होने के लिए यदि इतनी कविताएँ ज़रूरी हैं तो जो कहना है उसके लिए हरबार एक महाकाव्य से कम क्या लेकर आना होगा। यही मौन का गहरा अर्थवान् उपयोग हैं तो राहत के लिए प्रगल्भता का एक दौर बुरा न होगा। (यहाँ स्मरणीय है कि इस शताब्दी के अभी तक सबसे बड़े कवि एलियट की कुल कविताएँ सौ से ज्यादा नहीं हैं—इसमें बच्चों के लिए लिखी गई 'ओल्ड पॉज़म्स बुक ऑव प्रैक्टिकल कैट्स' की कविताएँ भी सम्मिलित हैं)। वैसे कोई कवि कितनी कविताएँ लिखता है इससे उसकी महत्ता या लघुता नहीं मापी जा सकती किन्तु यदि अज्ञेय के 'मौन सिद्धांत' को ही कसौटी माना जाए तो अब तक प्रकाशित कुल दो कविता-संग्रहों पर टिके हुए शमशेर उनसे ज्यादा सक्षम कवि हैं। दरअसल अज्ञेय का सिद्धांत उनकी अपनी कविता पर तो लागू होता ही नहीं, पूरी तरह से सिर्फ शमशेर पर लागू होता है और कहीं-कहीं निराला पर, और इधर के हिन्दी साहित्य में बस इन्हीं दोनों पर ठीक बैठता है। केदारनाथ सिंह में भी यह संभावना थी, किन्तु वे अपनी पुरानी लीक से हटकर कतिपय अत्यंत सुखद कविताएँ लिख रहे हैं। अज्ञेय की 'सागर-मुद्रा' की कविताएँ पढ़ने के बाद मुझे कहीं भी नहीं लगा कि उन्होंने पाठक पर भरोसा कर कोई बात अनकही छोड़ी हो। उलटे वे समझाने की विवशता के शिकार हैं। इस संग्रह की अधिकांश कविताएँ प्रेम, मृत्यु, आत्मावसाद और नोस्टैल्जिया की कविताएँ हैं और देखकर दुख होता है कि

---

१ (अ) 'सागर-मुद्रा' : अज्ञेयः राजपाल एन्ड सन्स, दिल्ली : सात रुपये (ब) क्योंकि मैं उसे जानता हूँ : अज्ञेय : भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, ५ रुपये। दूसरा संग्रह न केवल प्रकाशन के पहले 'दिनमान' में समीक्षित हुआ बल्कि इस वर्ष का सर्वश्रेष्ठ काव्य-संग्रह भी माना गया। ऐसी मर्मस्पर्शी स्वामि-भक्ति आदमियों तथा चौपायों दोनों में दुर्लभ है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्लर्ब की घोषणाओं के बावजूद अज्ञेय अपने पिछले संग्रहों से किसी भी अर्थ में विकसित नहीं हुए हैं। उनकी कविता अभी भी 'विभोर', 'सँजोयी हुई', 'हिये', 'अमराई', 'बयार', 'चुकता जाता हूँ', 'अगोरता हूँ', 'भीतर-भीतर जलना', 'यक्षिणी', 'मैं अनन्य', 'कन्हाई', 'नैन', 'पिया', 'औचक', 'रे', 'गुरुतर', 'टीस','मीत', 'सिहरन', 'सिसकी', 'दीठ', 'मारग', 'लून लदी भीजी', 'न्यौछावर', 'दिवले', 'मनौती', 'यह नहीं कि' आदि की उत्तरछायावादिता से मुक्त नहीं हो पाई है। प्रेम और मृत्यु कविता के शाश्वत विषय हैं और उन पर कवि अपनी कलम आजमाए यह स्वाभाविक है किन्तु मृत्यु के साथ ईमानदार साक्षात्कार के अभाव में ऐसी कविताएँ जन्म लेती हैं—

काल की गदा
एक दिन
मुझ पर गिरेगी।

इन पंक्तियों से किसी को शिकायत न भी हो किन्तु अगली चार पंक्तियों में कविता की सारी संभावनाओं को नष्ट कर दिया गया है—

गदा
मुझे नहीं भाएगी :
पर उसके गिरने की नीरव छोटी-सी ध्वनि
क्या काल को सुहाएगी ?

'भाएगी' और 'सुहाएगी' सरीखी दुर्भाग्यपूर्ण क्रियाओं के प्रयोग से कविता लोरी में बदल जाती है। एक ओर काल की गदा का गिरना है और दूसरी ओर 'नीरव छोटी-सी ध्वनि' ('नीरव' 'ध्वनि' भी दृष्टव्य है)। लगता है काल की गदा भूल से लिख दिया गया है, दरअसल समय का पुष्प-हार गिर रहा है। मृत्यु पर ही एक कविता इस तरह है—

ज्योति के
भीतर ज्योति के
भीतर ज्योति
प्यार है वह—वह सत्
और तत्
तदसि त्वं—एतत्

इसमें कोई कविता नहीं है, तरकीब है, घिसा-पिटा फार्मूला है और संस्कृत के सहारे शब्दों का हास्यास्पद खेल है। यह कविता के नाम पर दर्शनशास्त्र देना है और वह भी ऐसा दर्शनशास्त्र जिसे भारतीय ताँगेवाला, जागरण प्रेमी गृहिणियाँ, आर्यसमाजी, जनसंघी, रिटायर्ड बूढ़े,' शान्तिवम' वाले हंसजी महाराज, कस्बाई और शहरी कथावाचक दिन रात पीटते रहते हैं। इसी तरह के चिन्धा-चिन्धा दर्शन को लिए हुए यह पंक्तियाँ भी दृष्टव्य हैं—

मरता है ?
जिसका पता नहीं
उससे डरता है ?
—गा !

ऐसे लाउडस्पीकरी उद्बोधन से भरी बारह पंक्तियाँ इस 'कविता' में और हैं। प्रत्येक पंक्ति में कविता की हत्या करने की विलक्षण क्षमता मौजूद है। एक अन्य कविता में 'रामजी' के आने का स्वागत किया गया है। फिर मुँह-लगे भक्त की सिर चढ़ी मुद्रा में यह पंक्तियाँ हैं—

ऐसे ही एक दिन
डोलता हुआ आ धमकूँगा मैं
तुम्हारे दरबार में
औचक क्या ले सकोगे
अपनी करुणा के पसार में ?

कहना न होगा कि यह और ऐसी सारी नारदमुनि-नुमा पंक्तियाँ मृत्यु के रहस्य को अत्यंत फूहड़ बनाती हैं और उसके साथ साक्षात्कार को एक सस्ते स्तर पर—'भक्ति' के कृतकृत्य गीताप्रेस गोरखपुरी स्तर पर—उतारती हैं। मृत्यु ने संसार को कुछ श्रेष्ठतम कविताएँ दी हैं। मैं यह नहीं कहता कि भवानीप्रसाद मिश्र की 'अँधेरी कविताएँ' उस स्तर को छूती हैं, किन्तु यदि हिन्दी में देखना हो कि मृत्यु पर सहज भाव से कैसे लिखा जाता है तो अज्ञेय अभी भी 'अँधेरी कविताएँ' पढ़कर उनसे बहुत-कुछ सीख सकते हैं। इस संग्रह की मृत्यु पर लिखी गई कविताओं में ऐसा कुछ भी नहीं है जिसे भवानीप्रसाद मिश्र 'अँधेरी कविताएँ' में बहुत अच्छा न कह गए हों। विशेषतः अज्ञेय की कविता 'फूल हर बार आते हैं' भवानीप्रसाद मिश्र की कविताओं की बहुत पुरानी संवेदना के फीके कार्बन से उतारी गई दसवीं प्रतिलिपि लगती है।

अज्ञेय की प्रेम कविताएँ भी बासीपन से बोझिल हैं। इनमें एक भी पंक्ति शायद ऐसी नहीं है जो उनकी कवि-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ताओं के अभ्यस्त पाठक को हर्ष-विस्मित कर सके। "अच्छा था / मन का अवसन्न रहना / भीतर-भीतर जलना / किसी से न कहना...कभी उभर भी आती हैं / कसकें पुरानी / यह थोड़े ही कि नैन कभी / पसीजे नहीं ?", "मैं अनन्य / एकाकार / जैसे प्यार", "यह क्या मैं तुमसे, या जीवन से / या अपने से छला गया ?", "कैसे कहूँ कि किसकी याद आई ? चाहे तड़पा गयी ?" तो दिवंगता नयी कविता के अंतिम उच्छ्वासों के रूप में सुपरिचित हैं, किन्तु इस तरह की पंक्तियों को क्या कहा जाय—

तुम क्या जानो
कितनी लम्बी होती है रात
अकेली
सिसकी की !

और

यह जाने का छिन आया
पर कोई उदास गीत
अभी गाना ना।
चाहना जो चाहना
पर उलाहना मन में ओ मीत !
कभी लाना ना।

अज्ञेय यदि ऐसी कविताएँ लिखना चाहते हैं तो उन्हें कौन रोक सकता है किन्तु यह सलाह उन्हें दी जा सकती है कि अभी कुछ दिन सोम ठाकुर, बालस्वरूप राही, वीरेन्द्र मिश्र और नीरज के सान्निध्य में बैठकर कुछ सीख लें, फिर यह सब लिखें। (आशा है कि आप यह सब पढ़ते हुए अज्ञेय के मौन सिद्धांत को हमेशा स्मृति में रखे हुए हैं और स्वयं अपने निष्कर्षों पर पहुँच रहे हैं)। ऐसी कुछ कविताओं में आत्मावसाद (self-pity) भी पैठ गया है जो अज्ञेय की कविता के नये पतन-विन्दु का द्योतक है। अज्ञेय की कविताओं में उनके विचार, उनकी अदाएँ, उनका दर्शन-शास्त्र, उनका प्रेम, उनका 'देना' और 'लेना', समय को लेकर उनकी सतही विचारणा आदि इतने अधिक परिचित हैं कि अब वे क्लिशे हो गए हैं और उनके काव्य-व्यक्तित्व का 'फॉसिलीकरण' करते हैं। सच कहा जाय तो उनकी कविताओं को बिना हँसे और साथ-साथ बिना दाँत पीसे पढ़ना मुश्किल होता जा रहा है। किसी भी दी हुई स्थिति के प्रति उनकी कुछ 'स्टॉक रिस्पॉन्सेज़' हैं और उन्हीं के परम्यूटेशन-काम्बिनेशन के आसपास वे घूमते हैं। फिर भी 'छातियों के बीच' कविता दिलचस्प है क्योंकि वह उनके कवि-व्यक्तित्व पर अद्भुत प्रकाश डालती है। मैं पूरी कविता उद्धृत नहीं करना चाहता इसलिए सारांश से ही काम चलाऊँगा : 'पहले वह उसकी दोनों छातियों के बीच नाक गड़ाकर कहता था कि यहाँ मेरा घर है। फिर जब नाक उन छातियों के बीच घर बना चुकी तो वह कैदी होकर छटपटाने लगा।' किन्तु विचित्र धर्म-संकट था—

छातियों के बीच
और कुछ नहीं, इसी रहस्य का घर है।
माथा क्यों वहाँ टिका है ?
क्योंकि नहीं तो नाक जाने का डर है !

साफ़ है कि इन पंक्तियों में नाक जाने के भद्र पुरुषोचित भय की वजह से एक पाखंडपूर्ण जीवन जीना श्रेयस्कर समझा गया है। अपने दूसरे रूप में यही प्रवृत्ति सृजन-शक्ति चुक जाने पर भी आदतन सृजन की हरकत दुहराने की वंध्या नियति में प्रस्तुत होती है क्योंकि कविता कविता न रहकर 'नाक का सवाल' बन जाती है।

संग्रह को शीर्षक देने वाली कविता 'सागर-मुद्रा' ग्यारह चरणों में विभक्त है जिसमें कभी सागर का 'सीबीच' वाला भौतिक स्वरूप है और कभी 'अगाध' 'अपार' आध्यात्मिक स्वरूप। करोड़ों भारतवासियों की तरह मेरा वास्ता भी समंदर से बहुत कम पड़ा है और शायद इसीलिए मुझे सागर का प्रतीक ओढ़ा-हुआ-सा लगता है। फिर इस कविता में सागर सिर्फ एक 'प्रॉप' है, बातें वही दुहराई गई हैं जो सागर-विहीन अन्य कविताओं में हैं। यह सागर भी होमर, शेली, ह्यूगो, ह्विटमैन, मैल्विल, कोनरैड या हैमिन्वे का सागर नहीं है, नितान्त अवास्तविक, पालतू, किनारे-किनारे से देखा गया नखदंतविहीन समंदर है।

'सागर-मुद्रा' के अन्तिम पृष्ठों में किसी अज्ञातकुलशील ग्रीक कवि की कुछ कविताओं के अनुवाद दिये गए हैं। मूल कविताएँ 'अज्ञेय' को कैसे मिलीं इसका किस्सा साहित्यिक 'थ्रिलर्स' की श्रेणी में रखा जा सकता है जिसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पढ़कर श्रद्धालु कंटकित हो सकते हैं। ग्रीक अज्ञेय को नहीं आती, लैटिन आती है (बतर्ज़ शेक्सपियर के लिए कहे गए 'लिटिल लैटिन, लैस ग्रीक' मुहावरे के) और उसी के सहारे यह अनुवाद दिए गए हैं। अनुवाद कैसे हुए हैं यह कहना बेमानी है जब तक मूल कविताओं के स्तर पर बात न हो। यह एक दुखद अचंभा है कि इन कविताओं का स्तर बहुत सामान्य है और समझ में नहीं आता कि कई शानदार आधुनिक ग्रीक कवियों के होते हुए, जिनकी कविताओं को हिन्दी में लाना बहुत आवश्यक है, एक गुमनाम ग्रीक कवि की ऐसी कविताओं के अनुवाद क्यों दिये गए। यह मैं मानता हूँ कि हिन्दी पाठकों को विदेशों की अच्छी कविताओं की आवश्यकता है किन्तु 'देलोस से एक नाव' सरीखी कविताओं का वह मुहताज नहीं। विदेशी भाषाओं में छपा हुआ सभी कुछ हिन्दी में अनुवाद्य नहीं होता, भले ही वह एक रहस्यमय, दोनों ओर से फटी, लैटिन टीका युक्त ग्रीक पोथी से ही क्यों न बरामद हुआ हो। फिर अधिकांश अच्छे कवि जब दूसरे कवियों से अनुवाद करते हैं तो अक्सर देखा गया है कि वे कविताएँ स्वयं उनकी कविताओं से भिन्न होती हैं, उदाहरणार्थ लॉवेल और एलियट द्वारा किये गए अनुवाद लिए जा सकते हैं। अनुवाद पर बहस लम्बी हो सकती है किन्तु अच्छे अनुवादक अनुवाद में यहाँ-वहाँ ऐसा कुछ रहने देते हैं कि बगैर किसी कलात्मक नुकसान के मूल कविता एकदम अन्तर्धान न हो जाय। ग्रीक नामों को छोड़ दिया जाय तो यह अनूदित कविताएँ अज्ञेय की निष्प्राण मौलिक कविताएँ ही लगती हैं।

'क्योंकि मैं उसे जानता हूँ' की पहली सात कविताएँ स्वतंत्र रूप में रखी गई हैं जबकि शेष कविताओं को दो शीर्षकों के अन्तर्गत बाँटा गया है। पहली सात कविताओं में भी प्रेम, मृत्यु, और 'अपने गाने' के उद्देश्य और साफल्य पर विचार किया गया है। कहना न होगा कि यह संग्रह 'सागर-मुद्रा' की कविताओं सरीखी कविताओं का ही दूसरा संग्रह है। इन पंक्तियों में यदि आप कोई गहरा 'तत्त्व' खोज सकें तो खोजिए—' मैं मरा नहीं हूँ, / मैं नहीं मरूँगा,/ इतना मैं जानता हूँ,/पर इस/अकेला कर देने वाले विश्वास को लेकर /मैं क्या करूँगा/यह मैं नहीं जानता।" एक और पहेली बूझिए—"देश-देश में बन्धु होंगे / पर बहुएँ नहीं होंगी / (राम की साखी के बावजूद); किसी देश में बहू मिल जाएगी/जहाँ बन्धु कोई नहीं होगा।" स्पष्ट है कि ऐसी पंक्तियों का कोई कवितार्थ नहीं है, इनमें एक छद्म गूढ़ता भरने की कोशिश की गई है। ऐसी कविताएँ न केवल काव्याभास की कविताएँ हैं बल्कि दर्शनाभास की कविताएँ भी हैं, इसलिए न यह काव्य के स्तर पर सफल हैं और न विचार के स्तर पर। यह उसी तरह की कविताएँ हैं जिस तरह की भारतीय ज्ञानपीठ से शह पाकर कुछ मुनिगण लिख रहे हैं और संग्रहों में प्रकाशित करवा रहे हैं। सामान्य भारतीय मस्तिष्क हमेशा से एक छिछले दर्शन की ओर आकृष्ट होता रहा है और कोई कारण नहीं है कि अज्ञेय की ऐसी कविताओं में विश्वविद्यालयों में बैठे विचार-शत्रु कोई दर्शन न खोज निकालें। किन्तु कविता की अनिवार्य शर्त यह है कि कविता कुछ और होने से पहले एक कविता होनी चाहिए। विचार या दर्शन को लेकर कविता नहीं हो सकती यह कोई नहीं कहता, किन्तु अज्ञेय के पास न तो कोई बहुत गहरी दर्शन-दृष्टि है और न बहुत गहरी काव्य-दृष्टि। वे अनुभवों के ऊपरी आवरणों को कविता समझ बैठते हैं और विचारों के नाम पर जो गड्डमड्ड प्रत्येक भारतीय को घुट्टी में मिलता है उसे दर्शनशास्त्र बना लेते हैं। मृत्यु का वरण, अपना समर्पण आदि भारतीय भाग्यवाद की बड़ी बारीक परिणतियाँ हैं। "मैं नहीं गाता, गीत मुझमें गाया जाता है" कहना 'मैं कुछ नहीं करता, मुझसे कराया जाता है' के बराबर है और इस मुहावरे में हर तरह का बचाव है।

संग्रह के दूसरे खंड 'प्रार्थना का एक प्रकार' में अज्ञेय अपनी इसी मौलिक भूमि पर खड़े हुए हैं किन्तु यह ज़मीन बड़ी फिसलन-भरी है। अज्ञेय की यह कविताएँ समय से पहले ही समर्पण की, अपरिपक्व अभिव्यक्ति की, कच्चा अनार, बच्चा बुलबुल' की कविताएँ हैं—

वहाँ, भीतर, पीठिका पर टिके
प्रसाद से भरे तुम्हारे हाथ
और मैं यहाँ देहरी के बाहर ही
सारा रीत गया।

(देहरी पर)

बार-बार हम मिले, हँसे, हमने बातें कीं
फिर भी यह सच है कि हमने कुछ किया नहीं

(चितवन)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अज्ञेय की कविता का प्रेम इतना अपार्थिव और वायवीय क्यों है इसका संकेत भी इन पंक्तियों में मिलता है :

रात
एकाएक टूटी मेरी नींद
और सामने आयी एक बात
कि तुम्हारे जिस प्यार में मैं खोया रहा हूँ
जिस लम्बी, मीठी नशीली धुन्ध में
मैं सब भूल कर सोया रहा हूँ
उसकी भीत जो है
वह नहीं है रति :
वह मूलतः है पुरुष के प्रति
नारी की करुणा
अगाध, अबाध करुणा
फिर भी—राग नहीं, करुणा ।

(रात : चौंध)

उनकी कविताओं में 'रति' और 'राग' का स्थान 'करुणा' ले लेती है और करुणा से उत्पन्न परपीड़क-आत्मपीड़क (sado-masoch) तत्त्व कविता में चले आते हैं :

वह सपना मीठा होगा
उसमें इन दर्दों की यादें भी
एक अनोखा सुख देंगी
दुख-सुख सब मिलकर रस बन जावेगा ।

(आश्वस्ति)

ठठाती हँसियों के दौर—मैंने जाने हैं
कहकहे—मैंने सहे हैं ।

× × ×

मुँद जाती हैं आँखें, रुँधता है गला
सिहरता है गात
अनुभूति ही मानो भीतर से भीतर को
बही जाती है, बही जाती है, बही जाती है ।

(बही जाती है)

एक आह
टूटी हुई
सर्द
एक सहमा हुआ सन्नाटा
और दर्द
और दर्द
और दर्द ।

(रात में)

यह दर्दवाद परपीड़ा-आत्मपीड़ा के इस चरम स्वरूप को प्राप्त होता है, जो पता नहीं क्यों इलाहाबाद के प्रायः सभी कवियों में भी पाया जाता है :

पहले
मैं तुम्हें बताऊँगा अपनी देह का प्रत्येक मर्मस्थल
फिर
मैं अपने दहन की आग पर तपा कर
तैयार करूँगा एक धार-दार चमकीली कटार
जो मैं तुम्हें दूँगा
फिर मैं
अपने दक्ष हाथों से तुम्हें दिखाऊँगा
करना वह कुशल, निष्कंप, अचूक वार
जो मर्म को वेध जाय

× × ×

नहीं तो और क्या है प्यार
.....
किसी के आगे
चरम रूप से वेध्य हो जाने के ?

(वेध्य)

प्रेम की यह क्षयिष्णु और रुग्ण परिचिति ही अज्ञेय की कविताओं को ऐसे क्षणों में दर्शन बघारने या बिसूरने पर बाध्य करती है जिनमें एक नॉर्मल प्रेमी को कुछ और सार्थक कार्य करने चाहिए । अज्ञेय में प्रेम अपने मांसल रूप में बहुत कम आया है, ज्यादातर वह 'स्पेकुलेटिव' है। वह शारीरिक प्रेम तो है ही नहीं, 'आत्मा' से 'आत्मा' का प्रेम भी कम लगता है । यूँ दिखता है जैसे एक अ-सामान्य मस्तिष्क दूसरे किसी मस्तिष्क से शास्त्रीय शब्दावली में प्रेम की बातें कर रहा है और सुविधानुसार उसे कभी स्त्रीलिंग मान रहा है और कभी पुल्लिग ।

संग्रह के पहले खंड 'गूँजेगी आवाज़' में अज्ञेय की कुछ ऐसी कविताएँ हैं जिन्हें 'राजनैतिक' या 'व्यंग्य' कविताएँ कहा गया है । उत्सुकता होती है कि एक ऐसे कवि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ने, जिसने अपना सारा जीवन अलग-अलग या एक साथ 'समर्पित होने' 'दे दिए जाने' 'वेध्य होने' और 'रीत जाने' में बिताया है, किस तरह की व्यंग्य कविताएँ लिखी होंगी। 'आज़ादी के बीस बरस' कविता का प्रारम्भ इस प्रकार है—"चलो, ठीक है कि आज़ादी के बीस बरस से / तुम्हें कुछ नहीं मिला,/पर तुम्हारे बीस बरस से आज़ादी को/(या तुम से बीस बरस की आज़ादी को)/क्या मिला ?" आगे ऐसी पंक्तियाँ हैं—"क्या हर तिकटी को ढोने वाला हर डोम / हर जल्लाद का हर पिट्ठू। सिर्फ ढुलाई के मिस / मसीहा हो जाता है ?" जिसे व्यंग्य की थोड़ी-बहुत भी तमीज़ है वह जानता है कि यह पंक्तियाँ व्यंग्य में नहीं, वक्तव्यबाज़ी में शुमार की जाएँगी। डोम और जल्लाद के पिट्ठू की श्रेणी के लोगों को अज्ञेय किस सवर्ण दृष्टि से देखते हैं यह भी इससे ज़ाहिर होता है।

'दिया हुआ; न पाया हुआ' एक नीरस और उबाऊ कविता है जिसकी अन्तिम पंक्तियाँ मैं सिर्फ इसलिए उद्धृत कर रहा हूँ कि पाठक अज्ञेय की इन 'राजनैतिक' 'व्यंग्य' कविताओं को आज के युवा कवियों की कविताओं के बराबर रखें और देखें कि अज्ञेय कहाँ रह गए हैं—

भाई मेरे, हमदम, मेरे हकीम, या निहायत
हलीम मेरे गधे—
ईश्वर-पुत्र, मानव-पुत्र,
आओ, अगर यह तुम से सधे
तो इस 'दिये हुए' के सिर पर चढ़कर ही
अपना नारा वरेंगे
जो अभी 'पाया हुआ' नहीं है :
कि हम मरेंगे या नहीं
करेंगे और मरेंगे ;
जाते-जाते भी मार खाते-खाते भी
कर गुजरेंगे
करेंगे क्योंकि मरेंगे।

'गधे' और 'सधे' की तुक देखिए—मानव-पुत्र की क्षमता में कितना विश्वास है यह देखिए—"अगर यह तुमसे सधे !" नारे का 'वरण' भी देखिए। फिर अन्तिम आठ पंक्तियों में 'रेंगे' का रेंगना देखिए। गांधीजी का नारा था 'करो या मरो', अज्ञेय का नारा है 'करो और मरो'। बिगुल उन्होंने बजाकर अपना काम कर दिया। सिर्फ़ जनता के आने की बारी है। ऐसी कविताएँ पढ़ने के बाद लैविस केरौल के पात्र 'मॉक टर्टल', और विशेषतः 'वाल्रस' तथा 'बढ़ई' की याद आने लगती है :

"O oysters, come and walk with us!"
the Walrus did beseech .
A pleasant walk, a pleasant talk
Along the briny beach :
We cannot do with more than four
To give a hand to each."

× × ×

"It seems a shame," the Walrus said,
"To play them such a trick.
After we've bought them out so far,
And made them trot so quick !"
The carpenter said nothing but
"The butter's spread too thick !"

एक और 'राजनैतिक' कविता की अन्तिम पंक्तियाँ देखिए जो दिनकर सोनवलकर को भी लज्जित करने को पर्याप्त हैं—

देस रे देस
तेरे सिर पर कोल्हू।
इसका भार तू कैसे ढोयेगा
जिसे पेरेंगे जाट, बाम्हन, बनिया, तेली, खत्री
मौलवी, कायथ, मसीही, जाटव, सरदार, भुमिहार,
अहीर
और वे सारे घेरे के बाहर के बेचारे
जो नहीं पहचानते अपनी तकदीर :
तू किस-किस को रोयेगा ?
कब बनेगा तो राष्ट्र
कब तू अपनी नियति को पकड़ पा-कर
तकिया लगाकर सोयेगा ?

मुलाहिजा हो कि अज्ञेय के यहाँ देश का अपनी नियति को प्राप्त करना तकिया लगाकर सोने के बराबर है। सच भी तो है, जिन-जिन व्यक्तियों ने अपने-अपने तकिये पा लिए हैं उन्होंने अपनी नियति भी पा ली है।

'क्योंकि मैं' इस खंड की एक दिलचस्प कविता है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्योंकि 'छातियों के बीच', 'दिया हुआ : न पाया हुआ' तथा 'आज़ादी के बीस बरस' की तरह इसमें भी ऐसी पंक्तियाँ हैं जो अज्ञेय के कवि-मानस पर प्रकाश डालती हैं :

क्योंकि जिसने कोड़ा खाया है
वह मेरा भाई है
क्योंकि यों उसकी मार से मैं भी तिलमिला उठा हूँ,
इसलिए उस कोड़े को छीन कर तोड़ दूँगा।
मैं इनसान हूँ और इनसान वह अपमान नहीं सहता।
क्योंकि जो कोड़ा मारने उठायेगा
वह रोगी है
आत्मघाती है
इसलिए उसे सँभालने, सुधारने,
राह पर लाने,
खुद अपने से बचाने की
जवाबदेही मुझ पर आती है,
मैं उसका पड़ौसी हूँ :
उसके साथ नहीं रहता।

ध्यान से देखें तो मालूम होगा कि बात कोड़ा **मारने वाले** से प्रारम्भ नहीं होती, कोड़ा **खानेवाले** से होती है। यानी ध्वनि कुछ ऐसी है कि यदि कोई कोड़ा खा रहा है तो उसमें कहीं उसका भी कुसूर है। खैर, यह बड़ा सवाल है और इसमें न भी जाएँ तो भी दृष्टव्य है कि अज्ञेय **कोड़े** को छीनकर तोड़ देने की बात करते हैं। कोड़े चलाने वाले हाथ के विषय में कुछ भी नहीं कहते। वह इसलिए कि कोड़ा मारने वाला तो उनकी मनोविज्ञानवादी दृष्टि में 'रोगी' है (उसे कुछ और मानना कई असुविधाओं को जन्म देता !) और उनकी मंशा उसे 'सँभालने, सुधारने, राह पर लाने' की है। किन्तु यदि वह वास्तव में रोगी है तो अन्तिम दो पंक्तियों में छिपी क्षमा-याचना की क्या आवश्यकता है ? यह माना कि आप उसके साथ नहीं रहते, किन्तु पड़ोस तो बदल सकते हैं, कोड़ा खानेवालों के पड़ोस में आकर रह सकते हैं जहाँ से कोड़े को छीनकर तोड़ना शायद ज़्यादा आसान होगा। ज़ाहिर है कि इन पुनीत-पावन पंक्तियों के पीछे आसानीपरस्त भूदानी छिपा हुआ है। यह भयावह सच्चाइयों से भागकर पवित्रतावादी चोगे में मुंह छिपाना है। शायद शेक्सपियर के 'जूलियस सीज़र' में सिना ऐसा ही कवि रहा होगा जिसे क्रुद्ध भीड़ ने कुछ नहीं तो उसकी घटिया कविताओं की ही वजह से परलोक पठा दिया।

सो अपनी व्यंग्य कविताओं में भी अज्ञेय सफल नहीं हो सके हैं। उनके पास न तो वह अनुभूति है, न वह मुहावरा और न वे इरादे जो उन्हें एक सही 'सामाजिक' कवि बना सकें। सामान्य मनुष्य कभी-भी उनकी कविता का विषय नहीं रहा और उसे विषय बनाने की उनकी इधर की ये कोशिशें व्यर्थ सिद्ध होती हैं। उनके इन प्रयत्नों को आज की युवा कविता के दबाव के कारण ओढ़े गए फैशन के रूप में ही देखा जाएगा। उनके पास वह भाषा ही नहीं है जो आज के ज़माने के सत्य को ज़बान दे सके। क्या कोई विश्वास कर सकता है कि यह पंक्तियाँ 'दीन' और 'नंगों' के लिए लिखी गई होंगीं :

अगाध असीम महासागर में
झुके हुए तालों की ओट में
प्रवाल-कीटों का गढ़ा हुआ
एक छेदों-भरा छल्ला
वसुन्धरा की नाभि,
आद्य मातृका की योनि।

ऐसी ही उपेक्षा में तो

बार-बार, बार-बार, बार-बार
अजर अजस्र शृंखला में
जनमेगा पनपेगा
ऐल मनु अजित, अधर्ष,
अविधीत, आत्मतंत्र।
(लौटते हैं जो वे प्रजापति हैं)

इन दोनों संग्रहों की समस्त कविताएँ पढ़ जाने के बाद भी यदि किसी भी कविता की कोई भी पंक्ति आपको प्रभावित नहीं करती तो इसमें आपका कोई दोष नहीं है। मुझे नहीं मालूम कि सन् चालीस के आस-पास कौन से तत्त्व अज्ञेय की कविता को छायावाद से अलग करते थे— मुझे यह अवश्य मालूम है कि आज उनकी और पंत की कविताओं में फर्क करना मेरे लिए कठिन और अनावश्यक हो गया है। अज्ञेय का कथ्य और जिन शब्दों में वे उसे कहना पसन्द करते हैं दोनों इतने नकली, निरर्थक और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अप्रासंगिक हो गए हैं कि उनकी कविता आज के पाठक को एक विचित्र क्रुद्ध लज्जा से भर देती है। मुझ जैसे लोग जिन्होंने अज्ञेय के विषय में बहुत सुन रखा, था पिछले कई वर्षों से उनकी कविता को ऐसे चमत्कार के रूप में देखते रहे हैं जो कभी सच नहीं हुआ। दरअसल अज्ञेय में न कोई बहुत बड़ा विकास हुआ है और न कोई बड़ा पतन। हाल ही में प्रकाशित 'चिन्ता' की रचनाओं में वह सब है जो उनके परवर्ती संग्रहों में अलग-अलग वेश-भूषा में देखा जा सकता है। अज्ञेय की कविता और हिन्दी कविता का विलगाव पहले ही प्रारम्भ हो चुका था और अब दोनों के बीच इतनी बड़ी खाई है कि या तो आज का पाठक इधर की सारी कविता को नकार दे और अज्ञेय की दर्शन, प्रेम, त्याग आदि से आच्छादित दुनिया में चला जाय और बुरी खबरें सुनना बन्द कर दे, या फिर उनकी कविता को नकार दे और अभिव्यक्ति के सारे खतरे उठाने वाली कविता में ही जिए और मरे। यहाँ यह नहीं कहा जा रहा है कि आज एक व्यक्तिगत विश्व की कविता अवांछनीय हो गयी है किन्तु अज्ञेय का संसार मूलतः गढ़ा गया और सतही संसार है जिसे नियमित करने वाले विश्वास एकदम वेध्य हैं। वे प्रारम्भ से ही वैसे थे। उनकी कविता अब अपने ही संसार में कैद हो गई है। उसे यदि कोई प्रश्न व्याकुल करते हैं तो वे 'शाश्वत' किस्म के हैं जिनका उत्तर 'नेति, नेति' में ही प्राप्त होता है। प्रभु ईसा के इस १९७०वें वर्ष में जब हिन्दी कविता एक अभूतपूर्व मोर्चे पर खड़ी हुई है, अज्ञेय की कविता को कविता मानना और उन्हें कवि कहना अपने ज़माने की पेचीदगियों, हक़ीक़तों और तकाज़ों को समझने से आत्मघाती इन्कार करना है।

ज़िन्दगी का बॉस और कविता की कटी पतंग

विष्णु खरे

श्री भारतभूषण अग्रवाल हिन्दी कवियों की उस पीढ़ी से हैं जिसे अपने जीवन में ही ऐतिहासिक हो जाने का सौभाग्य प्राप्त है। उनकी कविता पिछले तीस वर्षों तक फैली हुई है और उसमें 'विकास' देखने की इच्छा का संवरण कर पाना मेरे लिए कठिन होता यदि मेरे पास उनके सारे कविता संग्रह होते। उनके समवयस्कों से भी उनकी 'तुलना' करने की इच्छा हो सकती थी यदि उन सबकी कविताएँ मेरे पास होतीं। बहरहाल, चूँकि भारतजी की कविता में ऐसे प्रमाण मिलते हैं कि उसने 'विकास' किया है, इसलिए उसे 'देखने' की इच्छा का शमन तो आसानी से हो जाता है। रही उनकी कविता को उनके समवयस्कों की कविता के समानान्तर रखने की बात, वह संभव है कि यहाँ अप्रासंगिक हो, किन्तु उनकी कविता के एकाध पहलू पर बात करने के लिए दूसरे कवियों की चर्चा शायद ज़रूरी होगी, इसलिए न केवल उनके समवयस्कों पर वरन् परवर्ती कवियों पर भी कभी-कभी दृष्टिपात कर लेना नागवार नहीं होगा।

यह एक सुखद आश्चर्य है कि जहाँ पुराने और नये कवि औसतन हर दूसरे वर्ष कविता-संग्रह छपवाकर हिन्दी के सार्वजनिक कूड़ेदान में डाल आते हैं, भारतजी छः वर्षों के बाद अपने नये संग्रह[1] में केवल इक्कीस कविताएं लेकर उपस्थित हुए हैं। लम्बी कविता की इस महामारी में इक्कीस कविताएँ भी कम घातक न होतीं, किन्तु हर्ष का विषय है कि लम्बी कविताओं की संख्या इस संग्रह में सिर्फ दो है। काव्यस्फीति के इस युग में एक वरिष्ठ कवि का यह संयम अप्रत्याशित है और कम-से-कम एक खास किस्म की जागरूकता का परिचायक है। किन्तु यह समझने में शीघ्रता न की जाय कि संग्रह में कविताओं का कम होना उनके अच्छी होने की भी निशानी है। 'स्पीक सो दैट आई मे नो यू' से घबराकर अर्थगर्भ मौन भी साधा जा सकता है। भारतजी की यह कविताएँ संख्या में कम भले ही हों, उनके कवि-व्यक्तित्व को वह करीब-करीब उतनी ही हानि पहुँचा रही हैं जितनी इनसे दुगनी-तिगुनी खराब कविताएँ पहुँचातीं। उनकी कविताओं की 'तुलना' गिरिजाकुमार माथुर की कविताओं के साथ करना भारत जी के साथ किंचित् अन्याय करना है और माथुर के साथ अत्यधिक उपकार, क्योंकि भारतजी की कविताओं को दो-एक चीज़ें मुक्ति देती हैं (जिनका ज़िक्र बाद में होगा) जो

१. एक उठा हुआ हाथ : (कविताएँ) : भारतभूषण अग्रवाल : लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, मूल्य ५ रुपये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

माथुर में दूर-दूर तक नहीं हैं, फिर भी दोनों की कविताओं में आज की हिन्दी कविता का सबसे खतरनाक जरासीम—फेहरिस्तबाज़ी—अपने असाध्य रूप में उपस्थित है : "क्या-क्या नहीं छान डाला / क्या-क्या नहीं खूँदा है / कहाँ-कहाँ नहीं घूमा / किस-किससे नहीं जूझा / कौन-सा है बियाबान जो नहीं रूँधा है ! / भागा हूँ, रपटा हूँ, दौड़ा हूँ, घिसटा हूँ/ पिटा हूँ/ रोया हूँ/ झींका हूँ/ चीखा हूँ"। इसी तरह दो सौ छब्बीस पंक्तियों की कविता 'परिदृश्य १९६७' में कम-से-कम अरसठ स्थल ऐसे हैं जहाँ या तो कुछ 'हो रहा है' ("जनतन्त्र की टंकी फट गई है", "खिसकते शहर" की "बिजली फेल हो गई है") या कुछ पूछा जा रहा है ("क्या फर्क है वेद-पाठी और आर्मी कंट्रेक्टर में ?" "मोहल्ले में किसकी कार आती है ?") । यह समूची कविता एक भयंकर नकली रिटारिक से जनमी कृत्या है जिसमें से यदि चीज़ों की सूची निकाल दी जाय तो बीस पंक्तियों की शुद्ध कविता बचना मुश्किल है । इसकी अंतिम पंक्तियाँ हालीवुड की घटिया 'स्पेक्टेकिल' फिल्मों के सिनेमा हॉल तथा कान के परदे फाड़ने वाले 'ओवरडन' भीड़-दृश्य की याद दिलाती हैं : "भीड़ के मारे तिल धरने को जगह नहीं है / भीड़ / भीड़ के पीछे एक और विराट भीड़ / भीड़ के आगे नज़र को पछाड़ती भीड़ / भीड़ के अगल में भीड़ / भीड़ के बगल में भीड़ / हरेक का मुंह हरेक की तरफ है/ हरेक की आँखें हरेक को घूरती हैं / हरेक की बाँहें हरेक से उलझी हैं / हरेक के पैर हरेक से टकराते हैं । हरेक आदमी हरेक को भेंटता है / हरेक आदमी हरेक पर गिरा पड़ता है / हरेक आदमी रास्ते पर खड़ा है / और हरेक आदमी रास्ता पूछ रहा है / हरेक आदमी से ।" हो सकता है कि मैं एकाध पंक्ति छोड़ गया होऊँ किन्तु आप चाहें तो दो सौ पंक्तियाँ इस तरह की और जोड़ दें, कोई फर्क नहीं पड़ेगा क्योंकि कविता की मृत्यु पहले—बहुत-बहुत पहले—ही हो चुकी है । ऐसी ही विस्तारप्रिय कविता "जहाँ मैं हूँ" है जिसकी ९५ पंक्तियों में २९ में पहला शब्द 'और' है, १४ में 'जहाँ' है और ८ में 'जो' है । 'याद' कविता की पहली पंक्ति "अब सब याद आता है" भुक्तभोगी पाठक को 'क्या याद आता है' की फेहरिस्त के लिए तैयार कर देती है । कुल तेरह चीजें याद आती हैं ।

पूछा जा सकता है कि कवि यह फेहरिस्तबाज़ी क्यों करता है । यह मैं मानता हूँ कि एक छोटी-सी फ़ेहरिस्त—वह परचून की दूकान में हो या कविता में—बहुत उपयोगी होती है । किन्तु सूची बनाने वाला यदि उसे लम्बी करता चला जाता है तो वह उसका उद्देश्य असफल ही करता है। हिन्दी के अधिकांश कवि लेकिन यह सोचते हैं कि उनका 'कैन्वस' जितना 'विराट' होगा, उनकी दृष्टि उतनी ही 'विस्तृत' और 'पैनी' समझी जाएगी । इसीलिए वे फैंटेसी, रूपक, उपमा, प्रतीक का सूचीपत्र तैयार करते चले जाते हैं—कोई-न-कोई पंक्ति तो उद्धरणीय होगी ! वे सोचते हैं कि उनका प्रत्येक अनुभव एक थाती है जिसे उन्हें कविता को सौंपना ही है । वे अनुभव के सामने विनम्र या सशंक होना नहीं चाहते, उसके माध्यम से अपनी नुमाइश करना चाहते हैं । वे अपने अनुभव को 'अद्वितीय' समझते हैं और उसे कविता नहीं 'जुमला' या 'फिकरा' बनाना चाहते हैं।

जुमलेबाज़ी जिस तरह माथुर की चाँदनी से इलायची चबवाती है, भारतजी से वह असम्बद्ध ऊलजलूल पंक्तियाँ इकट्ठा करवाती है । हिन्दी फिल्मों में हास्य के नाम पर कलंकनुमा एक अभिनेता राजेन्द्रनाथ है जो हास्य उपजाने के लिए अन्डरवियर दिखाता रहता है, फिर लेडीज़ टायलेट में घुस जाता है और वहाँ से खदेड़े जाने पर स्त्रियों का स्विमसूट पहने स्विमिंगपूल में गिर पड़ता है । स्पष्ट है कि यह सब आपकी पसलियों में नाखून गड़ाकर हँसाने के लिए किया जाता है । भारतजी की इन पंक्तियों में भी वह फूहड़ असंबद्धता है, यद्यपि उनका उद्देश्य अलग है : "एक बहुत बड़ा ट्रांज़िस्टर / बादलों में बज रहा है / और पौधे चराते बच्चे / उसे लग्गी से गिराने में लगे हैं", "सिनेमा की 'क्यू' में खड़े / हथकटे लोगों के हुजूम पर / ट्यूबवैल हँस रहे हैं", "अहमदाबाद और बम्बई में बजती तालियों की गड़गड़ाहट से कनाट-प्लेस के होटलों में डांस करती मिस बी० यानी भविष्यकुमारी बेहोश हो गई है", "अशोका होटल में झूमती ब्यूटी क्वीन की टाँग / इन्द्रधनुष की तरह / कॉटेज एम्पोरियम तक तन गई है / और उस पर टंगे टैलिविजन से टपकती बूँदें / विहार पर बरस रही हैं।" इस तरह की पंक्तियाँ शायद उन मजमों में कारगर हों जहाँ 'लालतिकोन' या 'साली-जीजा' कह देना ही हास्य के लिए पर्याप्त होता है, कविता के गंभीर अध्येता के लिए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुस्तकालय 079570

तो ये नाटकीय दुःस्वप्न है।

भारतजी के इस संग्रह में एक भूमिका है जिसकी केवल ये पंक्तियाँ ही उनकी कविताओं के लिए प्रासंगिक हैं "……एक ऐसे साहित्य का जन्म होना चाहिए था जो अगति पर व्यंग्य करता और कृत्रिमता से जूझता। पर लगता है कि कलाकार का विद्रोह भी राजनीतिज्ञ की भाँति केवल बाह्य रूप तक ही सीमित है; और वह व्यंग्य इस लिए नहीं करता कि तब आत्म-व्यंग्य से कैसे बचेगा!" स्पष्ट है कि भारतजी ने इस संग्रह की कुछ कविताओं में अगति पर व्यंग्य किया होगा और कृत्रिमता से जूझने की कोशिश की होगी। किन्तु व्यंग्य एक खतरनाक विधा है। वह खाने की टेबिल पर की गई बातचीत नहीं है। ईमानदार व्यक्ति के हाथ में व्यंग्य रंगीन पानी से भरी हुई पिस्तौल नहीं, दूरगामी हथियार होता है। भारतजी का व्यंग्य इसलिए कारगर नहीं है कि वह विसंगतियों से घिरे हुए व्यक्ति की छटपटाहट का व्यंग्य नहीं है। उसमें वह विराट घृणा और विराट प्रेम नहीं है जो रघुवीरसहाय की कविताओं में कहीं-कहीं झलक उठता है। उनके व्यंग्य में धूमिल के व्यंग्य सरीखी मानवीय उपस्थिति का नितान्त अभाव है। उनका व्यंग्य इसलिए कुन्द पड़ता है कि वह स्वयं उन चीजों में शामिल व्यक्ति का व्यंग्य है जिन पर वह अपना हुनर आजमा रहा है।

रूमानी कविताएँ लिखने वाला कवि जब व्यंग्य की ओर मुखातिब होता है तो यदि वह सजग नहीं रहता तो अपनी अतिशयोक्ति भरी मौलिक रूमानी आदत से व्यंग्य को भी क्षति पहुँचाता है। माथुर और कैलाश वाजपेयी इसके उदाहरण हैं। भारत जी मूलरूप से रूमानी हैं यह उनकी कविता 'अ-लगाव' से ही स्पष्ट है जिसमें उन्होंने अपने कवि का 'असफल प्रेमी' 'अविवाहित' 'बेकार' 'रातों को छत पर टहलने वाला' 'दुबला' और 'फीकी हँसी' हँसने वाला के पारम्परीण शरच्चन्द्रियन रूप में चित्रण किया है। इसलिए सामान्यतः आत्म-व्यंग्य की उम्मीद मैं उनसे नहीं करता था। किन्तु 'चीर-फाड़' में ऐसी कुछ पंक्तियाँ दीख पड़ीं जो इस बात की परिचायक हैं कि वे आत्म-निरीक्षण भी कर गुज़र सकते हैं। "क्या फायदा हुआ दर्जा छह में यह पढ़ने से / कि कस्तूरी मृग के कुण्डल में बसती है?/ मैंने पूरी ज़िन्दगी भटकने में बिताई है / और अब सब ओर से विफल होकर / जब मैं अपना कुण्डल चीर-फाड़ रहा हूँ / तो वह इस खोखल में मिलती क्यों नहीं…या।— और इस सम्भावना से ही मैं चरमराने लगता हूँ—/कहीं ऐसा तो नहीं है / कि मैं कस्तूरी मृग ही नहीं हूँ / और मेरी भटकन और चीर-फाड़ / मात्र मेरा दंभ है!" इसी कविता का अन्तिम चरण भी इस तरह और स्वयं के प्रति सशंक, व्यंग्यात्मक दृष्टि के लिए दृष्टव्य है जो हिन्दी में बड़ी दुर्लभ वस्तु है: "क्या मैं इन अनगिनत परतों को छीलकर / कभी अपना सच्चा मन नहीं देख पाऊँगा?/ बहुरूपिया बने रहना ही क्या मेरी नियति है? /कब तक मैं प्यार को फूल, और रोटी को खुशामद / और क्रांति को रेस्तराँ बनाता रहूँगा? कब तक मैं सुविधा की छत पर चढ़ा / कविता के बाँस से / ज़िन्दगी की कटी पतंग फाँसने का यत्न करता रहूँगा…" कहना न होगा कि इन सारे प्रश्नों का उत्तर भारतजी के ही पास हैं क्योंकि जो दुनिया उनके पास है वह उन्हीं की चुनी हुई है। हाँ, यदि वे चाहें तो येट्स के साथ यह प्रार्थना कर सकते हैं:

Grant me an old man's frenzy,
Myself must I remake
Till I am Timon and Lear
Or that William Blake
Who beat upon the wall
Till Truth obeyed his call;
A mind Michael Angelo knew
That can pierce the clouds,
Or inspired by frenzy
Shake the dead in their shrouds;
Forgotten else by mankind
An old man's eagle mind.

अपने में पैठने की एक और कविता इस संग्रह में है—'चोट'—जो मुझे इस संग्रह की इनी-गिनी अच्छी कविताओं में श्रेष्ठतम लगी। कविता में उद्धरणीयता क्योंकि अब बढ़ती जा रही है इसलिए यह लिखते हुए मुझे हर्ष हो रहा है कि यह हिन्दी की उन बहुत कम कविताओं में से है जिनकी एक भी पंक्ति आप 'उद्धृत' नहीं कर सकते—उसे पूरा पढ़े बिना मुक्ति नहीं है। हो सकता है कि मुझे यह कविता इसलिए भी अच्छी लगी हो कि मैं स्वयं कभी 'मैं' और अन्य वस्तुओं के बीच उस रहस्यमय 'स्पेकुलेटिव' सम्बन्ध को व्यक्त करने की इच्छा रखता हूँ जिसे पकड़ पाने की सफल कोशिश इस कविता में हुई है। प्रत्येक सोचने वाला व्यक्ति कभी-न-कभी इस बात से भयभीत हो उठता है कि अपने से अलग भी वह कोई और दूसरा है (यह वाक्य उस भावना का सरलीकरण समझा जाए)। श्रीकान्त वर्मा ने अपनी एकाध कविता में इसे व्यक्त करने का प्रयत्न किया है किन्तु उसका उतना गहरा और रोमाञ्चक अन्वेषण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

पुस्तकालय

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनमें नहीं है जितना भारतजी की इस कविता में है। मानव-अस्तित्व के रहस्यों पर हिन्दी कवियों की दृष्टि कम ही गई है। 'चोट' को इस दृष्टि से हिन्दी की कतिपय विशिष्ट कविताओं में रखा जा सकता है।

हिन्दी कवियों की वरिष्ठ पीढ़ी में भारत जी शायद एक मात्र कवि हैं जिन्होंने कविता के माध्यम से मुक्ति बोध को स्वीकारा है। यह उनकी आत्म-निरीक्षण की प्रवृत्ति का ही द्योतक है कि इस संग्रह का शीर्षक उसी कविता का शीर्षक है जो उन्होंने मुक्तिबोध पर लिखी है। मुक्तिबोध को लेकर जो अपराध-भाव भारत जी की पीढ़ी में है, या होना चाहिए, या नहीं है, यह कविता उसकी मार्मिक अभिव्यक्ति है। 'स्फटिक-पुलिन', 'चन्दन-नौकाएँ', 'तार-स्वर' आदि शब्दों से भारत जी ने सफल व्यंग्य-निर्माण भी किया है। इस एक छोटी-सी कविता में हिन्दी कविता का एक कलंक-पूर्ण और स्वर्णिम अध्याय समाहित है। हाँ, 'तूफ़ान अब थम गया है' सरीखी पंक्ति खटकती है क्योंकि अभी तूफ़ान थमा कहाँ है।

'अब नहीं मिलेगा' भी एक अच्छी कविता हो सकती थी। इसमें कम-से-कम पाँच पंक्तियाँ ऐसी हैं जो भारतजी की सामान्य काव्य-भाषा से नितान्त पृथक् हैं तथा अशोक वाजपेयी सरीखे युवा कवियों की भाषा के समीप हैं इस-लिए सुखकर हैं: "कभी-कभी हम अचानक आशान्वित हो उठेंगे / और एक-दूसरे को प्यार करने लग जाएँगे / और हरेक के पास अन्धेरे की चादर होगी / और हमारी हँसी जुगनुओं की तरह / बेकार जलेगी और अचानक बुझ जाएगी।" किन्तु शेष कविता में स्विमिंग पूल, सैमीनार, फाइलों आदि का ज़िक्र न तो इसे इधर की ही रहने देता है और न उधर की ही। 'हर बार यही होता है' की प्रथम दस पंक्तियाँ भी इसी तरह एक उम्मीद जगाती हैं किन्तु सभी कुछ साफ-साफ कह देने की लापरवाह इच्छा उसे एक सफल मंच-कविता तो बनाती है, कुछ और खोजने वाले पाठक को नाराज़ करती है। मुझे लगता है कि भारतजी की समस्या वही है जो माचवे की है, दोनों अब कविता को जीवन के लिए 'एन्सिलरी' समझने लगे हैं, अनिवार्य नहीं। उनके लिए कविता एक 'बाइ-प्रॉडक्ट' है। इन दोनों के उपकरण ठीक हो सकते हैं किन्तु 'कला' के प्रति इनका रुख अक्सर लापरवाही और कभी-कभी ताच्छल्य-भरा है।

किन्तु वे जो कला को गंभीरता से ग्रहण करते हैं दूसरे किस्म के गड्ढे में जा गिरते हैं। उनकी कविता से हास्य की उम्मीद तो दरकिनार, मुस्कान पाना भी असंभव-सा होता है। भारतजी की कविता जहाँ एक ओर आत्म-निरीक्षण कर सकती है वहाँ दूसरी ओर उसमें एक 'सैन्स ऑव ह्यूमर' भी है। 'रस-सिद्धान्त', 'नियति', 'एक खयाल—शीर्षासन के बहाने', 'ट्रैफिक पोलिसमैन' ऐसी ही कुछ कविताएँ हैं जिनका संयत तथा संपृक्त हास्य अनेक फ़ैशनेबल हाइकूनुमा कविताओं से ज्यादा कारगर है। इनमें से 'ट्रैफिक पोलिसमैन' तो आज के मशीन युग में आदमी की दुहरी-तिहरी निरर्थकता की ऊपर से हल्की-फुलकी किन्तु अन्दर अत्यंत ट्रेजिक कविता है। यह आदमी के 'प्लैन्ड ऑब्सोलेसेन्स की कविता है।

भारतजी सरीखे वरिष्ठ कवि, कविता के लिए दो महत्त्वपूर्ण गुणों—आत्मालोचन तथा हास-क्षमता—के होते हुए भी क्यों असफल होते हैं? क्या वजह है कि तीस वर्षों तक कविता लिखने के बाद भी वे हिन्दी कविता की प्रथम पंक्तियों में नहीं हैं? इन प्रश्नों का उत्तर उनकी अपनी कविताओं में ही मिलता है। किन्तु शायद इन प्रश्नों का पूछा जाना निरर्थक है। पूछा यह जाना चाहिए कि उनकी कोई अपनी तस्वीर क्यों नहीं उभरती? तीस वर्षों की काव्य-साधना यदि अकारथ जाती प्रतीत हो रही है तो इसका समाधान शायद ऐलियट की इन पंक्तियों में मिलेगा, जिनमें 'ट्वन्टी' की जगह 'थर्टी' रख देने से काम चल जाएगा। और यह ध्यान रखने से कि ऐलियट के कथन में जो विनम्रता है वह भारतजी के लिए वास्तविकता है:

"So here I am, in the middle way, having had twenty years—/Twenty years largely wasted, the years of l'entre deux guerres/ Trying to learn to use words, and every attempt/ Is a wholly new start, and a different kind of failure/ Because one has only learnt to get the better of words/ For the thing one no longer has to say, or the way in which/ One is no longer disposed to say it. And so each venture/ Is a new beginning, a raid on the inarticulate/ With shabby equipment always deteriorating/ In the general mess of impression of feeling,/ Undisciplined squads of emotion."

(फ़ोर क्वार्टेट्स, ईस्ट कोकर, ५)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संदर्भ ग्रन्थ
REFERENCE BOOK
यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED

079570

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कबीर-विषयक
आलोचना-साहित्य में
मील का पत्थर !

हजारीप्रसाद द्विवेदी

कबीर

लगभग दस वर्ष तक अप्राप्य रहने के बाद अब राजकमल से संशोधित-संवर्धित रूप में नई साज-सज्जा के साथ उपलब्ध !

मूल्य : सजिल्द १६.००
पेपरबैक १०.००

राजकमल

राजकमल प्रकाशन
दिल्ली-६ पटना-६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्ष १९७० के
साहित्य अकादमी पुरस्कार
द्वारा सम्मानित
महान ऐतिहासिक कृति

हिन्दी के जीवनी-साहित्य
में अद्वितीय

"निराला-जैसा साहित्यकार
सदियों में कभी एक होता है"
—महादेवी वर्मा

और
'निराला की साहित्य-साधना' भी
हजारों में एक सिद्ध हुई है !

निराला की
साहित्य-साधना

डॉ० रामविलास शर्मा

निराला की जीवन-साधना और साहित्य-साधना के गहनतम स्तरों के भीतर से उनके विराट व्यक्तित्व का उद्घाटन करने वाली बेजोड़ कृति !

नए संशोधित-संवर्द्धित संस्करण में नई साज-सज्जा के साथ उपलब्ध

डिमाई आकार
५५० के लगभग पृष्ठ
रैक्सिन की मजबूत जिल्द

मूल्य ३०.००

राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड
दिल्ली-६ पटना-६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

श्रीमती शीला सन्ध, मैनेजिंग डायरेक्टर, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, ८ फैज बाजार, दिल्ली, के लिए

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Computed
1999-2000

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Google